प्रकाशक—

रामनारायण लाल,

प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण

मूल्य १०)

मुद्रक—

रमजानअली शाह,

नेशनल प्रेस,

इलाहाबाद

निवेदन

हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं। उनमें
वेयों का विवरण और प्रवृत्तियों का निरूपण स्पष्टता के साथ पाया
सकता है। किन्तु इधर साहित्य के इतिहास में कई नवीन
न्वेषण हुए हैं। इतिहास लिखने के दृष्टिकोण और शैली में भी
तन वैज्ञानिक उत्क्रान्ति हुई है। अतः हिन्दी का इतिहास-लेखन
भी पूर्ण नहीं है।

इतिहास-लेखन बहुत कठिन कार्य है। वैज्ञानिक विवेचन की
भीरता के साथ साथ इतिहास-लेखक का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा
। इन दोनों बातों के लिए इतिहास-लेखक को तैयार रहना चाहिए।
फिर हिन्दी साहित्य का इतिहास तो बहुत विस्तृत और व्यापक है।
ास्तव में इस इतिहास में जितनी जटिलताएँ और गुत्थियाँ हैं, शायद
भारतीय साहित्य के किसी इतिहास में न पाई जावेंगी, क्योंकि हिंदी
भाषा और साहित्य का विस्तार बहुत प्राचीन काल से अखिल भारतीय
रूप में बिखरा हुआ है। अभी तो समुचित रूप से उसकी खोज ही
नहीं हो पाई है। खोज की बात तो अलग है—मुझे तो ऐसा लगता
है कि बहुत सी सामग्री जो प्रत्यक्ष फैली पड़ी है, उसका इतिहास-
ग्रंथों में अभी तक उल्लेख भी नहीं हो सका है। इतिहास लिखने
में वैज्ञानिक काल-क्रम और विकास-क्रम की तो बात ही दूर है।

पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा, (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग) के डी-लिट्
के संबन्ध में पेरिस जाने पर मुझे बी० ए० के विद्यार्थियों को इतिहास
पढ़ाने का अवसर मिला। मेरे हृदय में उसी समय से इतिहास-लेखन
की इच्छा उत्पन्न हुई, जिसकी पूर्ति के लिए मैंने परिश्रम करना आरंभ
किया। उस दिशा में इधर कुछ वर्षों के परिश्रम का फल आपके
सामने है। साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक

स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है। मैंने साहित्य की संस्कृति का आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना शैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। अभी तक की उपलब्ध सामग्री का उपयोग भी मैंने स्वतन्त्रतापूर्वक किया है। मैं इतिहास-लेखक के उत्तरदायित्व का निर्वाह कहाँ तक कर सका हूँ यह आपके निर्णय की बात है। नामानुक्रमणिका तैयार करने में मुझे मेरे विद्यार्थी श्री उत्तमचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए० और श्री रामप्रसाद नायक बी० ए० (आनर्स) से विशेष सहायता मिली है।

हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
३१ मार्च १९३८

रामकुमार वर्मा

दूसरे संस्करण की भूमिका

मैं हिन्दी के विद्वानों और विद्यार्थियों के समक्ष क्षमा प्रार्थी हूँ कि अब तक इस इतिहास का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत नहीं किया जा सका। कुछ तो मेरी अपनी उलझनें थीं और कुछ कागज़ और प्रेस की कठिनाइयाँ रहीं जिनके कारण इस संस्करण के प्रकाशन में विलंब हुआ।

मैं हिन्दी संसार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिसने मेरे इतिहास को इतना अधिक आदर दिया है। विद्वानों ने उसे यूनीवर्सिटियों के पाठ्य-क्रम में निर्धारित किया है और सभी ऊँची श्रेणी के विद्यार्थियों ने उसे अपना प्रिय ग्रंथ माना है। इन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दूँ! मैं प्रयत्न करूँगा कि शीघ्र ही इस ग्रंथ का उत्तरार्ध लिख कर उनकी सेवा में भेंट कर सकूँ।

इस संस्करण के प्रारंभिक प्रकरणों में मैंने कुछ नवीन सामग्री दे दी है जो विस्तार-भय से प्रथम संस्करण में नहीं दी जा सकी थी क्योंकि तब मेरे मन में एक ही जिल्द में सपूर्ण इतिहास लिखने की इच्छा थी। जब इस जिल्द में इतिहास संवत् १७५० तक ही है तब मैंने रोकी हुई सामग्री भी इसमें जोड़ दी है। आशा है, उस सामग्री से विषय के समझने में और भी सुविधा होगी।

पहले संस्करण में शीघ्रता के कारण कुछ भूलें रह गई थीं जिन्हें इस संस्करण में दूर करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है, इस संस्करण में भी कुछ भूलें रह गई हों क्योंकि पुस्तक लगभग डेढ़ वर्ष में छपी है और मैं एकबारगी समस्त पुस्तक के प्रूफ नहीं देख सका। मुझे आशा है कि जिस प्रकार पहले संस्करण में हिंदी के विद्वानों ने मुझे सुझाव दिए थे, उसी प्रकार इस संस्करण में भी मैं उनसे वंचित नहीं रहूँगा।

इस वर्ष हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है और अब हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। मैं तो हिंदी के विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ कि वे समस्त प्रतिबंधों से मुक्त होकर अपनी राष्ट्रभाषा के इतिहास को नवीन अन्वेषणों के प्रकाश में लिखने की चेष्टा करें जिससे हमारी संस्कृति और साहित्य का पारस्परिक संबंध सहज ही स्पष्ट हो जावे।

इस संस्करण की नामानुक्रमणिका मेरे प्रिय शिष्य श्री जयराम मिश्र एम्० ए० ने तैयार की है। धन्यवाद देकर मैं उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता।

साकेत, प्रयाग
दीपावली १९४७

रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

विषय-प्रवेश

किसी निर्जन वन-प्रदेश की शैवलिनी की भाँति हिन्दी साहित्य की धारा अबाध रूप से तो अवश्य प्रवाहित होती रही, किन्तु उसके उद्‌गम और विस्तार पर आद्यन्त और विस्तृत दृष्टि डालने का प्रयास बहुत दिनों तक नहीं हुआ। अपभ्रंश के भग्नावशेषों को लेकर हिन्दी के निर्माणकाल के समय (लगभग सं० ७००) से विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्न-राशि के समान पड़ा रहा; उसके संग्रह करने का प्रयास किसी के द्वारा नहीं हुआ। किसी काल-विशेष के कवि द्वारा किये गये अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा भक्त के विषय में उल्लेख अवश्य मिलते हैं, पर वे व्यष्टि रूप से हैं, समष्टि रूप से नहीं। जायसी द्वारा अपने पूर्ववर्ती प्रेम-काव्य के कवियों का उल्लेख, नाभादास द्वारा भक्तमाल में भक्तों और कवियों का विवरण गोकुलनाथ द्वारा "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में पुष्टि-मार्ग में दीक्षित वैष्णवों का जीवन चरित्र, कुछ लेखकों द्वारा अनेक कवियों की नामावली और काव्य-संग्रह आदि हमें अवश्य प्राप्त हैं, पर इन्हें हम इतिहास नहीं कह सकते। फिर इन कवियों का निर्देश धर्म की भावना को लेकर किया गया है, व्यक्तित्व अथवा कवित्व को ध्यान में रख कर नहीं। इनमें साहित्य

इतिहास

की प्रगति और विचारों की प्रवृत्ति का भी विवरण नहीं है। लल्लू-लाल और सदल मिश्र ने क्रमशः स्वरचित प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान में हिन्दी गद्य के स्वरूप का निर्देश करते हुए अपनी पुस्तकों के लिखाने का श्रेय फोर्ट विलियम कालेज के प्रिंसपल जान गिलक्राइस्ट को दिया है। हमें उससे तत्कालीन गद्य की एक विशेष परिस्थिति अवश्य ज्ञात होती है, इतिहास नहीं। राजा शिवप्रसाद सितार-ए-हिन्द ने भाषा के इतिहास पर एक निबन्ध लिखा था, पर साहित्य के इतिहास पर नहीं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की क्रमागत प्रवृत्तियों, विचार-धाराओं और कवि-विवरणों का इतिहास विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी तक नहीं मिलता। कवि के

इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी

नामों का सब से पहला संग्रह जो इतिहास के रूप का आभास मात्र है, फ्रेंच साहित्य मे गार्सँ द तासी लिखित इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी' है। यह ग्रन्थ ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड की प्राच्य साहित्य-अनुवादक समिति की ओर से पेरिस मे मुद्रित किया गया। ग्रन्थकार ने महारानी विक्टोरिया को सुल्ताना रजिया के समान योग्य शासिका मानते हुए उन्हीं को यह ग्रन्थ समर्पित किया। इसका प्रथम सस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ। प्रथम भाग संवत् १८९६ (सन् १८३९) में तथा दूसरा भाग सवत् १९०३ (सन् १८४६) में प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण में इस ग्रन्थ के तीन भाग हो गए जिनका प्रकाशन सं० १९२८ (सन् १८७१) में हुआ। इसमें अंग्रेजी वर्णक्रम से हिन्दी और मुसलमान कवियों एव कवयित्रियों का विवरण दिया गया है। पहले उनकी जीवनी है, फिर उनके ग्रन्थों का नाम-निर्देश। ये तीनों भाग १८३४ पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। प्रारम्भ में १४ पृष्ठों की भूमिका है। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य के सवन्ध में विचार प्रकट किए गए हैं। ग्रन्थकार ने हिन्दी भाषा के अन्तर्गत उर्दू को भी सम्मिलित किया है, जो वास्तव में भाषा की दृष्टि से उचित है। हिन्दी के इस व्यापक अर्थ ने ग्रन्थ-

को उर्दू कवियों की साहित्य-साधना और उनके ग्रन्थोल्लेख का भी अवसर दिया है। इसीलिए ग्रन्थ के आधे से अधिक पृष्ठ उर्दू कवियों के विवरण में ही लिखे गए हैं। भाषा फ्रेंच है। दुर्भाग्य से इसका अनुवाद अंग्रेजी या किसी भारतीय भाषा में नहीं हुआ। फलतः इसकी सामग्री का उपयोग भारतीय साहित्य के इतिहास-लेखकों द्वारा नही हो सका। इसमें हमें एक स्थान पर हिन्दी के प्रधान कवियों की जीवनियाँ तथा काव्य-ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि इस ग्रन्थ में साहित्य की प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं है। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि हिन्दी साहित्य का प्रथम विवरण हिन्दी लेखकों द्वारा न लिखा जाकर विदेशी साहित्य में किसी विदेशी द्वारा लिखा जावे। विदेशी भाषा में लिखे जाने पर भी इस ग्रन्थ का महत्त्व है। यह हिन्दी का सबसे प्राचीन विवरण होने के कारण विद्वानों और इतिहास-लेखकों के लिए साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही विशेषताएँ रखता है। हिन्दी में इसका अनुवाद होना बहुत आवश्यक है। महाकवि चंद से संबन्ध रखने वाले अवतरण का अनुवाद डा० उदय नारायण तिवारी ने ज्येष्ठ संवत् १९९३ की 'सुधा' मासिक पत्रिका में किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास से संबन्ध रखने वाला दूसरा ग्रन्थ अवश्य हिन्दी में लिखा गया और वह श्री महेशदत्त शुक्ल द्वारा संग्रहीत भाषा-काव्य-संग्रह है। इसमें संग्रहकर्ता ने

भाषा काव्य-संग्रह पहले कुछ प्राचीन कवियों की कविता संग्रह की है, फिर उन्हीं कवियों का जीवन-चरित्र तथा समय आदि संक्षेप में दिया है। अन्त में कठिन शब्दों का कोष भी है[1]। यह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से संवत् १९३० में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के बाद दूसरा संग्रह शिवसिंह सेंगर[2] द्वारा लिखित

---

१ बाबू राधाकृष्णदास—ना० प्र० पत्रिका भाग ५, पृष्ठ १, संवत १९०१

२ शिवसिंह सेंगर का जन्म संवत [illegible] में हुआ था।

शिवसिंह सरोज

शिवसिंह सरोज है, जिसका रचना-काल सं० १९४० है। इसमें भी कवियों का विवरण और उनका काव्य-संग्रह है। किन्तु इसमें तासी के ग्रन्थ की अपेक्षा कवियों की संख्या में अधिक वृद्धि हो गई है। तासी के ग्रन्थ में हिन्दी कवियों की संख्या ७० से कुछ ऊपर है और सरोज में 'भाषा-कवियों' की संख्या 'उनके जीवन चरित्र और उनकी कविताओं के उदाहरणों' सहित 'एक सहस्र' हो गई है। सरोज के आधार पर संवत् १९४६ में सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने 'माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान' लिखा। इसमें शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से यही विशेषता है कि साहित्य के काल-विभाग के साथ समय-समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन साहब का ग्रन्थ 'सरोज' की सामग्री से ही बनाया गया है। किन्तु यह उससे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में लिखा गया है। इसमें कवियों की संख्या ९५२ है।

माडर्न वरनाक्यूलर लिटलेचर आव् हिन्दोस्तान

संवत् १९६६ और १९७१ में बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित हिन्दी कोविद रत्नमाला के दो भाग प्रकाशित हुए। इनमें ८० आधुनिक लेखकों के जीवन-चरित्र, उनकी कृतियों के निर्देश के साथ दिये गए हैं। इन जीवनियों में इतिहास का कोई सूत्र नहीं है, केवल लेखक विशेष का साहित्यिक महत्व अवश्य बतला दिया गया है।

हिन्दी कोविद रत्नमाला

इतिहास का इतिवृत्तात्मक लेखन सब से प्रथम मिश्रबन्धुओं के 'विनोद' में पाया जाता है। 'विनोद' चार भागों में लिखा गया है, जिसके प्रथम तीन भाग सं० १९७० में प्रकाशित हुए थे और चतुर्थ भाग, जो साहित्य के वर्तमान काल से सम्बन्ध रखता है, सं० १९९१ में प्रकाशित हुआ। अत मिश्रबन्धुओं ने साहित्य का अध्ययन कर लगभग २२५० पृष्ठों

मिश्रबन्धु विनोद

में अपना 'विनोद' लिखा है। इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अनेक कवि जो अज्ञात थे, प्रकाश में लाए गए हैं और उनके साहित्यिक महत्त्व का मूल्य आँका गया है। कवियों की श्रेणियाँ बनाई गई हैं और उन श्रेणियों में कवियों का वर्गीकरण किया गया है। विनोद के चारों भागों में ४५९१ कवियों का वर्णन है, किन्तु बीच में अन्य कवियों का पता मिलने पर उनके नम्बर "बटे से कर दिए गए हैं।" इस प्रकार मिश्रबन्धु विनोद में ५००० से अधिक कवियों का विवरण मिलता है। यद्यपि कवियों के काव्य की समीक्षा प्राचीन काल के आदर्शों के आधार पर की गई है, पर उनकी विवेचना में हम आधुनिक दृष्टिकोण नहीं पाते। जीवन की आलोचना, कवि का सन्देश, लेखक की अन्तर्दृष्टि और भावों की अनुभूति आदि के आधार पर उसमें कवियों और लेखकों की आलोचना नहीं है। भाषा भी आलोचना के ढंग की नहीं है। किन्तु साहित्य के प्रथम इतिहास को विस्तारपूर्वक लिखने का श्रेय मिश्र बन्धुओं को अवश्य है। उन्होंने

नवरत्न

अपने दूसरे ग्रन्थ हिन्दी नवरत्न (सं० १९६७) में नौ कवियों[1] की विस्तृत समालोचना की है। उसमें हम कवियों का यथेष्ट निरूपण पाते हैं। इस ग्रन्थ का चौथा संस्करण जो सचित्र, संशोधित और सम्वर्द्धित है, सं० १९९१ में प्रकाशित हुआ।

कविता-कौमुदी

संवत् १९७४ में पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा लिखित कविता-कौमुदी ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक के ८६ कवियों का जीवन-विवरण, उनकी कविता के साथ दिया गया है। इसमें कवियों की आलोचना

---

१ ये नौ कवि निम्नलिखित हैं:—

तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, त्रिपाठी-बन्धु (भूषण, मतिराम), केशव, कबीर, चन्द और हरिश्चन्द्र।

न होकर केवल परिचय मात्र है। स० १६८३ में इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ जिसमें ४६ आधुनिक लेखकों और कवियों का विवरण है। इस प्रकार कविता-कौमुदी के दोनों भागों मे १३८ कवियों का विवरण है।

सवत् १६७४ में एडविन ग्रीव्स महाशय ने 'ए स्केच आव् हिन्दी लिटरेचर' नाम से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखा। इस

ए स्केच आव् हिन्दी लिटरेचर

११२ पृष्ठों की पुस्तिका में लेखक महोदय ने उपर्युक्त सभी पुस्तकों से पूरी सहायता ली है। इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास के पाँच विभाग किये हैं। धार्मिक'काल को दो भागों में विभाजित कर दिया है और हिन्दी के भविष्य पर एक सुंदर अध्याय लिखा है। पुस्तक बहुत ही सक्षिप्त है। इसमें साहित्य की गति-विधि का परिचय मात्र है।

सवत् १६७७ में एफ० ई० के० ने 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर नाम से एक इतिहास लिखा। यह भी ११६ पृष्ठों में समाप्त हुआ

ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिटरेचर

है। इसमें साहित्य की प्रगतियों के दृष्टिकोण से इतिहास की रूपरेखा निर्धारित की गई है। यह ग्रीव्स महाशय की पुस्तक से अधिक वैज्ञानिक ढग की पुस्तक है, किन्तु इसमे भी साहित्य का परिचय मात्र है।

केवल ब्रजभाषा के २६ प्रमुख कवियों का जीवन वृत्त और उनका मधुर काव्य संकलित कर श्री वियोगी हरि ने सवत् १६८० में 'ब्रज

ब्रज माधुरी सार

माधुरी सार' नामक सग्रह ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ के सग्रह की प्रेरणा सग्रहकार को सर्व प्रथम गोलोकवासी प० राधाचरण गोस्वामी से मिली थी। इस सग्रह में कोई ऐतिहासिक काव्य-मीमांसा नहीं है। कवियों का काव्य सग्रह काल क्रमानुसार अवश्य किया गया है। ग्रन्थ में आए हुए प्रत्येक कवि की जीवनी के आदि में नाभा जी का या उन्हीं की शैली में भा० हरिश्चन्द्र या गो० राधाचरण या स्वय संग्रह-कर्त्ता का

छप्पय दिया गया है। कविताओं का संग्रह अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और माधुर्य से ओतप्रोत है। ब्रज भाषा का काव्य-वैभव इस संग्रह में पूर्णतः संचित है। संवत् १९९० में इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण हुआ। इसमें परमानन्ददास और कुंभनदास के नाम जोड़ कर कवि सख्या २८ कर दी गई और संग्रह के दो खंड कर दिए गए। पहले खड में सूरदास से लेकर ललित किशोरी तक और दूसरे में विहारी, देव, हरिश्चन्द्र, रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न रखे गए। पहले खंड के कवियों ने केवल कृष्ण-भक्ति पर काव्य-रचना की, दूसरे खंड के कवियों ने कृष्ण-भक्ति के अलावा अन्य विपयों पर भी लिखा। इस ग्रन्थ का तृतीय सस्करण स० १९९६ में हुआ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को आलोचनात्मक ढंग से समझाने का श्रेय श्री पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी को है जिन्होंने संवत् १९८० में हिन्दी साहित्य विमर्श नामक १९६ पृष्ठ की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक वस्तुतः उनके हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में लिखे गए कुछ निबन्धों का संग्रह है। प्रस्तावना में साहित्य की आत्मा और उसकी रूपरेखा पर गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालते हुए हिन्दी साहित्य का आदि काल, संतवाणी सग्रह, हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि, हिन्दी साहित्य का मध्य काल, हिन्दी काव्य और कवि कौशल, हिन्दी साहित्य और पाश्चात्य विद्वान् और आधुनिक हिन्दी साहित्य विपय पर लेखक ने गम्भीर अनुशीलन किया है। इन निबधों में साहित्य की विविध प्रवृत्तियों का पाण्डित्यपूर्ण विभाजन और मूल्यांकन किया गया है तथा कवियों और लेखकों के साहित्यगत व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में दोप यही है कि वह अपने विषय में संश्लिष्टात्मक नहीं है। निबन्ध यद्यपि एक क्रम से सजाये गये हैं किन्तु वे अलग अलग हैं। लेखक ने ऐतिहासिक शैली से पुस्तक लिखी भी नहीं है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि

हिन्दी साहित्य विमर्श

इस प्रकार का आलोचनात्मक विवेचन एक क्रम से पहली बार किया गया।

संवत् १९८२ में श्री बदरीनाथ भट्ट ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रिपोर्टों, मिश्रबन्धु विनोद, शिवसिंह सरोज आदि ग्रन्थों की

हिन्दी

सहायता से ९६ पृष्ठ की हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली एक छोटी सी पुस्तिका 'हिन्दी' नाम से लिखी। पुस्तिका की तीसरी आवृत्ति संवत् १९८८ में प्रकाशित हुई। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य की रूप-रेखा मात्र है। वह चलते हुए ढंग से लिखी भी गई है। मनोरंजक भाषा में साहित्य की प्रवृत्तियों और कवियों की आलोचना अवश्य है किन्तु यह आलोचना विहगावलोकन के रूप की है। पुस्तक भाषण देने के ढंग पर लिखी गई है और उसमें यत्र तत्र मनोरंजक उद्धरण भी दे दिए गए हैं। यद्यपि इस पुस्तक से कवियों और लेखकों की अंतर्दृष्टि और उनकी क्रमागत परम्पराएँ स्पष्ट नहीं होतीं तथापि उससे हिन्दी भाषा और साहित्य की जानकारी अच्छी हो जाती है। श्री बदरीनाथ भट्ट हास्य-रस के लेखक थे अतः इस पुस्तक में उनकी भाषा का विनोदमयी हो जाना स्वाभाविक है।

हिन्दी के मुसलमान कवि

संवत् १९८३ में श्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह ने 'हिंदी के मुसलमान कवि' नामक ग्रन्थ में १५२ मुसलमान कवियों का जीवन-चरित्र और काव्य संग्रह किया। सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में हिन्दू मुसलमानों की एकता के फल स्वरूप पूर्व तथा वर्त्तमान कालीन हिन्दू मुसलमानों की साहित्यिक एकता का दिग्दर्शन' कराने के निमित्त ही श्री रामनारायण मिश्र की प्रेरणा से ग्रन्थ का संकलन हुआ। इस ग्रन्थ की भूमिका खोज और अध्ययन के साथ लिखी गई है। इसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक रूप-रेखा भी है। कवियों का क्रम ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार है। प्रारम्भ में कवि की जीवनी है, फिर उसकी कविता का अत्यन्त ललित और सुंदर संग्रह

है। यद्यपि संकलन कर्त्ता ने जीवनी का विवरण देने में खोज से काम नहीं लिया है, तथापि प्राप्त सामग्री का संग्रह एक स्थान पर कर दिया है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि विविध कालों में मुसलमान हिन्दी के कितने समीप थे। इस दृष्टिकोण से संकलन-कर्त्ता अपने उद्देश्य में सफल हुआ है।

सुकवि सरोज

संवत् १९८४ में श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने 'सुकवि सरोज' नामक ग्रन्थ में वलभद्र मिश्र, केशवदास, बिहारी लाल आदि १६ कवियों के प्रामाणिक जीवन-चरित्रों के साथ, उनकी सुंदर रचनाओं का प्रकाशन किया। यद्यपि कवियों का चुनाव सनाढ्य जाति के संबन्ध से किया गया है, तथापि इस ग्रन्थ में हिन्दी के प्रायः सभी प्रधान कवि आ गए हैं। संवत् १९९० में इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ जिसमें गोस्वामी तुलसीदास से लेकर रामगोपाल तक ७४ सनाढ्य कवियों का विवरण है। ये कवि तीन खंडों में विभाजित किए गए हैं। पहले खंड में सं० १५८९ से सं० १९४० तक के गोलोकवासी कवि गण, दूसरे खंड में स० १९०८ से वर्त्तमान काल तक के कविगण और तीसरे खंड में सं० १६४० से सं० १९०० तक के अन्य कवि गण। इस विभाजन से ज्ञात होगा कि संग्रह-कर्त्ता ने कवियों के संकलन में काल क्रम का विचार रक्खा है। इस संग्रह में साहित्यिक प्रगतियों का कोई उल्लेख नहीं है, केवल सनाढ्य कवियों का ही संवत् क्रम से संग्रह है। जीवन-विवरण में कहीं कहीं खोज पूर्ण एवं मौलिक बातें कही गई हैं। तुलसी-दास के सोरों जन्म-स्थान की बात सर्व प्रथम श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने ही इस ग्रन्थ में कही है। पुस्तक खोज और परिश्रम से लिखी गई है।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित शब्दसागर की आठवीं जिल्द में हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूप-रेखा यथेष्ट परिष्कृत हुई। इसके लेखक थे पं० रामचन्द्र शुक्ल। उसी

हिन्दी साहित्य का इतिहास

सामग्री को विस्तारपूर्वक लिख कर शुक्ल जी ने संवत् १९८६ में एक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा।

इसमें कवियों की सख्या की अपेक्षा कवियों के महत्व पर अधिक ध्यान दिया गया है। अभी तक के लिखे हुए इतिहासों में इस इतिहास को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिए। इसमें हमे इतिहास के साथ समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों का निरूपण मिलता है। काव्य-धाराओं का विवेचन जैसा इस इतिहास मे है वैसा अन्यत्र नहीं। कवि और लेखकों की शैली-विशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण कर हमे उसके प्रमाण-स्वरूप उपयुक्त उदाहरण भी मिलते हैं। सवत् १९९७ मे इसका सशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। आधुनिक काल की सामग्री इसमें विशेष रूप से जोड़ी गई है। जो अध्ययन के साथ एकत्रित की गई है।

स० १९८७ मे रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' ग्रन्थ लिखा गया। इसका 'भाषा' भाग बाबू साहब की पूर्व लिखित भाषा-विज्ञान पुस्तक का एक परिवर्तित भाग मात्र है। साहित्य भाग मे हिन्दी की प्रमुख धाराओं, उनके विकास और विस्तार का निरूपण किया गया है। इस साहित्य भाग मे लेखकों और कवियों की कृतियों के उदाहरण नहीं हैं उनका विवरण अवश्य है। सवत् २००१ में हिंदी साहित्य भाग का परिवर्द्धित और परिमार्जित सस्करण प्रकाशित हुआ। "पहले की आवृत्तियों से इस सस्करण मे अनेक अन्तर हैं, यद्यपि मूल आकार पूर्ववत् ही है। इसका उद्देश्य पहले से यह था कि भिन्न भिन्न काल की मूल वृत्तियों का वर्णन किया जाय। जिस काल मे जैसी राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति थी उसके वर्णन के साथ उस काल के मुख्य मुख्य प्रवर्त्तक कवियों का वर्णन भी रहे। यह अश ज्यों का त्यो है। कवियों के विषय मे जो नए अनुसधान हुए हैं उनके आधार पर साहित्यिक स्थिति के वर्णन में आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं और कवियों की कविता के नमूने भी दिए गए हैं। इस अंश में विशेष परिवर्तन है।

भाषा और साहित्य

हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास

इसी समय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने बाबू रामदीनसिंह रीडरशिप के सम्बन्ध से पटना यूनीवर्सिटी में "हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास" पर व्याख्यान दिए। इसमें भाषा और साहित्य पर पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की गई है और इतिहास का विकास भी अच्छी तरह से दिया है। ७१६ पृष्ठों की इस व्याख्यानमाला से हिन्दी साहित्य की रूपरेखा यथेष्ट स्पष्ट हो गई है।

हिन्दी साहित्य की विवेचनात्मक इतिहास

एक और इतिहास सं० १९८७ में लाहौर से प्रकाशित हुआ। इसके लेखक श्री सूर्यकान्त शास्त्री हैं। इस साहित्य की रूपरेखा अधिकतर 'के' की 'ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिटरेचर' से निर्धारित हुई है।[1] इस इतिहास में लेखक ने अंग्रेजी साहित्य के भावों का प्रमाण देते हुए हिन्दी-साहित्य को समझाने की चेष्टा की है। यद्यपि किसी साहित्य का वास्तविक महत्त्व उसी में अन्तर्हित भावना से समझाया जाना चाहिए, अन्य साहित्य जो अन्य समाज का चित्रण है, किसी भी दूसरे साहित्य के समझाने का साधन नहीं हो सकता, तथापि जहाँ तक विश्वजनीन भावनाओं से सम्बन्ध है, उनकी तुलनात्मक व्याख्या अवश्य हो सकती है, यही दृष्टिकोण शास्त्रीजी द्वारा लिया गया ज्ञात होता है। इससे उनके पाण्डित्य और व्यापक ज्ञान का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। साहित्य की विवेचना के साथ उन्होंने अपनी भाषा में गद्यकाव्य की छटा भी छिटका दी है, जो सम्भवतः इतिहास जैसे विषय के लिए अनुपयुक्त है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शास्त्री जी ने साहित्य के महान कवियों को समझाने की अच्छी चेष्टा की है।

संवत् १९८८ में पं० (अब डाक्टर) रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने

१—हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ८

एक बहुत बड़ा हिन्दी का इतिहास लिखा। इसमें कवियों और लेखकों की कृतियों के उदाहरण नहीं हैं। यह शायद हिन्दी के सभी इतिहासों से कलेवर में बड़ा है। इसमे हिन्दी साहित्य की सभी ज्ञातव्य बातों का परिचय दिया गया है, पर लेखक ने उन्हें वैज्ञानिक रीति से नहीं समझाया। इस इतिहास में लेखक का अपना कोई निर्णय भी नहीं है। अनेक स्थानों से उपलब्ध की गई सामग्री अवश्य विस्तार-पूर्वक दी गई है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

सवत् १९९१ में श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इसमें भारतेन्दु जी के पूर्व का इतिहास तो बड़े ही सक्षिप्त रूप में दिया गया है; और आधुनिक इतिहास का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। इस इतिहास में भी ग्रन्थकार की अपनी कोई धारणा नहीं है। उसने विस्तार से प्रत्येक कवि के विषय में ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

सवत् १९९३ में श्री गौरीशंकर सत्येन्द्र एम० ए०, विशारद ने 'साहित्य की झाँकी' नामक पुस्तक प्रस्तुत की जिसमें उनके सात निबंधों का सग्रह है। ये निबन्ध ऐतिहासिक विचार-धारा को दृष्टि में रखते हुए लिखे गए हैं। "अध्ययन शैली का स्वरूप उपस्थित करने और साहित्य के अमर रूप और उसके धारा-रूप की झाँकी कराने के लिए ही यह रचना प्रस्तुत की गई है।" लेखक ने इन निबन्धों में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि हिन्दी साहित्य में विकास की धारा है और उसमें काल और परिस्थितियों का पूर्ण सहयोग है। इस पुस्तक मे सात निबन्ध हैं, हिन्दी में भक्ति काव्य का आविर्भाव, विष्णु का विकास, सूरदास के कृष्ण, अष्टछाप पर मुसलमानी प्रभाव, राम में दो तत्त्वों की सयोजना, हिन्दी नाटकों में हास्यरस और भूषण कवि और उनकी परिस्थिति। अंतिम निबन्ध पुस्तक में आए निबन्धों की

साहित्य की झाँकी

दृष्टि से काल-व्यतिक्रम बोध कराता है किन्तु 'महात्मा गाँधी की प्रेरणा से शिवाबावनी के सम्मेलन के परीक्षा-कोर्स से निकाल देने की चर्चा से हिन्दी जगत में 'भूषण' और समस्याओं की अपेक्षा अधिक आधुनिक हो गये थे इसलिए उसे आधुनिक समस्या समझ कर ही बाद में दिया गया है।'' निबन्ध विशेष अध्ययन और अनुशीलन से लिखे गए हैं।

पुरातत्त्व निबन्धावली

संवत् १९९४ में महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'पुरातत्त्व निबन्धावली' में हिन्दी के प्राचीन साहित्य पर बड़ी खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की। यद्यपि इस पुस्तक के निबन्ध भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न पत्रों में निकल चुके थे तथापि इनका एक स्थान पर संग्रहीत होना आवश्यक था। महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ आदि निबन्ध हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास को स्पष्ट और निश्चित करने में बहुत सहायक सिद्ध होंगे। इन निबन्धों में साहित्य और धर्म की पुरातन परम्पराएँ अध्ययन के साथ लिखी गई हैं। चौरासी सिद्धों के चित्रों के साथ उनका सम्पूर्ण विवरण इस पुस्तक में मिलेगा। यदि पूरी पुस्तक हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास को स्पष्ट करने में लिखी गई होती तो यह पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय मानी जाती।

माडर्न हिन्दी लिटरेचर

संवत् १९९६ में डा० इन्द्रनाथ मदन ने अँग्रेजी में 'माडर्न हिन्दी लिटरेचर' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह पंजाब यूनीवर्सिटी में पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत थीसिस है। इसमें आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय-विवेचन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से है किन्तु ग्रन्थ के अंतर्गत अनेक प्रयोगों को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अनुचित महत्व दिया गया है। अँगरेजी के पाठकों के लिए ग्रन्थ की उपादेयता अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा

सवत् १९९६ में प० मोतीलाल मेनारिया, एम० ए० ने 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसमें राजस्थानी भाषा, साहित्य तथा कवियों का विवेचनात्मक परिचय है। राजस्थानी साहित्य वस्तुतः डिंगल को हिन्दी की एक शैली ही माननी चाहिए। यदि हिन्दी साहित्य के चारण काल में हम डिंगल की कृतियों का समावेश करते हैं तो कोई कारण नहीं कि आगे के साहित्य में भी हम उनका समावेश क्यों न करें। इस दृष्टि से राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा को हमे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत ही मानना चाहिए। इस ग्रन्थ में लेखक ने राजस्थान के डिंगल और पिंगल दोनों के बहुत प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों को चुना है। यह चुनाव काव्योत्कर्ष, भाषा-शास्त्र और इतिहास की दृष्टि से ही हुआ है। राजस्थानी साहित्य के प्राचीनकाल से लेकर आज तक के इतिहास का यह पहला व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप है। पुस्तक अध्ययन और खोज के साथ लिखी गई है। परिशिष्ट में फुटकर कवियों की कविता के उदाहरण दिए गए हैं।

जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान

सवत् १९९६ में 'जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके लेखक प्रो० (अब डाक्टर) हीरालाल जैन हैं। पुरातत्व निबन्धावली के निबन्धों की भाँति इसके विविध अध्याय भी पत्र-पत्रिकाओं और सभा-मंचों द्वारा जनता तक पहुँच चुके थे। समाज पर इनका 'प्रभाव' अधिक पड़ने की दृष्टि से ही वे अध्याय इस व्यवस्थित और स्थायी रूप में प्रकाशित किए गए। पुस्तक के अध्याय दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग जैन इतिहास से सबन्ध रखता है और द्वितीय भाग जैन समाज से। प्रथम भाग के तीन निबन्ध ही हमारे साहित्य की सपत्ति हैं। जैन इतिहास की पूर्व पीठिका, हमारा इतिहास और प्राचीन इतिहास निर्माण के साधन सबन्धी निबन्ध अत्यन्त विद्वत्ता पूर्वक लिखे गए हैं। प्रथम भाग के शेष अध्याय तथा द्वितीय भाग के

सभी अध्याय जैन समाज और जैन धर्म के प्रचार की दृष्टि रखते हैं। हमारे इतिहास के आदि काल में डा० जैन की यह सामग्री लाभप्रद सिद्ध होगी।

विश्व भारती के अहिन्दी भाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने की दृष्टि से श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जो व्याख्यान दिए थे, उन्हीं के संशोधित और परिवर्द्धित सकलन से 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तैयार हुई जो सवत् १९९७ में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक साहित्यिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से लिखी गई है। लेखक ने हिन्दी साहित्य को अखिल भारतीय साहित्य से संबद्ध कर देने की चेष्टा की है और इसीलिए इस पुस्तक के परिशिष्ट मे वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय कराया गया है। पुस्तक अपने दृष्टिकोण में अत्यन्त मौलिक है। इसमे विद्वान् लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन और गंभीर पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए जिस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता हुआ करती है, वही अन्तर्दृष्टि हमें पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में प्राप्त होती है। पुस्तक मे चारण काल पर प्रकाश नहीं है और न आधुनिक काल पर ही विशेष लिखा गया है। भारतीय धर्म और सांस्कृतिक परम्पराओं से काव्य-चिन्तन का पक्ष स्पष्ट किया गया है।

हिन्दी साहित्य की भूमिका

सवत् १९९८ में श्री ब्रजरत्नदास ने 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ लिखा। इसमे राष्ट्र भाषा हिन्दी (खड़ी बोली) को तथा उसमें प्राप्त साहित्य को लेकर ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विषय-विवेचन किया गया है। अभी तक के इतिहासों में "ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल आदि ही के साहित्य का विशेष रूप से विवरण दिया गया है, खड़ी बोली हिन्दी अर्थात् राष्ट्र भाषा की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया है।" स्व० लाला भगवानदीन जी के काशी साहित्य विद्यालय के एक वार्षिक अधिवेशन में स्वर्गीय

खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास

मुंशी प्रेमचन्द जी ने भी कहा था कि हिन्दी में प्राचीन साहित्य ही कहाँ है, व्रजभाषा-अवधी का साहित्य हिन्दी का साहित्य नहीं है।' इसी बात को लेकर व्रजरत्नदास ने खड़ी बोली का इतिहास लिखा है जिसमे चारणकाल से लेकर वर्तमान काल के आरम्भ तक खड़ी बोली साहित्य की अच्छी समीक्षा है। यथास्थान कविताओं के उद्धरण भी दिए गए हैं। पुस्तक अपने दृष्टिकोण से हिन्दी मे प्रथम है और इससे खड़ी बोली साहित्य के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

संवत् १९९८ मे श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने 'संत साहित्य' पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की 'निर्गुण-धारा' का स्पष्टीकरण किया। इसमें महात्मा कबीर से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक के प्रायः सभी निर्गुणोपासक संतों की आध्यात्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की विवेचना की गई है। संतों का वर्णन काल-क्रमानुसार है। प्रत्येक परिच्छेद में एक विशिष्ट संत का वर्णन उसकी चुनी हुई 'बानियों' के साथ इस प्रकार दिया गया है कि दोनों का एक दूसरे से समर्थन होता चलता है। ग्रन्थ में तीस संतों का उल्लेख है। यद्यपि संतों के हृदय का रहस्य लेखक ने बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है, तथापि उसकी शैली समीक्षात्मक न होकर भावुकतापूर्ण हो गई है। पुस्तक आलोचक के द्वारा न लिखी जाकर एक भावुक भक्त के द्वारा लिखी ज्ञात होती है।

संत साहित्य

प्रयाग विश्वविद्यालय मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) के निर्देशन में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशेष कार्य हुआ। संवत् १९९८ में डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल० ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमे सन् १८५० से १९०० ई० तक के साहित्यिक विकास पर अत्यन्त खोजपूर्ण अध्ययन है। यह पुस्तक डा० वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य

के अँगरेजी में लिखे हुए मूल थीसिस का हिन्दी में संक्षिप्त रूपान्तर है जिस पर उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की। इस उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध के हिन्दी साहित्य के इतिहास में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए विषयों की नवीनता और अनेक रूपता की ओर संकेत किया गया है। साथ ही अपने अध्ययन में लेखक ने ऐतिहासिक समीक्षा का आश्रय भी ग्रहण किया है। स्थान स्थान पर गद्य और पद्य के अवतरणों से लेखक ने विषय को अधिक स्पष्ट और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक आधार कुछ शिथिल होते हुए भी लेखक ने साहित्यिक विचार-धाराओं के निर्णय करने में सफलता प्राप्त की है।

सवत् १९९९ में डा० श्री कृष्णलाल एम० ए०, डी० फिल्० ने डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० के निर्देशन में 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह डी० फिल० के लिए स्वीकृत उनकी थीसिस 'दि डेवलपमेंट अव् हिन्दी लिटरेचर इन दि फ़र्स्ट क्वार्टर अव् दि ट्वेंटिएथ सेंचुरी' का रूपान्तर है। अविकल होते हुए भी इस रूपान्तर में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। यह अध्ययन सन् १९०० से १९२५ ई० तक के साहित्य के विकास पर अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश डालता है। पहली बार वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के विकास का ऐसा सूक्ष्म, निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन को वर्त्तमान हिन्दी साहित्य की दिशा, कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना तथा उपसंहार के अंतर्गत उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, गम्भीर साहित्य में विभाजित कर अत्यन्त विश्लेषणात्मक शैली में लेखक ने अपने ग्रन्थ में सुसज्जित किया है। परिशिष्ट में अँगरेजी से हिन्दी और हिन्दी से अँगरेजी का पारिभाषिक शब्द-कोष भी दे दिया है जो हिन्दी में आधुनिक आलोचना शास्त्र की पारिभाषिक

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

मुंशी प्रेमचन्द जी ने भी कहा था कि हिन्दी में प्राचीन साहित्य ही कहाँ है, व्रजभाषा-अवधी का साहित्य हिन्दी का साहित्य नहीं है।' इसी बात को लेकर व्रजरत्नदास ने खड़ी बोली का इतिहास लिखा है जिसमें चारणकाल से लेकर वर्तमान काल के आरम्भ तक खड़ी बोली साहित्य की अच्छी समीक्षा है। यथास्थान कविताओं के उद्धरण भी दिए गए हैं। पुस्तक अपने दृष्टिकोण से हिन्दी में प्रथम है और इससे खड़ी बोली साहित्य के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सवत् १९९८ में श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने 'संत साहित्य' पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की 'निर्गुण-धारा' का स्पष्टीकरण किया। इसमें महात्मा कबीर से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक के प्राय. सभी निर्गुणोपासक सतों की आध्यात्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की विवेचना की गई है। संतों का वर्णन काल-क्रमानुसार है। प्रत्येक परिच्छेद मे एक विशिष्ट संत का वर्णन उसकी चुनी हुई 'बानियों' के साथ इस प्रकार दिया गया है कि दोनों का एक दूसरे से समर्थन होता चलता है। ग्रन्थ में तीस सतों का उल्लेख है। यद्यपि सतों के हृदय का रहस्य लेखक ने बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है, तथापि उसकी शैली समीक्षात्मक न होकर भावुकतापूर्ण हो गई है। पुस्तक आलोचक के द्वारा न लिखी जाकर एक भावुक भक्त के द्वारा लिखी ज्ञात होती है।

सत साहित्य

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) के निर्देशन में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशेष कार्य हुआ। सवत् १९९८ में डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल० ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें सन् १८५० से १९०० ई० तक के साहित्यिक विकास पर अत्यन्त खोजपूर्ण अध्ययन है। यह पुस्तक डा० वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य

के अँगरेज़ी में लिखे हुए मूल थीसिस का हिन्दी में संक्षिप्त रूपान्तर है जिस पर उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की। इस उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध के हिन्दी साहित्य के इतिहास में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए विषयों की नवीनता और अनेक रूपता की ओर संकेत किया गया है। साथ ही अपने अध्ययन में लेखक ने ऐतिहासिक समीक्षा का आश्रय भी ग्रहण किया है। स्थान स्थान पर गद्य और पद्य के अवतरणों से लेखक ने विषय को अधिक स्पष्ट और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक आधार कुछ शिथिल होते हुए भी लेखक ने साहित्यिक विचार-धाराओं के निर्णय करने में सफलता प्राप्त की है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

संवत् १९९९ में डा० श्री कृष्णलाल एम० ए०, डी० फ़िल्० ने डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० के निर्देशन मे 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह डी० फ़िल० के लिए स्वीकृत उनकी थीसिस 'दि डेवलपमेंट अव् हिन्दी लिटरेचर इन दि फ़र्स्ट क्वार्टर अव् दि ट्वेंटिएथ सेंचुरी' का रूपान्तर है। अविकल होते हुए भी इस रूपान्तर में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। यह अध्ययन सन् १९०० से १९२५ ई० तक के साहित्य के विकास पर अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश डालता है। पहली बार वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के विकास का ऐसा सूक्ष्म, निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन को वर्त्तमान हिन्दी साहित्य की दिशा, कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना तथा उपसंहार के अंतर्गत उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, गम्भीर साहित्य में विभाजित कर अत्यन्त विश्लेषणात्मक शैली में लेखक ने अपने ग्रन्थ में सुसज्जित किया है। परिशिष्ट में अँगरेज़ी से हिन्दी और हिन्दी से अँगरेज़ी का पारिभाषिक शब्द-कोष भी दे दिया है जो हिन्दी में आधुनिक आलोचना शास्त्र की पारिभाषिक

शब्दावली के निर्माण में विशेष सहायक होगा। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल (सन् १८५० से १९२५ ई०) तक का विस्तृत और आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत हो गया है। इस कार्य को करा लेने का श्रेय प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा को है।

इसी वर्ष (सवत् १९९९ मे) श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य का अध्ययन 'हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी' के रूप मे उपस्थित किया। यह पुस्तक विभिन्न समयों पर लिखे गए उनके निबन्धों का सग्रह है। इसमें बीसवीं सदी के चालीस वर्षों के इक्कीस साहित्यिक व्यक्तित्वों का उल्लेख किया गया है। लेखक ने अपनी पुस्तक में कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन, कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता विशालता, रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन तथा काव्य के जीवन सबन्धी सामजस्य और सदेश का अध्ययन प्रस्तुत किया है। संक्षेप में, साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का उद्देश्य है। किन्तु समस्त पुस्तक लेखक की व्यक्तिगत रुचि और पक्षपात से इतनी अधिक शासित है कि न्याय की अवहेलना हो गई है। पुस्तक के निबन्ध किसी नियमित क्रम में भी नहीं लिखे गये। लेखक महोदय स्वय स्वीकार करते हैं कि "लेखकों की संपूर्ण रचनाओं को सब समय सामने नहीं रक्खा गया है। कहीं कहीं तो किसी एक ही रचना पर पूरा निबन्ध आधारित है।' ऐसी अवस्था में पुस्तक मे विश्लेषण और विवेचना कहाँ तक सतुलित हो सकती है, यह स्पष्ट है। इन आलोचनाओं मे किन्हीं लेखकों और कवियों के प्रति तो कड़े शब्दों का व्यवहार भी हो गया है। ऐसे स्थलों पर लेखक ने

हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी

आलोचना-गत सहानुभूति—जो ग्रन्थकार का सबसे आवश्यक गुण होना चाहिए—अपने हाथ से खो दी है। आलोच्य विषय में अनेक प्रमुख कवियों या लेखकों की उपेक्षा भी की गई है। मैं समझता हूँ कि यह उपेक्षा वास्तविक उपेक्षा नहीं है। क्योंकि यह कृति ग्रन्थ रूप में कभी नहीं लिखी गई। समय समय पर लिखे गए निबन्ध जो उस समय की आवश्यकता या रुचि से लिखे गए थे—ग्रन्थ में संकलित कर दिए गए। यदि कोई कवि या लेखक श्री वाजपेयी जी से अपने सबन्ध में कोई लेख लिखा लेता या स्वयं वाजपेयी जी लिख देते तो वह भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित हो जाता और वाजपेयी जी किसी तर्क से उस लेखक की स्थिति अपने ग्रन्थ में मान्य कर भी देते। अतः अपनी महानता से या सौभाग्य से जो लेखक वाजपेयी जी के आलोच्य व्यक्ति बने, वे ही बीसवीं शताब्दी के व्यक्तित्वों में आ सके और शेष रह गए। लेखक की 'महत्त्वाकांक्षा' से जब ये निबन्ध ग्रन्थ रूप में आए तो नये निबन्ध लिखने का अवकाश या विचार लेखक महोदय की कार्य-व्यस्तता में स्थान नहीं पा सका। फलतः अपनी रुचि से स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में लिखे गए ये लेख ग्रन्थ रूप में आ गए। इन लेखों में चिंतन-पक्ष प्रधान है और यही ग्रन्थ की विशेषता है।

हिन्दी पुस्तक साहित्य

संवत् २००२ में डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' (१८६७-१९४२ ईस्वी) लिख कर हिन्दी साहित्य के पिछले ७५ वर्षों की पूर्ण साहित्य-सबन्धी लिखित सामग्री का इतिवृत्त हिन्दी संसार के समक्ष प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में हमारी चिन्ता धारा में साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूप रेखा देकर उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य का दृष्टिकोण स्पष्ट किया। उपर्युक्त काल के साहित्य को उन्होंने दो युगों में विभाजित किया है। पहला युग १८६७-१९०९ ई० तक है जिसको विगत युग कहा गया है, और दूसरा युग १९०९-१९४२ ई० तक है जिसे वर्तमान युग का नाम दिया गया है। दोनों

युगों में प्रकाशित हिन्दी के समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सूचनाएँ संग्रहीत की गई हैं। ग्रन्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग अधिक से अधिक व्यापक अर्थ मे किया गया है जिसमें ललित और उपयोगी साहित्य दोनों ही हैं। ग्रन्थ को उपयोगी बनाने के लिए इसमें विषय क्रम से बनी हुई सूची, लेखक नामानुक्रम से बनी हुई सूची तथा पुस्तक नामानुक्रम से बनी हुई सूची रखी गई हैं, साथ ही एक विस्तृत भूमिका में प्रत्येक विषय के साहित्य की विविध विचार धाराओं का अध्ययन भी किया गया है। साहित्य-निर्माण के लिए लेखक ने सुझाव देने में अपने अध्ययन और चिन्तन का परिचय दिया है। यह ग्रन्थ हमारी आधुनिक साहित्य-संपत्ति का 'बीजक' कहा जा सकता है।

इन विस्तृत इतिहास ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य छोटे छोटे इतिहास भी लिखे गए जिनमें निम्नलिखित विशेष अच्छे हैं —

स० १९८० हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास—श्री रामनरेश त्रिपाठी
स० १९८७ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री रमाशकर प्रसाद
स० १९८८ हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात—श्री मुशीराम शर्मा
स० १९८८ हिन्दी साहित्य—श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी
सं० १९८८ हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त इतिहास—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
स० १९८८ साहित्य प्रकाश—श्री रामशकर शुक्ल 'रसाल'
स० १९८८ साहित्य परिचय ,,
सं० १९८९ हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री ब्रजरत्नदास
स० १९९४ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—श्री गुलाब राय
सं० १९९५ हिन्दी साहित्य की रूपरेखा—डा० सूर्यकान्त

सं० १६६५ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री गोपाल लाल खन्ना

सं० १६६६ हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री मिश्रबन्धु

सं० १६६७ हिन्दी साहित्य का रेखा-चित्र—श्री उत्तमचन्द्र श्रीवास्तव

सं० १६६७ खड़ी बोली का सक्षिप्त परिचय—श्री रामनरेश त्रिपाठी

इन इतिहासों एवं संक्षिप्त इतिहासों के अतिरिक्त साहित्य के इतिहास के विविधि अंगों पर भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन अगों में कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास, तथा निबन्ध के ऐतिहासिक ग्रन्थ आते हैं। वे अधिकतर वर्तमान काल से ही संबन्ध रखते हैं। उनका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

कविता

सं० १९९३ कवि और काव्य—श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी

स० १६६५ नवयुग काव्य विमर्श—श्री ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल'

सं० १६६७ हिन्दी कविता का विकास—श्री आनन्दकुमार

सं० १६६८ हिन्दी के कवि और काव्य १-३ श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी

सं० १६६८ काव्य कलना (द्वितीय सं०) श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

स० १६६६ हिन्दी के वर्तमान कवि और उनका काव्य } श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

सं० २००० आधुनिक काव्य-धारा—डा० केसरी नारायण शुक्ल

सं० २००२ हिन्दी गीति काव्य—श्री ओम् प्रकाश अग्रवाल

सं० २००२ हिन्दी काव्य-धारा – राहुल सांकृत्यायन

नाटक

सं० १९८७ हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

सं० १९९५ हिन्दी नाट्य साहित्य—श्री ब्रजरत्नदास

सं० १९९७ हिन्दी नाट्य विमर्श—श्री गुलाबराय

सं० १९९७ हमारी नाट्य परम्परा—श्री दिनेश नारायण उपाध्याय

सं० १९९८ हिन्दी नाट्य चिंतन – श्री शिखरचन्द्र जैन

सं० १९९९ आधुनिक हिन्दी नाटक—श्री नगेन्द्र

सं० १९९९ एकांकी नाटक—श्री अमरनाथ गुप्त

सं० १९९९ हिन्दी नाटक साहित्य की समालोचना—श्री भीमसेन

कहानी और उपन्यास

सं० १९९६ हिन्दी के सामाजिक उपन्यास—श्री ताराशकर पाठक

सं० १९९७ हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव

सं० २००१ आधुनिक कथा-साहित्य—श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय

निबन्ध

सं० १९९८ हिन्दी साहित्य में निबन्ध—श्री ब्रह्मदत्त शर्मा

सं० २००२ हिन्दी मे निबन्ध-साहित्य—श्री जनार्दन स्वरूप अग्रवाल

आलोचना

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के कालों और विशिष्ट ागों पर भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। ऐसे ग्रन्थ अधिकतर परीक्षाओं के

पाठ्य ग्रन्थों के रूप में ही लिखे गए हैं। विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्देश निम्नलिखित है:—

सं० १९९१ हिन्दी साहित्य का गद्यकाल—श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी

सं० १९९५ साहित्यिक— श्री० शान्ति प्रिय द्विवेदी
सं० १९९७ आधुनिक हिन्दी साहित्य—श्री स० ही० वात्स्यायन
सं० १९९७ नया हिन्दी साहित्य—श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त
सं० १९९७ गद्य भारती— { श्री केशवप्रसाद मिश्र, श्री पद्म नारायण आचार्य }
सं० १९९७ हमारे गद्य निर्माता—श्री प्रेम नारायण टंडन
सं० १९९८ युग और साहित्य - श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी
सं० १९९८ सञ्चारिणी—(द्वि० सं०) „

सं० १९९९ हिन्दी साहित्य निर्माता—श्री प्रेम नारायण टंडन
सं० २००० हिन्दी साहित्य की वर्तमान विचार-धारा—श्री रामशर्मा

सं० २००१ व्रजभाषा साहित्य में नायिका-निरूपण—श्री प्रभु-दयाल मीतल

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में मिलती है। एक अन्तर्साक्ष्य के रूप में और दूसरी बाह्य साक्ष्य के रूप में।

साहित्य की सामग्री

साहित्य के जितने परिचय ग्रन्थ हैं, उनके द्वारा मिली हुई सामग्री अन्तर्साक्ष्य के रूप में है और साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से मिली हुई सामग्री बाह्य साक्ष्य के रूप में। बाह्यसाक्ष्य की अपेक्षा अन्तर्साक्ष्य अधिक विश्वसनीय होता है, अतएव पहले उसी पर विचार करना है। निम्नलिखित परिचय ग्रन्थों ने हमारे सामने साहित्य के इतिहास की सामग्री प्रस्तुत की है :—

सख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
१	चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता	गोकुल नाथ[1]	स० १६२५	इसमें पुष्टि मार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनी पर गद्य में प्रकाश डाला गया है; इनमें अनेक कवि भी हैं। अष्टछाप के कवि भी इसी मे निर्दिष्ट हैं।
२	भक्तमाल	नाभा-दास	सं १६४२	१०८ छप्पय छन्दों में भक्तों का विवरण है। इन मे अनेक भक्त कवि भी हैं। साधारणतया प्रत्येक भक्त के लिए एक छप्पय है जिस में उसकी विशेपताओं का उल्लेख है।
३	श्री गुरु ग्रन्थ साहब	गुरु अर्जुन देव (सग्रह) कर्त्ता	स १६६१	श्री गुरु अर्जुन देव ने प्रमुखत नानक एव कबीर, रैदास, नामदेव आदि १६ सतों का काव्य सग्रह किया है।
४	गोसाईं चरित्र	बेनी माधव दास[2]	स १६८७	इसमें चौपाई, दोहा और तोटक छन्दों में गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित्र लिखा गया है। इसमें अनेक अलौकिक घटनाओं का भी समावेश किया गया है।

१ डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार दोनों ग्रन्थ एक ही लेखक के द्वारा नहीं लिखे गए। हिन्दुस्तानी, अप्रैल १६३२, भाग २, सख्या २, पृष्ठ १८३।

२ इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में सदेह है।

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
५	भक्तनामावली	ध्रुवदास	सं. १६६८	११६ भक्तों का संक्षिप्त चरित्र वर्णन है। अंतिम नाम नाभादास जी का है।
६	कविमाला	तुलसी[1]	स. १७१२	७५ कवियों की कविताओं का संग्रह। इन कवियों का कविता-काल सं० १५०० से १७०० तक है।
७	कालिदास हजारा	कालिदास त्रिवेदी	सं १७७५	२१२ कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह। इन कवियों का कविता-काल सं० १४८० से लेकर १५७५ तक है। इसी के आधार पर शिवसिंह ने अपना 'सरोज' लिखा।
८	काव्य-निर्णय	भिखारी दास	लगभग १७८२	इस ग्रन्थ में काव्य के आदर्शों के साथ अनेक कवियों का भी निर्देश किया गया है। किन्तु यह निर्देश संक्षिप्त है। कवित्त नम्बर १६ और दोहा नम्बर १७।
९	सत्कवि गिरा-विलास	बलदेव	१८०३	सत्रह कवियों का काव्य-संग्रह जिनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी आदि मुख्य हैं।
१०	कवि नामावली	सूदन	१८१०	इसमें सूदन ने दस कवित्तों में कवियों के नाम गिना कर उन्हें प्रणाम किया है।

१ ये तुलसी रामचरित मानस के महाकवि तुलसीदास से भिन्न हैं।

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
११	विद्वान मोद तरंगिणी	सुब्बा सिंह	१८७४	४५ कवियों का काव्य-संग्रह जिसमें पट्ऋतु, नखशिख, दूती आदि का वर्णन है।
१२	राग सागरो द्भव राग-कल्पद्रुम	कृष्णा नन्द व्यास देव	१६००	कृष्णोपासक दो सौ से अधिक कवियों का काव्य-संग्रह उनके ग्रन्थों की नामावली सहित दिया गया है। यह ग्रन्थ तीन भागों में है। इसमें हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, तेलगू, गुजराती, बंगाली, उड़िया, अँगरेजी, अरबी आदि में लिखे गए ग्रन्थों का भी उल्लेख हैं।
	शृङ्गार संग्रह	सरदार कवि	१६०५	इसमे १२५ कवियों के उद्धरण हैं। इसमें काव्य के विविध अंगों का निरूपण है।
	रस चन्द्रोदय	ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी	१६२०	बुन्देलखंड के २४२ कवियों का काव्य-सग्रह।
	दिग्विजय भूखन	गोकुल प्रसाद	१६२५	१६२ कवियों का काव्य-संग्रह।
	सुन्दरी तिलक	हरिश्चन्द्र	१६२६	६६ कवियों का सवैया-संग्रह।
	काव्य-सग्रह	महेशदत्त	१६३२	अनेक कवियों का काव्य संग्रह।
	कवित्त रत्नाकर	मातादीन मिश्र	१६३३	२० कवियों का काव्य-संग्रह।

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
१६	शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर	१६४०	१००० कवियों का जीवन-वृत्त उनकी कविताओं के उदाहरण सहित दिया गया है। इसी के आधार पर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान' लिखा है। हिन्दी भाषा में सर्व-प्रथम इतिहास का सूत्रपात यहीं से माना जाना चाहिये।
२०	विचित्रोपदेश	नकछेदी तिवारी	१६४४	अनेक कवियों का काव्य-संग्रह।
२१	कवि रत्नमाला	देवी प्रसाद मुंसिफ	१६६८	राजपूताने के १०८ कवि कोविदों की कविता जीवनी सहित दी गई है।
२२	हफ़ीज़ुल्ला खाँ हज़ारा	हफ़ीज़ुल्ला खाँ	१६७२	दो भागों में अनेक कवियों का कवित्त और सवैया संग्रह।
२३	संतबानी संग्रह तथा अन्य संतों की बानी	'अधम'	१६७२	जीवन-चरित्र के सहित २४ संतों का काव्य-संग्रह।
२४	सूक्ति सरोवर	लाला भगवान दीन	१६७६	व्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियाँ।
२५	सेलेक्सन्श फ्राम हिन्दी लिटरेचर	लाला सीताराम	१६७८ से १६८२	साहित्य के अनेक कवियों पर आलोचना और उनका काव्य-संग्रह।

बाह्यसाक्ष्य के अन्तर्गत दो रूपों में सामग्री प्राप्त होती है। पहले रूप में साहित्यिक सामग्री है तथा दूसरे रूप मे शिलालेख तथा अन्य प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के निर्देश आदि हैं। हमें अपने साहित्य के इतिहास के लिए निम्नलिखित मुख्य मुख्य आलोचनात्मक एव वर्णनात्मक पुस्तकों से साहित्यिक सामग्री मिलती है :—

ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
१—राजस्थान	टाड	स १८८६	राजस्थान के चारणों के निर्देश हैं।
२—हिन्दूइज्म एण्ड ब्रह्मनिज्म	मानियर विलियम्स	सं. १६४०	हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण में हिन्दी-कवियो और आचार्यों के विचारों की आलोचना।
३—नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट	श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, हीरालाल	सं १६५७ से प्रारम्भ १६८८ तक	अनेक अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय एव उनकी रचना के उदाहरण।
४—कबीर एण्ड दि कबीरपंथ	वेसकट	स १६६४	कबीर और कबीर-पन्थ के आदर्शों का स्पष्टीकरण।
५—हिस्ट्री आव् दि सिख रिलीजन	मैकालिफ	स १६६५	सिक्ख धर्म का आविर्भाव, उसके अन्तर्गत हिन्दी-कवियों का भी उल्लेख।
६—इण्डियन-थीज्म	मैकनिकाल	सं १६७२	हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण। इस सम्बन्ध में कवियों का उल्लेख।

ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
७ – एडिस्क्रिप्टिव-केटलॉग आव् वार्डिक एण्ड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट	डा० एल० पी० टैसीटरी	सं.१९७४	राजस्थान में डिंगल काव्य के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों के विवरण और उदाहरण।
८—एन आउट लाइन आव् दि रिलीजस लिटरेचर आव् इण्डिया	फर्कहार	१९७७	धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकाश में कवियों पर आलोचना।
९—गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़	ब्रिग्स	१९९५	गोरखनाथ और नाथ संप्रदाय का धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन।
१०—राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज	मोतीलाल मेनारिया	१९९९	राजस्थान के अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय और उनकी रचना के उदाहरण।

इन ग्रन्थों ने अधिकतर साहित्य के सांस्कृतिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डाला है। राजस्थान में अवश्य हम साहित्य की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में कुछ जान सकते हैं। साधारणतः धर्म के आदर्शों का प्रचार करने वाले कवियों का ही बाह्यसाक्ष्य से हमें विवरण मिलता है। कारण यह है कि इस अङ्ग के ग्रन्थ ही धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये हैं।

अन्य बाह्य साक्ष्यों में चंदेल राजा परमाल (परमार्दि देव के समय के जैन शिलालेख तथा आबू पहाड़ के राजा जेत और शलख

के शिलालेख आदि हैं। ऐसे शिलालेख केवल प्राचीन इतिहास पर ही प्रकाश डालते हैं। ऐतिहासिक स्थानों की सामग्री में

कबीर चौरा, काशी
असी घाट, काशी
कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट
जायसी की समाधि, अमेठी
तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, राजापुर
तुलसीदास के स्थान का अवशेष, सोरों
नरसिंह जी का मंदिर, सोरों
केशवदास का स्थान, टीकमगढ़ और सागर

आदि हैं। इस सामग्री से तत्कालीन कवियों के जीवन-विवरणों पर प्रकाश पड़ता है। यह सामग्री आलोचकों और विद्वानों के विवेचन के लिए विशेष महत्त्व की है।

इस समस्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों की जीवनी और उनकी साधना का पर्याप्त ज्ञान हमें जनश्रुतियों द्वारा प्राप्त होता है। जनश्रुतियाँ यद्यपि विशेष प्रामाणिक तो नहीं होतीं तथापि उनके द्वारा सत्य की ओर कुछ संकेत तो मिलता ही है।

हमारे साहित्य की सब से बड़ी विशेषता दर्शन और धर्म के उच्च आदर्श के रूप में है। हृदय को परिष्कृत करने के साथ ही जीवन को पवित्र और सदाचारानुमोदित बनाने में हमारे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है, यों तो हिन्दू-जीवन में दर्शन और धर्म में पार्थक्य नहीं है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में यह बात और भी स्पष्ट है।

हमारे इतिहास की विशेषताएँ

दर्शन ही धर्म का निर्माण करता है और धर्म ही दर्शन के लिए जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म हमारे साहित्य के निर्माता हैं। दर्शन की जटिल विचारावली का प्रवेश तो हमारे साहित्य में संस्कृत से हुआ और धर्म की भावना का प्राधान्य राजनीतिक परिस्थिति से हुआ। एक बार धर्म की भावना

के जागृत होते ही दर्शन के लिए एक उर्वर क्षेत्र मिल गया और हमारे धार्मिक काल की कविता भक्ति की आह्लादकारिणी भावना लिए अवतरित हुई। तुलसी और मीराँ की कविता ने हमारे साहित्य को कितना गौरवान्वित किया, यह समय ने प्रमाणित कर दिया है। धर्म का शासन इतने प्रधान रूप से हम साहित्य में देखते हैं कि रीतिकाल में भी भाषा को माँजने वाले कवि धर्म के वातावरण की अवहेलना नहीं कर सके। नायक-नायिका भेद, नख-शिख आदि मे श्री राधाकृष्ण की अनेक शृङ्गार-चेष्टाएँ—पार्थिवता के बहुत समीप होते हुए भी—प्रदर्शित हुईं। धर्म के आलोचकों ने राधाकृष्ण के इस संबन्ध को आत्मा और परमात्मा के मिलन का रहस्यवादमय रूप दिया है, यद्यपि जीवन की भौतिकता का निरूपण इतने नग्न रूप में है कि ऐसा मानने में हमें संकोच है। जो हो, हम धर्म का अधिकार-पूर्ण प्रभाव साहित्य में स्पष्टतया देखते हैं। आजकल भी व्रजभाषा कविता के आदर्श वही राधाकृष्ण हैं। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हमारे साहित्य ने दर्शन और धर्म की भावना का संचित कोष प्रकारान्तर से हमारे सामने रक्खा है, यही उसकी प्रमुख विशेषता है।

साहित्य का महत्व

हमारे साहित्य ने इतिहास की बहुत रक्षा की है। चारणों के रासो और ख्यातों ने तथा राजाओं द्वारा सम्मानित राज-कवियों के ऐतिहासिक काव्यों ने साहित्य के सौन्दर्य के साथ इतिहास की सामग्री भी सञ्चित कर रक्खी है। 'टाड राजस्थान' के लेखन में चारणों की रचनाओं से बहुत सहायता मिली है।

इस प्रकार प्रधानतः निम्नलिखित कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इतिहास के अनेक व्यक्तियों एवं घटनाओं पर प्रकाश डाला है:—

संख्या	कवि	रचना	संवत्
१.	नाल्ह	बीसलदेव रासो	१२१२

संख्या	कवि	रचना	संवत्
२	हेमचन्द्र	कुमार पाल चरित	१२१६
३	सोम प्रभूसूरि	कुमार पाल प्रतिबोध	१२४०
४	चन्द	पृथ्वीराज रासो [1]	१२४७
५	धर्मसूरि	जम्बू स्वामी रासो	१२६६
६	तेरुतुंग	प्रबन्ध चिन्तामणि	१३६६
७	अम्रदेव	संघपति समरा रासा	१३७१
८	ईश्वर सूरि	ललितांग चरित्र	१५६१
९	केशवदास	वीरसिंह देव चरित	१६६४
१०	,,	रतन बावनी	लगभग वही
११	भूषण	शिवराज भूषण	१६७४
१२	केशवदास चारण गाडण	गुण रूपक	१६८१
१३	हेमचारण	महाराजा राजसिंह का गुण रूपक	१६८१
१४	बनारसीदास	अर्द्धकथानक	१६९८
१५	श्रीकृष्ण भट्ट	सांभर युद्ध	लगभग १७००
१६	जग्गा चारण[2]	वचनका (?)	१७१५
१७	मान	राजविलास	१७५२
१८	,,	लक्ष्मण शतक	लगभग वही
१९	,,	नीतिनिधान	लगभग वही
२०	,,	समरसार	लगभग वही
२१	गोरेलाल	छत्रप्रकाश	१७६४
२२	मुरलीधर	जङ्गनामा	१७६७

१—प्रामाणिकता में सन्देह है।

२—राजपूताना में हिन्दी-पुस्तकों की खोज—देवीप्रसाद मुंसिफ़, पृष्ठ १२

संख्या	कवि	रचना	संवत्
२३	हृषीकेश	जगत राज दिग्विजय	१७६६
२४	सूदन	सुजान चरित्र	१८२०
२५	पद्माकर	हिम्मत वहादुर विरुदावली	१८५५
२६	,,	जगतसिंह विरुदावली,	लगभग वही
२७	गोपाल	भगवंतराय की विरुदावली	१८५५
२८	जोधराज	हम्मीर रासो	१८७५
२९	प्रताप साहि	जैसिंह प्रकाश	१८६१

सूदन का सुजान चरित्र और पद्माकर को हिम्मत वहादुर विरुदावली एवं जगतसिंह विरुदावली[1] आदि ग्रन्थ इतिहास की अनेक घटनाओं पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। जहाँ इतिहास की घटनाओं का ठीक ठीक परिचय नहीं मिलता, वहाँ हमारे साहित्य के इन ऐतिहासिक ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है। ओरछा के वीरसिंह देव का यथार्थ परिचय हमें इतिहास से नहीं, केशवदास के वीरसिंहदेव चरित से मिलता है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में अनेक विषय की पुस्तकें भी लिखी गई हैं जिनसे साहित्य के व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण का भी परिचय मिलता है। यद्यपि उन पुस्तकों की रचना अधिकतर पद्य में ही हुई, तथापि काव्य के अतिरिक्त अन्य विषयों पर की गई रचनाओं से हमारे साहित्य की वहुमुखी प्रवृत्ति लक्षित होती है अतः जो लोग हिन्दी साहित्य को केवल नव रस मय काव्य समझे हुए हैं, उन्हें साहित्य की अन्य विषयक रचनाओं पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। संक्षेप में काव्य के अतिरिक्त अन्य जिन विषयों पर रचनाएँ हुई हैं, उनमें मुख्य-मुख्य रचनाओं का विवरण इस प्रकार है :—

---

1 ना० प्र० सभा की खोज रिपोर्ट (१९०६, १९०७ और १९०८) पृष्ठ

सं० विषय	ग्रन्थ	लेखक	संवत्
१ ज्योतिष			
	तत्त्व मुक्तावली	सितकंठ	१७२७
	समय बोध	कृपाराम	१७७२
	मत चन्द्रिका	फतेहसिंह	१८०७
	भाषा ज्योतिप	शंकर	अज्ञात
	कर्म विवाक	श्रीसूर्य	,,
२ वैद्यक			
	रामविनोद	रामचन्द्र मिश्र	१५०
	वैद्य मनोत्सव	नैनसुख	१६४६
	सार सग्रह	गङ्गाराम	१७१४
	भिषज प्रिया	सुदर्शन वैद्य	१७७६
	हिम्मत प्रकाश	श्रीपति भट्ट	१७३१
	आयुर्वेद विलास	देवसिंह राजा	१७३७
	दयाविलास	दयाराम	१७७६
	सारङ्गधर सहिता	नेतसिंह	१८०८
	चिकित्सा सार	धीरजराम	१८१०
	वैद्यविनोद	हरिवंश राय	१८२२
	औषधि-निधि	धनन्तर	१८३६
	औषधि सार	छत्रसाल मिश्र	१८४२
	वैद्य मनोहर, सजीवन सार	नोनेशाह	१८५१
	वैद्यक ग्रन्थ की भाषा	अन्तराम	१८५७
	वैद्य प्रिया	खेतसिंह	१८७७
	नामचक्र	लछमन प्रसाद	१९००
	शिवप्रकाश	शिवदयाल	१९१०
	निघंट भाषा	मदनपाल	अज्ञात
	माधव निदान	चन्द्रसेन	,,

स०	विषय	ग्रन्थ	लेखक	संवत्
		ज्वर चिकित्सा प्रकरण अमृत संजीवनी	बावा साहेब	अज्ञात
३	गणित			
		गुण प्रकाश	फतेहसिंह	१८०७
		गणित सार	भीमजू	१८७३
		गणित चंद्रिका	धीरजसिंह	१८६६
		भाषा लीलावती	भोलानाथ	अज्ञात
४	राजनीति			
		राजभूखन	कोविद	१७५७
		सभा प्रकाश	बुद्धिसिंह	१८६७
		नृपनीतिशतक	राजा लक्ष्मणसिंह	१६००
		राजनीति के दोहे	देवीदास	अज्ञात
		राजनीति के भाव	देवमणि	,,
५	सामुद्रिक			
		सामुद्रिक	रतनभट्ट	१७४५
		,,	यदुनाथ शास्त्री	१८५७
		,,	दयाराम	अज्ञात
६	संगीत			
		सभा भूषण	गङ्गाराम	१७४४
		राग रत्नाकर	राधाकृष्ण	१७६६
		रागमाला	रामसखे	१८०४
		रागमाला	यशोदानन्द	१८१५
७	कोष			
		नाममाला नाम मञ्जरी, नाममाला अनेकार्थ मञ्जरी	नन्ददास	१६२५

सं० विषय	ग्रन्थ	लेख	सव
१ ज्योतिष			
	तत्त्व मुक्तावली		
	समय बोध		
	मत चन्द्रिका		
	भाषा ज्योतिष		
	कर्म विवाक		
२ वैद्यक			
	रामविनोद		
	वैद्य मनोत्सव		
	सार सग्रह		
	भिषज प्रिया		
	हिम्मत प्रकाश		
	आयुर्वेद विलास		

अपने सांसारिक जीवन को तुच्छ समझ कर पारलौकिक सत्ता पर दृष्टि गड़ाए हुये थे। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' अथवा 'हौं प्रभु सब पतितन कौ टीकौ' कह कर वे अपनी हीनता वर्णित करते थे। राष्ट्र-निर्माण की भावना अथवा सम्मिलित संगठन का दृष्टिकोण तो हमारे कवियों के सामने था ही नहीं। प्रत्येक कवि व्यक्तित्व की परिधि में सीमित होकर परमात्मा की प्रार्थना में ही अपने को भुला देना चाहता था। इसीलिए केशवदास के पूर्व तक किसी कवि ने अपना यथेष्ट परिचय ही नहीं दिया। यह बात दूसरी है कि कवि ने ग्लानि अथवा अपनी हीनता के प्रदर्शन में अज्ञात रूप से अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया हो। तुलसीदास ने ही अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन अपनी आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर किया है। रीतिकाल में न तो कार्य की भावना ही प्रवल रह गई थी और न आत्मग्लानि से व्यक्तित्व ही क्षुद्र रह गया था। शृङ्गार और शृङ्गार-जनित जागृति ने प्रत्येक कवि को विलासी नहीं तो भावुक तो अवश्य वना दिया था। इसी कारण रीतिकाल में हमें कवियों का यथेष्ट परिचय मिलता है। केशवदास जो धार्मिक काल की संध्या में देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति उदित होते हैं, अपना चरिचय देते हैं।[1] भिखारीदास तो अपने काव्य-निर्णय में काव्य-कौशल के द्वारा चमत्कारपूर्ण परिचय देने में व्यग्र जान पड़ते हैं। कवियों का पूर्ण परिचय न पाने के कारण हमें इतिहास में कहीं 'लगभग'[2] का सहारा लेना पड़ता है; कभी वाह्य साक्ष्य का[3]। कहीं हम किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर कवि का जीवन जानने की चेष्टा करते हैं।[4]

---

१ कविप्रिया—कविवंश वर्णन के २१ दोहे— प्रियाप्रकाश टीका— ला० भगवानदीन, सं० १९८२, पृष्ठ २१, २२।

२ नन्ददास के सम्बन्ध में।

३ मीरा के सम्बन्ध में।

४ शाहजहाँ के इतिहास के आधार पर रहीम के जीवन का विवरण।

स० विषय	ग्रन्थ	लेखक	संवत्
	अमरकोष भाषा	हरिजू मिश्र	१६६२
	शब्द रत्नावली	प्रयागदास	१८६६
८ उपवन-विज्ञान			
	बाग विलास	शिवकवि	१८५७
	उपवन विनोद	भोज	१८६७
९ विविध			
	दस्तूर चिन्तामणि (क्षेत्रमिति)	धीरजसिंह	१८६६
	भोजन विलास (पाकशास्त्र)	प्रयागदास	१८७७
	जुद्ध जोत्सव (सेना विज्ञान)	जगन्नाथ	१८८७
	सिद्धसागर तंत्र (तंत्रविद्या)	शिवदयाल	१८६३
	सार संग्रह (विविध)	दाराशाह	१७०७
	धनुर्वेद	यशवंतसिंह	अज्ञात

यदि साधारणतया देखा जाय तो वैद्यक विषय विशेष विस्तार से लिखा गया। उसके बाद क्रमशः ज्योतिष, राजनीति, संगीत, कोष, गणित, सामुद्रिक आदि आते हैं।

हिन्दी साहित्य में अभी तक ऐसे बहुत से स्थल हैं, जिनके निर्धारण में शङ्का की जाती है। गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूरदास जी की जन्मतिथि, कबीर का चरित्र इसिहास-लेखन आदि विषयों पर अभी तक मत निश्चित नहीं हो में कठिनाइयाँ पाया। उसके दो कारण हैं। एक तो हमारे यहाँ इतिहास-लेखन की प्रथा ही नहीं थी। यदि घटनाओं और व्यक्तियों पर कुछ लिखा भी गया तो उनकी तिथि आदि के विषय में कोई महत्व नहीं दिया जाता था। भक्तमाल, वार्ता आदि में यद्यपि भक्तों और कवियों के चरित्र वर्णित हैं, पर उनमें तिथियों का किंचित् भी निर्देश नहीं है। दूसरे, कवियों ने स्वयं अपने विषय में भी कुछ नहीं लिखा। वे या तो आवश्यकता से अधिक नम्र थे, या

अपने सांसारिक जीवन को तुच्छ समझ कर पारलौकिक सत्ता पर दृष्टि गड़ाए हुये थे। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' अथवा 'हौं प्रभु सब पतितन कौ टीकौ' कह कर वे अपनी हीनता वर्णित करते थे। राष्ट्र-निर्माण की भावना अथवा सम्मिलित संगठन का दृष्टिकोण तो हमारे कवियों के सामने था ही नहीं। प्रत्येक कवि व्यक्तित्व की परिधि में सीमित होकर परमात्मा की प्रार्थना में ही अपने को भुला देना चाहता था। इसीलिए केशवदास के पूर्व तक किसी कवि ने अपना यथेष्ट परिचय ही नहीं दिया। यह बात दूसरी है कि कवि ने ग्लानि अथवा अपनी हीनता के प्रदर्शन में अज्ञात रूप से अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया हो। तुलसीदास ने ही अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन अपनी आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर किया है। रीतिकाल में न तो कार्य की भावना ही प्रबल रह गई थी और न आत्मग्लानि से व्यक्तित्व ही क्षुद्र रह गया था। शृङ्गार और शृङ्गार-जनित जागृति ने प्रत्येक कवि को विलासी नहीं तो भावुक तो अवश्य बना दिया था। इसी कारण रीतिकाल में हमें कवियों का यथेष्ट परिचय मिलता है। केशवदास जो धार्मिक काल की संध्या में देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति उदित होते हैं, अपना चरित्र देते हैं।[1] भिखारीदास तो अपने काव्य-निर्णय में काव्य-कौशल के द्वारा चमत्कारपूर्ण परिचय देने में व्यग्र जान पड़ते हैं। कवियों का पूर्ण परिचय न पाने के कारण हमें इतिहास में कहीं 'लगभग'[2] का सहारा लेना पड़ता है; कभी बाह्य साक्ष्य का[3]। कहीं हम किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर कवि का जीवन जानने की चेष्टा करते हैं।[4]

---

१ कविप्रिया—कविवंश वर्णन के २१ दोहे— प्रियाप्रकाश टीका— ला० भगवानदीन, सं० १९८२, पृष्ठ २१, २२।

२ नन्ददास के सम्बन्ध में।

३ मीरा के सम्बन्ध में।

४ शाइज

कहीं उसकी कविता के उद्धरण[1] अथवा भाषा के विकास के सहारे[2] उससे परिचय प्राप्त करते हैं। किन्तु ऐसे आधार का आश्रय लेने पर हमें कवि-विशेष के जीवन की एक-दो घटनाएँ ही मिलती हैं। उनमें भी कुछ न कुछ सन्देह बना ही रहता है। तिथियों को निश्चयात्मक रूप से न जान सकने के कारण हमें साहित्य के काल-विभाजन में भी कठिनाई पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में भाषा तथा शैली मे परिवर्तन, धार्मिक दृष्टिकोण से भेद अथवा राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर ही काल-विभाजन की रेखा खींचनी पड़ती है। कवियों का अपना परिचय देने का संकोच हमारे सामने उनका अक्षम्य अपराध समझा जाना चाहिये।

हिन्दी साहित्य का इतिहास अपने प्रारम्भ से ही उन समस्त सांस्कृतिक परम्पराओं से ओत-प्रोत रहा है जो हिन्दी के जन्म के पूर्व ही अखिल भारतीय रूप में प्रचलित रहीं। संस्कृत साहित्य में वैदिक धर्म की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ शताब्दियों तक लोकमत का शासन करती रहीं। वैदिक धर्म के कर्म काण्ड की प्रतिक्रिया ने बौद्ध-धर्म के प्रचारित होने का अवसर दिया और यह बौद्ध धर्म न केवल राजनीतिक केन्द्रों में शासक वर्गों की रुचि का विषय रहा प्रत्युत जनता के विश्वास का मेरुदण्ड बन गया। वैदिक धर्म का शास्त्रीय विवेचन जहाँ एक ओर आचार्यों का बुद्धि-वैभव बन कर रहा, वहाँ बौद्ध-धर्म की महायान शाखा जनता की मनोवृत्तियों में परिव्याप्त होकर उनके जीवन के समानान्तर प्रवाहित होती रही। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में समय समय पर सघर्ष होते रहे और जब शकर और कुमारिल आदि आचार्यों की प्रतिभा से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ तब भी बौद्ध धर्म के संस्कार जनता के हृदय पर वर्तमान ही रहे तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव से चले हुए संप्रदाय जनता को अपनी ओर आकर्षित करते ही रहे।

---

[1] सूरदास की साहित्य लहरी का उद्धरण।

[2] नरपति नाल्ह

आठवीं शताब्दी में भी बौद्ध धर्म की महायान शाखा जिसने जनता में वर्ग भेद को हटाकर धर्म की साधना का मार्ग अत्यन्त सुगम कर दिया था, आकर्षण का केन्द्र बनी ही रही। यह महायान शाखा आगे चलकर अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हो गई जिनमें वज्रयान और सहजयान संप्रदाय प्रमुख थे। जनता की सहानुभूति प्राप्त कर ये स्वाभाविक और सरल साधना के संप्रदाय पुष्ट होते रहे। ईसा की पहली शताब्दी से प्रारम्भ होकर महायान संप्रदाय ने अपने सात आठ सौ वर्षों की यात्रा में जनता के हृदय में काफी गहरा स्थान बना लिया और वह विविध रूपों में परिवर्तित होकर लोक-रुचि के अत्यन्त समीप आ गया। जब वैदिक-धर्म में शैव संप्रदाय को प्रमुखता प्राप्त हुई तब भी बौद्ध धर्म के संस्कार शैव सम्प्रदाय से प्रभावित होकर नाथ सम्प्रदाय के रूप में प्रतिफलित हुए। इस प्रकार बौद्ध और शैव साधनाओं के संयोग से नाथ पंथी साधकों का एक नया सम्प्रदाय चला।

बौद्ध धर्म के समानान्तर ही जैन धर्म चलता रहा, यद्यपि जैन धर्म का विकास उतनी व्यापकता से नहीं हुआ जितना बौद्ध धर्म का।

इस प्रकार यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भ होने के पूर्व ही बौद्ध धर्म और जैनधर्म की प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार जनता के हृदय पर विशेष रूप से अंकित थे और जब हिन्दी का विकास अपनी पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश की स्थिति से हुआ तो इन्हीं धार्मिक संस्कारों से हमारे साहित्य का निर्माण हुआ। फलस्वरूप सिद्धों द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय की तथा जैन आचार्यों द्वारा प्रचारित जैन धर्म के दिगंबर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रूपरेखा साहित्य में देखने को मिलती है।

यों तो इस देश में मुसलमानों का आगमन ईसा की सातवीं शताब्दी से ही हो गया था किन्तु देश की विचार-धारा पर उनके

स्पष्ट रूप से सामने आ रहा था। विक्रम की बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अङ्गरेज़ों का प्रभाव विशेष रूप से सामने आया। यद्यपि अङ्गरेज़ों का प्रवेश तो भारत में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से ही हो गया था, तथापि साहित्य और संस्कृति के निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही उन्होंने अपनी सभ्यता का भारत में विस्तार किया। अब संस्कृति का केन्द्र समस्त भारत हो गया और साहित्य का प्रभाव जीवन के प्रत्येक भाग में होने लगा। विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और जीवन की यथार्थ समालोचना की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

इस प्रकार हम राजनीतिक पट-परिवर्तन के साथ साहित्य को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित करते हैं :—

सं०	काल विभाग	विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार-धारा	विशेष
१	सन्धि काल	सं० ७५०-१०००	नालंदा विक्रमशिला तथा राजस्थान	आध्यात्मिक	अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी की रूपरेखा, वज्रयान और जैनधर्म की व्याख्या।
२	चारण काल	सं० १०००-१३७५	राजस्थान	लौकिक	पुरानी हिन्दी; का[illegible] की अपेक्षा भाषा [illegible] उत्कर्ष; अधिकत[illegible] वर्णनात्मक काव्य कविता के क्षेत्र में वी[illegible] रस का अधिक महत[illegible] व्यक्तिगत वीरत्व ; रा[illegible] भावना का अभाव।

व्यक्तित्व का प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं पड़ सका। उन्होंने देश की राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित किया और राजनीतिक परिस्थितियों ने हमारे साहित्य की गति-विधि पर विशेष प्रभाव डाला। ग्यारहवीं शताब्दी मे राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अस्तव्यस्त था। संस्कृति का केन्द्र राजस्थान था। वहीं राजपूत वीरों के उत्कर्ष और अपकर्ष का अभिनय हुआ था। यह पारस्परिक द्वेष की आग १४वीं शताब्दी तक नही बुझ सकी। गृह-कलह और मुसलमानों का प्रारम्भिक आतंक राजपूती शौर्य से सघर्ष लेता रहा। चौदहवीं शताब्दी के बाद मुसलमानों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर अपने धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। अब संस्कृति का केन्द्र राजस्थान से हटकर मध्यदेश हो गया। हिन्दू धर्म की प्रतिद्वन्द्विता में जब इस्लाम खड़ा हुआ तो जनता के हृदय मे अशान्ति के साथ साथ क्रान्ति भी जागृत हुई। इस धार्मिक अव्यवस्था के फल-स्वरूप धर्म की जो भावना ईसा से पूर्व शताब्दियों के परम्पराओं के रूप मे चली आ रही थी वह चारों ओर से आत्म-रक्षा और शत्रु-विरोध के रूप में उठी तथा धर्म की मर्यादा में—धर्म की रक्षा मे—अनेकों सन्देश कवियों की लेखनियों से निकल पड़े। यह क्रान्ति सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक आतंक के साथ गूँजती रही। इस समय तक मुसलमान भी यहाँ के वातावरण से परिचित हो गए थे। हिन्दू भी मुसलमानों को देश का निवासी मानने लगे थे। अतएव दोनों में मेल की भावना उत्पन्न हुई और प्रतिक्रिया के रूप में शान्ति, आनन्द और विलास की प्रवृत्तियाँ उठीं। शृङ्गार रस से सारा समाज ओतप्रोत हो गया यद्यपि वीरत्व के चिन्ह कभी-कभी परिस्थितियों के कारण और कभी-कभी रस-भेद के रूप में दीख पड़ते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक शृङ्गार की यह अबाध धारा देश को विलास की गोद में सुलाए रही। इस समय तक सस्कृति का केन्द्र मध्यदेश के साथ दक्षिण में भी हो गया था और साहित्य, कला-कौशल, शिल्प आदि का उत्कर्ष

काल विभाग

स्पष्ट रूप से सामने आ रहा था। विक्रम की बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अङ्गरेजों का प्रभाव विशेष रूप से सामने आया। यद्यपि अङ्गरेजों का प्रवेश तो भारत में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से ही हो गया था, तथापि साहित्य और संस्कृति के निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही उन्होंने अपनी सभ्यता का भारत में विस्तार किया। अब संस्कृति का केन्द्र समस्त भारत हो गया और साहित्य का प्रभाव जीवन के प्रत्येक भाग में होने लगा। विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और जीवन की यथार्थ समालोचना की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

इस प्रकार हम राजनीतिक पट-परिवर्तन के साथ साहित्य को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित करते हैं :—

स०	काल विभाग	विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार-धारा	विशेष
१	सन्धि काल	सं० ७५०-१०००	नालंदा विक्रमशिला तथा राजस्थान	आध्यात्मिक	अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी की रूपरेखा, वज्रयान और जैनधर्म की व्याख्या।
२	चारण काल	सं० १०००-१३७५	राजस्थान	लौकिक	पुरानी हिन्दी; का[illegible] की अपेक्षा भाषा [illegible] उत्कर्ष; अधिकत[illegible] वर्णनात्मक काव्य कविता के क्षेत्र में वी[illegible] रस का अधिक महत[illegible] व्यक्तिगत वीरत्व ; रा[illegible] भावना का अभाव।

विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार धारा	विशेष
सं० १३७५ –१७००	राजस्थान और मध्य देश	पारलौकिक	भाव और भाषा दोनों का उत्कर्ष ; वर्णनात्मक काव्य के साथ रीतिकाव्य की प्रधानता ; कविता के क्षेत्र में शृङ्गार और शान्त रस की प्रधानता ; धार्मिक भावना का उत्कर्ष, राष्ट्र-भावना का अभाव, रचनात्मक [Constructive] साहित्य का प्रणयन।
सं० १७०० –१९००	राजस्थान, मध्य देश और दक्षिण	पारलौकिक के वेष में लौकिक	भाषा का उत्कर्ष ; भावों की पुरानी परम्परा का आवर्तन , कला का अधिक प्रदर्शन , वर्णनात्मक कविता का प्राधान्य ; भावों का आवश्यकता से अधिक विस्तार ; कविता के क्षेत्र में शृङ्गार रस का प्राधान्य ; मौलिकता का अभाव, कवित्व की अपेक्षा आचार्यत्व का अधिक प्रदर्शन ।

सं०	काल विभाग	विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार धारा	विशेष
५	आधुनिक काल	सं० १९०२-अब तक	सम्पूर्ण भारत	लौकिक, पारलौकिक	गद्य का विकास और विस्तार ; भावों का नवीन स्वरूप ; धार्मिक भावनाओं का आधुनिक दृष्टिकोण ; जीवन के सभी विभागों पर दृष्टिपात ; वर्णनात्मक और नीति काव्य की प्रधानता; राष्ट्र-भावना का सूत्रपात ; रचनात्मक साहित्य का प्रणयन ।

हिन्दी साहित्य का विस्तार अनेक बोलियों में पाया जाता है। उन बोलियों में साहित्य का निर्माण होने के कारण उनके रूप अभी तक वर्तमान हैं और साहित्य के साथ जीवित हैं। भण्डारकर के अनुसार हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं। राजस्थान में प्रयुक्त बहुत सी बोलियों में दो प्रधान हैं। मेवाड़ी और उसके समीपवर्ती भागों में बोली जाने वाली मारवाड़ी। इन दोनों बोलियों की भौगोलिक स्थिति से यह तो जाना जा सकता है कि वे गुजराती और व्रजभाषा के बीच की बोलियाँ हैं जिनमें दोनों भाषाओं की विशेषताएँ हैं। उत्तर में व्रजभाषा है जो मथुरा के समीप बोली जाती है। पूर्व में कन्नौजी है। दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता और वल्लभी सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों की भाषा जो व्रज मानी जाती है, कन्नौजी व्याकरण के रूप भी रखती है। सुदूर उत्तर में गढ़वाली और

साहित्य का विस्तार

कुमायूँनी है जो गढ़वाल और कुमायूँ में बोली जाती है। पूरब में अयोध्या की बोली अवधी है और दक्षिण में बुन्देली और बाघेली। सुदूर पूरब में भोजपुरी तथा बिहार और बङ्गाल की सीमा पर प्रचलित मैथिली तथा अन्य बोलियाँ हैं। डिंगल [राजस्थानी], पिङ्गल [व्रजभाषा], अवधी, मैथिली और खड़ीबोली में साहित्य की रचना हुई। वस्तुतः इस समस्त साहित्य का नाम हिन्दी साहित्य दिया जाना चाहिए। हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों में साहित्य का निर्माण होने तथा जन-समाज की व्यापक और शतरूपा वृत्ति का प्रदर्शन करने के कारण हिन्दी साहित्य का दृष्टिकोण विस्तृत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जीवन को सबसे अधिक स्पर्श करने वाले शृङ्गार और शान्त रस का परमोत्कृष्ट और विस्तृत निरूपण होने के कारण भी हिन्दी साहित्य विश्वजनीन भावनाओं को लिए हुए है।

इन बोलियों के आधार पर जिस प्रकार साहित्य-रचना हुई है, उस पर संक्षेप में विचार करना उचित होगा।

हिन्दी का प्रारम्भ मगही भाषा में उन सिद्धों की कविता में हुआ, जिन्होंने बौद्ध धर्म के 'वज्रयान' सिद्धान्त का प्रचार आठवीं शताब्दी से करना प्रारम्भ किया। ये सिद्ध संख्या में चौरासी माने गए हैं। इन्होंने किसी साहित्यिक भाषा को न लेकर जन-साधारण की भाषा ही में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस भाषा के नमूने साहित्य में सुरक्षित नहीं हैं। इनका अनुवाद भोटिया में हुआ है और ये कविताएँ तिब्बत के स-स्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली 'स स्क्य-ब्कं-बुम्' में हैं। इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा लूइपा, दारिकपा, घंटापा, जालंधरपा, कण्हपा और शान्तिपा मुख्य माने गए हैं। सरहपा का समय राहुल जी द्वारा स ८२६ माना गया है और डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार सम्वत् ६९०। अतः सातवीं शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारम्भिक रूप में पाते हैं। इन रचनाओं का वर्ण्य-विषय हठयोग,

सिद्ध युग का साहित्य

मन्त्र, मद्य और स्त्री है, जो वज्रयान का मुख्य साधन है। भाषा अपभ्रंश मिश्रित है जिसमें सिद्धान्तों के प्राधान्य के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं पाया।

अपभ्रंश की विकसित अवस्था जब हिन्दी का रूप ले रही थी उस समय जैन आचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्त इस अपभ्रंश से निकलती हुई भाषा में प्रारम्भ कर दिये थे। यद्यपि इस भाषा में जैन-धर्म के सिद्धान्त ही लिखे गये हैं पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हमें इसमें अपनी भाषा के विकास की सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है।

पुरानी हिन्दी का साहित्य

जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय ने हिन्दी में अपने धर्म के प्रचार की चेष्टा भी की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने तो अधिकतर गुजराती भाषा का ही आश्रय ग्रहण किया। जैन धर्म के प्रचार पर अधिक ध्यान रहने के कारण कोई भी जैनी उत्कृष्ट कवि नहीं हुआ। उसे अपने सिद्धान्तों को दुहराने से अवकाश ही नहीं मिलता था जिससे वह काव्य के अङ्ग पर विचार करे। सारे जैन-साहित्य में एक भी रस-निरूपण संबधी ग्रन्थ नहीं है। उसमें हेमचन्द्र के कुमार पाल चरित से प्रारम्भ होकर धर्म सूरि के जम्बू स्वामी रासा, विजय-सेन के रेवंतगिरि रासा, विजयचन्द्र के नेमिनाथ चउपई आदि की रचना हुई। इन ग्रंथों में जैन धर्म के सिद्धांतों की चर्चा के साथ ही इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं की भी रक्षा की गई है। बनारसीदास (सं० १६४३ जन्म) अवश्य कवि थे, पर उनकी प्रतिभा भी अधिकतर अपने जीवन वृत्त एवं जैन आदर्शों के लिखने में समाप्त हुई।

नागर अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थान की बोली साहित्यिक रूप में 'डिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें बीसलदेव रासो सब से प्रथम गीति-ग्रन्थ है जो नरपति द्वारा सं० १२१२ में लिखा गया [1]। इसके

---

[1] इसकी रचना सं० १०७३ में भी मानी गई है। ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अं० १, पृष्ठ ९९।

राजस्थानी का साहित्य (डिंगल)

बाद तो बहुत से प्रबन्ध काव्य और वर्णनात्मक काव्य लिखे गए जिनमें पृथ्वीराज रासो का भी नाम लिया जाता है, यद्यपि इसके प्रामाणिक होने मे अभी हिन्दी के विद्वानों को सन्देह है. इस साहित्य मे पृथ्वीराज राठौर का भी नाम सम्मान सहित है। जिन्होंने 'वेलि क्रिसन रुकमिणी री' की रचना की । इस साहित्य की रचना अधिकतर चारणों द्वारा हुई। अतएव इसमें वीर और रौद्र रस की प्रधानता है। यद्यपि इस साहित्य में भाषा का अधिक सौन्दर्य नहीं है, तथापि भावों का वर्णन स्वाभाविक और उत्कृष्ट है। इस साहित्य से हमारे देश के इतिहास की भी यथेष्ट रक्षा हुई है। जहाँ व्रजभाषा में साहित्य की रचना अधिकतर पद्य में हुई वहाँ इस भाषा में साहित्य की रचना गद्य और पद्य दोनों में हुई है। हमें 'रासो' के साथ साथ 'बात' और 'ख्यात' की रचना भी मिलती है। इस भाषा के साहित्य का महत्व इसलिये भी है कि इसी के द्वारा हमारे साहित्य का क्रम-विकास हुआ है।

व्रज भाषा का साहित्य (पिंगल)

शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न व्रज बोली में साहित्य की रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस ससय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिङ्गल के समान मध्यदेश की साहित्यिक रचना का नाम था। इस साहित्य का विस्तार हिन्दी की अन्य बोलियों के साहित्य के विस्तार से अधिक रहा। सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण-पूजा का आश्रय पाकर इस साहित्य ने बहुत उन्नति की। सूरदास, नन्ददास, सीताराम, अष्टछाप के अन्य कवि, सेनापति, बिहारी, चिन्तामणि, रसखान, देव, घनानन्द, पद्माकर तथा रीतिकाल के समस्त कवि इसी साहित्य की श्री-वृद्धि करते रहे। भारतेन्दु ने खड़ी बोली का उद्धार करते हुए भी काव्य की भाषा व्रजभाषा ही रखी। वर्तमान समयमे भी व्रजभाषा के प्रति लोगों की रुचि है, यद्यपि वह रुचि क्षीण अस्तित्व ही लिए हुए है। ओरछा नरेश का देव-पुरस्कार इस साहित्य की अभिवृद्धि का अब भी स्वप्न देख रहा है। ७०० वर्षों से

परिष्कृत होती हुई इस भाषा में सहस्रों कवियों के द्वारा साहित्य की सब से सुन्दर रचना हुई। कृष्ण भक्ति का साहित्यिक श्रृङ्गार इसी व्रजभाषा मे हुआ और व्रजभाषा का चरमोत्कर्ष कृष्ण भक्ति में हुआ। दोनों ने एक दूसरे को पा लिया। कृष्ण भक्ति को व्रजभाषा से अच्छी भाषा नहीं मिल सकती थी और व्रजभाषा को कृष्ण साहित्यसे बढ़ कर विषय नहीं मिल सकता था। कृष्ण भक्ति का यह रूप अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में कोमल और सुकुमार व्रज की कविता में प्रदर्शित हुआ है। जैसे किसी षोडशी ने रेशमी साड़ी पहन ली हो। व्रजभाषा की यह साहित्य रचना हिन्दी की अनुपमेय निधि है। वह उसकी सचित वैभव-श्री है। इसमें नवरस मयी रचना हुई है, यद्यपि श्रृङ्गार और शान्त रस की प्रधानता है।

अवधी का साहित्य

अवधी साहित्य का सब से प्रथम प्रदर्शन आख्यानक कवियों ने अपनी प्रेम गाथाओं में किया। उन्होंने अर्ध मागधी प्राकृत के विकसित रूप में अवधी भाषा को अपने साहित्य-निर्माण का साधन बनाया। इन प्रेमाख्यानक कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख थे। उन्होंने अवधी का सरल और साधारण रूप ही रक्खा है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का स्थान नहीं के बराबर है। इस प्रेम काव्य की धारा के बाद अवधी का प्रयोग राम-साहित्य के सर्व श्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने किया। तुलसीदास की सर्वोत्तम कृति 'मानस' की रचना इसी भाषा में हुई। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी ने अवधी को परिष्कृत कर उसे संस्कृतमय कर दिया है तथापि भाषा का यह गौरव क्या कम है कि उस समय की काव्य-परम्परा में प्रचलित व्रजभाषा की उपेक्षा कर तुलसी ने अपनी मौलिकता अवधी में दिखलाई। अवधी को व्रजभाषा के समान साहित्यिक रूप देने का श्रेय तुलसीदास जी ही को है। अलंकारों से परिपूर्ण, रसोद्रेक से ओत प्रोत गुणों की गरिमा से विभूषित, तुलसी की अवधी कविता मानव-जीवन की व्यापक विवेचना करने में समर्थ हुई है। तुलसी ने राम काव्य में अवधी के सहारे इतनी सफलता प्राप्त की कि

फिर किसी कवि को अवधी में राम साहित्य लिखने का साहस नहीं हुआ। ब्रजभाषा में तो कृष्ण-साहित्य सूर के बाद भी अनेक कवियों के द्वारा लिखा गया। तुलसी द्वारा रचित यह अवधी-कविता ससार के साहित्य मे अपना महत्व सदैव रख सकेगी।

बुन्देलखडी का साहित्य

ब्रजभाषा के साहित्यिक महत्व के कारण यद्यपि अन्य बोलियों का विकास साहित्य-रचना के लिए रुक-सा गया, तथापि ,बुन्देलखडी भाषा ने कुछ अंशों में अपने अस्तित्व की रक्षा अवश्य की। सबसे प्रथम रचना जगनिक के द्वारा आल्हखंड की हुई। आल्हखड का साहित्यिक रूप अप्राप्य है, वह जनता के कठ की वस्तु है। यही कारण है कि अभी तक उसका प्रामाणिक पाठ नहीं मिल सका। भाषा के क्रमिक विकास और परिवर्तन के कारण उसमे भी परिवर्तन होता रहा। उसका मूलरूप क्या था, यह जानना भी अब कठिन है। आल्हखड में ब्रजभाषा के कलेवर में बुदेलखडी भाषा बैठी हुई है। अनेक बुदेली क्रियाएँ और शब्द जैसे मॅम्फोटा (कमरा), खों (को), लाने (लिये), आँउन लागे (आने लगे) उसमे पाये जाते हैं। सम्पूर्ण रूप से बुदेली बोली का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। सवत् १६१२ में ओरछा के व्यास स्वामी ने कुछ पदों की रचना की। निम्बादित्य के शिष्य होने पर उन्होंने 'हरि व्यासी' सम्प्रदाय की स्थापना की और कृष्ण भक्ति पर पद लिखे। सं० १६५८ में केशव ने रामचन्द्रिका लिखी। रामचन्द्रिका की भाषा ब्रजभाषा अवश्य है, पर उसमें बुंदेली शब्द बहुतायत से मिलते हैं, 'स्यों' 'जू' 'काकी', 'कठला' शब्द आदि। सवत् १७२३ में ओरछा के राजा सुजानसिंह के भतीजे अर्जुनसिंह की आज्ञानुसार मेघराज प्रधान ने एक प्रेम-कहानी 'मृगावती की कथा' लिखी। गोरेलाल 'लालकवि' ने राजा छत्रसाल की प्रशंसा में छत्र-प्रकाश ग्रन्थ लिखा। उसमें भी बुंदेली प्रभाव लक्षित है।

पंदहवीं शताब्दी में विद्यापति ठाकुर ने मैथिली साहित्य में अपनी

174

पदावली की रचना की। बिहारी भाषा के अन्तर्गत मैथिली बोली ही ऐसी है जिसमें साहित्य-रचना हुई है। यद्यपि मैथिली को मागधी अपभ्रंश से निकलने के कारण हिन्दी के अन्तर्गत मानने में आपत्ति हो सकती है, पर शब्द-भाण्डार की व्यापकता और हिन्दी से मैथिली का अधिक साम्य होने के कारण वह हिन्दी की एक शाखा ही मान ली गई है। इसीलिए विद्यापति की कविता हिन्दी साहित्य के अंतर्गत मानी जाती है। विद्यापति ने राधाकृष्ण के सौन्दर्य और शृङ्गार पर अनेक पद लिखे हैं, जो चैतन्य महाप्रभु के द्वारा बहुत प्रचार पाते रहे। अब भी विद्यापति की रचना लोकप्रिय है, यद्यपि वासना का रङ्ग प्रखर होने से वह भक्त जनों को कुछ कम भाती है। "सरस वसन्त समय भल पावलि दछिन पवन वह धीरे" में साहित्यिक सौन्दर्य अवश्य है, पर 'सूनि सेज पिय सालइ रे' में भक्ति नहीं मानी जा सकती।

मैथिली का साहित्य

मैथिली में विद्यापति के बाद और भी बहुत से कवि हुए—उमापति, मोद नारायण, चतुर्भुज, चक्रपाणि, इत्यादि। मनबोध (मृत्यु १८४५ सं०) ने 'हरिवंश' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें कृष्ण का जीवन-वृत्त है। चन्द्र झा ने 'मिथिला भाषा रामायण' की रचना की जो अधिक लोकप्रिय है। इसी प्रकार सहस्र से अधिक पदों की इनकी 'महेश वाणी' है जो मिथिला के प्रत्येक घर और मन्दिर की सम्पत्ति है। इन्होंने विद्यापति और गोविन्ददास का काव्य-संग्रह भी किया। ये मिथिला के बड़े भारी संगीतज्ञ और कवि हुए। मुशी रघुनन्दन दास ने तेरह सर्गों में 'सुभद्रा हरण' महाकाव्य की रचना की। इन्होंने 'वीर बालक' नाम से अभिमन्यु के पराक्रम से संबध रखने वाला एक वीर रसात्मक खड काव्य भी लिखा। महामहोपाध्याय डा० सर गगानाथ झा के वड़े भाई विन्ध्यनाथ झा तथा गणनाथ झा गीति-काव्य के सफल कवि हुए। विन्ध्यनाथ झा ने करुणरस में अनेक सफल रचनाएँ कीं। इनके अतिरिक्त

है। उपन्यास के क्षेत्र में महामहोपाध्याय परमेश्वरझा, हरिनारायणझा, जीवन मिश्र, छेदी झा, पुण्यानन्द झा, काञ्चीनाथ झा, हरिमोहन झा विशेष प्रसिद्ध हैं। निबंधकारों में महामहोपाध्याय मुरलीधर झा, पुलकित लालदास, बलदेव मिश्र, रामनाथ झा, त्रिलोचन झा और डा० उमेश मिश्र प्रमुख हैं। उपयोगी साहित्य में भी मैथिली की संपत्ति श्लाघ्य है। महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा का 'वेदान्त दीपिका' ग्रन्थ अपनी सरलता और स्पष्टता के लिये प्रसिद्ध है। क्षेमधारी सिंह ने 'सांख्य खद्योतिका' ग्रन्थ लिखा। डा० उमेश मिश्र ने 'प्राचीन वैष्णव संप्रदाय' ग्रन्थ की रचना की। दीनबन्धु झा का 'भाषा विद्योतन' ग्रंथ व्याकरण पर सर्वश्रेष्ठ है। मैथिली के आधुनिक विद्वानों में डा० अमरनाथ झा, डा० सुधाकर झा, डा० उमेश मिश्र, डा० सुभद्र झा और श्री रामनाथ झा का नाम आदर से लिया जाता है।

खड़ी बोली दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों के जन-समुदाय की बोली रही है जो समय-समय पर साहित्य में प्रयुक्त हुई। खड़ी बोली में प्रथम लिखने वाले अमीर ख़ुसरो हुए, जिन्होंने अपनी पहेलियों, मुकरियों आदि में इस भाषा का प्रयोग किया। यद्यपि ब्रजभाषा को ही उन्होंने विशेष रूप से प्रश्रय दिया, पर उन्होंने खड़ी बोली को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। 'एक नार ने अचरज किया' कह कर वे उस समय की बोली में कविता कर हमें भी 'अचरज' में डाल देते हैं। कबीर ने भी फ़ारसी शब्दों के मेल से अपने समय की खड़ी बोली में कविता की—"हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या' लिखकर वे जन-समुदाय की भाषा के बहुत निकट आ गए हैं। यद्यपि ब्रजभाषा के महत्त्व के कारण खड़ी बोली का प्रचार न हो सका, तथापि समय समय पर साहित्य में उसके चिह्न अवश्य मिलते रहे। मुसलमानों ने भी इस बोली का आधार लेकर उसमें फ़ारसी शब्द मिला कर अपने 'उर्दू' साहित्य की सृष्टि की। आश्चर्य तो इस

खड़ी बोली का साहित्य

लालदास, गुणवन्तलालदास पुलकित लालदास, यदुनाथ झा और गंगाधर सफल कवि हुए। भानुनाथ झा ने हास्यरस की धारा मैथिली में प्रवाहित की।

महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह के शासन काल में (१८८०-१८९८ ई०) मैथिली साहित्य के सभी विभागों मे अभूतपूर्व उन्नति हुई। दर्शन, इतिहास, भूगोल, गणित, कोष, व्याकरण, छन्दशास्त्र, उपन्यास, कहानी आदि में उत्कृष्ट साहित्य लिखा गया। साथ ही मैथिली साहित्य के अनेक केन्द्र स्थापित हो गए। (१) काशी केन्द्र (महामहोपाध्याय मुरलीधर झा के नेतृत्व मे) (२) दरभगा केन्द्र (महाराजाधिराज, महामहोपाध्याय परमेश्वर झा, चन्द्र झा, विन्ध्यनाथ झा, चेतनाथ झा, सर गंगानाथ झा के नेतृत्व में) (३) जयपुर केन्द्र (विद्यावाचस्पति मधुसूदन झा और प० रामचन्द्र झा के नेतृत्व में) (४) अजमेर केन्द्र (श्री रामचन्द्र मिश्र के नेतृत्व में)। कलकत्ता, बनारस और पटना विश्वविद्यालयों मे मैथिली को पाठ्यक्रम मे स्थान मिल जाने से, उसके साहित्य के प्रकाशन और प्रणयन में विशेष गतिशीलता आ गई। दरभगा केन्द्र मे मैथिली साहित्य परिषद् की स्थापना सन् १९३१ में हुई। महाराजाधिराज सर रामेश्वरसिंह बहादुर तथा महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह बहादुर ने इस परिषद् को अधिक प्रोत्साहन दिया। आधुनिक मैथिली में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। मिथिला मोद, मिथिला मिहिर, मिथिला हित साधन, मिथिला प्रभा, मिथिला प्रभाकर, मिथिला बंधु और मिथिला पत्र उनमें प्रमुख हैं। कविता के क्षेत्र में भुवनेश्वरसिंह, सीताराम झा, बद्रीनाथ झा, ईशनाथ झा, तथा तत्रनाथ झा का नाम प्रमुख है। नाटक के क्षेत्र मे हर्षनाथ झा ने ख्याति अर्जित की। ये कवि भी थे।[1] हर्षनाथ झा के बाद जीवन झा, मुंशी रघुनन्दनदास तथा ईशनाथ झा का नाम आता

---

[1] इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के वाइस चासलर डा० अमरनाथ झा ने हर्षनाथ-काव्य ग्रन्थावली सन् १९३५ में प्रकाशित की।

है। उपन्यास के क्षेत्र में महामहोपाध्याय परमेश्वरझा, हरिनारायणझा, जीवन मिश्र, छेदी झा, पुण्यानन्द झा, काञ्चीनाथ झा, हरिमोहन झा विशेष प्रसिद्ध हैं। निबंधकारों में महामहोपाध्याय मुरलीधर झा, पुलकित लालदास, बलदेव मिश्र, रामनाथ झा, त्रिलोचन झा और डा० उमेश मिश्र प्रमुख हैं। उपयोगी साहित्य में भी मैथिली की संपत्ति श्लाघ्य है। महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा का 'वेदान्त दीपिका' ग्रन्थ अपनी सरलता और स्पष्टता के लिये प्रसिद्ध है। क्षेमधारी सिंह ने 'सांख्य खद्योतिका' ग्रन्थ लिखा। डा० उमेश मिश्र ने 'प्राचीन वैष्णव संप्रदाय' ग्रन्थ की रचना की। दीनबन्धु झा का 'भाषा विद्योतन' ग्रंथ व्याकरण पर सर्वश्रेष्ठ है। मैथिली के आधुनिक विद्वानों में डा० अमरनाथ झा, डा० सुधाकर झा, डा० उमेश मिश्र, डा० सुभद्र झा और श्री रामनाथ झा का नाम आदर से लिया जाता है।

खड़ी बोली का साहित्य

खड़ी बोली दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों के जन-समुदाय की बोली रही है जो समय-समय पर साहित्य में प्रयुक्त हुई। खड़ी बोली में प्रथम लिखने वाले अमीर ख़ुसरो हुए, जिन्होंने अपनी पहेलियों, मुकरियों आदि में इस भाषा का प्रयोग किया। यद्यपि ब्रजभाषा को ही उन्होंने विशेष रूप से प्रश्रय दिया, पर उन्होंने खड़ी बोली को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। 'एक नार ने अचरज किया' कह कर वे उस समय की बोली में कविता कर हमें भी 'अचरज' में डाल देते हैं। कबीर ने भी फारसी शब्दों के मेल से अपने समय की खड़ी बोली में कविता की—"हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या' लिखकर वे जन-समुदाय की भाषा के बहुत निकट आ गए हैं। यद्यपि ब्रजभाषा के महत्त्व के कारण खड़ी बोली का प्रचार न हो सका, तथापि समय समय पर साहित्य में उसके चिह्न अवश्य मिलते रहे। मुसलमानों ने भी इस बोली का आधार लेकर उसमें फारसी शब्द मिला कर अपने 'उर्दू' साहित्य की सृष्टि की। आश्चर्य तो इस

बात का है कि यह बोली उत्तर की होती हुई भी दक्षिण में पल्लवित हुई और वहीं से भारत के अन्य स्थानों में फैली। ब्रजभाषा के क्षेत्र से निकल कर लल्लूलाल आदि ने पहले गद्य रूप में इस खड़ी बोली का प्रचार किया। बाद मे हरिश्चन्द्र ने इसकी बहुत उन्नति की। यद्यपि उन्होंने भी इसे पद्य का रूप नहीं दिया, पर उनकी कविता पर इसका प्रभाव दीख पड़ने लगा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में इसने विशेष उन्नति की तथा श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त जैसे उत्कृष्ट कवि इस भाषा में हुए। अब तो खड़ी बोली ही गद्य और पद्य की भाषा है।

अँगरेज़ी साहित्य के प्रभाव ने हिंदी साहित्य को अनेक दिशाओं में विकसित होने की प्रेरणा दी। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना तथा उपयोगी साहित्य की रचना में अद्भुत प्रगतिशीलता आ गई। कविता में वस्तुवाद की छाया तथा जीवन के संघर्षों का चित्रण हिंदी काव्य का विषय बना। साथ ही मध्ययुग से चली आने वाली काव्य की परम्परा ने लोकोत्तर भावनाओं में रहस्य और संकेत के रूपकों की भी रक्षा की। अतः हिंदी काव्य का विकास एक ओर तो अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को साथ लिए रहा और दूसरी ओर जीवन में घटित होने वाली अनेक समस्याओं और उनके हल खोजने में सचेष्ट रहा। इसके साथ ही इण्डियन नैशनल कांग्रेस ने जो स्वतन्त्रता का संदेश समस्त भारत में फैलाया उससे अनुप्राणित होकर कवियों ने देश प्रेम और राष्ट्रीयता से ओतप्रोत कविताओं की रचना की।

हिन्दी कविता के विकास में प्रमुखतः तीन परिस्थितियाँ देखने में आती हैं। पहली परिस्थिति पूर्णतः वर्णनात्मक है, दूसरी परिस्थिति रहस्यात्मक और तीसरी परिस्थिति वस्तुरूपात्मक और प्रगतिशील है। वर्णनात्मक कविता अधिकतर धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्तों में सीमित रही। ऋतु-वर्णन, प्राकृतिक दृश्य और वीर-पूजा इन रचनाओं के विषय रहे। श्री मुकुटधर पाण्डेय, श्री

मैथिलीशरणगुप्त और श्री रामचरित उपाध्याय इस क्षेत्र में विशेष प्रमुख थे। रहस्यात्मक कविताओं के दो प्रमुख आधार थे। प्रथम आधार तो उपनिषद् की विचार-धारा से निकली हुई परम्परा रही जिसमें कबीर और मीराँ आदि का नाम आता है और दूसरा आधार अँगरेजी के युगांतरकालीन कवि शैली, कीट्स, बाइरन और वर्डस्वर्थ की रचनाएँ तथा विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य पुस्तकें थीं। इस क्षेत्र में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानन्दन पंत, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री महादेवी वर्मा विशेष महत्त्वपूर्ण नाम हैं। वस्तुरूपात्मक रचनाओं ने जीवन की नग्न और विषम परिस्थितियों का विशेष चित्रण किया। किसान और मजदूर इस प्रकार की रचनाओं के प्रमुख विषय रहे। उनकी हृदय-द्रावक परिस्थितियों के तथा पूँजीपति और शोषक वर्ग के कुंभकर्णों की क्रूरता के अनेक चित्र इन रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में वेग और आक्रोश है और इस स्वतंत्र और असर्यादित दृष्टिकोण के कारण काव्य की अनेक मान्यताओं की अवहेलना भी उसमें देखी जाती है। ऐसे कवियों में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री 'बच्चन', श्री नरेन्द्र प्रमुख हैं।

नाटक के क्षेत्र में सर्व श्री माधव शुक्ल, बदरीनाथ भट्ट, गोविंद-वल्लभपन्त, माखनलाल चतुर्वेदी और बल्देव प्रसाद मिश्र ने विशेष रचनाएँ कीं किन्तु इनके नाटकों में घटनाओं की कुतूहलता होते हुए भी चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व और परिस्थितियों का संघर्ष नहीं था। यह अभाव श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने पूर्ण किया। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्षवर्धन के ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, और दार्शनिक आदर्शो पर उन्होंने अपने विविध नाटकों की रचना की। उन्होंने अपने नाटकों में परिस्थितियों की स्पष्ट रूपरेखा और चरित्रों के आंतरिक संघर्षों की संवेदना अत्यन्त कुशलता से स्पष्ट की। उनसे मार्ग-दर्शन पाकर सर्व

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी और सेठ गोविन्ददास ने अनेक नाटकों की रचना की।

इन नाटकों के साथ ही साथ एकांकी नाटकों की रचना भी पश्चिमी साहित्य के दिशा-संकेत से हुई। इन नाटकों में चारित्रिक द्वन्द्व विशेष रूप से स्पष्ट हुआ है, साथ ही सामाजिक समस्याओं का हल भी खोजा गया है। ऐसे नाटककारों मे सर्वश्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सेठ गोविन्ददास और भुवनेश्वर प्रमुख हैं। श्री सुमित्रानन्दन पत ने 'ज्योत्स्ना' नाम से एक प्रतीक नाटक लिखा है जिसमे प्रकृति के विविध विधानों के सहारे भविष्य के मानव समाज के विकास की अत्यन्त विशद कल्पना की गई है। हिंदी में यह नाटक अपने ढग का अकेला है।

उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में जीवन के मनोविज्ञान की स्थितियाँ अनेक रूपों में प्रस्तुत की गई हैं। देवकीनन्दन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी केवल आश्चर्यजनक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं की एक काल्पनिक कथा शैली दे सके थे। मुशी प्रेमचन्द ने जीवन के वास्तविक चरित्रों को घटनाओं की विषमताओं से संघर्ष करते हुए चित्रित किया। उन्होंने हमारे देश के ग्रामीण जीवन का जैसा रूप उपस्थित किया है वह आगे आने वाले युगों के लिए अध्ययन, मनन, और मनोरजन की सामग्री होगा। सामाजिक आदर्शवाद के साथ प्रेमचन्द ने जीवन के समस्त अनुभव को ग्राम्य जीवन तथा नागरिक जीवन में घटित किया है।

उनके 'सेवासदन' 'रगभूमि' 'प्रेमाश्रम' 'गबन' कर्मभूमि और 'गोदान' उपन्यास हमारे समाज के सच्चे और करुण चित्र हैं। उनके 'गोदान' मे होरी एक अमर चरित्र है जिसमें भारतीय किसान का जीवन साकार हो उठा है। उपन्यासों के साथ श्री प्रेमचन्द ने अनेक कहानियाँ भी लिखी हैं जो कला की दृष्टि से अभूतपूर्व हैं। प्रेमचन्द के पश्चात् सर्व श्री सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', भगवतीचरण वर्मा और यशपाल आदि अनेक

सफल उपन्यासकार और कहानी लेखक हैं। श्री वृंदावन लाल वर्मा एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास लेखक हैं और वे अपने क्षेत्र में अकेले हैं।

निबंध और समालोचना के क्षेत्र में हिन्दी ने विशेष उन्नति की है। निबन्ध लेखन जो श्री बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी में आरम्भ किया है, वह श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अत्यन्त सुथरे ढग से उपस्थित किया। उनके बाद सर्व श्री माधव प्रसाद, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास ने उसमें बड़ी उन्नति की। इन लेखकों के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध साहित्य को बहुत उत्कर्ष दिया। उन्होंने निबन्ध मे मनोविज्ञान के तत्व को जोड़ कर अपनी रचनाओं को भाव और कला की दृष्टि से अच्छी तरह सँवारा।

उनका 'चिन्तामणि' ग्रन्थ निबन्ध-साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ ही सर्व श्री पदुमलाल बख्शी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा और गुलाबराय निबन्ध लेखन में आदर के साथ स्मरण किए जाते है। इन लेखकों ने आलोचना के क्षेत्र को भी अलंकृत किया है। मिश्र बन्धुओं की आलोचना के युग से निकल कर आधुनिक हिंदी पश्चिम की आलोचना-पद्धति का अनुसरण करती हुई नवीन शैलियों में समालोचना-साहित्य को जन्म दे रही है। आज की आलोचना खोज का आधार लेकर साहित्य की सद्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करती हुई दुष्प्रवृत्तियों को दूर हटा रही है।

ललित साहित्य के साथ ही साथ हिंदी में उपयोगी साहित्य की रचना भी हो रही है। संस्कृति, दर्शन, राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र और पुरातत्व विषयों पर स्थायी कार्य हो रहा है। सर्व श्री काशी-प्रसाद जायसवाल, डा० भगवानदास सपूर्णानन्द (संस्कृति), सर्व श्री डा० गंगानाथझा, बलदेव उपाध्याय, रामदास गौड़, गुलाबराय (दर्शन), सर्व श्री डा० बेणीप्रसाद, डा० ताराचन्द (राजनीति), सर्व श्री

डा० गोरख प्रसाद, सत्यप्रकाश, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, (विज्ञान), सर्व श्री दयाशंकर दुबे, भगवानदास केला (अर्थशास्त्र), सर्व श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राहुल सांकृत्यायन, जयचन्द विद्यालंकार (पुरातत्त्व) साहित्य की रचना में अग्रगण्य हैं। पारिभाषिक शब्दकोष सग्रह में श्री सुख-सपति राय भंडारी का नाम उल्लेखनीय है।

जीवन-चरित्र लेखकों में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी सर्व प्रथम हैं, जिन्होंने श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' की जीवनी लिखी। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने मालवीय जी के साथ इकतीस दिन के अनुभवों को लिखा है। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने 'प्रेमचन्द—घर मे' लिख कर प्रेमचन्द की मानसिक भाव-भूमि पर प्रकाश डाला है।

'आत्मचरित' साहित्य में सर्व श्री श्यामसुन्दरदास, अयोध्या सिंह उपाध्याय, वियोगीहरि और पदुमलाल वख्शी की रचनाएं उल्लेखनीय हैं।

ग्राम-गीतों के सकलन मे श्री रामनरेश त्रिपाठी ने सब से प्रथम प्रयास किया। अब तो मैथिली के लोकगीत और भोजपुरी तथा छत्तीसगढी के लोकगीत भी प्रकाशित हो गए हैं। इस प्रकार खड़ी बोली हिंदी साहित्य की उन्नति सर्वांगरूप से हो रही है। इस साहित्य को लोकव्यापी बनाने में मासिक पत्रों का भी काफ़ी श्रेय है जिनमें सरस्वती, माधुरी, हस, विशालभारत, विश्ववाणी, विश्वमित्र और वीणा प्रमुख हैं।

हिंदी साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में विविध संस्थाएँ विशेष कार्य कर रही हैं, इनमे हिंदी साहित्य सम्मेलन, (प्रयाग), नागरी प्रचारिणी सभा, (काशी), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, (प्रयाग), राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, (वर्धा), वीरेन्द्रकेशव साहित्य परिषद्, (ओरछा) और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, (मद्रास) प्रमुख हैं। हिंदी जिस गति से उन्नति कर रही है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य मे ही वह अन्य भारतीय भाषाओं से अधिक समृद्धि शालिनी हो जावेगी।

साहित्य में बहुत से ग्रन्थ ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जिनकी पाठ्य-सामग्री अभी तक संदिग्ध है। नागरी प्रचारिणी सभा के परिश्रम से जो ग्रन्थ सुचारु रूप से सम्पादित हुए हैं, उनकी पाठ्य-सामग्री तो किसी प्रकार निश्चित सी है, किन्तु अन्य ग्रन्थों के पाठ कहीं-कहीं बहुत भ्रमपूर्ण हैं। 'सूरसागर' जैसे महान ग्रन्थ का पाठ अभी तक बहुत सदिग्ध है। कबीर और मीराँ के पाठ्य-भाग तो प्रामाणिक कहे भी नहीं जा सकते। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी बहुत रूपान्तरित है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि हमारे साहित्य के ये ग्रन्थ बहुत काल तक मौखिक रूप में रहे। अतएव समयानुसार भाषा में परिवर्तन होने के कारण उन ग्रन्थों के पाठ में भी परिवर्तन हो गये। 'आल्हखण्ड' अभी तक लोगों के मुख का निवासी है। उसका प्रामाणिक संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। मीराँ और कबीर के पद भी बहुत लोकप्रिय होने के कारण जनता में गाए गए। इसीलिये उनके पदों में बहुत परिवर्तन हो गया। हम तो अनेक पदों को आधुनिक भाषा में कबीर और मीराँ के नाम से लिखे हुए देखते हैं। ये प्रक्षिप्त पद कवि की रचनाओं के महत्व को कितना घटा देते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भाषा के विकास की दृष्टि से इन भ्रमात्मक पाठों का संशोधन होना चाहिये। दूसरा कारण यह है कि हमें अभी प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ पर्याप्त सख्या में मिले भी नहीं हैं, जिनके आधार पर पुराने ग्रन्थों का प्रकाशन हो। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस क्षेत्र में प्रशसनीय कार्य किया है जिसके फलस्वरूप कई सुन्दर और महत्वपूर्ण ग्रन्थ जो अभी तक अन्धकार मे थे प्रकाश में लाए गए हैं। किन्तु यह कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। अन्वेषण की अभी बहुत आवश्यकता है। खोज मे मिले हुए ग्रन्थों का प्रकाशन भी किसी सम्माननीय सस्था द्वारा होना चाहिए। अभी तक प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन जिन सस्थाओं से हुआ है उनमे श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; खड्गविलास

साहित्य की पाठ्य-सामग्री

डा० गोरख प्रसाद, सत्यप्रकाश, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, (विज्ञान), सर्व श्री दयाशंकर दुबे, भगवानदास केला (अर्थशास्त्र), सर्व श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राहुल सांकृत्यायन, जयचन्द विद्यालंकार (पुरातत्त्व) साहित्य की रचना मे अग्रगण्य हैं। पारिभाषिक शब्दकोष संग्रह में श्री सुख-सपति राय भंडारी का नाम उल्लेखनीय है।

जीवन-चरित्र लेखकों में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी सर्व प्रथम हैं, जिन्होंने श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' की जीवनी लिखी। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने मालवीय जी के साथ इकतीस दिन के अनुभवों को लिखा है। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने 'प्रेमचन्द—घर में' लिख कर प्रेमचन्द की मानसिक भाव-भूमि पर प्रकाश डाला है।

'आत्मचरित' साहित्य मे सर्व श्री श्यामसुन्दरदास, अयोध्या-सिंह उपाध्याय, वियोगीहरि और पदुमलाल वख्शी की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

ग्राम-गीतों के सकलन मे श्री रामनरेश त्रिपाठी ने सब से प्रथम प्रयास किया। अब तो मैथिली के लोकगीत और भोजपुरी तथा छत्तीसगढी के लोकगीत भी प्रकाशित हो गए हैं। इस प्रकार खड़ी बोली हिंदी साहित्य की उन्नति सर्वांगरूप से हो रही है। इस साहित्य को लोकव्यापी बनाने में मासिक पत्रों का भी काफ़ी श्रेय है जिनमें सरस्वती, माधुरी, हंस, विशालभारत, विश्ववाणी, विश्वमित्र और वीणा प्रमुख हैं।

हिंदी साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में विविध संस्थाएँ विशेष कार्य कर रही हैं, इनमें हिंदी साहित्य सम्मेलन, (प्रयाग), नागरी प्रचारिणी सभा, (काशी), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, (प्रयाग), राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, (वर्धा), वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्, (ओरछा) और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, (मद्रास) प्रमुख हैं। हिंदी जिस गति से उन्नति कर रही है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में ही वह अन्य भारतीय भाषाओं से अधिक समृद्धि शालिनी हो जावेगी।

साहित्य में बहुत से ग्रन्थ ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जिनकी पाठ्य-सामग्री अभी तक संदिग्ध है। नागरी प्रचारिणी सभा के परिश्रम से जो ग्रन्थ सुचारु रूप से सम्पादित हुए हैं, उनकी पाठ्य-सामग्री तो किसी प्रकार निश्चित सी है, किन्तु अन्य ग्रन्थों के पाठ कहीं-कहीं बहुत भ्रमपूर्ण हैं। 'सूरसागर' जैसे महान ग्रन्थ का पाठ अभी तक बहुत संदिग्ध है। कबीर और मीराँ के पाठ्य-भाग तो प्रामाणिक कहे भी नहीं जा सकते। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी बहुत रूपान्तरित है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि हमारे साहित्य के ये ग्रन्थ बहुत काल तक मौखिक रूप में रहे। अतएव समयानुसार भाषा में परिवर्तन होने के कारण उन ग्रन्थों के पाठ में भी परिवर्तन हो गये। 'आल्हखण्ड' अभी तक लोगों के मुख का निवासी है। उसका प्रामाणिक संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। मीराँ और कबीर के पद भी बहुत लोकप्रिय होने के कारण जनता में गाए गए। इसीलिये उनके पदों में बहुत परिवर्तन हो गया। हम तो अनेक पदों को आधुनिक भाषा में कबीर और मीराँ के नाम से लिखे हुए देखते हैं। ये प्रक्षिप्त पद कवि की रचनाओं के महत्व को कितना घटा देते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भाषा के विकास की दृष्टि से इन भ्रमात्मक पाठों का संशोधन होना चाहिये। दूसरा कारण यह है कि हमें अभी प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ पर्याप्त सख्या में मिले भी नहीं हैं, जिनके आधार पर पुराने ग्रन्थों का प्रकाशन हो। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस क्षेत्र में प्रशसनीय कार्य किया है जिसके फलस्वरूप कई सुन्दर और महत्वपूर्ण ग्रन्थ जो अभी तक अन्धकार मे थे प्रकाश में लाए गए हैं। किन्तु यह कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। अन्वेषण की अभी बहुत आवश्यकता है। खोज में मिले हुए ग्रन्थों का प्रकाशन भी किसी सम्माननीय सस्था द्वारा होना चाहिए। अभी तक प्राचीन हिन्दी ग्रन्थो का प्रकाशन जिन सस्थाओं से हुआ है उनमें श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; खड्गविलास

साहित्य की पाठ्य-सामग्री

प्रेस, बाँकीपुर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, और गगा ग्रंथागार, लखनऊ प्रमुख हैं। हिन्दी साहित्य के पुनरुद्धार में प्रेसों का भी बहुत बड़ा हाथ है। अतएव हम अनुभव करते हैं कि जितने महत्व की पाठ्य-सामग्री हमें मिलनी चाहिए उतने ही महत्व के साथ उसका प्रकाशन भी होना उचित है। यदि इन दोनों बातों पर भविष्य मे ध्यान दिया गया तो साहित्य का स्वर्ण-युग निकट होगा।

विषय-प्रवेश की इस सक्षिप्त रूप-रेखा को समाप्त करने के पूर्व हिन्दी भाषा के विकास पर भी दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा।

हिन्दी भाषा का विकास

भाषा का सम्बन्ध मानव-समाज से है, अतएव मानव-समाज के विकास से भाषा में भी विकास होता है। इस विकास की गति अविदित रूप से चलती है। कालान्तर ही मे परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगत होते हैं। भाषा-परिवर्तन के अनेक कारण हैं। वे दो भागों में विभाजित किए गए हैं, अन्तरंग और बहिरंग। परिवर्तन होने का मुख्य अतरग कारण यही है कि भाषा प्रथमत: मुख की निवासिनी है। उसका उच्चारण सदैव एक-सा नहीं होता। उच्चारण की भिन्नता इतनी सूक्ष्म होती है कि उसका परिचय हमे सौ दो सै वर्ष बाद ही मिलता है और कुछ शताब्दियों बाद तो भाषा बिल्कुल ही बदल जाती है, उसकी अवस्थाएँ तक बदल जाती हैं। विच्छेदावस्था (Isolating Stage) सयोगावस्था (Agglutinative Stage) विकृतावस्था (Inflectional Stage) और वियोगावस्था (Analytic Stage) की श्रेणी में भाषा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में भी पहुँच जाती है। इस प्रकार भाषा का एक इतिहास हो जाता है, जिसमे भाषा के परिवर्तन की परिस्थितियों के सहारे हम अपने समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति ही का नहीं, अपनी सस्कृति का भी परिचय पाते हैं। हिन्दी भाषा का इतिहास कुछ कम मनोरंजक नहीं

है। भाषा-विकास के नियमानुसार वह हमें अपनी भाषा की विभिन्न रूपावली के साथ अपनी संस्कृति के इतिहास की सामग्री के चयन में सहायक है।

किसी भी भू-भाग में भाषा के दो रूप आप से आप हो जाते हैं। कारण यह है कि जन-समाज एक ही प्रकार के व्यक्तियों का समुच्चय न होकर भिन्न-भिन्न बुद्धि और ज्ञान-स्तर (Standard) के व्यक्तियों का समूह है। इसलिए उनकी भाषा में साम्य होते हुए भी भिन्नता के चिह्न पाये जा सकते हैं। जो अधिक परिष्कृत मस्तिष्क वाले हैं उनकी भाषा अन्य साधारण जनों की भाषा से अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होगी। यही परिष्करण की भावना भाषा में भिन्नता का सूत्रपात करती है और यह भिन्नता अन्त में भाषा का स्वरूप ही बदल देती है। उसका कारण यह है कि साहित्य के कठिन नियमों में पड़ कर भाषा का रूप कठिन अवश्य हो जाता है, जिसे जन-साधारण अपने व्यवहार में नहीं ला सकते। अतएव साहित्य के अतिरिक्त जन-साधारण की भाषा भिन्नता लिए हुए प्रवाहित होती रहती है। जब यह जन-साधारण की भाषा भी साहित्य का निर्माण करती है तो जनता को अपनी भाषा में स्वाभाविकता लाने के लिए फिर किसी सरल भाषा का आविष्कार करना पड़ता है। जब उसमें भी साहित्य-रचना होने लगती है तो जन-साधारण फिर एक नवीन भाषा का प्रयोग करते हैं। साहित्य-रचना और जन-साधारण की भाषा का यही पारस्परिक वैषम्य भाषा के परिवर्तित होने का रहस्य है।

हमारे देश के प्राचीन आर्यों की भाषा का क्या रूप था, यह हमें प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ज्ञात हो सकता है। पर ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक भाषा का एक रूप मात्र है। साधारण जनों की भाषा इससे अवश्य ही कुछ न कुछ भिन्न रही होगी, जिसका स्वरूप हमारे सामने नहीं है। ऋग्वेद की भाषा, जिसने जन-समाज की भाषा से रूप लेकर अपना परिष्करण किया था, स्थिरता का प्रमाण नहीं दे रही है। कारण यह है कि ऋग्वेद की रचना एक ही समय में और एक ही

(Tertiary) प्राकृत उसके नाम हैं। (? ई०)। इसे साहित्यिक प्राकृत भी कहा गया है। इस साहित्यिक प्राकृत के चार मुख्य रूप हैं :— महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी और अर्ध मागधी। इन्हें वररुचि और हेमचन्द्र ने भी प्राकृत का नाम दिया है। इनमे वरार और उसके समीपवर्ती प्रदेश में बोली जाने वाली महाराष्ट्री सब से प्रधान मानी गई है। यहाँ तक कि नाटकों में शौरसेनी बोलने वाली स्त्रियाँ भी महाराष्ट्री में गीत गाती हैं[1]। शूरसेन अथवा मथुरा में और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बोली जाने वाली प्राकृत का नाम शौरसेनी प्राकृत है। नाटक में साधारणतया स्त्रियों और विदूषक की भाषा यही है। कर्पूर-मजरी में राजा भी शौरसेनी का प्रयोग करता है। यह प्राकृत संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित हुई, क्योंकि इसका जन्म-स्थान मध्यदेश ही था, जहाँ परिष्कृत संस्कृत का जन्म हुआ था।

पूर्व मे बोली जाने वाली भाषा मागधी प्राकृत है। नाटकों मे निकृष्ट पात्र ही इसका प्रयोग करते थे। इसी से इसका तुलनात्मक मूल्य आँका जा सकता है। शौरसेनी और मागधी के बीच की भाषा का नाम अर्ध मागधी है। इसका भी कोई विशेष महत्व नहीं है। इनके अतिरिक्त वररुचि और हेमचन्द्र एक अन्य प्राकृत का वर्णन करते हैं, जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाती थी। इस प्राकृत का नाम पैशाची है।

जब साहित्य का निर्माण इन प्राकृतों में होने लगा और वैयाकरणों ने इन्हें व्याकरण के कठिन नियमों में बाँधना प्रारम्भ कर दिया तो जन-साधारण की भाषा मे इस साहित्यिक प्राकृत से फिर अन्तर होना प्रारम्भ हो गया। जिन बोलियों के आधार पर प्राकृत भाषाओं

---

१ हार्नली इस मत से सहमत नहीं हैं। वे शौरसेनी और महाराष्ट्री को दो पृथक् भाषाएँ नहीं मानते, उन्हें वे एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं। गद्य में शौरसेनी का प्रयोग होता है और पद्य में महाराष्ट्री का।

का निर्माण हुआ था वे अपने स्वाभाविक रूप से विकसित हो रही थीं। वैयाकरणों ने अपनी साहित्यिक प्राकृत की तुलना में इन्हें "अपभ्रंश" का नाम दिया, जिसका अर्थ है, "भ्रष्ट हुई।" ईसा की तीसरी शताब्दी में अपभ्रंश आभीर आदि निम्न जातियों की भाषा का नाम था, जो सिंध और उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी। नीची श्रेणी के लोगों की भाषा होने के कारण वह कभी गौरव के साथ नहीं देखी गई। इसके बोलने वाले अधिकतर विदेशी थे, जो श्वेत हूणों के समुदाय में थे। इनका निवास पंजाब और राजपूताने में था। इन विदेशियों में "आभीरी" नामक एक समुदाय था जिसने सिंध पर विजय प्राप्त की, बाद में गुजरात और राजपूताना भी इनके अधिकार में चला आया। सातवीं शताब्दी में इन लोगों का अधिकार पांचाल तक हो गया। फलस्वरूप इन लोगों की भाषा जो अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है, राज-भाषा हुई और उसका प्रचार इनके द्वारा विजित प्रदेश में ही नहीं वरन् उसके बाहर भी स्थान-विशेष की भाषा के आधार पर होने लगा। इसी वंश के राजा भोज (सं० ९००—९३८) ने अपने राज्य [illegible] और भी बढ़ाई और बिहार प्रान्त भी इन आभीरों के [illegible] आ गया। इस समय समस्त उत्तर भारत में अ[illegible] केवल जन-साधारण की भाषा के रूप में ही न[illegible] भी होने लगा। दसवीं शताब्दी में यह भाषा अप[illegible]र पहुँची और इसका प्रचार पश्चिम में सिंध से लेक[illegible]क और दक्षिण में सौराष्ट्र तक हो गया। इतना अव[illegible] शिष्ट लोगों में अभी तक संस्कृत और प्राकृत के प्र[illegible] गया था। जब जन-साधारण की बोली प्राकृत के [illegible]ार से निकलने का प्रयत्न करने लगी तो प्राकृत के [illegible] उसे हीन दृष्टि से देखते हुए, 'अपभ्रंश' नाम दे [illegible] की भाषा के रूप में ऐसी 'भ्रष्ट हुई' प्राकृत का कोई [illegible] हीं हो सकता था।

अप[illegible] ने तो अपने व्याकरण के सिद्धान्त से इसे 'भ्रष्ट हुई'

इतना ध्यान
विकृतावस्था
है। हिन्दी
की भाषाएँ
रित नहीं

हि० सा०

साबित किया है, पर वस्तुतः यह अपभ्रंश प्राकृत की विकसित अवस्था का ही नाम है।

यों तो प्रत्येक साहित्यिक प्राकृत का समानान्तर अपभ्रंश रूप होना चाहिये, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि, क्योंकि प्रत्येक प्राकृत की विकसित अवस्था ही अपभ्रंश के रूप में है। किन्तु केवल तीन अपभ्रंश ही माने गए हैं। नागर, व्राचड और उपनागर। मार्कण्डेय अपने प्राकृत सर्वस्व मे अनेक प्रकार के अपभ्रंशों का निर्देश करते हैं। व्याख्या करते हुए वे एक अज्ञात लेखक के मतानुसार २७ अपभ्रंशों की सूचना देते हैं, पर स्वयं मार्कण्डेय के विचार से केवल तीन अपभ्रंश भाषाएँ हैं :—नागर वाचड और उपनागर। अन्य अपभ्रंशों को वे इसलिए भिन्न भाषा नहीं मानते, क्योंकि उनमे पारस्परिक भिन्नता इतनी कम है कि वे स्वतन्त्र भाषाओं के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं।

"अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान् न पृथङ्मताः।"

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उन्होंने २७ अपभ्रंश भाषाएँ मानी अवश्य हैं, तथापि वे उनके स्वतंत्र नामकरण के पक्षपाती नहीं हैं। इन भाषाओं मे मार्कण्डेय ने पाण्ड्य, कालिङ्गय, कारणाट, काञ्च्य, द्राविड़ आदि को भी सम्मिलित कर दिया है। इसी के आधार पर पिशेल का कथन है कि मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के अन्तर्गत आर्य और अनार्य दोनों प्रकार की भाषाओं का वर्गीकरण किया है[1] यद्यपि यह कठिनता से माना जा सकता है कि आर्य और अनार्य भाषाओं में सूक्ष्म भेद ही है और वे स्वतंत्र भा[...] र अन्तर से विभूषित नहीं की जा सकतीं। जिस प्रकार प्राकृत में [...]कृत भाषाओं [...] मान्य है उसी प्रकार अपभ्रंशों में नागर अप[...] महत्वपूर्ण है। यह मुख्यतः गुजरात मे बोली जाती [...]हाराष्ट्री को [...]दो शैलियाँ [...] पद्य में

१ अपभ्रंश एकॉर्डिंग टु मार्कंडेय—जी ए ग्रियर्सन (जे. १९१३, पृष्ठ ८९५)

अर्थ यह भी है कि जो नागर देश में बोली जाती हो। गुजरात के पण्डित नागर पण्डित कहे जाते थे, अतएव नागर अपभ्रंश का स्थान गुजरात था। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने नागर अपभ्रंश ही में अपने ग्रंथों की रचना की है। हेमचन्द्र की रचना सस्कृत से बहुत प्रभावित है, क्योंकि नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत ही था। शौरसेनी प्राकृत का जन्म मध्यदेश में होने के कारण वह संस्कृत के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकती थी।

व्राचड सिंध में बोली जाती थी और उपनागर गुजरात और सिंध के बीच के प्रदेश में अर्थात् पश्चिम राजस्थान और दक्षिण पञ्जाब में। हम इन अपभ्रंशों के विषय में नागर अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य किसी अपभ्रंश के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं रखते, क्योंकि हेमचन्द्र ने केवल नागर अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कण्डेय ने भी अन्य अपभ्रंशों के विषय में कोई विशेष बात नहीं लिखी। जब साहित्य की शृंखला में प्राकृत 'मृत' भाषा मानी जाने लगी तो अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। छठवीं शताब्दी में अपभ्रंश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ, जब उसमें उच्च साहित्य की रचना होनी प्रारम्भ हुई। सुदूर दक्षिण और पूर्व तक में इसका प्रचार हो गया और यह शिष्ट संप्रदाय की भाषा हो गई। अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद उसे भी 'साहित्य-मरण' के लिये बाध्य होना पड़ा और दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किये। फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ। इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि हमारी भाषा का विकास विकृतावस्था (Inflectional) से वियोगावस्था (Analytic) में हुआ है। हिन्दी आदि भाषाएँ जो अपभ्रंश से विकसित हुई, वियोगावस्था की भाषाएँ हैं।

अपभ्रंश के 'जड़' हो जाने की अवस्था का ठीक-ठीक समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। अनुमानतः यह समय १००० ई० के बाद

का ही है। अनेक स्थानों में बोले जाने वाले अपभ्रंश अनेक प्रकार की भाषाओं में परिवर्तित हो गए। प्रांतभेद के अनुसार व्राचड से सिंधी भाषा का जन्म हुआ। नागर या शौरसेनी अपभ्रश से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और पञ्जाबी का विकास हुआ, मागधी अपभ्रंश से बङ्गला, बिहारी, आसामी और उड़िया, का, अर्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का तथा महाराष्ट्री अपभ्रश से मराठी का विकास हुआ।

हमारा उद्देश्य यहाँ केवल हिन्दी के विकास से है। अपभ्रंश से किस प्रकार हिन्दी का सूत्रपात हुआ, यही हमें देखना है।

प्रांत-भेद से तो नागर या शौरसेनी अपभ्रंश अनेक भाषाओं मे रूपान्तरित हुई, किन्तु काव्य अथवा रीति-भेद से वह दो भागों में विभाजित हुई। पहली का नाम डिंगल है और दूसरी का पिंगल। डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का नाम पड़ा और पिंगल व्रज-प्रदेश की साहित्यिक भाषा का नाम। यहीं से हमारी हिन्दी की उत्पत्ति होती है। किस समय अपभ्रंश ने हिन्दी में परिवर्तित होना प्रारम्भ किया, यह तो अनिश्चित है। अभी तक के इतिहासकारों ने उसकी उत्पत्ति विक्रम सं ७०० से मानी है।

मिश्र बन्धुओं के अनुसार 'हिन्दी की उत्पत्ति संवत् ७०० के आस-पास मानी गई है, क्योंकि पुंड अथवा पुष्य नामक हिन्दी का पहला कवि सं० ७७० मे हुआ।" उसकी कविता का क्या रूप है, और उसके कितने उदाहरण प्राप्त हुए हैं, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। साहित्य में केवल पुष्य कवि का नामोल्लेख ही है। पुष्य के परवर्ती कवियों का विवरण भी विवादग्रस्त है और उनकी रचनाएँ भी अभी तक प्रामाणिक नहीं मानी गई। अतएव हिन्दी का प्रारम्भिक काल पुष्य से मानना, जिसके सम्बन्ध मे अभी तक कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किसी प्रकार भी प्रामाणिक न होगा।

पहला प्रकरण

संधि काल

सिद्ध साहित्य : जैन साहित्य

(सं० ७५०—१२००)

हिन्दी साहित्य के विकास-काल को संधिकाल कहना अधिक उपयुक्त है। इस काल में अपभ्रंश की गौरव शालिनी कृतियों के बीच में भाषा विषयक वह सरलता दृष्टि गोचर होने लगी थी जो जनता की स्वाभाविक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अपने को साहित्यिक विधानों से मुक्त करती है। साहित्यिक जड़वाद से जनता संतुष्ट नहीं होती। वह अपनी चेतना सरल भाषा में विकसित करती है और साहित्यिक शैली के रूढ़ि होते ही अपनी स्वाभाविक बोली में अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए सीधे मार्ग का अन्वेषण करती है। किन्तु यह पार्थक्य एक साथ ही नहीं हो जाता। उसके लिए तो अनेक युगों की आवश्यकता है। अतः जब साहित्य के वृन्त पर जन-भाषा अपनी पंखुड़ियाँ खोलना प्रारम्भ करती है तो उसके ऊपर पुरातन अनुबन्धों का आग्रह तो रहता ही है। जनता के मनोभावों से प्रेरित ऐसे साहित्य में प्राचीन शैली के भीतर नवीन प्रयोगों की कसमसाहट दीख पड़ती है। यह कसमसाहट धीरे धीरे उभरती हुई अपने पङ्ख खोलती है और अपने लिए साहित्य में मान्यता प्राप्त कर लेती है। अतः अपने विकास में साहित्य ऐसे स्थल पर आता है जहाँ दो भाषाओं या दो शैलियों में सन्धि होती है और साहित्य के इस काल को सन्धि काल कहना ही अधिक समीचीन है।

अपभ्रंश जब अपनी साहित्यिक शैली में रूढ़ होने जा रहा था तब उसमें जनता की मनोवृत्ति से नवीन प्रयोग हुए जो सिद्धों और जैन कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। सिद्धों की भाषा जनरुचि के

नवीन प्रयोगों के रूप में अर्ध मागधी अपभ्रंश से विकसित हुई और जैन कवियों की भाषा नागर अपभ्रंश से। इस प्रकार इन दोनों अपभ्रंशों के क्रोड मे ऐसी भाषा पोषित होने लगी जो लोकरुचि का आधार पाकर अपने लिए एक आलोकमय भविष्य का निर्माण करने जा रही थी। यद्यपि हिन्दी का विकास मूलत. शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ, अर्ध मागधी या नागर अपभ्रंश से नहीं किन्तु शौरसेनी का देशव्यापी महत्त्व इतना अधिक रहा कि अर्ध मागधी और नागर अपभ्रंश भाषाएँ उसके प्रभाव से अपने को नहीं बचा सकीं। परिणाम-स्वरूप अर्ध मागधी अपभ्रंश और नागर अपभ्रंश के क्रोड़ से निकलने वाली जन-भाषाएँ अपने आदि रूप में शौरसेनी से निकलने वाली हिन्दी के आदि रूप के अत्यन्त निकट आ जाती हैं। यही कारण है कि अर्ध मागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।

सिद्धों का समय सं० ८१७ से माना जाता है क्योंकि सिद्धों के प्रथम कवि सरहपा का आविर्भाव काल स० ८१७ वि० है। ये सिद्ध कौन थे, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

सिद्ध युग

सिद्धों की परम्परा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की एक विकृति ही माननी चाहिए। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में देश की बदलती हुई परिस्थितियों ने जिन नवीन भावनाओं की सृष्टि की, उन्हीं के परिणाम-स्वरूप सिद्ध-साहित्य की रूप-रेखा तैयार हुई। बुद्धदेव का निर्माण ई० पूर्व ४८३ में हुआ। वे लगभग ४५ वर्ष तक अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। इस प्रकार ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से बौद्ध मत का प्रचार हुआ। यह धर्म अपनी पूर्ण शक्ति के साथ देश-विदेश में अपनी विजय की दुन्दुभी बजाता रहा। वैदिक कर्म-काण्ड की जटिलता और हिंसा की प्रतिक्रिया में, सहानुभूति और सदाचार द्वारा आत्मवाद के विनाश से तृष्णा

और दुःख रहित निर्वाण की प्राप्ति करना ही बौद्ध धर्म का आदर्श रहा। ईसा की पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। महायान में सिद्धान्त परम्परा अधिक नहीं रही। उसमें लोक-भावना का मेल इतना अधिक हो गया कि निर्वाण के लिए सन्यास और विरक्ति के पर्याय लोक-कल्याण और आचार की पवित्रता प्रधान हो गई तथा वह वर्ग-भेद से उठ कर एक सार्वजनिक धर्म बन गया। हीनयान में ज्ञानार्जन, पांडित्य और व्रतादि की कठिन मर्यादा बनी रही। बौद्धधर्म का चिंतन पक्ष हीनयान में रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में। यों तो बौद्ध धर्म को समय समय पर संघर्षों का सामना करना पड़ा—गुप्त वंश के 'परम भागवत' नरेशों द्वारा भी बौद्ध धर्म की गति में बाधा पड़ी लेकिन उसे सबसे बड़ा आघात ईसा की आठवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा में सहन करना पड़ा। लोकरुचि के बौद्धधर्म सम्बन्धी संस्कार यद्यपि नष्ट नहीं हुए तथापि उन पर वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की छाप पड़ी और महायान का व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञान-कांड से जुड़ गया। शंकर की दिग्विजय में बौद्ध धर्म की लोकमान्य स्वीकृति भी जनता से उठने लगी। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म भारत भूमि से निर्वासित होने लगा और उसने तिब्बत, नैपाल या बंगाल की शरण ली। जो बौद्ध धर्म के अनुयायी भारत में रह गए थे, उन्हें वैदिक धर्म के मत-विशेष से ऐसा समझौता करना पड़ा जिससे वे जनता की रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। श्री शंकराचार्य के शैव धर्म से प्रभावित होकर तथा जनता को अपने प्रभाव में लाने के अभिप्राय से बौद्ध सम्प्रदाय ने तन्त्र, मन्त्र और अभिचार आदि का आश्रय ग्रहण किया जिससे चमत्कार पूर्ण शक्तियों का आविर्भाव किया जा सके और जनता के हृदय में अपनी मान्यता सुरक्षित रखी जा सके। परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म जो अपनी साधना की सरलता और सदाचार की महानता से, कर्म के परिष्कार में वैदिक धर्म की

के शासन काल (ई० ७६६-८०६) में सिद्ध कवि सरहपा का आविर्भाव हुआ। बिहार की जन-भाषा में काव्य रचना करने के कारण सरहपा आदि कवियों की भाषा 'मगही' का पूर्व रूप होना स्वाभाविक ही है।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धो का नाम निम्न क्रम से दिया है :—

१ लुइपा—कायस्थ
२ लीलापा
३ विरूपा
४ डोम्बिपा—क्षत्रिय
५ शबरपा— "
६ सरहपा—ब्राह्मण
७ कंकाली पा—शूद्र
८ मीन पा—मछुआ
९ गोरक्ष पा
१० चोरंगि पा—राजकुमार
११ वीणापा— "
१२ शान्ति पा—ब्राह्मण
१३ तन्तिपा—तँतवा
१४ चमारि पा—चर्मकार
१५ खड्ग पा—शूद्र
१६ नागार्जुन—ब्राह्मण
१७ कण्ह पा—कायस्थ
१८ कर्णरि पा
१९ थगन पा—शूद्र
२० नारोपा—ब्राह्मण
२१ शलिपा—शूद्र
२२ तिलोपा—ब्राह्मण
२३ छत्रपा—शूद्र
२४ भद्र पा—ब्राह्मण
२५ दोखंधि पा
२६ अजोगि पा—गृहपति
२७ कालपा
२८ धोम्भि पा—धोबी
२९ कंकण पा—राजकुमार
३० कमरि पा
३१ डेंगि पा—ब्राह्मण
३२ भदेपा
३३ तघे पा—शूद्र
३४ कुकुरिपा—ब्राह्मण
३५ कुचि पा—शूद्र
३६ धर्म पा—ब्राह्मण
३७ महीपा—शूद्र
३८ अचिंति पा—लकड़हारा
३९ भलह पा—क्षत्रिय
४० नलिन पा
४१ भुसुकि पा—राजकुमार
४२ इन्द्रभूति—राजा
४३ मेको पा—वणिक्
४४ कुठालिपा

४५ कमरि पा—लोहार
४६ जालन्धर पा—ब्राह्मण
४७ राहुल पा—शूद्र
४८ घर्वरि पा
४९ धोकरि पा—शूद्र
५० मेदनी पा
५१ पंकज पा—ब्राह्मण
५२ घंटा पा—क्षत्रिय
५३ जोगी पा—डोम
५४ चेलुक पा—शूद्र
५५ गुंडरि पा—चिड़ीमार
५६ लुचिक पा—ब्राह्मण
५७ निर्गुण पा—शूद्र
५८ जयानन्त ब्राह्मण
५९ चर्पटी पा—कहार
६० चम्पक पा
६१ भिखन पा—शूद्र
६२ भलि पा—कृष्ण घृत वणिक्
६३ कुमरि पा
६४ चवरि पा
६५ मणिभद्रा-(योगिनी)गृहदासी
६६ मेखला पा (योगिनी) गृहपति कन्या
६७ कनखला पा (")
६८ कल कल पा—शूद्र
६९ कंताली पा—दर्जी
७० धहुलि पा—शूद्र
७१ उधलि पा—वैश्य
७२ कपाल पा—शूद्र
७३ किल पा—राजकुमार
७४ सागर पा—राजा
७५ सर्वभक्ष पा—शूद्र
७६ नाग बोधि पा—ब्राह्मण
७७ दारिक पा—राजा
७८ पुतुलि पा—शूद्र
७९ पनह पा—चमार
८० कोकालि पा—राजकुमार
८१ अनंग पा—शूद्र
८२ लक्ष्मी करा (योगिनी) राजकुमारी
८३ समुद पा
८४ भलि पा—ब्राह्मण

इन चौरासी सिद्धों की नामावली देखने से ज्ञात होता है कि इनमें प्रायः सभी वर्ण के साधक थे। शूद्र सब से अधिक थे, उनके बाद ब्राह्मण, फिर राजकुमार, क्षत्रिय, राजा, कायस्थ, चर्मकार, वणिक् तथा शेष साधकों में मछुआ, तँतवा, गृहपति, धोबी, लकड़हारा, लोहार, डोम चिड़ीमार, कहार, गृहदासी, गृहपति कन्या, दर्जी, वैश्य और राजकुमारी आदि की गणना है। इससे ज्ञात होता है कि इन साधकों में न तो वर्ण-भेद था और न वर्ग-भेद। ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ ही साथ समाज के विविध व्यवसायों मे संलग्न व्यक्ति भी थे। इनमें राजा, राजकुमारी, गृहपति कन्या और गृहदासी भी सम्मिलित थे। इस प्रकार समाज के विविध स्तरों से आए हुए साधकों ने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म की भावना जनता के क्रोड़ मे पोषित हुई और उसके प्रचार में राज्यवर्ग के साथ जनता का भी सक्रिय सहयोग रहा।

उपर्युक्त चौरासी सिद्धों में अनेक सिद्ध काव्य-रचना में समर्थ हुए। जिन सिद्धों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्य द्वारा किया उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१ सरहपा	(सं० ८१७)	सिद्ध	६	८ गुडरीपा	(सं० ८६७)	सिद्ध	५५
२ शबरपा	(सं० ८३७)	"	५	९ कुकुरिपा	सं० ८६७)	"	३४
३ भुसुकुपा	(सं० ८५७)	"	४१	१० कमरिपा	(सं० ८६७)	"	४५
४ लुइपा	(सं० ८८७)	"	१	११ कण्हपा	(सं० ८६७)	"	१७
५ विरूपा	(सं० ८८७)	"	३	१२ गोरक्षपा	(सं० ९०२)	"	६
६ डोम्बिपा	(सं० ८५७)	"	४	१३ तिलोपा	(सं० १० ७)	"	२२
७ दारिकपा	(सं० ८६७)	"	७७	१४ शान्तिपा	(सं० १०५७)	"	१२

यद्यपि वज्रयान की परम्परा लेकर ही इन सिद्ध कवियों ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, तथापि इनके काव्य को देखने से ज्ञात होगा कि इन्होंने तत्कालीन वज्रयानी वातावरण मे अद्भुत क्रांति उपस्थित की। इन्होंने जिस स्वाभाविक धर्म और आचार का प्रतिपादन किया वह वज्रयान के सिद्धान्तों से भिन्न था। इन सिद्धों के दृष्टिकोण में एक विशेष बात यह है कि वह ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म के क्रोड़ में पल्लवित होने वाले महायान, मन्त्रयान और वज्रयान से संबंध विच्छेद-सा करते हुए ये सिद्ध किसी 'धर्म महासुख' की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसमे ईश्वरवाद का प्रतिफलन होता है। यह बात ध्यान

देखने को मिलती है ।[1] जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास रखने के कारण ही सिद्धों का सिद्धान्त सहज-मार्ग कहलाता है।

यह सिद्ध-साहित्य विशेषतः चार विद्वानों द्वारा अध्ययन किया गया है। सब से पहले महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने सरहपा और कृष्णाचार्य पा के दोहों के संग्रह 'बौद्ध गान श्रो दोहा' नाम से प्रकाशित किए। किन्तु इस संग्रह का पाठ बहुत अशुद्ध था। उनके बाद डा० शहीदुल्ला ने इस पाठ का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन करते हुए मूल को तिब्बत-अनुवाद से मिला कर एक सही संकलन प्रकाशित किया। यह "ला चांट्स मिसतीकूस द कान्ह ऐंद सरह" है जिसमें भाषा की जाँच-पड़ताल के साथ अर्थ भी स्पष्ट किया गया है। तीसरे विद्वान् डा० प्रबोध चन्द्र बागची हैं जिन्होंने राजगुरु हेमराज शर्मा के संग्रह और दरबार लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए तिल्लोपादस्य दोहा कोषः, सरहपादीय दोहा सरहपादस्य दोहाकोषः, काण्हपादस्य दोहाकोष., सरहपादीय दोहा संग्रह' सकीर्ण दोहा सग्रह' को 'दोहा कोष' नाम से प्रकाशित किया। इसमें पाठ्य भाग व्यवस्थित और टिप्पणी सहित है। चौथे विद्वान् महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हैं जिन्होंने सिद्ध कवियों का संग्रह 'हिन्दी काव्य-धारा' नाम से किया। इन सिद्ध कवियों के साथ आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक के अनेक जैन तथा चारण कवि भी हैं किन्तु इन सब कवियों में सिद्ध कवियों की प्रधानता है। सिद्ध कवियों की रचनाओं का निकटतम हिन्दी रूपान्तर राहुल जी ने साथ ही दे दिया है जिससे कविता को समझने में आसानी हो। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डा० शहीदुल्ला, डा० प्रबोधचन्द्र बागची और राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध कवियों की भाषा और काव्य के दृष्टिकोण

---

१ खाअन्त पिअन्ते सुहहि रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते ॥
अइस धेम्म सिज्झइ परलोअह। णाह पाये दलीउ भअलोअह ॥

चर्यापद—सरहपा

पर जो प्रकाश डाला है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदि भाग यथेष्ट स्पष्ट हुआ है। इस प्रकार हिन्दी कविता का आदि रूप नालन्द और विक्रमशिला के इन सिद्धों द्वारा बौद्धधर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार में मिलता है। ये सिद्ध किसी सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग न कर जनता की भाषा का ही प्रयोग करते थे। यह भाषा मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मगही है। मागधी से निकलने के कारण डा० बी० भट्टाचार्य सरहपा को बंगाली का प्रथम कवि मानते हैं किन्तु नालन्द और विक्रमशिला की भाषा स्पष्टतः बिहारी है। फिर उपर्युक्त दोनों स्थान भी वगाल में नहीं हैं। अतएव भट्टाचार्य का कथन भ्रमपूर्ण है। यह भाषा 'संध्या भाषा' के नाम से प्रचलित थी।[1]

चौरासी सिद्धों का समय सं० ७६७ से १२५७ तक माना गया है, यद्यपि सिद्धों की परम्परा इसके बाद भी अनेक वर्षों तक चलती रही। इस परम्परा को 'नाथपन्थ' का नाम देना उचित है। यह नाथपंथ मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ द्वारा चलाया गया था[2] जो बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक अपने चरमोत्कर्ष पर था। इसी ने हमारे साहित्य में सत साहित्य की नींव डाली, जिसके सर्वप्रथम कवि कबीर (जन्म सं० १४५६) थे। अतः संत साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों को[3], मध्य नाथपन्थियों को और पूर्ण विकास कबीर से प्रारम्भ होने वाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास आदि को मानना चाहिए। इस प्रकार संत

---

१ श्री काशीप्रसाद जायसवाल का भाषण।

२ नाथपन्थ चौरासी सिद्धों से निकला है। गोरख सिद्धान्त संग्रह में "चतुरशीति सिद्ध" शब्द के साथ चौरासी सिद्धों में से आदि नाथ जालन्धर पा) तथा अन्य ६ सिद्धों के नाम मिलते हैं। (राहुल साकृत्यायन)

३ धरती अरु असमान विचि दोई तू बड़ा अबध।
पट दर्शन संसे षड्या, अरु चौरासी सिद्ध ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४

साहित्य अपने आदि रूप से विकसित होकर शृङ्खला-बद्ध और नियमित रूप से हमारे सामने अपने सम्पूर्ण इतिहास को लेकर आता है। कबीर ने यद्यपि स्थान-स्थान पर चौरासी सिद्धों की सिद्धि में शंका की है तथापि इ से उनकी विचार-परम्परा मे अन्तर ही ज्ञात होता है, विरोध नहीं। नाथपन्थ के हठयोग आदि पर तो कबीर की आस्था थी ही क्योंकि उन्होंने न जाने कितनी बार कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्णा आदि के सहारे 'अनहद' नाद सुनने की रीति बतलाई है।

सिद्धों की कविता जनता की भाषा से सम्बन्ध रखती थी अतएव साहित्य-क्षेत्र में वह उपेक्षा की दृष्टि से देखी गई। इसीलिए उसके अवतरण कहीं देखने में नहीं आते। सिद्धों की परम्परा का विस्तार ५०० वर्षों तक होने के कारण भाषा में भी अन्तर होना स्वाभाविक है अतः इस सिद्ध युग की भाषा अनेक रूपों में होकर विकसित हुई है।

सिद्धों का विवरण राहुल जी ने तिब्बत के 'स-स्क्य-विहार' के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली 'स-स्क्य-क्वं बुम्' के सहारे दिया है, जो चीन की सीमा के पास 'तेर-गी' मठ में छपी है।[1] उनके अनुसार सरहपा आदिम सिद्ध हैं, जिनका समय सं० ६९० माना गया है।[2] अतएव यह कहा जा सकता है कि वज्रयान का प्रचार सातवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गया था। राहुल जी सरहपा का समय सं० ८१७ मानते हैं, क्योंकि वे महाराज धर्मपाल (सं० ८२६—८६६) के समकालीन थे। जो भी समय निश्चित हो, यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि वज्रयान के प्रचारक सिद्धों ने नियमित रूप से सबसे प्रथम हिन्दी मे रचना प्रारम्भ कर दी थी। ये रचनाएँ मगही मे हुईं और हमे भोटिया में अनुवादित ग्रन्थावली से प्राप्त हुईं जो भोटिया ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूर मे सुरक्षित है। उस समय के

---

१ गङ्गा – पुरातत्वांक (१९३३), पृष्ठ २२०

२ डा० विनयतोष भट्टाचार्य के मतानुसार—

विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल, खंड १४, भाग ३, पृष्ठ १४९

सिद्धों के साहित्य पर विस्तार पूर्वक विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय सं० ६९० माना है किन्तु श्री राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार वे संवत् ८१७ में आविर्भूत हुए। श्री राहुल जी का कथन है कि "भोटिया ग्रन्थों से मालूम होता है कि बुद्धज्ञान जो सरहपा के सहपाठी और शिष्य थे, दर्शन में हरिभद्र के भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षित के शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के क़रीब तिब्बत में हुआ था। वहीं से यह भी मालूम होता है कि बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल (७६६ ८०९) के समकालीन थे। सरहपा के शिष्य शवरपा लूइपा के गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपाल के कायस्थ (= लेखक) थे। शान्त राक्षित का जन्म ७४० के क़रीब, विक्रम शिला के पास, सहोर राजवंश में हुआ। फलतः हम सरहपा को महाराज धर्मपाल (७६४ ८०६) का समकालीन मान लें तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धों का आरम्भ हम आठवीं शताब्दी के अन्त (८०० ई) से मान सकते हैं।"[१] उपर्युक्त कथन से निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि सरहपा सं० ७९७ से ८२६ तक अर्थात इन तीस वर्षों के आसपास अवश्य वर्तमान रहे होंगे क्योंकि सं० ७९७ सरहपा के समकालीन हरिभद्र के गुरु शान्तरक्षित का जन्म संवत् है और सं० ८२६ सरहपा के प्रशिष्य लूइपा के आश्रयदाता धर्मपाल के राज्य-काल का प्रारम्भ है।

सरहपा [सं० ७९७-८२६]

सरहपा एक ब्राह्मण भिक्षु थे। साथ ही वज्रयान के विशेषज्ञ भी थे। बौद्धों की परम्परा में होने के कारण इन्हें 'राहुल भद्र' और वज्रयानी होने के कारण इन्हें 'सरोज वज्र' भी कहते हैं। प्रारम्भ में

---

१ पुरातत्व निबन्धावली—श्री राहुल सांकृत्यायन (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९३७) पृष्ठ १५५-१५६।

इनका निवास-स्थान नालन्दा था। बाद में वज्रयान के प्रभा आकर इन्होंने शर (सर) बनाने वाले की कन्या को जोगिनि' कर उसके साथ अरण्य-वास किया और स्वयं शर (सर) व का कार्य स्वीकार किया। अपने इस कार्य के कारण ही ये 'सर कहलाये। इनके लिखे हुए ३२ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें दोहा विशेष प्रसिद्धि पा सका। यद्यपि ये वज्रयान के प्रमुख सिद्ध जाते हैं, तथापि इन्होंने जीवन के स्वाभाविक भोगों वज्रयान के सहज अभिचारों के अतिरिक्त सदाचार के वि कोई बात नहीं लिखी। इनके दृष्टिकोण की रूप-रेखा संक्षेप मे प्रकार दी जा सकती है :—

सहज संयम
|
पाखंड और आडंबर-विनाश
|
गुरु सेवा
|
सहज मार्ग
|
महासुख की प्राप्ति

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण निम्न लिखित हैं'—

१ जइ पच्चक्ख कि झाणें कीअअ।
जइ परोक्ख अन्धार म धीअअ॥
सरहें [णित्त] कड्डिउ राव।
सहज सहाव ण भावाभाव[१]॥

[सहज संयम]

२ जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमु पाडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह॥

---

१ यदि प्रत्यक्ष [तदा] ध्यानेन किं क्रियते।
यदि परोक्ष [तदा] अन्धकारे मा ध्रियताम्॥

पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख [तां मोरह चमरह]।
उच्छें भोअणें होइ जाण ता करिह तुरङ्गह ॥
सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किम्पि ण भावइ।
तत्त रहिअ काआ ण ताव पर केवल साहइ ॥[१]

[पाखंड और आडंबर-विनाश]

२ गुरु उवएसें अमिअ रसु धावहि ण पीअहु जेहि।
बहु सत्यत्य मरुत्यलिहिं तिसिए मरिअउ तेहि ॥
चित्ताचित्त वि परिहरहु तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु वअणें दिढ भत्ति करु होइ जइ सहज उलालु ॥[२]

[गुरुसेवा]

सरहेण नित्यम् उच्चैः कथितम्।
[यत्] सहज स्वभावो न [तत्र] भावाभावौ ॥ दोहाकोष
डा० प्रबोधचन्द्र बागची (कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५ सी)
पृष्ठ १६

१ यदि नग्ना इव भवति मुक्तिः तदा शुनः शृगालस्य [न किम्]।
रोमोत् पाटने अस्ति सिद्धिः तदा युवती नितम्बस्य [न किम्]।
पुच्छ ग्रहणे दृष्टो मोक्षः तदा मयूर चामरस्य [न किम्]।
उच्छिष्ट भोजनेन भवति ज्ञान तदा हस्ति तुरङ्गस्य [न किम्]।
सरहो भणति क्षपणकाना मोक्षो मह्यं किमपि न प्रतिभासते।
तत्व रहितो कायो न तावत् परं केवलं साधयति ॥

वही, पृष्ठ १६

२ गुरूपदेशेन अमृत रसो धाव्यते न पीयते यैः।
बहु शास्त्रार्थ मरुस्थली तृष्णया म्रियते तैः ॥
चित्ताचित्तमपि परिहर तथा अस्तु यथा बालः।
गुरुवचने दृढ़ भक्ति कुरु भवति येन सहजोल्लोलः ॥

वही, पृष्ठ २७

[सहज छड्डि जें णिव्वाण भाविउ] ।
णउ परमत्थ एक ते साहिउ ॥
जोएसु जो ण होइ सत्तुट्ठो ।
मोक्ख कि लब्भइ झाण पविट्ठो ॥[१]

[सहज-मार्ग]

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ णउ भव णउ णिव्वाण ।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण ॥
जहि मण मरइ पवण हो क्खअ जाइ ।
एहु सो परम महासुह रहिअ कहिम्पि ण जाइ ॥[२]

[महासुख की प्राप्ति]

अन्य प्रमुख सिद्ध कवियों का विवरण इस प्रकार है :—

शवर पा—शवरों की वेषभूषा मे रहने के कारण इनका नाम शवरपाद पड़ा । ये सरहपाद के शिष्य तथा लुइपाद के गुरु थे । इनकी रचनाओं में रहस्योन्मुख भावनाएँ और महासुख-प्राप्ति के विचार अधिक हैं । इनके चर्या पदों से कुछ पंक्तियाँ लीजिए :—

शवरपा
(सं० ८३७)

---

१ सहज परित्यज्य येन निर्वाण भावितम् ।
न तु परमार्थः एकोऽपि तेन साधितः ॥
योगेपु यो न भवति सन्तुष्टः ।
मोक्षं किं लभते ध्यान प्रविष्ठः ॥

वही, पृष्ठ १७

२ आदिर्न अन्त न मध्य न तु भवो न तु निर्वाणम् ।
एतत् खलु तत् परम महा सुख न तु परो न तु आत्मा ॥
यत्र मनो म्रियते पवनश्च क्षय याति ।
एतदेव खलु तत् परम महासुख रहित कुत्रापि न याति ॥

वही, पृष्ठ २१

छाडु छाडु माश्रा मोहा विषम दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुण-मेहेली ॥[1]

भुसुकु पा—ये क्षत्रिय भिक्षु थे। इनका निवास-स्थान नालन्दा में था और ये नालन्दा-नरेश राजा देवपाल (सं० ८६६—६०६) के समकालीन थे। एक बार राजा देवपाल ने इनकी अस्त-व्यस्त वेष-भूषा देखकर इन्हें 'भुसुकु' कह दिया। उस समय से ये 'भुसुकु पा' कहलाने लगे। ये तंत्र संबन्धी तथा रहस्योन्मुख विचारों से ओतप्रोत रचनाएँ किया करते थे। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है :—

भुसुकु पा (सं० ८५७)

डहि जो पञ्च पाटण इँ दिविसआ णठा।
ण जानमि चिअ मोर कहिं गइ पइठा ॥
सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ।
निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥[2]

लुइ पा—ये अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध थे, इसीलिए सिद्धों में इनका स्थान प्रथम है। ये सिद्ध शवर पा के शिष्य तथा राजा धर्मपाल के लेखक थे। ये अपनी साधना में इतने ऊँचे थे कि उड़ीसा के राजा दारिक पा और उनके मंत्री डेंगीपा तक उनके शिष्य बन गए थे। इन्होंने रहस्यात्मक विचारों से परिपूर्ण रचनाएँ की हैं। उदाहरण के लिए उनका निम्नलिखित पद लीजिए :—

लुइ पा (सं० ८८७)

काआ तरुवर पञ्चवि डाल।
चंचल चीए पइठा काल ॥

---

१ राग-रामकी—शवरपादानाम (मेटीरियल्स फ़ार ए क्रिटिकल एडीशन अव् दि ओल्ड बेंगाली चर्यापदाज़, पार्ट वन्, प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९३८) पृष्ठ १५५

२ वही, पृष्ठ १५४

दिढ करिअ महासुह परिमाण।
लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण ॥[1]

विरूपा—ये बड़े पर्य्यटनशील सिद्ध थे। इन्होंने नालन्दा, श्रीपर्वत, देवीकोट, उड़ीसा आदि स्थानों की यात्रा की। इनका मुख्य स्थान नालन्दा ही था। कण्ह पा और डोम्बि पा इनके शिष्य थे। ये अधिकतर तंत्रों में विश्वास करते थे और वज्रयान के सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था रखते थे।

विरू पा
(सं० ८८७)

एक से सुण्डिनि दुइ घरे सान्धअ।
चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥
सहजे थिर करि वारुणी सान्धे।
जें अजरामर होइ दिढ कान्धे ॥[2]

डोम्बि पा—ये क्षत्रिय थे। ये वीणा पा और विरू पा के शिष्य थे। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है :—

डोम्बि पा
(सं० ८९७)

गगा जउना माझे रे बहइ नाइ।
तहिं बुड़िली मातगि पोइआ लीले पार करेइ ॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाटत भइल उछारा।
सदगुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥[3]

दारिक पा—ये लुइ पा के शिष्य थे। पहले ये ओड़ीसा के राजा थे, बाद में लुइ पा से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गए। इनके साथ इनके मंत्री डेंगी पा भी शिष्य हुए। गुरु के आदेश से सिद्धि-प्राप्ति के लिए ये अनेक वर्षों तक कांचीपुरी में गणिका की सेवा करते रहे। सिद्धि प्राप्त करने पर ये 'दारिक पा' कहे जाने लगे। इनके शिष्य

दारिक पा
(सं० ८९७)

---

१ वही, पृष्ठ १०७
२ ,, पृष्ठ १०९
३ ,, पृष्ठ १२१

वज्रघण्टा पा थे। इन्होंने भी 'महासुख' में विश्वास करते हुए रहस्योन्मुख रचनाएँ लिखी हैं :—

सुन करुण रे अभिनचारें काअवाक्चिए।
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें॥
अलक्ख लक्खइ चिए महासुहें।
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें॥[१]

गुंडरी पा—ये कर्मकार थे। सिद्धलीला पा इनके गुरु थे। इनकी रचना में वज्रयान के अभिचारों का विशेष वर्णन है। उदाहरण निम्नलिखित है :—

गुडरी पा
(सं० ८९७)

तिअड्डा चापी जोइनि दे अङ्कवाली।
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली॥
जोइनि तँइ विनु खनहिं न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमल रस पीवमि॥[२]

कुकुरि पा—ये ब्राह्मण थे, कपिलवस्तु के निवासी थे और चर्पटी के शिष्य थे। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

कुकुरि पा
(सं० ८९७)

दिवसइ वहुड़ी काग डरे भाअ।
राति भइले कामरु जाअ॥
अइसन चर्या कुक्कुरी पाएँ गाइड़।
कोड़ि माझें एकु हिअहिं समाइड़॥[३]

---

१ वही, पृष्ठ १४०
२ ,, पृष्ठ ११०
३ ,, ,, १०८

कमरि पा—ये उड़ीसा के राजवंशी थे। इन्हें प्रज्ञापारमिता पर पूर्णाधिकार था। इन्होंने अपने गुरु वज्रघण्टा पा के साथ उड़ीसा में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। तंत्रों पर इनकी विशेष आस्था थी। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

कमरि पा
(स० ८९७)

सोने भरिती करुणा नावी।
रूपा थोइ नाहिक ठावी॥
वाहतु कामलि गअण उवेसें।
गेला जाम वाहुडइ कइसें॥[1]

कण्ह पा—कर्णाटक में जन्म लेने के कारण इन्हें 'कर्ण पा' भी कहा गया है। यों अपने श्याम वर्ण के कारण इन्हें 'कृष्ण पा' या 'कण्ह पा' नाम दिया गया। ये बहुत बड़े विद्वान् थे, साथ ही सिद्धों मे सर्वश्रेष्ठ कवि भी थे। ये महाराज देवपाल (स० ८६६–६०६) के समकालीन थे। इनका प्रमुख स्थान सोमपुरी (बिहार) में था। जालंधर पा इनके गुरु थे। चौरासी सिद्धों में अनेक सिद्ध इनके शिष्य थे। इन्होंने रहस्यात्मक भावनाओं के साथ वज्रगीत भी लिखे हैं किन्तु साथ ही शास्त्रीय रूढ़ियों का पूर्ण शक्ति के साथ खंडन भी किया है। इनकी कविता निम्नलिखित है :—

कण्ह पा
(स० ८९७)

एवकार दिढ़ वाखोड़ मोड्डिउ।
विविह विआपक वान्धण तोड़िउ॥
कण्हु विलसअ आसव माता।
सहज नलिनीवन पइसि निविता॥
जिम जिम करिणा करिनिरें रिसअ।
तिम तिम तथता मअगल वरिसअ॥

छड़गइ सग्रल सहावे सूध ।
भावाभाव वलाग न छूध ॥
दशवल रग्रण हरिग्र दशदिसें ।
ग्रविद्या करिकूँ दम ग्रकिलेसें ॥[1]

गोरक्ष पा—ये गोरखपुर के निवासी कहे गए हैं। ये सिद्धों बड़े प्रभावशाली थे। इन्हें 'नाथ सप्रदाय' का प्रवर्त्तक मानना चाहि क्योंकि इन्होंने सिद्धों के संप्रदाय से वज्रयान परंपराओं में विशेष संशोधन करते हुए न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन्हें ही गोरखन कहा गया है। इनकी कविता का उदाहरण नि लिखित है :—

गोरक्ष पा
(सं० ६०२)

षरतर पवना रहै निरंतरि ।
महारस सीभै काया अभिग्रंतरि ॥
गोरख कहै ग्रम्हे चचल ग्रहिग्रा ।
सिव सक्ती ले निज घर रहिग्रा ॥[2]

तिलो पा—सिद्धाचार में तिल कूटने के कारण ही इनका 'तिलो पा' पड़ा। इनका निवास-स्थान भृगुनगर (विहार) में था राजवंशी थे। इनके गुरु का नाम विजय प जो कण्हपा के प्रशिष्य थे। इनके शिष्य का नारो पा था जो विक्रमशिला में अपनी विद्वत्त लिए प्रसिद्ध थे। ये जीवन के स्वाभाविक च में विश्वास करते थे और सहजमार्ग के प्रसिद्ध पंडित थे। इ कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

तिलोपा
(सं० १००७)

---

[1] वही, पृष्ठ ११५

[2] गोरख बानी—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल (साहित्य सम्मेलन, प्र

जिम विस भक्खइ विसहिं पलुत्ता ।
तिम भव भुञ्जइ भवहिं न जुत्ता ॥
खण आणंद भेउ जो जाणइ ।
सो इह जम्महिं जोइ भणिज्जइ ॥[१]

शान्ति पा—ये बड़े पर्यटनशील थे। उडन्तपुरी, विक्रमशिला, सोमपुरी, मालवा और सिंहल में इन्होंने ज्ञानार्जन करते हुए धर्म-प्रचार किया। ये बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्हें आयु भी बहुत बड़ी मिली। पाण्डित्य के कारण इन्हें "कलि-काल सर्वज्ञ" भी कहा गया है। इनकी कविता का उदाहरण इस प्रकार है :—

शान्ति पा (स० १००७)

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु ।
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥
तउ से हेरुअ ण पाविअइ ।
सान्ति भणइ कि ण स भाविअइ ॥[२]

इन कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवियों ने भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार कविता द्वारा किया जिनमें तति पा, मही पा भदे पा, धर्म पा आदि का नाम लिया जा सकता है। उपर्युक्त कवियों की रचनाओं से ज्ञात हो सकता है कि सिद्ध-साहित्य की रूप-रेखा क्या थी। संक्षेप में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

सिद्ध कवियों ने वज्रयान धर्म का प्रचार किया। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि वज्रयान में तन्त्र की प्रधानता थी और अपने उत्कर्ष में धर्म का आश्रय लेकर उसमें मद्य और मैथुन का प्रचार भी हो गया था। इन सिद्ध कवियों ने यद्यपि तन्त्र और हठयोग का अनुसरण किसी मात्रा में तो किया किन्तु मद्य और मैथुन को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं

वर्ण्य विषय

---

१ हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन (किताब महल, इलाहाबाद, १९४५) पृष्ठ १७४

२ मै० फा० ए०, पृष्ठ १३१

दिया। सदाचार में उन्होंने आस्था रक्खी और जीवन के स्वाभाविक यापन में उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया। जीवन की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का अनुचित रूप से दमन या प्रश्रय वे धार्मिक जीवन के लिए हितकर नहीं समझते थे। तिलोपा ने तो संसार के विष को दूर करने के लिए संसार का प्रयोग करना ही उचित समझा है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सदाचार की मर्यादा तोड़ दी जावे। प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन यापन करना ही सिद्धि का सोपान है।

सिद्ध कवियों का साधन-तत्व सहज संयम से प्रारम्भ होता है। यह सहज संयम दो रूपों में प्रतिफलित होना चाहिए। पहला रूप है सदाचार और दूसरा रूप है मध्यम मार्ग। इन दोनों रूपों से स्वानुभूति जाग्रत होती है और शरीर में ही तीर्थ का अनुभव होता है। इस अनुभूति में गुरु उपदेश का बहुत बड़ा हाथ है। इस उपदेश से हृदय में विचारों की प्रवृत्ति दो क्षेत्रों मे चलती है। एक क्षेत्र में वह साधना का मार्ग प्रशस्त करती हुई क्रियात्मक होती है जिसमें भोग में भी निर्वाण का रूप स्पष्ट होता है अर्थात् संसार और निर्वाण एक ही तत्व के दो रूप भासित होने लगते हैं। 'कमल कुलिश साधना' में धारणा की शक्ति बढ़ती है और मानसिक क्षेत्र में रहस्य स्पष्ट रूप लेकर अवतरित होने लगते हैं। दूसरे क्षेत्र में वह प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक रूप से जीवन के समस्त पाखंडों का विनाश करती है। सिद्धि-साधना में मंत्र और देवता व्यर्थ ज्ञात होते हैं और संकीर्ण संप्रदाय को स्वीकार करना तथा दम्भपूर्ण पंडितों का अन्धानुकरण करना असंभव हो जाता है। ये दोनों ही क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक भाव 'महासुख' की दिशा में ले जाते हैं जो शून्य-तत्त्व का परम फल है। उसी 'महासुख' को रहस्यवाद का नाम दिया जा सकता है। इन विचारों के आधार पर सिद्ध-साधना का रेखा-चित्र निम्नलिखित रूप से खींचा जा सकता है:—

जिम विस भक्खइ विसहिं पलुत्ता ।
तिम भव भुञ्जइ भवहिं न जुत्ता ॥
खण आणंद भेउ जो जाणइ ।
सो इह जम्महिं जोइ भणिज्जइ ॥[1]

शान्ति पा
(स० १००७)

शान्ति पा—ये बड़े पर्यटनशील थे। उडन्तपुरी, विक्रमशिला, सोमपुरी, मालवा और सिंहल में इन्होंने ज्ञानार्जन करते हुए धर्म-प्रचार किया। ये बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्हें आयु भी बहुत बड़ी मिली। पाण्डित्य के कारण इन्हें "कलि-काल सर्वज्ञ" भी कहा गया है। इनकी कविता का उदाहरण इस प्रकार है :—

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु ।
आंसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥
तउ से हेरुअ ण पाविअइ ।
सान्ति भणइ कि ण स भाविअइ ॥[2]

इन कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवियों ने भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार कविता द्वारा किया जिनमें तंति पा, मही पा भदे पा, धर्म पा आदि का नाम लिया जा सकता है। उपर्युक्त कवियों की रचनाओं से ज्ञात हो सकता है कि सिद्ध-साहित्य की रूप-रेखा क्या थी। सन्क्षेप में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

वर्ण्य विषय

सिद्ध कवियों ने वज्रयान धर्म का प्रचार किया। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि वज्रयान में तन्त्र की प्रधानता थी और अपने उत्कर्ष में धर्म का आश्रय लेकर उसमें मद्य और मैथुन का प्रचार भी हो गया था। इन सिद्ध कवियों ने यद्यपि तन्त्र और हठयोग का अनुसरण किसी मात्रा में तो किया किन्तु मद्य और मैथुन को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं

---

१ हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन (किताब महल, इलाहाबाद, १९४५) पृष्ठ १७४

२ मै० फा० पृ०, पृष्ठ १३१

दिया। सदाचार में उन्होंने आस्था रक्खी और जीवन के स्वाभाविक यापन में उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया। जीवन की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का अनुचित रूप से दमन या प्रश्रय वे धार्मिक जीवन के लिए हितकर नहीं समझते थे। तिलोपा ने तो संसार के विष को दूर करने के लिए संसार का प्रयोग करना ही उचित समझा है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सदाचार की मर्यादा तोड़ दी जावे। प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन यापन करना ही सिद्धि का सोपान है।

सिद्ध कवियों का साधन-तत्व सहज संयम से प्रारम्भ होता है। यह सहज संयम दो रूपों में प्रतिफलित होना चाहिए। पहला रूप है सदाचार और दूसरा रूप है मध्यम मार्ग। इन दोनों रूपों से स्वानुभूति जाग्रत होती है और शरीर में ही तीर्थ का अनुभव होता है। इस अनुभूति में गुरु उपदेश का बहुत बड़ा हाथ है। इस उपदेश से हृदय में विचारों की प्रवृत्ति दो क्षेत्रों में चलती है। एक क्षेत्र में वह साधना का मार्ग प्रशस्त करती हुई क्रियात्मक होती है जिसमें भोग में भी निर्वाण का रूप स्पष्ट होता है अर्थात् संसार और निर्वाण एक ही तत्व के दो रूप भासित होने लगते हैं। 'कमल कुलिश साधना' में धारणा की शक्ति बढ़ती है और मानसिक क्षेत्र में रहस्य स्पष्ट रूप लेकर अवतरित होने लगते हैं। दूसरे क्षेत्र में वह प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक रूप से जीवन के समस्त पाखंडों का विनाश करती है। सिद्धि-साधना में मंत्र और देवता व्यर्थ ज्ञात होते हैं और संकीर्ण संप्रदाय को स्वीकार करना तथा दम्भपूर्ण पडितों का अन्धानुकरण करना असंभव हो जाता है। ये दोनों ही क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक भाव 'महासुख' की दिशा में ले जाते हैं जो शून्य-तत्त्व का परम फल है। उसी 'महासुख' को रहस्यवाद का नाम दिया जा सकता है। इन विचारों के आधार पर सिद्ध-साधना का रेखा-चित्र निम्नलिखित रूप से खींचा/जा सकता है :—

सहज संयम
सदाचार
मध्यम मार्ग
गुरु उपदेश
काया तीर्थ
क्रियात्मक भाव
प्रतिक्रियात्मक भाव
भोग में निर्वाण १
कमल-कुलिश साधना २
रहस्यगीत ३
१ पाखंड खंडन
२ मंत्र व्यर्थता
३ संप्रदाय-अवहेलना
महासुख
[शून्य तत्व]

भाषा

सिद्धों की भाषा जन-समुदाय की भाषा का आश्रय लेकर अपभ्रंश की उस अवस्था का संकेत करती है जिसमें आधुनिक भाषा के चिह्न विकसित होने लगे थे। इसलिए कि ये सिद्ध अधिकतर नालन्दा और विक्रमशिला में रहे, उनकी भाषा विहार की जनता द्वारा बोली जाने वाली अर्ध-मागधी अपभ्रंश के निकट की भाषा है। अतः उनकी भाषा में जन-बोली 'मगही' का आभास देखा जाता है। इस भाषा को 'सन्ध्या भाषा' का नाम भी दिया गया है। विद्वानों ने इस नाम को विविध अर्थों में समझाने का प्रयत्न किया गया है:—

(१) अन्धकार और प्रकाश के बीच संध्या की भाँति जिसकी रचना स्पष्टता और अस्पष्टता के बीच की हो और जिसे स्पष्ट करने के लिए ज्ञान रूपी प्रकाश की आवश्यकता हो।

(२) जो रचना सन्धि-स्थल की हो। दो भाषाओं की संधि में जो रूप बने, उसी से जिसका निर्माण हुआ हो। बिहार और बंगाल की सीमा पर लिखी जाने के कारण इसे यह नाम दिया गया।

(३) जिस भाषा में किसी प्रकार की अभिसंधि, रहस्य या अभिप्राय हो। वज्रयान के सिद्धान्तों में निहित गूढ़ार्थ या व्यञ्जना-सम्पन्न किसी भाव को स्पष्ट करने की यह भाषा है।

मेरे विचार से ये तीनों ही अर्थ व्यर्थ हैं। पहले अर्थ में स्पष्टता और अस्पष्टता की बात भ्रामक ही है। प्रत्येक भाषा जब जन-समुदाय के उपयोग में आती है तो उसमें अनेक देशज शब्दों के मिश्रण से साहित्यिकता के नाते अस्पष्टता आ ही जाती है। इस दृष्टिकोण से उसे प्रकाश और अन्धकार के मिश्रण का रूपक देना उपयुक्त ज्ञात नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'उर्दू' जो हिन्दी में अरबी, फारसी शब्दों के मिश्रण से बनी है, साहित्यिक मापदण्ड के अनुसार किसी अंश तक अस्पष्ट होने के कारण, भविष्य के किसी इतिहास में 'संध्या भाषा' के नाम से पुकारी जा सकती है।

दूसरा अर्थ तो बिल्कुल ही भ्रष्ट है। बगाल और बिहार की सीमा तो राजनीतिक सुविधाओं के कारण आधुनिक काल में बना दी गई है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन उचित ही है कि 'इसमे मान लिया गया है कि बगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भॉति चले आ रहे हैं।"[1] अतः यह अर्थ तो भाषा के क्षेत्र मे अनर्थ ही है।

तीसरा अर्थ 'अभिसधि सहित या अभिप्राय युक्त भाषा' भी ठीक नहीं है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का अधिकांश भाग जिसमें गूढार्थ, व्यञ्जना या अभिप्राय है. 'सन्ध्या-भाषा' की परिभाषा में आ जावेगा।

मेरे विचार से तो सन्ध्या भाषा का सीधा सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के सध्याकाल या 'समाप्त होने वाले काल' में लिखी गई। सिद्धों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रश के क्रोड से निकलती हुई जनता की आधुनिक भाषा के निर्माण में अग्रसर होती है। इसलिए इस भाषा से अपभ्रश भाषा की अन्तिम अवस्था ज्ञात होती है। 'संध्याकाल' का प्रयोग किसी अवस्था के अन्तिम भाग की सूचना देने के लिए होता ही है, अतः इस शब्द को साधारण अर्थ मे ही लेना चाहिए। विशेपकर सहजयान के सिद्धों के विचारों के अनुरूप मुझे इस शब्द का 'सहज' अर्थ लेना ही युक्तिसंगत जान पड़ता है। व्यर्थ की खींच-तान या गूढार्थ खोजने की चेष्टा साहित्य और भाषा के क्षेत्र में सत्य का समर्थन नहीं करती।

सिद्ध कवियों की रचना मे विशेष कर शृङ्गार और शान्त रस हैं। किन्हीं सिद्धों की कविता में वज्रयान के प्रभाव से कहीं कहीं उत्तान शृङ्गार अवश्य हो गया है। उदाहरणार्थ

रस

भुसुकुपा ने लिखा है:—

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २४

अब राति भर कमल विकसिउ।
बतिस जोइणी तसु अङ्ग उल्हसिउ।
चालिअउ ससहर मागे अवधूइ।
रअणहु सइजे कहेइ॥

—राग कामोद, २७

या गुंडरीपा ने लिखा है :—

तिअड्डा चापी जोइनि दे अंकवाली।
कमल कुलिश घाएट करहुँ विआली॥
जोइनि तइँ बिनु खनहिं न जीवमि।
तो मुइ चुम्बी कमल-रस पीवमि॥

—चर्यागीति, ४

तथापि अनेक सिद्धों ने इस शृङ्गार का सकेत साधना-क्षेत्र में करते हुए भी इससे ऊपर उठने का आग्रह किया है और उसकी परिणति शान्त रस में की है। भुसुकुपा ने लिखा ही है :—

डहि जे। पञ्च पाटण इन्दि विसआ णठा।
ण जानमि चिअ मोर कँहि गइ पइठा॥
सोण तरूअ मोर किम्पि ण थाकिउ।
णिअ परिवारे महासुहे थाकिउ॥

—चर्यापद, ४९

सदाचार और मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए सिद्धों ने रूढ़ियों का खंडन किया है और 'महासुख' की प्राप्ति का आदर्श स्थापित किया है। ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं में 'शान्ति' और 'आनन्द' की भावना रहना अनिवार्य है। उनके शान्त रस में निराशावाद नहीं है। और उसका कारण यह है कि वे संसार के दु.ख को या उसको नश्वरता को देखते हुए भी उसे छोड़ने का आदेश नहीं देते। वे स्वाभाविक रूप से संसार को ग्रहण करते हुए भी उसके उपयोग की शिक्षा देते हैं। उनके अनुसार शरीर को तीर्थ की भाँति मानते हुए उसके द्वारा साधना-मार्ग पर अग्रसर होना ही सबसे आवश्यक

बात है। जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया। निराशावाद के भीतर से आशावाद का संदेश देना—ससार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उसका आदर्श था जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकालकर मनुष्य को 'महासुख' के शीतल सरोवर में अवगाहन कराना।

काव्य के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए इन सिद्धों की रचना में चाहे 'रस' का परिपाक न हुआ हो फिर भी उसमे जो अलौकिक आनन्द और आत्म-सन्तोष का प्रवाह है उससे उसे 'अलौकिक रस' की संज्ञा दी जा सकती है। यही 'अलौकिक रस' कबीर, मीरॉ, दादू आदि की रचनाओं में है जिनमें काव्य लक्षणों की उतनी अधिक व्यवस्था नहीं है जितनी मनोवैज्ञानिक रस संचार की। यह 'रस' अपनी पूर्णता में किसी काव्य लक्षण की अपेक्षा नहीं रखता।

यों तो इस साहित्य की अधिकांश रचना चर्यागीतों में हुई है, तथापि इसमें दोहा, चौपाई जैसे लोकप्रिय छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह साहित्य जनता की बोली में उसी के जीवन-परिष्करण के लिए लिखा गया था। अतः जनता के हृदय मे पैठ जाने वाले छोटे-छोटे छन्दों और गीतों में ही इस साहित्य की रचना हुई।

छन्द

सिद्ध कवियों के लिए दोहा बहुत प्रिय छन्द रहा है। यह अधिकतर सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वर्णन-विस्तार है, वहाँ चौपाई छन्द है। यों कहीं कहीं सोरठा और छप्पय भी है, किन्तु दोहे का प्राधान्य सर्वत्र है।

सहजयान की चर्या मे गीतों की शैली विशेष रूप से प्रयुक्त है। ये चर्यागीत विशिष्ट राग-रागिनियों में लिखे गए हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि राग-रागिनियों का सङ्केत स्वय सिद्धों द्वारा हुआ है,

अथवा बाद में जोड़ दिया गया है। सम्भावना तो यही है कि स्वयं सिद्धों द्वारा यह उल्लेख हुआ होगा क्योंकि सिद्धों में सङ्गीत-साधना की रुचि भी थी। सिद्ध-परम्परा में एक सिद्ध हैं जिनका नाम वीणापा है। इनके सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि ये वीणा बजाते हुए अपने पदों का गान किया करते थे।

विशेष—(१) सिद्ध-साहित्य का महत्त्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। साहित्य के इतिहास में सर्व प्रथम माना जाने वाला चारण कालीन साहित्य तो केवल मात्र तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध-साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचार-धारा का एक स्पष्ट उल्लेख है। अतः इस साहित्य ने हमारे धार्मिक विकास की शृंखला को और भी मजबूत बना दिया है। इस साहित्य के अध्ययन से हम सिद्ध-संप्रदाय, नाथ-संप्रदाय और संत-सम्प्रदाय में एक ऐसी विकासोन्मुख विचार-परंपरा पाते हैं जिससे हमारे इतिहास की धार्मिक रचनाओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

विशेष

(२) इस साहित्य की भाषा ने भाषा विज्ञान-विशारदों के समक्ष बड़ी मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत की है। 'संध्या भाषा' में अपभ्रंश से निकलती हुई जनभाषा की रूप-रेखा जितना अधिक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, उतना अधिक साहित्यिक भी। नालन्दा और विक्रमशिला के समीपवर्त्ती भागों की यह 'संध्या भाषा' हमें तत्कालीन अन्य साहित्यिक और धार्मिक केन्द्रों की जन-भाषा खोजने के लिए सचेष्ट बनाती है।

(३) सिद्ध साहित्य की रचना में हमें 'रहस्यवाद' का बीज मिलता है। हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद जिस प्रकार विकसित हुआ है, उसे समझने के लिए सिद्ध-साहित्य का रहस्यवाद एक बड़ी महत्त्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि उपस्थित करता है। उसमें जो मनोविज्ञान है,

उसे यदि आधुनिक रहस्यवाद के मनोविज्ञान से मिलाया जाय तो हमें शताब्दियों से पोषित होने वाली मनोवैज्ञानिक क्रियाओं की एक बड़ी मनोरंजक शृंखला मिलेगी। साहित्य के अन्वेषकों के लिए यह निमंत्रण किसी 'एटहोम' से कम आकर्षक नहीं है।

जैन साहित्य

जैन धर्म के सस्थापन की एक परपरा है। जैन पुराणों का कथन है कि मनुष्य को संसार का सर्व प्रथम ज्ञान चौदह कुलकरों ने सिखलाया। सब से प्रथम कुलकर का नाम 'प्रतिश्रुति था जिन्होंने मनुष्यों को सूर्य और चन्द्र का ज्ञान दिया। कुलकरों के पश्चात् श्री ऋषभदेव हुए जो धर्म के प्रथम संस्थापक हुए। उन्होंने जनता को 'असि, मसि और कृषि,' का उपदेश दिया। अपनी जेठ पुत्री 'ब्राह्मी' के लिए उन्होंने लेखन-कला और लिपि का निर्धारण किया। इसीलिए उस लिपि का नाम 'ब्राह्मी लिपि' हुआ। श्री ऋषभदेव जी के पश्चात् होने वाले अनेक तीर्थंकरों का वर्णन जैन ग्रथों मे है। नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर हुए जिन्होंने श्री ऋषभदेव द्वारा संस्थापित धर्म को आगे बढ़ाया। तेइसवें तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ थे। इनके समय का समर्थन इतिहास सम्मत प्रमाणों से होता है। चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर थे जिन्होंने जैन धर्म को अत्यन्त व्यवस्थित रूप देकर उसका सगठन किया। श्री महावीर के समय से ही जैन धर्म का सर्वमान्य इतिहास हमे प्राप्त होता है।

वेबर, व्हीलर, जैकोबी, हार्नले, आदि विदेशी विद्वानों ने तथा डा० हीरालाल जैन, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री जुगल किशोर मुख्तार आदि देशी विद्वानों ने जैन धर्म का अध्ययन कर उसका इतिहास हमारे सम्मुख उपस्थित किया है किन्तु अभी तक ये विद्वान् उस अपभ्रंश साहित्य का पूर्ण अन्वेषण और अध्ययन नहीं कर सके है जो प्राचीन पुस्तक भडारों मे सुरक्षित है और जिसके अध्ययन के बिना जैन धर्म की धार्मिक और ऐतिहासिक परंपरा पूर्ण रूप से नहीं समझी जा सकती। अपभ्रंश साहित्य का

उद्धार कारंजा जैन ग्रंथमाला द्वारा धीरे धीरे हो रहा है। आशा करनी चाहिए कि इस प्रकार अन्य जैन ग्रंथ-मालाएँ प्रकाशित होंगी जिससे जैन धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ेगा।

जैन धर्म वस्तुतः बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। उसमें परमात्मा की स्थिति तो मानी गई है किन्तु वह सृष्टि का नियामक न होकर केवल चित्त और आनन्द का अनन्त स्रोत है। वह एक ऐसी आदर्श सत्ता है जो संसार से परे है तथा संसार-चक्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सम्पूर्ण तथा एक विशुद्ध एव परम आत्मा है। प्रत्येक जीव अपनी साधना से-अपने पौरुष से—परमात्मा हो सकता है। उसे उस परमात्मा से मिलने की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा की भावना में तो केवल एक ऐसे आदर्श की कल्पना है जिसे प्रत्येक जीव अपने कर्मों से प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यद्यपि हिन्दू धर्म के विशुद्ध चैतन्य और आनन्दमय परमात्मा का रूप जैन धर्म में भी है तथापि वह परमात्मा 'ब्रह्म' की शक्ति-सम्पन्नता और प्रभुत्व से रहित है।

जैन धर्म की परमात्मा विषयक भावना किस प्रकार बनी, इस सम्बन्ध में तीन अनुमान हो सकते हैं। पहला अनुमान तो यह हो सकता है कि जैन धर्म के सिद्धान्तो की कल्पना उसी समय हो गई होगी जब हिन्दू धर्म में बहुदेववाद का प्रचार रहा हो और उसमे किसी एक सर्व शक्तिशाली देवता या ब्रह्म की भावना न बन पाई हो। दूसरा अनुमान यह हो सकता है कि जीव को ससार से ऊँची से ऊँची सिद्धि-प्राप्ति में सक्षम बनाने की भावना से एक महान आशावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया हो और तीसरा अनुमान यह हो सकता है कि हिन्दू धर्म के ब्रह्म विषयक दार्शनिक सिद्धान्तों की यह एक प्रतिक्रिया हो। मेरे दृष्टिकोण से तो दूसरा अनुमान ही सही हो सकता है और उसका कारण यह है कि जैन धर्म ने अपने क्रोड़ मे दर्शन को उतना अधिक प्रश्रय नहीं दिया

जितना संसार के चेतन रूपों के प्रति अपार श्रद्धा को। जैन धर्म तो जड़ पदार्थों में भी आत्मा की स्थिति मानता है। इस प्रकार जीव के विस्तार और उसके विकास की जितनी लम्बी परिधि खींची जा सकती है, उतनी जैन धर्म ने खींचने की चेष्टा की है। उसमें जीव की उन्नति की अपरिमित सम्भावनाएँ हैं। यह जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। वह अपने कर्मों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ही लेता है। इन्हीं कर्मो से उसे सुख-दु:ख का भोग भोगना पड़ता है। यदि वह चाहे तो अपने पुरुषार्थ और क्रिया-कौशल से अपने शुभ कर्मों का निर्माण करते हुए स्वय परमात्मा हो सकता है। जीवन की परिस्थितियों में अपने कर्मो का परिष्करण करके साधना के उच्चतम सोपान तक चढ़ने की प्रेरणा ने ही जैन धर्म को 'ब्रह्म' की कल्पना से परे रक्खा। उसमें परमात्मा केवल शुद्ध आत्मा है, जो जीव की कर्म विषयक सफलता या विफलता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। वह केवल विशुद्धता का एक आदर्श है, एक प्रतीक है।

जिस प्रकार जीव अपने ही कर्मो से शासित है, उसी प्रकार यह संसार भी अपनी प्राकृतिक शक्तियों से चल रहा है। किसी ब्रह्म या परमात्मा ने उसका निर्माण नहीं किया। इसके अन्तर्गत वस्तुओं की अनुभूति अनेक दृष्टिकोणों से है। द्रव्य, काल, क्षेत्र आदि अवस्था-विशेष से प्रत्येक वस्तु नित्य या अनित्य मानी जाती है। इस प्रकार जैन धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह 'अनेकान्त' न्याय से संसार की ओर दृष्टिपात करता है। इसी सिद्धान्त में जैन धर्म का आचार अपनी चरम अवस्था को पहुँच गया है।

जैन धर्म मे अनुमान और कल्पना की अपेक्षा जीवनगत सत्य ही मान्य है। उसमें जीवन के प्रति चरम श्रद्धा का विकास हुआ है। आचार को सुदृढ़ अनुशासन में रख कर सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव के प्रति भी दया और करुणा का व्यवहार करना कर्म का आदर्श है। न केवल मनुष्यों, जन्तुओं और वनस्पतियों में जीव है प्रत्युत प्रकृति के तत्त्वों में भी जीवन का निवास है। इस परिस्थिति में ऐसी

सावधानी से जीवन व्यतीत किया जाय जिससे किसी जीव की हानि या हिंसा न हो। शीतल जल में जीवाणुओं का निवास है, इसलिए शीतल जल न पिया जाय; शस्य में जीव है, इसलिए भिक्षान्न से उदर-पोषण किया जाय; मार्ग में छोटे छोटे जीव चलते हैं, इसलिए मार्ग बुहार कर चला जाय; आदि आचरण सम्बन्धी कितने ही आदर्श जैन धर्म में मान्य हुए। इस भाँति उसमें अहिंसा ही परम धर्म समझा गया।

इस अहिंसा ने जैन धर्म में त्याग की भावना का सूत्रपात किया। यह त्याग न केवल इन्द्रियों के अनुशासन में है प्रत्युत कष्ट-सहन में भी है। स्वादिष्ट भोजन का परित्याग, सुविधा जनक वस्तुओं का परित्याग, यहाँ तक वस्त्रों का परित्याग भी जैन साधुओं का आदर्श हो गया। शरीर को कष्ट सहन करने की क्षमता प्रदान करने में शरीर के लोमों का लुञ्चन और उपवास भी साधना का अंग बन गया।

श्री महावीर इस धर्म के बड़े प्रभावशाली प्रचारक हुए। ईसा की छठी शताब्दी पूर्व जैन धर्म बौद्ध धर्म के समानान्तर लोकमान्य हुआ। श्री महावीर ने अपनी तपस्या और जितेन्द्रियता से जो आत्म-ज्ञान प्राप्त किया उससे उन्होंने जैन धर्म को बड़े व्यावहारिक ढंग से ससार के समक्ष रक्खा। उन्होंने कर्म-काण्ड और वर्ण-भेद हटा कर ब्राह्मण और शूद्र को समान रूप से मुक्ति का अधिकारी बतलाया। उन्होंने परिभ्रमण करके साधारण जनता को उन्हीं की भाषा में उपदेश दिया। उन्होंने 'मुनि सघों' की स्थापना की जो गृहस्थों को आचार का आदर्श बतला सकें।

श्री महावीर का जन्म कुण्डग्राम (वैशाली) में हुआ था। मगध के क्षत्रिय वंशों की परंपराओं में पोषित होकर इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से सदाचार की ओर गई। जब इनकी तीस वर्ष की अवस्था में पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला की मृत्यु हो गई तो इन्होंने सन्यास ले लिया और बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की।

अड़तालीस वर्ष की अवस्था मे इन्हें श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति हुई और इन्होंने तीस वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार किया। 'जैन' 'जिन' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'विजय प्राप्त करने वाला।' संसार के आकर्षणों पर जो विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सके वह 'जैन' है। जैन धर्म के अनुयायी 'निर्ग्रन्थ' कहलाते थे। 'निर्ग्रन्थ' का अर्थ भी 'बन्धनों से रहित' है। सम्राट् अशोक (ई० पू० २७५) का जो स्तम्भ दिल्ली में पाया गया है, उसकी आठवीं प्रशस्ति में 'निगन्थ' (निर्ग्रन्थ) का उल्लेख है। सम्राट् अशोक ने जिस प्रकार अन्य धर्मो के लिए 'धर्म महामात्रो' की नियुक्ति की थी, उसी प्रकार 'निगन्थ' पन्थ के लिए भी व्यवस्था थी। इससे यह स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक के शासन काल में निगन्थ (जैन) धर्म अन्य धर्मो के समान ही प्रचलित था। इसका समर्थन कवि कल्हण की 'राज-तरंगिणी' के प्रथम अध्याय से भी होता है जिसमें अशोक का काश्मीर में जैन धर्म प्रचार निर्दिष्ट है :—

> यः शान्त वृजिनो राजा प्रपन्नो जिन शासनम्।
> शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले ॥

यही नहीं यह भी सत्य है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी अधिक प्राचीन है। बौद्ध ग्रन्थों मे उल्लेख है कि श्री महावीर के शिष्यों ने अनेक बार बुद्धदेव से शास्त्रार्थ किया है। श्री महावीर के सन्यास लेने के पूर्व भी यह जैन धर्म प्रचलित था।[1] इंडियन एंटीकरी मे प्रो० कर्न का कथन है कि जहाँ तक अहिंसा का सम्बन्ध है, अशोक के नियम बौद्धों के सिद्धान्तों की अपेक्षा जैनों के सिद्धान्तों से अधिक साम्य रखते हैं।[2] श्री महावीर का निर्वाण-समय पावा पुरी (पटना) में ईस्वी पूर्व ५२७ माना जाता है।

---

१ सेक्रेड बुक अव् दि ईस्ट—भाग २२, ४५— (डा० जैकोबी)

२ इंडियन एंटीकरी, भाग ५, पृष्ठ २०५

मौर्य काल में जैन धर्म दो भागों में विभक्त होने लगता है। इस काल में जैन धर्म के दो प्रसिद्ध आचार्य हुए, भद्रबाहु और स्थूलभद्र। भद्रबाहु ने दिगम्बर सम्प्रदाय चलाया और स्थूलभद्र ने श्वेताम्बर।

जैन सम्प्रदाय

दिगम्बर संप्रदाय में तीर्थंकरों की नग्न प्रतिमा का पूजन होता है तथा दिगम्बर साधु भी वस्त्रों का परित्याग कर नग्न रहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकरों की मूर्तियों को वस्त्रों से सुसज्जित कर पुष्प और धूप से पूजते हैं। इस संप्रदाय के जैन श्वेत-वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर संप्रदाय के लोगों का यह विश्वास है कि जब तीर्थंकर वीतराग थे तब उन्हें सामाजिक नियमों से वस्त्राभूषणों की आवश्यकता ही क्या थी? इस दृष्टि से दिगम्बर साधुओं में त्याग, संयम और कष्ट-सहन साधना का विशिष्ट अंग माना जाता है। हरिषेण कृत आराधना कथा कोष (रचना सं० ६८६) में भद्रबाहु की कथा में यह लिखा गया है कि 'भद्रबाहु ने बारह वर्षों के घोर दुर्भिक्ष पड़ने का भविष्य जान कर अपने तमाम शिष्यों को दक्षिणापथ तथा सिंधु आदि देशों की ओर भेज दिया, पर वे स्वय वहीं रह गए और फिर उज्जयिनी भव (निकट?) भाद्रपद देश (स्थान?) में पहुँच कर उन्होंने अनशन पूर्वक समाधि मरण करके स्वर्ग प्राप्त किया।'

भद्रबाहु मुनिर्धीरो भय सप्तक वर्जितः।
पंपा क्षुधा श्रमं तीव्रं जिगाय सहसोत्थितम्॥ ४२॥

श्वेताम्बर संप्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर संप्रदाय का प्रचार अधिक हुआ।[1]

---

१. इन दो संप्रदायों के अतिरिक्त एक सम्प्रदाय और है जिसका नाम 'यापनीय' संघ है। इन संघ में भी प्रतिमाएँ वस्त्र रहित पूजी जाती हैं किन्तु साधना में श्वेताम्बर संप्रदाय का प्रभाव अधिक है। 'यापनीय संघ' को दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदाय का मिलन-विन्दु कहा जा सकता है।

रचनाओं की सफलता के साथ पूर्ति की। यद्यपि यह पूर्ति पिता के अधूरे ग्रंथों की नहीं थी तथापि जहाँ कहीं प्रसग स्पष्ट नहीं हुए, वहाँ उनकी स्पष्टता के लिए त्रिभुवन ने अनेक 'कडवकों' और 'सन्धियों' की रचनाएँ कीं[1]। उदाहरण के लिए पउमचरिउ' मे बारह हजार श्लोक हैं। इन श्लोकों में नब्बे सधियाँ हैं। उन सधियों का विवरण इस प्रकार है :—

विद्याधर काण्ड	—२०	सन्धि
अयोध्या काण्ड	—२२	,,
सुंदर काण्ड	—१४	,,
युद्ध काण्ड	—२१	,,
उत्तर काण्ड	—१३	,,
कुल ५ काण्ड	९०	सन्धियाँ

इन ९० सन्धियों में स्वयभू देव की ८३ सधियाँ हैं और त्रिभुवन की ७। यों तो त्रिभुवन ने ८२ न० की सन्धि की पुष्पिका में भी अपना नाम दे दिया है और इस प्रकार ८३ सन्धि से ९० सन्धि तक ८ सन्धि होती हैं किन्तु ग्रन्थ के अन्त में त्रिभुवन ने अपनी राम कथा को सात सन्धि वाली (सप्त महा सर्गांगी) ही कहा है। इससे अनुमान होता है कि त्रिभुवन ने ८३ न० की सन्धि में अपनी कथा की ही पृष्ठ-भूमि बनाने के लिए कुछ 'कड़वक' ही जोड़े होंगे। अन्तिम सात सन्धियों के बिना भी 'पउमचरिउ' ग्रन्थ पूर्ण है। त्रिभुवन की सन्धियों में अवान्तर कथाएँ ही हैं। उदाहरण के लिए सीता या बालि की कथा या मारुत-निर्वाण या हरि-मरण। इस प्रकार जो ग्रन्थ स्वयभू देव के हैं, वे त्रिभुवन स्वयभू की रचनाओं को भी सम्मिलित किये हुए हैं।

---

१ एक कड़वक = आठ यमक
एक यमक = दो पद
सधि = सर्ग

स्वयंभू देव ने चार ग्रन्थों की रचना की है :—

१—पउम चरिउ (या पद्म चरित्र—जैन रामायण)

२—रिट्ठणेमि चरिउ (या अरिष्टनेमि चरित्र-हरिवंश पुराण)

३—पंचमि चरिउ (या नाग कुमार चरित)

४—स्वयंभु छन्द

स्वयंभू देव बहुत अच्छे कवि थे। इन्होंने जीवन की विविध दशाओं का बड़ा हृदयाकर्षक वर्णन किया है। 'पउम चरिउ' में वे विलाप और युद्ध लिखने में विशेष पटु हैं। उन्होंने नारी विलाप, बन्धु विलाप, दशरथ विलाप, राम विलाप, भरत विलाप, रावण विलाप, विभीषण विलाप आदि बड़े सुन्दर ढंग से लिखे हैं। युद्ध में वे योद्धाओं की उमंगें, रण-यात्रा, मेघवाहन युद्ध, हनुमान युद्ध, कुम्भकर्ण युद्ध, लक्ष्मण युद्ध बड़े वीरत्व-पूर्ण ढग से स्पष्ट करते हैं। प्रेम-विरह गीत, प्रकृति-वर्णन, नगर-वर्णन और वस्तु-वर्णन भी वे बड़े विस्तार और स्वाभाविक ढंग से लिखते हैं। उदाहरण देखिए :—

रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी विलाप—(करुण रस)

आएहिं सोआरियहि, अट्ठारह हिव जुवइ सहासेहिं।
णव घण माला डंबरेहि, छाइउ विज्जु जेम चउपासेहिं॥

रोवइ लकापुर परमेसरि।
हा रावण! तिहुयण जण केसरि॥
पइ विणु समर तूरु कहों वज्जइ।
पइ विणु बालकील कहों छज्जइ॥
पइ विणु णवगह एक्कीकरणउ।
को परिहेसइ कंठाहरणउ॥
पइ विणु को विज्जा आराहइ।
पइ विणु चन्दहासु को साहइ॥
को गधव्व वापि आडोहइ।
कण्णहों छवि-सहासु संखोहइ॥

पइ विणु को कुवेरु भजेसइ।
तिजग विहुसणु कहाँ वसे होसइ ॥
पइ विणु को जमु विणिवारेसइ।
को कइलासु' द्धरणु करेसइ ॥
सहस किरणु णलकुव्वर सक्कहु।
को अरि होसइ ससि वरुणकूकहु ॥
को णिहाण रयणइ पालेसइ।
को वहुरूविणि विज्जा लएसइ ॥

घत्ता—सामिय पइँ भविएण विणु पुप्फ विमाणें चडवि गुरुभत्तिएँ।
मेरु सिहरें जिण मन्दिरहँ, को मइ णेसइ वदण हत्तिए।

हनुमान का युद्ध-वर्णन—(वीररस)

हणुवत रणे परिवेडिज्जइ णिसियरेहिं।
ण गयण-यले बाल-दिवायरु जलहरेहिं।
पर-वलु अणतु हणुवतु एक्कु।
गय-जूहहों णाइ इदु थक्कु।
आरोक्कइ कोक्कइ समुहु धाइ।
जहि जहि जेंथट्ट तहि तहि जें थाइ।
गय-घड भड थड भज्जंतु जाइ।
वसत्थलें लग्गु दवग्गि णाइ।
एक्कु रहु महोहवें रस विसट्टु।
परिभमइ णाइँ वले भइय वट्ट।
सो णवि भडु जासु ण मलिउ माणु।
सो ण घयउ जासु ण लग्गु वाणु।
सो णवि भडु जासु ण छिण्णु गत्तु।
त णवि विमाणु जहि सरु ण पत्तु।

घत्ता—जगडतु वलु मारुइ हिंडइ जहिं जे जहिं।
सगाम महिहें रुड णिरतर तहि जे तहि ॥

आचार्य देवसेन

डा० हीरालाल जैन ने बरार प्रदेश के कारंजा नामक स्थान के दो बड़े प्राचीन शास्त्र-भाण्डारों को देख कर अनेक ग्रन्थों की खोज की है, जिनमें अपभ्रंश भाषा से निकली हुई प्राचीन हिन्दी के रूप जैन आचार्यों के ग्रन्थों में मिलते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी मुनिजिनविजय और श्री नाथूराम 'प्रेमी' के परिश्रम से अनेक जैनाचार्यों और उनके ग्रथों का परिचय प्राप्त हुआ है। इनमें प्रमुख आचार्य श्री देवसेन सूरि हैं। ये श्री विमलसेन गणधर के शिष्य थे।[१] श्री देवसेन का आविर्भाव-काल विक्रम की दसवीं शताब्दी है। कवि ने अपने ग्रंथ 'दर्शन सार' में उसकी रचना-तिथि विक्रम संवत् ९९० लिखी है।[२] अतः यह स्पष्ट है कि देवसेन विक्रम की दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में हुए।

दर्शनसार के देखने से अनुमान होता है कि ये भगवत् कुन्द कुन्दाचार्य अन्वय के आचार्य थे।[३], इन्होंने अपने ग्रंथ में जैन धर्म के अनेक सङ्घों की उत्पत्ति लिखी है और उन्हें 'जैनाभास' का नाम दिया है। उन्होंने केवल आचार्य कुन्दकुन्द की प्रशंसा की है अतः वे आचार्य कुन्दकुन्द के अनुयायी अवश्य रहे होंगे। इनका स्थान धारा नगरी (मालवा) था।

आचार्य देवसेन ने जैन धर्म के सिद्धान्तों का वड़ा विशद विवेचन किया है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में इनका 'नयचक्र' वहुत प्रसिद्ध है। इसे लघु 'नयचक्र' का नाम भी दिया गया है। 'लघु' विशेषण किसी दूसरे वड़े ग्रन्थ से भिन्नता प्रदर्शित करने

---

१ सिरि विमल सेण गणहर हर सिस्सो णामेण देवसेणो ति।
अबुह जण वोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्त ॥—देवसेन रचित भाव संग्रह

२ रइओ दंसण सारो हारो भव्वाण णवसए नवए।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माह सुद्ध दसमीए ॥ ५० ॥ दर्शन सार

३ जैन साहित्य और इतिहास—(श्री नाथूराम 'प्रेमी'), पृष्ठ १२०

के लिए लगा दिया गया है। किन्तु 'बृहत् नयचक्र' जो जैन साहित्य में इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है वास्तव में इनके शिष्य माइल्ल धवल का लिखा हुआ है। ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'दव्य सहाव पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) है। पहले यह ग्रन्थ 'दोहाबन्ध' में था किन्तु पीछे से किसी शुभकर के कहने से प्राकृत में गाथा-बन्ध कर दिया गया।

सुणि ऊण दोहरत्थ' सिग्घ हसिऊण सुहकरो भणइ।
एत्थण सोहइ अत्थो गाहा बधेण त भणइ।
दव्व सहाव पयास दोहय बधेण आसि जं दिट्ठ।
त गाहा बधेण य रइय माइल्ल घवलेण॥

'गाथा' प्राकृत का परिचायक है और दोहा अपभ्रश या अपभ्रंश से निकलती हुई पुरानी हिन्दी का। अतः यह स्पष्ट है कि 'दव्व सहाव पयास' पहले पुरानी हिन्दी में था। बाद में धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण जैन आचार्य माइल्ल धवल द्वारा अधिक गम्भीर प्राकृत में कर दिया गया। इस उल्लेख से यह सरलता से जाना जा सकता है कि यदि इस काल में प्राकृत रचना का आधार पुरानी हिन्दी का रूप अथवा अपभ्रंश से परिवर्तित होता हुआ जन-भाषा का रूप होगा तो पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश से उद्भूत जन-भाषा इस समय तक यथेष्ट उन्नति कर चुकी होगी, जिससे कि उसमें ग्रथ-रचना हो सके। और यदि पुरानी हिन्दी में ग्रन्थ-रचना होने की परिस्थिति आ गई होगी तो वह जन साधारण में इससे भी पहले—कम से कम सौ वर्ष पहले—तो अवश्य बोली जाती होगी। अतएव जैन ग्रन्थों के आधार पर भी पुरानी हिन्दी का रचना-काल विक्रम की आठवीं शताब्दी से आरम्भ हो गया होगा।

आचार्य देवसेन का 'नयचक्र' श्वेताम्बराचार्यों द्वारा भी मान्य रहा। नयचक्र मे वर्णित नय, उपनय और दोनों मूलनय भी श्वेताम्बराचार्य श्री यशोविजय द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं। इसमें नयों के अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान, द्रव्य, गुण आदि का कोई वर्णन नहीं है

जो माइल्ल धवल द्वारा रचित 'दव्व सहाव पयास' में है। अतः 'नयचक्र' मूल मालूम होता है, उसी में अन्य प्रसंगों को जोड़ कर 'दव्य सहाव पयास' की रचना हुई। स्वयं माइल्ल धवल अपनी गाथा के अन्त में देवसेन को 'नयचक्र' के कर्त्ता मानते हुए उन्हें प्रणाम करते हैं :—

सिय सद्द सुणय दुण्णय दणु देह विदारणेक्कवर वीरं।
तं देवसेण देवं णय चक्कयरं गुरु णमइ॥

'नयचक्र' के अतिरिक्त आचार्य देवसेन के अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख है। दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार और तत्वसार तथा सावय धम्म दोहा उनके अन्य ग्रन्थ हैं। आचार्य देवसेन दिगम्बर सम्प्रदाय के ऐसे कवि और आचार्य थे जिनसे जैनधर्म के सिद्धान्त-दर्शन में अत्यधिक योग मिला।

'सावयधम्म दोहा' में देवसेन ने गृहस्थों के लिए सिद्धान्त-प्रतिपादन किया है। इसलिए यह बिना किसी प्रतिबन्ध के गृहस्थों में प्रचलित रहा। इसके विपरीत 'नयचक्र' भिक्षुओं या साधुओं के लिए है। उसका विषय 'पाण्डित्यपूर्ण न्याय' है। यही कारण है कि किसी शुभंकर ने धार्मिक गौरव के लिए उसका 'गाहा' में परिवर्तन करा कर प्राकृत रूप दिला दिया और 'दोहा रूप' नष्ट करा दिया। 'सावय धम्म' के सार्वजनिक विषय ने उसके रूप की रक्षा की। यह ग्रंथ मालवा में लिखा गया। फलस्वरूप इस पर नागर अपभ्रंश का प्रभाव है। यह भाषा हिन्दी के कितने समीप है, तथा ग्रंथ के सिद्धान्त कितने व्यावहारिक और स्पष्ट हैं यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है[1] :—

भोगों का प्रमाण—

भोगहं करहि पमाणु जिय, इंदिय म करि सदप्प।
हुंति ण भल्ला पोसिया, दुद्धें काला सप्प॥ ६५॥

---

१ सावय धम्म दोहा—(सम्पादक—डा० हीरालाल जैन) कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, बरार १९३२

(हे जीव ! भोगों का भी प्रमाण रख । इन्द्रियों को बहुत अभिमानी मत बना। काले साँपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता ।)

कुपात्र दान का फल—

दंसण रहिय कुपत्ति जइ दिण्णइ ताह कुभोउ ।
खार घडइ अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होउ ॥८१॥

(दर्शन रहित कुपात्र को यदि दान दिया जाता है तो उससे कुभोग प्राप्त होता है। खारे घड़े में डाला हुआ जल भी खारा हो जाता है ।)

हय गय सुणहह टारियह मिच्छा दिट्ठिहिं भोय ।
ते कुपत्त दाणं विवह फल जाणहु बहु भेय ॥ ८२ ॥

(घोड़े, हाथी, कुत्ता व वेश्याओं के भोग मिथ्या दृष्टियों के भोग हैं। इन्हें कुपात्र दान रूपी वृक्ष के नाना प्रकार के फल जानो ।)

सुपात्र दान की महिमा—

इक्कु वि तारइ भव जलहि बहु दायार सुपत्तु ।
सुपरोहणु एक्कु वि बहुय दीसइ पारहु णित्तु ॥ ८५ ॥

(एक ही सुपात्र अनेक दातारों को भव समुद्र से तार देता है। अच्छी एक ही नौका बहुतों को पार लगाती देखी जाती है।)

कृपण की सम्पत्ति—

काइं बहुत्तइं संपयइ जइ किविणह घरि होइ ।
उवहि णीरु खारें भरिउ पाणिउ पियइ ण कोइ ॥८६॥

(बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृपण के घर हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका पानी तक कोई नहीं पीता।)

पात्रदान थोड़ा भी बहुत है—

धम्म सरूवें परिणवइ चाउ वि पत्तह दिण्णु ।
साइय जलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥ ६१ ॥

(पात्र को दिया हुआ दान धर्म स्वरूप परिणमित होता है। स्वातिजल सीप में पड़कर रमणीय मोती बन जाता है।)

धर्म से धन प्राप्ति—

धम्मु करतहं होइ धणु इत्थु ण कायउ भंति।
जलु कड्ढंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ घडंति ॥ ६६ ॥

(धर्म करने वालों के धन होता है, इसमें भ्रांति न करना चाहिए। कूप से जल काढ़ने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।)

पाप से सुख नहीं—

सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय णरु पावेण।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिदुउ दिट्ठउ केण ॥ १५३ ॥

(हे जीव ! पाप से यहाँ कोई नर सुखी नहीं हुआ। कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है ?)

माइल्ल धवल

श्री माइल्ल धवल श्री देवसेन आचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की रचना 'नयचक्र' को अपने ग्रन्थ 'दव्व सहाव पयास' में अन्तर्गर्भित कर उसे गाहा रूप दिया। इनका समय भी दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनकी रचना का नमूना देखिए:—

दारिय दुण्णय दणुयं पर अप्प परिक्खतिक्ख खर धारं।
सव्वण्हु विण्हु चिण्हं सुदसणं णमह णय चक्क ॥

ये १८०० श्लोकों से रचित हरिवंश पुराण के कर्त्ता भी हैं। इन्होंने जैनधर्म के चरित नायकों का वर्णन किया है।

महाकवि पुष्पदन्त

महाकवि पुष्पदंत जैन साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध महाकवि थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'णाय कुमार चरिउ' (नाग कुमार चरित) के अन्त में अपने माता पिता का संकेत करते हुए सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है।[१] उसके अनुसार इनके

---

१ सिव भत्ताइं मि जिण सण्णासें बे वि मयाइं दुरियणिण्णासें।
बंभणाइं कासवरिसि गोत्तइं गुरुवयणामिय पूरियसोत्तइं ॥

पिता प्रथम शिव-भक्त थे किन्तु बाद में किसी जिन सन्यासी के उपदे
से जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे। पिता के सम्प्रदाय परिवर्तन
साथ ये भी जैन हो गए। पिता का नाम केशव भट्ट था औ
माता का नाम मुग्धा देवी।

रचनाओं की भाषा देखते हुए अनुमान होता है कि ये उत्त
भारत के ही निवासी होंगे क्योंकि दक्षिणी भाषाओं का इनकी रच
पर कोई प्रभाव नहीं है। इनकी भाषा को व्राचड अपभ्रंश या उसी
प्रभावित भाषा माननी चाहिए।

कवि में आत्म-सम्मान की मात्रा विशेष रूप में थी। एक ब
निर्जन वन में पड़े रहने पर जब 'अम्मइय' और 'इन्द्र' नाम
व्यक्तियों द्वारा कारण पूछा गया तब इन्होंने कहा—

णउ दुज्जन मउँहा वकियाइ, दीसतु कलुसभावकियाइ।
वर णरतरु धवलच्छिहे होइ म कुच्छिहे मरउ णोणिमुहणिग्गमे।
खल कुच्छिय पहुवयणइ भिउडियण यणइं म णिहालउ सुरगमे॥

[दुर्जनों की बंकिम भौंह देखना उचित नहीं, चाहे गि
कन्दराओं में घास खाकर भले ही रह जाय। मा के कुक्ष से उत्प
होते ही मर जाना ठीक है किंतु राजा के टेढ़ी भ्रकुटि के नेत्र देख
और उसके दुर्वचन सुनना उचित नहीं।]

यही कारण है कि उन्होंने अपने लिए 'अभिमान मेरु', 'का
रत्नाकर', 'कविकुल तिलक' आदि की उपाधियाँ जोड़ी हैं। जहाँ मा
सिक रूप से वे अपने को इतना गौरव देते थे, वहाँ वे शरीर से ब
दुर्बल और कुरूप थे।[1] इनका एक गुण विशेष था और वह यह
ये शरीर-सम्पत्ति से हीन होते हुए भी सदैव प्रसन्न चित्त
करते थे। इनके नाम के अनुरूप उनकी दंत-पंक्ति पुष्प के सम
धवल थी।[2]

---

१ कसणु सरीरें सुद्ध कुरूवें मुद्धाएवि गब्भ सम्भूवें॥ उत्तर पुराण १
२ सिय दंत पंति धवली कयासु ता जपइ वरवाया विलासु।

महाकवि पुष्पदंत के दो आश्रयदाता थे। प्रथम राष्ट्रकूट वंश के महाराजाधिराज कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य भरत और दूसरे महामात्य भरत के पुत्र नन्न जो आगे चल कर महामात्य नन्न हुए। इन्हीं दोनों के प्रोत्साहन से महाकवि पुष्पदंत ने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं :—

१—तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु—(त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार)—इसी ग्रंथ को 'महापुराण' भी कहा गया है। इसमें दो खंड हैं : आदि पुराण और उत्तर पुराण। आदि पुराण में ८० और उत्तर पुराण में ४२ संधियाँ हैं। इसमें त्रेसठ महापुरुषों के चरित्र हैं। आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र है, उत्तर पुराण में बाकी २३ तीर्थंकर तथा उनके समकालीन पुरुषों के चरित्र हैं। इन दोनों में लगभग २० हजार पद्य होंगे। इनके निर्माण में महामात्य भरत की प्रेरणा थी क्योंकि ग्रंथ की प्रत्येक सन्धि में भरत का गुण-गान है।

२—णाय कुमार चरिउ—(नाग कुमार चरित्र) यह ग्रंथ महामात्य नन्न की प्रेरणा से लिखा गया। यह एक खड-काव्य है जिसमें नौ संधियाँ हैं। पंचमी के उपवास का फल कहने वाले नागकुमार का चरित्र इसका विषय है।

३—जसहर चरिउ (यशोधर चरित्र) यह भी नन्न की प्रेरणा से लिखा गया। इसमें चार सन्धियाँ हैं। इसमें यशोधर नामक पुरुष का चरित्र कहा गया है। यह खंड-काव्य भी 'णाय कुमार चरिउ' के समान सुदर है।

४— कोश ग्रन्थ—यह देशज शब्दों का एक कोष है। इससे महाकवि का भाषा पर अधिकार ज्ञात होता है।

महाकवि पुष्पदत एक महान् पंडित और प्रतिभाशील कवि थे। इनका काव्य-पक्ष अत्यंत विस्तृत और उत्कृष्ट था। अलंकारों का प्रयोग इनकी निरीक्षण और अध्ययन शक्ति का परिचायक है। इनकी कविता के उदाहरण देखिए :—

सन्ध्या वर्णन

अत्थमिइ दिणेसरि जिह सउणा।
तिह पथिय थिय माणिय सउणा।
जिह फुरियउ दीवय दित्तियउ।
तिह कताहरणइ दित्तियउ।
जिह संझा राएँ रजियउ।
तिह वेस राएँ रजियउ।
जिह भुवणुल्लउ सतावियउ।
तिह चक्कुल्लुवि सतावियउ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइँ मिलियाइँ।
तिह दिसि दिसि जारइ मिलियाइं।
जिह रयणिहि कमलइँ मउलियाइँ।
तिह विरहिणि वयणइँ मउलियाइँ॥ आदि

(तिसट्ठि महापुरिष गुणालकारु—महापुराण)

युद्ध-वर्णन

सगाम भेरीहि, ण पलय मारीहिं।
भुअण गसतीहिं गहिर रसंतीहि।
सण्णद्ध कुद्धाइँ उद्धुद्ध चिंधाइँ।
उववद्ध तोणाइ गुण णिहिय वाणाइँ।
करि चडिय जोहाइँ चम चामरोहाइँ।
छत्तं पयाराइँ पसरिय वियाराइँ।
वाहिय तुरगाइँ चोइय मयगाइँ।
चल धूलि कविलाइँ कप्पूर धवलाइँ॥ आदि

(णाय कुमार चरिउ)

श्री धनपाल अपभ्रश भाषा के बहुत प्राचीन कवि हैं। उनकी भाषा जनता की भाषा के बहुत समीप है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रश व्याकरण में अपभ्रंश का जो रूप दिया है,

धनपाल उससे भी पहले की भाषा में महाकवि धनपाल की

रचना है। इस प्रकार इनका आविर्भाव काल विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। वह है 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा)। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के थे तथा धक्कड़ वैश्य थे। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

धक्कड़वणिवंसि माएसरहो समुब्भविए।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण ॥ ६ ॥ भविसयत्त कहा।

इस प्रकार वणिकवंश के माएसर पिता और धनश्री देवी माता से इनका जन्म हुआ था। 'भविसयत्त कहा' के रचयिता धनपाल के अतिरिक्त जैन साहित्य में अन्य दो धनपाल कवियों का उल्लेख मिलता है। पहले धनपाल तो वाक्पतिराज मुंज की कवि-सभा के रत्न थे जिन्हें मुंज की ओर से 'सरस्वती' की उपाधि मिली थी। इन्होंने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए 'पाइअ लच्छी नाम माला' (प्राकृत लक्ष्मी नाम माला) कोष की रचना की थी। तत्पश्चात् राजा भोज के लिए 'तिलक मञ्जरी' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह 'तिलक मञ्जरी' एक गद्य काव्य है जो अपनी शैली में समस्त जैन साहित्य में अद्वितीय है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। और विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। दूसरे धनपाल पाली-वाल जाति के थे। इन्होंने प्रथम धनपाल के 'तिलकसुंदरी' नामक ग्रन्थ की कथा का सार 'तिलक मञ्जरी कथा-सार' में लिखा है। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अंतर्गत थे। इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

'भविसयदत्त कहा' के कवि धनपाल की रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

दिट्ठि कुमारि वियणि सोवण्ण घरि।
लच्छि नाइँ नव कमल दलंतरि।
जिण सासणि छुन्नीव दया इव।
पंडिय मरणि सुगइ वरिमाइव ॥

सन्ध्या वर्णन

अत्थमिइ दिणेसरि जिह सउणा ।
तिह पथिय थिय मारिणय सउणा ।
जिह फुरियउ दीवय दित्तियउ ।
तिह कताहरणह दित्तियउ ।
जिह संझा राएँ रजियउ ।
तिह वेश राएँ रजियउ ।
जिह भुवणुल्लउ सताबियउ ।
तिह चक्कुल्लुवि सताबियउ ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइँ मिलियाइँ ।
तिह दिसि दिसि जारइ मिलियाइं ।
जिह रयणिहि कमलइँ मउलियाइँ ।
तिह विरहिणि वयणाइँ मउलियाइँ ॥ आदि

(तिसट्ठि महापुरिस गुणालकारु—महापुराण)

युद्ध वर्णन

सगाम भेरीहिं, घण पलय मारीहिं ।
भुअण गसतीहिं गहिर रसंतीहिं ।
सण्णद्ध कुद्धाइँ उद्धुद्ध चिंधाइँ ।
उववद्ध तोणाइ गुण णिहिय वाणाइँ ।
करि चढिय जोहाइँ चम चामरोहाइँ ।
छत्त घयाराइँ पसरिय वियाराइँ ।
वाहिय तुरगाइँ चोइय मयगाइँ ।
चल धूलि कविलाइँ कप्पूर घवलाइँ ॥ आदि

(णाय कुमार चरिउ)

श्री धनपाल अपभ्रंश भाषा के बहुत प्राचीन कवि हैं। उनकी षा जनता की भाषा के बहुत समीप है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश व्याकरण में अपभ्रंश का जो रूप दिया है,

धनपाल उससे भी पहले की भाषा में महाकवि धनपाल की

रचना है। इस प्रकार इनका आविर्भाव काल विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। वह है 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा)। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के थे तथा धक्कड़ वैश्य थे। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

धक्कडवणिवंसि माएसरहो समुब्भविण।

धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण ॥ ६ ॥ भविसयत्त कहा।

इस प्रकार वणिकवंश के माएसर पिता और धनश्री देवी माता से इनका जन्म हुआ था। 'भविसयत्त कहा' के रचयिता धनपाल के अतिरिक्त जैन साहित्य में अन्य दो धनपाल कवियों का उल्लेख मिलता है। पहले धनपाल तो वाक्पतिराज मुंज की कवि-सभा के रत्न थे जिन्हें मुंज की ओर से 'सरस्वती' की उपाधि मिली थी। इन्होंने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए 'पाइअ लच्छी नाम माला' (प्राकृत लक्ष्मी नाम माला) कोष की रचना की थी। तत्पश्चात् राजा भोज के लिए 'तिलक मञ्जरी' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह 'तिलक मञ्जरी' एक गद्य काव्य है जो अपनी शैली में समस्त जैन साहित्य में अद्वितीय है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। और विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। दूसरे धनपाल पाली-वाल जाति के थे। इन्होंने प्रथम धनपाल के 'तिलकसुंदरी' नामक ग्रन्थ की कथा का सार 'तिलक मञ्जरी कथा-सार' में लिखा है। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अंतर्गत थे। इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

'भविसयदत्त कहा' के कवि धनपाल की रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

दिट्ठि कुमारि वियसि सोवण घरि।
लच्छि नाइँ नव कमल दलंतरि।
जिण सासणि छज्जीव दया इव।
पंडिय मरणि सुगइ वरिमाइव ॥

सन्ध्या वर्णन

अत्थमिइ दिणेसरि जिह सउणा ।
तिह पथिय थिय माणिय सउणा ।
जिह फुरियउ दीवय दित्तियउ ।
तिह कताहरणह दित्तियउ ।
जिह संझा राएँ रजियउ ।
तिह वेसा राएँ रजियउ ।
जिह भुवणुल्लउ सतावियउ ।
तिह चक्कुल्लुवि सतावियउ ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइँ मिलियाइँ ।
तिह दिसि दिसि जारइ मिलियाइं ।
जिह रयणिहि कमलइँ मउलियाइँ ।
तिह विरहिणि वयणइँ मउलियाइँ ।। आदि

(तिसट्ठि महापुरिस गुणालकारु—महापुराण)

युद्ध वर्णन

सगाम भेरीहिं, णं पलय मारीहिं ।
भुअण गसतीहिं गहिर रसंतीहि ।
सण्णद्ध कुद्धाइँ उद्धुद्ध चिंधाइँ ।
उब्बद्ध तोणाइ गुण णिहिय वाणाइँ ।
करि चडिय जोहाइँ चम चामरोहाइँ ।
छत्त घयाराइँ पसरिय वियाराइँ ।
वाहिय तुरगाइँ चोइय मयगाइँ ।
चल धूलि कविलाइँ कप्पूर धवलाइँ ।। आदि

(णाय कुमार चरिउ)

श्री धनपाल अपभ्रंश भाषा के बहुत प्राचीन कवि हैं। उनकी भाषा जनता की भाषा के बहुत समीप है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश व्याकरण मे अपभ्रंश का जो रूप दिया है,

धनपाल

उससे भी पहले की भाषा में महाकवि धनपाल की

रचना है। इस प्रकार इनका आविर्भाव काल विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। वह है 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा)। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के थे तथा धक्कड़ वैश्य थे। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

धक्कडवणिवंसि माएसरहो समुब्भविण।

धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ समविण ॥ ६ ॥ भविसयत्त कहा।

इस प्रकार वणिकवंश के माएसर पिता और धनश्री देवी माता से इनका जन्म हुआ था। 'भविसयत्त कहा' के रचयिता धनपाल के अतिरिक्त जैन साहित्य में अन्य दो धनपाल कवियों का उल्लेख मिलता है। पहले धनपाल तो वाक्पतिराज मुंज की कवि-सभा के रत्न थे जिन्हें मुंज की ओर से 'सरस्वती' की उपाधि मिली थी। इन्होंने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए 'पाइअ लच्छी नाम माला' (प्राकृत लक्ष्मी नाम माला) कोष की रचना की थी। तत्पश्चात् राजा भोज के लिए 'तिलक मञ्जरी' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह 'तिलक मञ्जरी' एक गद्य काव्य है जो अपनी शैली में समस्त जैन साहित्य में अद्वितीय है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। और विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। दूसरे धनपाल पाली-वाल जाति के थे। इन्होंने प्रथम धनपाल के 'तिलकसुंदरी' नामक ग्रन्थ की कथा का सार 'तिलक मञ्जरी कथा-सार' में लिखा है। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अंतर्गत थे। इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

'भविसयदत्त कहा' के कवि धनपाल की रचना का उदाहरण निम्नलिखित है:—

दिट्ठि कुमारि वियसि सोवण घरि।
लच्छि नाइँ नव कमल दलंतरि।
जिण सासणि छज्जीव दया इव।
पंडिय मरणि सुगइ वरिमाइव ॥

मुहु मारुइण मलय वणराइव ।
सिंहल दीवि रयण विख्याइव ।
सोहइ दप्पणि कील करती ।
चिहुर तरग भग विवरती ॥
सो फलि हतरेण सा पिक्खइ ।
सावि तासु आगमणु न लक्खइ ॥
घत्ता—न वम्मह भल्लि निघण सील जुवाण जणि ।
तहि पिक्खिवि कति निभिउ भक्कि कुमारमणि ॥

मुनि रामसिंह

मुनि रामसिंह जैन रहस्यवाद के बहुत बडे कवि हुए। इनकी विचार-धारा बहुत कुछ सिद्ध कवियों की विचार-धारा से साम्य रखती है। इनका 'पाहुड़ दोहा'[1] नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। 'पाहुड़ दोहा' मे देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' के उद्धरण हैं। अत. इनका समय देवसेन के समय (सं० ६६०) के बाद ही होगा। पुनः 'पाहुड़ दोहा' के छन्द आचार्य हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत हैं। हेमचन्द्र का समय स० ११५७ है अत' मुनि रामसिंह का आविर्भाव सं० ६६० से ११५७ के बीच हुआ होगा। डा० हीरालाल मुनि रामसिंह का आविर्भाव काल सं० १०५७ के लगभग मानते हैं।

मुनि रामसिंह जैन साहित्य मे सर्व श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। इनकी विचार-धारा प्राय वही है जो प्राय' सिद्धों के काव्य में पाई जाती है। सरहपा, गुण्डरीपा, वीणापा डोम्बिपा के चर्या-पदों के दृष्टिकोण के समानान्तर ही मुनि रामसिंह ने 'पाहुड़ दोहा'

---

१ 'समस्त श्रुत ज्ञान' को 'पाहुड' कहा है। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त-संग्रह को 'पाहुड़' कहते थे। 'पाहुड़' का सस्कृत रूपान्तर 'प्राभृत' किया जाता है जिसका अर्थ उपहार है। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रन्थ के नाम का अर्थ 'दोहा का उपहार' ऐसा ले सकते है। [डा० हीरालाल जैन]

की रचना की। इनका दृष्टिकोण यही है कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सबसे बड़ा सुख है। तीर्थों में स्नान करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती। आत्मा की शुद्धि तो राग द्वेष आदि प्रवृत्तियों को रोकने से ही होती है। इन्द्रिय-सुख न तो स्थायी है और न कल्याणकारी। वह हृदय को अनन्त दोषों से भर देता है। ऊपरी वेष भी अहंकार को उत्पन्न करता है। साधना का सबसे सरल उपाय आत्मानुभव है। इसीलिए मुंडन, केशलुञ्चन और वस्त्र-परित्याग से कोई ससार से विरक्त नहीं हो सकता, संसार-परित्याग करने का सरल मार्ग तो प्रत्याहार द्वारा संसार के विषयों से मन को खींच लेना है। ईश्वर न तो मूर्ति में है और न मन्दिर में। ईश्वर तो हृदय के भीतर निवास करने वाला है इसलिए आत्म-दर्शन की बड़ी आवश्यकता है। इसी आत्म-दर्शन में ब्रह्म सुख की अनुभूति होती है और इसीमें कवि का रहस्यवाद पोषित हुआ है। इनकी कविता का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

[1]अप्पाए वि विभावियइ णासइ पाउ खणेण।
सूरु विणासइ तिमिर हरु एक्कल्लउ णिमिसेण ।। ७५ ।।

(आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाता है। अकेला सूर्य एक निमेष में अन्धकार के समूह का विनाश कर देता है।)

जोइय हियडइ जासु पर एक्कु जिणिवसइ देउ।
जम्मण मरण विवज्जियउ तो पावइ परलोउ ।। ७६ ।।

(हे योगी ! जिसके हृदय में जन्म मरण से विवर्जित एक परम-देव निवास करता है वह परलोक प्राप्त करता है।)

ताम कुतित्थइ परिभमइ धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहह देउ मुणंति ।। ८० ।।

---

१ पाहुड़ दोहा—(मुनि रामसिंह) डा० हीरालाल जैन, (कारजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, स० १९९०)

(लोग तभी तक कुतीर्थों में परिभ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता करते हैं जब तक वे गुरु के प्रसाद से देह के देव को नहीं जान लेते।)

पढिय पढिय पढिया कणु छड्डिवि तुस कढिया।
अत्थे गथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि ॥ ८५ ॥

(हे पण्डितों में श्रेष्ठ पण्डित! तूने कण को छोड़ कर तुष को कूटा है। तू ग्रंथ और उसके अर्थ से संतुष्ट है, किन्तु परमार्थ को नहीं जानता। इसलिए तू मूर्ख है।)

हत्थ अहुट्ठह देवली वालह णा हि पवेसु।
सतु णिरजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥ ६४ ॥

(साढ़े तीन हाथ का जो छोटा सा देवालय है वहाँ वाल का भी प्रवेश नहीं हो सकता। संत निरंजन वहीं निवास करता है। निर्मल होकर गवेषणा कर।)

मुंडिय मुडिय मुडिया सिरु मुडिउ चित्तु ण मुडिया!
चित्तहं मडणु जि कियउ। ससारहं खंडणु तिं कियउ ॥ १३५ ॥

(हे मूँड मुड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुण्डी! तूने सिर को तो मुँडाया किन्तु चित्त को न मूँडा। जिसने चित्त का मुडन कर डाला, उसने संसार का खडन किया।)

श्री अभयदेव सूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। व्याख्या और टीका करने की अपूर्व पटुता के कारण इन्हें 'नवांग वृत्तिकार' भी कहा गया है। इनका जन्म स० १०७२ वि० में हुआ था और सवत् १०८८ मे इन्हें आचार्य-पद प्राप्त हुआ था। लगभग ८-६ वर्ष की अवस्था ही में आप जैन साधु हो गए थे। कहा जाता है कि जैन धर्म में दीक्षा लेने के वाद ही श्री अभयदेव सूरि के शरीर में कुष्ट रोग हो गया। धीरे धीरे व्याधि ने उग्र रूप धारण कर लिया। अनेक प्रकार की ओषधियाँ की गई किन्तु उनका रोग दूर नहीं हुआ। अन्त में सूरि जी ने खंभायत के समीप सेढ़ि नदी के किनारे भगवान पार्श्वनाथ

श्री अभयदेव सूरि

की प्रतिमा के समक्ष खड़े होकर स्तुति रूप में 'जय तिहुअण' स्तोत्र की रचना की। उसी समय श्री पार्श्वनाथ की कृपा से इनका कुष्ट रोग दूर हो गया।

श्री सूरि बड़े प्रभावशाली पुरुष थे। इनकी विद्वत्ता सवमान्य थी। भगवान महावीर उपदेशित प्राकृत (अर्ध मागधी) अंग साहित्य पर सूरि जी की संस्कृत टीकाएँ श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में विशेष प्रामाणिक समझी जाती हैं। इन्होंने निम्नलिखित अंगों पर टीकाएँ लिखीं :—श्री स्थानांग सूत्र, श्री समवायांग सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री ज्ञाता धर्म कथा सूत्र, श्री उपासक दशा सूत्र, श्री अन्तकृत दशां सूत्र, श्री अनुत्तरो पातिक दशा सूत्र, श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र, श्री विपाक सूत्र, पच निग्रंथी प्रकरण, पंचाशक वृत्ति, आगम अष्टोत्तरी और काल-स्वरूप निर्णय। यों तो उपर्युक्त सभी कृतियाँ संस्कृत में हैं तथापि इनकी कृतियाँ अपभ्रंश में भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। इनका 'जय तिहुअण' स्तोत्र अपभ्रंश की लोकभाषा में है। यह स्तोत्र ३० गाथाओं में समाप्त हुआ है। इसका रचनाकाल संवत् ११११ माना जाता है। श्री सूरि जी का देहावसान सं० ११३५ में हुआ।

'जय तिहुअण' स्तोत्र में से कुछ गाथाएँ इनकी कविता के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

तुहु सामिउ तुहु माय वप्पु तुहु मित्त पियंकरु।
तुहु गइ तुहु मइ तुहु जि ताणु तुहु गुरु खेमकरु॥
हउँ दुहभर भारिउ वराउ राउ निब्भग्गह।
लीणउ तुह कम कमल सरणु जिण पालहि चंगह॥

(तुम्हीं स्वामी हो, तुम्हीं माता-पिता हो, और तुम्हीं प्रिय मित्र हो। तुम्हीं गति हो, तुम्हीं मति हो, तुम्हीं त्राण कर्त्ता हो और तुम्हीं क्षेम करने वाले गुरु हो। मैं भारी दुःख से भरा हुआ बेचारा, तथा अभागियों में प्रमुख हूँ। तुम्हारे चरण-कमलों में लीन हूँ। शरण दो और मुझे स्वस्थ कर पोषित करो।

श्री चन्द्रमुनि जैन साहित्य के उत्कृष्ट कवियों मे से थे। इनमे काव्य-प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। कथा-लेखन की प्रणाली बौद्ध जातकों द्वारा बहुत प्रचलित हो गई थी। श्री चन्द्रमुनि

श्री चन्द्रमुनि

ने उसी शैली का अनुकरण अपनी जैन-धर्म की कथाओं मे किया। इन्होंने महाकवि पुष्पदत के 'उत्तरपुराण' और रविषेण के 'पद्मचरित' के टिप्पण लिखे तथा 'पुराणसार' आदि ग्रन्थों की रचना की। ये श्रीनन्दि के शिष्य थे तथा धारा नगरी में निवास करते थे। इनका आविर्भाव काल स० १०८० के लगभग है। ये भोजदेव के समकालीन थे।[1] इनके उत्तर पुराण-टिप्पण की श्लोक सख्या १७०० है। कुछ लोगों ने श्री चन्द्रमुनि और श्री प्रभाचन्द्र मुनि को एक ही माना है क्योंकि प्रभाचन्द्र मुनि ने भी 'उत्तर पुराण' और 'पद्मचरित के टिप्पण लिखे हैं किंतु प्रभाचन्द्र मुनि श्री चन्द्रमुनि से भिन्न थे। जहाँ श्री चन्द्रमुनि ने धारापति भोज-देव का उल्लेख किया है वहाँ श्री प्रभाचन्द्रमुनि ने धारा-पति जयसिंह देव का उल्लेख किया है। 'पुराण-सार' ग्रथ मे ही श्रीचन्द्रमुनि की कथा शैली प्रस्फुटित हुई है।

कनकामर मुनि

कनकामर मुनि—इनका दूसरा नाम कनकदेव भी है। ये 'करकंडु चरिउ' के रचयिता थे। इनका आविर्भाव काल स० ११९७ माना गया है। ये ब्राह्मण वश के थे किन्तु बाद में जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

ससार भमतहँ कवणु सोक्खु ।
असुहावउ पावइ विविह दुक्ख ॥

---

१ धारायां पुरि भोज देव नृपते राज्ये जयात्युच्चकैः
श्री मत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराण महत् ।
मुक्त्यर्थं भवभीति भीत जगता श्रीनन्दि शिष्यो बुधः
कुर्वे चारु पुराण सार ममलं श्रीचन्द्र नामा मुनि. ॥

—'पुराण सार' ग्रन्थ का अंतिम श्लोक।

णरयालई णाणा णारएंहिं ।
चिरकियहिं णिहम्मइ वइरएहिं ॥
हियएण वि चिंतहुँ सक्कियाइँ ।
तहिं भुत्तइँ पवरइँ दुक्कियाइँ ॥
अवरुप्परु जाइ विरुद्धएहि ।
तिरियाण मज्झे उप्पएणएहि ॥ आदि ॥

णाय णंदि मुनि कुन्द-कुन्दाचार्य की परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन मुनि थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है :—

पद्मनंदि
|
सहनंदि
|
रामनंदि
|
माणिक्यनंदि
|
णय णंदि

इस परम्परा के अनुसार वे माणिक्यनंदि के शिष्य थे।

एत्थ सुदंसण चरिए पंचमोक्कार फल पयासयरे।
माणिक्कणंदितइ विज्जसीसण यणंदिणा; रइए

(सुंदसण चरिउ—सन्धि १२)

(यह सुदर्शन चरित जो पंच नमस्कार फल प्रकाशित करने वाला है माणिक्यनंदि के विद्या-शिष्य णय णंदि द्वारा रचित हुआ।)

ये धारा नगरी (अवंती) के अधिपति राजा भोज के समकालीन थे। इन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर काव्य-ग्रंथ की रचना की जिसका नाम सुदंसण चरिउ (सुदर्शन चरित) है। यह ग्रन्थ बारह सन्धियों में लिखा गया। इसका रचना-काल विक्रम ११०० के अनन्तर का है। यह ग्रन्थ एक प्रेम-कथा को लेकर लिखा गया है, किंतु इस कथा की व्यञ्जना

में 'पंच नमस्कार' का फल घटित किया गया है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार करने का फल प्रत्येक उपासक के लिए मोक्ष का कारण है। ग्रन्थ के बीच बीच में धार्मिक प्रकरण रख दिए गए हैं। धार्मिक व्यञ्जना के साथ प्रेम-कथा कहने की इस शैली का महत्त्व इसलिए अधिक होना चाहिए कि आगे चल कर प्रेमाख्यानक काव्य में सूफी कवियों ने भी इसी सांकेतिक शैली का अनुसरण किया है। बहुत सम्भव है कि जैन कवियों की यह शैली सूफ़ी कवियों के सामने रही हो और उन्होंने 'सुदसण चरिउ' के कथानक के समानान्तर अपने कथानकों की रचना करते हुए अन्त में उसे सूफ़ी-सिद्धान्तों के प्रतीकों मे घटित किया हो।

'सुदसण चरिउ' की कथा का सारांश निम्नलिखित है:—

'मगध देश के राजगृह नामक नगर मे श्रेणिक महाराज राज्य करते थे। उनकी पट्टमहिषी का नाम चेल्लना देवी था। एक समय वर्धमान ऋषि राजगृह पधारे, उनके आगमन की सूचना पाकर राजा नगर-निवासियों सहित उनके दर्शनार्थ पहुँचा। राजा के प्रार्थना करने पर ऋषि उपदेश प्रारम्भ करते हैं—भरत क्षेत्रान्तर्गत अङ्गदेश में चम्पापुर नामक सुन्दर नगर था, वहाँ महाराज धाड़ीवाहन राज्य करने थे। उनकी महारानी अभया थी। चम्पापुर मे ऋषभदास नामक एक अत्यन्त समृद्धिशाली श्रेष्ठि रहता था। उसकी पत्नी का नाम अरुहदासी था। एक गोपाल श्रेष्ठि का परिचित था। गगा में स्नान करते समय गोपाल दैवयोग से मर जाता है। मरते समय पञ्च परमेष्ठि स्मरण करने के कारण उसे ऋषभदास के घर में जन्म मिलता है और उसका नाम 'सुदर्शन' रखा जाता है। बड़े होने पर सुदर्शन का विवाह सागरदत्त श्रेष्ठि की पुत्री मनोरमा से होता है। सुदर्शन बहुत रूपवान् था। धाड़ीवाहन राजा की रानी अभया उस पर आसक्त हो जाती है और वह अपनी चतुर परिचारिका पण्डिता के द्वारा सुदर्शन को बुलवाती है। सुदर्शन किसी प्रकार आता है। सब प्रकार अपने को असफल पाकर निराश होकर कुटिल

अभया चिल्ला उठती है—'लोगो, दौड़ो, यह बनिया मुझे मारे डालता है... ..' कर्मचारी दौड़ कर आते हैं और उसे बंदी बना लेते हैं। एक विंतर (दैवी पुरुष) प्रकट होकर सुदर्शन की रक्षा करता है। धाड़ी वाहन और 'विंतर' में युद्ध होता है, धाड़ी वाहन परास्त होकर सुदर्शन की शरण में आता है! यथार्थ समाचार का पता लगने पर धाड़ी वाहन सुदर्शन को राज्य देकर विरक्त होना चाहता है। सुदर्शन भी विरक्त होना चाहता है। अभया और पंडिता दोनों मर जाती हैं, सुदर्शन मरणोपरान्त स्वर्ग को जाता है। पञ्च नमस्कार का माहात्म्य कह कर थोड़ा सा परिचय देकर कवि ग्रंथ को समाप्त करता है।[1]

ग्रंथ में यद्यपि शृङ्गार रस प्रधान है, तथापि उसका पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। जहाँ एक ओर स्त्री के सौन्दर्य-चित्रण और आकर्षक परिस्थितियों में कवि ने अपनी कल्पना और सौन्दर्य-दर्शन की अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है, वहाँ बीच बीच में जैन धर्म के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण से उसने अपने को अनुभव सिद्ध जैन मुनि भी सिद्ध किया है। नायिका-भेद, नख-शिख, प्रकृति-चित्रण के रसानुकूल प्रसंग-ग्रन्थ में बड़ी मनोहारिता से प्रस्तुत किए गए हैं। संस्कृत-साहित्य की रीति-परिपाटी और हिन्दी साहित्य की रीति-शैली की संधि-भूमि इसी ग्रन्थ में दीख पड़ती है। जैन साहित्य में यह शैली अधिक विकसित नहीं हुई क्योंकि उस पर 'धर्म' का कठिन प्रतिबन्ध था। 'वैराग्य' ने 'अनुराग' को उभरने का अवसर नहीं दिया। इसी ग्रन्थ में कवि को अपनी कथा में अनेक उपदेश के प्रसंग रखने पड़े हैं। फिर भी 'सुदंसण चरिउ' एक प्रेम-काव्य है भले ही वह धर्म के क्रोड़ में पोषित किया गया है।

इस ग्रन्थ में कवि 'णय णंदि' की कविता का उदाहरण देखिए :

---

१ सुदंसण चरिउ—श्री रामसिंह तोमर (विश्वभारती पत्रिका—खण्ड ४, अंक ४, पृष्ठ २६२)

'सुदर्शन' के सौन्दर्य दर्शन के लिए युवतियों की आकांक्षा—

सुहि सहिउ णयरि हिंडतु माइ।
उडगण समाणु ससि गयणि णाइ।
ता सरइ समुहु तहु तरुणि जूहु।
सुर करिहि णाइ करिणी समूहु।
काहिवि रइ सुहु हुउ दसणेण।
पुणरुत्तत्थ किं फसणेण।
कवि भणइ मणहरा हरण लेहि।
बोल्लावंती पडिवयणु देहि।
कवि गिर विमुक्क इत्तिउ करेइ।
पवणहय वेलि जिम थरहरेइ।
कवि भणइ रक्खिमइ एक वार।
विरहें मारतिहि णिव्वियार।
सिहि तविय सिला इव हउ जितत्त।
पर कज्जुव तुहु सीयलउमित्त ॥ ३—११

श्री जिनवल्लभ सूरि श्री जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। ये बहुत बड़े विद्वान् और बड़े प्रभावशाली विधिमार्गी जैन थे। इनकी 'संघपट्टक' नामक संस्कृत रचना बहुत प्रसिद्ध है। उसमें इन्होंने चैत्यवासियों का शिथिल आचार बहुत अच्छी तरह वर्णित किया है। चित्तौड़ के श्रावकों ने भगवान महावीर का जो मन्दिर बनवाया था, उसके एक स्तभ पर उक्त 'सङ्घ पट्टक' के चालीसों पद्य खुदे हुए हैं। प्राचीन हिंदी में जो इनका ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, वह 'वृद्ध नवकार' है। श्री जिनवल्लभ सूरि जैन धर्म के उत्कृष्ट प्रचारकों में कहे गए हैं। इनमें काव्य-प्रतिभा से अधिक धर्म का आवेश था।

श्री जिन वल्लभ सूरि

श्री जिनदत्त सूरि श्री जिन वल्लभ सूरि की भाँति विधि मार्गी जैन थे। ये धवलक (गुजरात) के निवासी थे। यद्यपि ये जाति के

श्री जिनदत्त सूरि वणिक् थे, तथापि आगे चलकर जैन साधु हो गए थे। इनके ग्रन्थों में 'चाचरि', 'काल स्वरूप कुलक' और उवएस रसायण (उपदेश रसायन) प्रसिद्ध हैं। इनका आविर्भाव काल संवत् ११५० के लगभग माना गया है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है:—

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी।
सा लग्गइ सावयह वियारी॥
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं।
जंतिहिं दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं॥
बहुय लोय रायंध सपिच्छहि।
जिण मुह पंकउ विरला वंछहि॥
जणु जिण भवणि सुहत्थ जु आयउ।
मरइ सु तिक्ख कडक्खिहिं घायउ॥

श्री योगचन्द्र मुनि प्रसिद्ध दोहाकार थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'योगसार' है जिसमें आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है। इनकी भाषा बहुत साफ-सुथरी है। इस भाषा **योगचन्द्र मुनि** में हिंदी अपने स्पष्ट रूप में आने को प्रस्तुत होती हुई जान पड़ती है। उदाहरण स्वरूप एक सोरठा इस प्रकार है:—

जीवा जीवह भेउ जो जाणइ जो जाणियउ।
मोक्खह कारण येउ भणइ जो इहि भणिउ॥

(जीव और अजीव का भेद जो जानता है, वही वास्तव में जानकार है। जो उसे मोक्ष का कारण कहता है, वही वास्तव में कथनकार है।)

जैन सन्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध साहित्यकार श्री हेमचन्द्र सूरि हैं। भाषा के प्रयोग और पाण्डित्य के दृष्टिकोण से इनका महत्त्व अद्वितीय है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का एक **आचार्य हेमचन्द्र** साथ प्रयोग इनके भाषा-ज्ञान का पूर्ण परिचायक

है। इनका जन्म सवत् ११४५ में हुआ। इनके जन्म का नाम चंगदेव था, पीछे हेमचन्द्र हुआ। गुजरात के सोलकी सिद्धराज जयसिंह ने इनका बड़ा सम्मान किया। उन्हीं के लिए हेमचद्र सूरि ने अपना व्याकरण बनाया, जो 'सिद्ध हैम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिद्धराज के बाद जब उनका भतीजा कुमारपाल राजा हुआ तो हेमचन्द्र की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई, क्योंकि कुमारपाल के राजा होने की भविष्यवाणी इन्होंने पहले ही कर दी थी। संवत् १२१६ में हेमचन्द्र ने जैन धर्म स्वीकार किया। उसी के बाद हेमचन्द्र ने कुमारपाल के द्वारा जैन सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रचार कराया। कुमारपाल पर तो इनका इतना प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने जैन धर्म ग्रहण करने पर हेमचन्द्र के उपदेशानुसार शिकार खेलना, मॉस खाना आदि अपने राज्य में बन्द करा दिया था।[1] हेमचन्द्र ने अपनी रचना के अवतरणों में कृष्ण-कथा, राम-कथा, वीर रस, शृङ्गार-रस, हिन्दू धर्म, जैन धर्म आदि का वर्णन किया है। इस प्रकार इन्होंने जीवन के भिन्न-भिन्न विभागों का बड़ा सजीव चित्रण किया है। सस्कृत और प्राकृत के व्याकरण मे इन्होंने उदाहरण-स्वरूप केवल वाक्य या पद ही दिए हैं। किंतु अपभ्रंश के उदाहरण मे इन्होंने सम्पूर्ण गाथा एवं छंद दे दिए हैं। कारण यह था कि संस्कृत और प्राकृत का साहित्य जिज्ञासुओं के सामने था, उसके समझाने के वाक्य या पद यथेष्ट थे, पर अपभ्रंश शिष्ट समाज में अधिक प्रचलित न होने के कारण सीमित-सा था, इसलिए उसके सम्पूर्ण उदाहरण देने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार इन्होंने अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी के जीवित उदाहरण सुरक्षित कर साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया। ये उदाहरण हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के दिए हैं, जिसमे हमें हेमचन्द्र के पूर्व की भाषा का भी ज्ञान होता है। यह सामग्री अनुमानतः सम्वत् १०२६ के आस पास की मानी गई

---

१ हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० वेणीप्रसाद (हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद) पृष्ठ ५८५

है, अतएव हेमचन्द्र की कविता में ही शताब्दियों की भाषा के नमूने मिलते हैं। इसीलिए उनका 'सिद्ध हैम' या 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' और 'कुमारपाल चरित्र' (जिसमें आठ सर्गों में कुमारपाल का जीवन-चरित्र वर्णित है) प्राकृत व्याकरण और भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे गए हैं। उनमें अपभ्रंश के भी उदाहरण हैं। गुजरात में होने के कारण इनकी भाषा का 'नागर' अपभ्रंश रूप अधिक स्पष्ट है।

आचार्य हेमचन्द्र ने विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनका प्रसिद्ध 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ महाराजा कुमारपाल की इच्छानुसार ही लिखा गया था। इनके ग्रन्थों में 'प्राकृत व्याकरण' 'छन्दोनुशासन' और 'देशी नाममाला कोष' प्रसिद्ध हैं। इनका देहावसान संवत् १२२९ में हुआ। इनकी रचना का नमूना निम्नलिखित है :—

भल्ला हुआ जो मारिआ वहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जतु वयंसियहु, जइ भग्गा घरु एंतु।।
जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भड-घड-निवहि, कतु पयासइ मग्गु।।
कतु महारउ हलि सहिए, निच्छइं रूसइ जासु।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउ वि फेडइ तासु।।
अम्हे थोवारिउ वहुअ कायर एव भणंति।
मुद्धि निहालहि गयणु यलु, कइ जण जोण्ह करंति।।
खग्ग विसाहिउ जहिं लहहु, पिय तहिं देसहिं जाहुँ।
रण दुब्भिक्खें भग्गइ विणु जुज्झे न बलाहुँ।
पुत्तें जाए कवण गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा वप्पी की भुँहडी चंपिज्जइ अवरेण।।

(प्राकृत व्याकरण)

गयणुप्परि कि न चड़हिं कि नरि विक्खरहि दिसिहि वसु.
भुवण त्तय सताइ हरहि कि न किरवि तुहारतु।

अधयारु कि न दलहिं पयडि उज्जोउ गहिउल्लओं,
किं न धरिज्जहिं देवि सिरहँ सईं हरि सोहिल्लओं।
कि न तणउ होहि रयणारहु, होहि कि न सिरि भायरु।
तुवि चद निअवि मुहु गोरिअहि, कुवि न करइ तुह आयरु॥

श्री हरिभद्र सूरि चन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनके समय के सम्वन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। डा० जैकोबी ने हरिभद्र सूरि का समय ईसा की नवीं शताब्दी माना है। मुनि श्री जिन विजय ने 'हरिभद्र सूरि का समय निर्णय' शीर्षक लेख में इनका आविर्भाव-काल सवत् ७५७ और ८२७ की बीच निश्चित किया है। श्री नाथूराम प्रेमी इन्हें आठवीं शताब्दी का मानते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन के मत से श्री हरिभद्र सूरि संवत् १२१६ के लगभग हुए। जितने भी प्रमाण अभी तक उपस्थित हुए हैं उनमें मुनि श्री जिन विजय का मत अधिक समीचीन और युक्ति संगत माना जाना चाहिए।

हरिभद्र सूरि

श्री हरिभद्र सूरि श्वेताम्बराचार्य थे। इनका स्थान वाण गगा के किनारे पईठाण (गुजरात) में माना जाता है। इनके अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमे 'ललित विस्तरा', 'धूर्ताख्यान', 'जसहर चरिउ', 'सम्बोध प्रकरण' और 'णेमिणाह चरिउ' प्रमुख हैं। इनकी कविता का उदाहरण 'णेमिणाह चरिउ' से लीजिए :

पुरुष सौन्दर्य

नील कुतल कमल नयणिल्लु विवाहरु सियदसणु।
कबुग्गीवु पुर अररि उरयलु।
जुय दीहर भुय जुयल वयण ससि जिय कमल उप्पल।
पउम दलारुण करचलणु, तविय कणय गोरगु
अट्ठ वरिस वउ पहु हुयउ समहिय विजिय अणगु॥

(णेमिणाह चरिउ)

श्री शालिभद्रसूरि प्रसिद्ध जैन साधु थे। इनका आविर्भावकाल

सं० १२४१ माना गया है। ये गुजरात निवासी थे। इनका ग्रन्थ 'बाहुवलि रास' प्रसिद्ध है। मुनि श्री विजय ने इसका

शालिभद्रसूरि

सम्पादन किया है। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

सेना-यात्रा

अहि उग्गमि पूरव दिसिहिं पहिलउँ चालिय चक्क।
धूजिय धरयल थरहरएँ चलिय कुलाचल चक्क॥
पूठि पियाणु तउ दियएं भुयवलि भरह नरिंदु तु।
पिडि पञ्चायण पर दलहँ हलियलि अवर सुरिंदु॥
वज्जिय समहरि संचरिय सेनापति सामंत।
मिलिय महाधर मण्डलिय गाढिम गुण गज्जंत॥
गणयडतू गयवर गुडिय, जगम जिमि गिरि शृङ्ग।
सुंद दंड चिर चालवईं वेलईं अंगिहिं अंग॥
गंजइ फिरि फिरि गिरि सिहरि भजई तरुअर डालि।
अंकस वसि आवईं नहीं करहँ अपार अणालि॥
हीसईं हसमिसि हणहणईं तरवर तार तोषार।
खदहँ खुरलईं खेडविय, मान मानईं असुवार॥

(बाहुवलि रास)

श्री सोमप्रभ सूरि का आविर्भाव काल सं० १२५२ माना गया है। ये एक प्रसिद्ध जैन साधु थे और अनहिलवाड़ (गुजरात) के निवासी थे। जैन धर्म सम्बन्धी जो उपदेश हेमचन्द्र

सोमप्रभ सूरि

ने कुमारपाल को दिए थे, उन्हीं का इन्होंने अपने ग्रंथ 'कुमारपाल प्रतिवोध' मे निरूपण किया है। इस ग्रन्थ में पाँच प्रस्ताव हैं। इसमें संस्कृत और प्राकृत दोनों का उपयोग किया है किंतु बीच बीच में अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के उदाहरण भी मिल जाते हैं। जहाँ वे कुमारपाल का कर्त्तव्य और इतिहास वर्णन करते हैं वहाँ तो वे अपभ्रंश का प्रयोग नहीं करते, किन्तु जहाँ कथाओं को रोचक बनाने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ

वे जन साधारण में प्रचलित अपभ्रंश में लिखे गए अज्ञात कवियों के दोहे रख देते हैं, जिनमें उक्तियाँ, वियोग वर्णन, ऋतु वर्णन और कहावतें हैं। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

नीति

वसइ कमलि कल हसी जीव दया जसु चित्ति।
तसु पक्खालण जलिण होसइ असिव निवित्ति॥
आभरण किरण दिप्पत देह।
अहरीकय सुरबहु रूवरेह।
घण कु कुम कद्दम घर दुवारि।
खुप्पत चलण नच्चति नारि॥
तीयह तिन्नि पियारई कलि कज्जलु सिंदूर।
अन्नह तिन्नि पियारइँ, दुद्धु जँवाइउ तूरु॥
वेस विसिट्ठइ वारियइ, जइवि मणोहर गत्त।
गगाजल पक्खालियवि, सुणिहि कि होइ पवित्त॥
नयणिहिं रोयइ मणि हसइ, जणु जाणइ सउ तत्तु।
वेस विसिट्ठइ त करइ, ज कट्ठह करवत्तु॥

श्री जिन पद्म सूरि का आविर्भाव काल स० १२५७ है। ये जैन साधु थे और गुजरात निवासी थे। इनकी रचना 'थूलिभद्द फागु' प्रसिद्ध है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जिन पद्म सूरि

शृगार

काजलि अजिवि नयणजुय, सिरि सथउ फाडेई।
वोरियावडि काचुलिय पुण, उर मडलि ताडेई॥
कन्न जुयल जसु लहलहत किर मयण हिंडोला।
चचल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला।
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा।

कोमलु विमलु सुकंठ जासु वाजइ सँखतूरा ।
लवणिम रस भर कूवडीय जसु नाहिय रेहइ ।
मयणराइ किर विजय खंभ जसु ऊरू सोहइ ।
जसु नह पल्लव कामदेव अंकुसु जिम राजइ ।
रिमिझिमि रिमिझिमि पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ।
नव जोवन विलसंति देह नवनेह गहिल्ली ।
परिमल लहरिहि मदमयत रइ-केलि पहिल्ली ।
अहर बिंब परवाल खण्ड वर चंपावन्नी ।
नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण सम्पुन्नी ॥
इय सिणगार करेवि वर, जब आवी मुणिपासि ।
जो एवा कैउतिगि मिलिय, सुर किंनर आकासि ॥
(थूलिभद्द फागु)

श्री० विनय चन्द्र सूरि का आविर्भाव काल भी सं० १२५७ माना गया है। ये जैन साधु थे और गुजरात के निवासी थे। इनके ग्रन्थों में 'मल्लिनाथ महाकाव्य' 'पार्श्वनाथ चरित', विनय चद्र सूरि 'कल्पनिरुक्त' 'नेमिनाथ चउपई' और 'उवएस माला कहाणय छप्पय' प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

विरह वर्णन (बारह मासा)

माह मासि माचइ हिम रासि ।
देवि भणइ मइ प्रिय लइ पासि ॥
तइ विणु सामिय दहइ तुमारु ।
नव नव मारिहि मारइ मारु ॥
इहु सखि रोइसि सहू अरन्नि ।
हत्थि कि जामइ धरणउ कन्नि ॥
तउ न पती जिसि माहरि माइ ।
सिद्धि रमणि रत्तउ नमि जाइ ॥
कंति बसंतइ हियडा माहि ।

वाति पईजउं किमहि लसाइँ ॥
सिद्धि जाइ तउ काइ त बीइ ।
सरसी जाउत उगसेंण धीय ॥

फागुण वागुणि पन्न पडति ।
राजल दुःक्खि कि तरु रोयति ॥
गब्भि गलिवि हउ काइ न मूय ।
भणइ विहंगल धारणि धूय ॥
अजिउ भणिउ करि सखि विग्भासि ।
अछइ भला वर नेमिहि पास ॥
अनुसखि मोदक जउ नवि हुति ।
छुहिय सुहाली किन रुचति ॥

(नेमिनाथ चउपई)

धर्म सूरि

श्री धर्मसूरि महेन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल स० १२६६ माना जाता है। इनका 'जम्बू स्वामी रासा' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जिण चउविस पय नमेवि गुरु चरण नमेवि ।
जबू स्वामिहि तणूं चरिय भविउ निसुणेवि ॥
करि सानिध सरसत्ति देवि जीयरयं कहाणउ ।
जम्बू स्वामिहिं गुण गहण सखेवि बखाणउ ॥
जम्बू दीवि सिरि भरहखित्ति तिहिं नयर पहाणउ ।
राजग्रह नामेण नयर पहुवी वक्खाणउ ॥
राज करइ सेणिय नरिंद नरवरह जु सारो ।
तासु तणइ बुद्धिवंत मति अभय कुमारो ॥

विजयसेन सूरि

श्री विजयसेन सूरि का आविर्भाव काल स० १२८८ के लगभग माना गया है। ये वस्तुपाल मन्त्री के गुरु थे। इनका 'रेवंतगिरि रासा' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

परमेसर तित्थेसरह पय पंकज पणमेवि ।
भणिसु रासु रेवंतगिरि अंबिक दिवि सुमरेवि ॥
गामागर पुर वण गहण सरि सरवरि सुपएसु ।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ।
जिणु तहिं मंडल मंडणउ मरगय मउड महंतु ।
निम्मल सामल सिहर भर रेहइ गिरि रेवंतु ॥
तसु सिरि सामिउ सामलउ सोहग सुंदर सारु ।
••• इव निम्मल कुल तिलउ निवसइ नेमि कुमारु ॥
तसु मुहदंसणु दस दिसवि देस दिसंतरु संघ ।
आवइ भाव रसालमण उद्दलि रंग तरंग ॥
पोरवाडकुल मडणउ नंदणु आसाराय ।
वस्तु पाल वर मंति तहि तेजपालु दुइ भाइ ।
गुर्जर घर धुरि धवल वीर धवल देवराजि ।
बिउ बँधवि अवयारियउ समऊ दूसम माझि ।

मेरुतुंग

श्री मेरुतुंग का आविर्भाव काल सं० १३६० के लगभग है। इन्होंने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की रचना कर प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों और राजाओं के चरित्रों का कथा रूप में संकलन किया। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, हेमचन्द्र, वस्तुपाल, तेजपाल आदि के वृत्त मेरुतुग ने बड़ी सावधानी से लिखे हैं जिससे बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री की रक्षा हो गई है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की रचना सं० १३६१ में हुई। इस ग्रन्थ में अपभ्रंश के जो नमूने मिलते हैं वे अधिकतर उद्धृत ही किए गए हैं, मौलिक रूप से नहीं लिखे गए। कुछ दोहे धाराधिपति राजा भोज के चाचा मुञ्ज के नाम पर हैं। अतएव ये उद्धृत दोहे मेरुतुंग के पूर्व की भाषा का भी परोक्षरूप से परिचय देते हैं। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

मज्ञु भणइ मुणालवइ जुव्वणु गयउ न झूरि ।
जइ सक्कर सयखंड थिय, तो इस मीठी चूरि ॥

जा मति पाछइ सपजइ सा मति पहिली होइ।
मुञ्जु भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥
जइ यहु रावणु जाइयो, दह मुहु इक्कु सरीरु।
जननि वियमी चिंतवइ, कवनु पियाइए खीरु ॥
कसु करु पुत्र कलत्र धी, कसु करु करसण वाडि।
आइवु जाइवु एकला, हत्थ (सु) विन्नवि झाडि ॥

अम्बदेव सूरि

श्री अम्बदेव सूरि का आविर्भाव काल स० १३७१ के लगभग है। ये नागेन्द्र गच्छ के आचार्य पासडसूरि के शिष्य थे। ये अणहिल्लपुर पट्टन (गुजरात) के निवासी ज्ञात होते हैं। ये एक प्रसिद्ध जैन साधु थे। शाह समरा संघपति द्वारा शत्रुंजय तीर्थ के उद्धार होने पर इन्होंने 'संघपति समरा रासा' ग्रन्थ का निर्माण किया।

समरा शाह का शत्रु जय की ओर प्रस्थान

जयतु कान्ह दुइ सघपति चालिया।
हरिपालो लहुको महाधर दृढ थिया ॥

वाजिय सख असंख नादि काहल दुडुदुडिया।
घोडे चडइ सल्लार सार राउत सींगडिया ॥
तउ देवालउ जोत्रि वेगि घाघरि रवु झमकइ।
सम विसम नवि गणइ कोई नवि वारिउ थक्कइ ॥
सिजवाला घर धडहडइ वाहिणि वहु वेगि।
धरणि धडक्कइ रजु उडए नवि सूझइ मागो ॥
हय हीसय आरसइ करह वेगि वहइ बहल्ल।
सादकिया थाहरइ अवरु नवि देई बुल्ल ॥
निसि दीवी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु।
पावल पारु न पामियए वेगि वहई सुखासणु ॥
आगे वाणिहि सचरए सघपति साहु देसलु।
बुद्धिवंतु बहु पुंनिवंतु परिकमिहि सुनिश्चलु ॥

पाछे वाणिहि सोमसीहु साहु सहजा पूतो ।
सागणु साहु दूणिगइ पूत सोमजिनि जुत्तो ॥

श्री राजशेखर सूरि संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखर से भिन्न हैं जो कर्पूर मंजरी नाटिका के प्रणेता थे । ये राजशेखर गुजरात निवासी जैन साधु थे । इनका 'नेमिनाथ फाग' ग्रन्थ राजशेखर सूरि प्रसिद्ध है । इनका आविर्भाव काल १३७१ के लगभग माना गया है । इनकी रचना का उदाहरण निम्न-लिखित है :—

शृंगार वर्णन

किम किम राजल देवितणउ सिणगारु भणेवउ ।
चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ ॥
खुपु भराविउ जाइ कुसुमि कसतूरी सारी ।
सीमतइ सिंदूर रेह मोतीसरि सारी ॥
नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले ।
मोती कुण्डल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले ॥
नरतिय कज्जल रेह नयणि मुँह कमलि तंबोलो ।
नागोदर कठलउ कंठि अनुहार विरोलो ॥
मरगद जादर कंचुअउ फुड फुल्लह माला ।
करे कंकण मणि वलय चूड खलकावइ बाला ॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुझुणए कडि घाघरियाली ।
रिमझिमि रिमझिमि रिमझिमए पयनेउर जुयली ॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअसुय किमिसि ।
अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरसि ॥

बाद की शताब्दियों में जैन आचार्यों द्वारा ग्रन्थ लिखे गए । पन्द्रहवीं शताब्दी में श्वेताम्बराचार्य विजयभद्र ने 'गौतम रासा' की रचना की, विद्धणू ने 'ज्ञान पंचमी चउपई', और दयासागर सूरि ने 'धर्मदत्त चरित्र' लिखा । इसी प्रकार जैन कवियों द्वारा आगे भी रचना होती हुई किन्तु उनका महत्त्व भाषा-विज्ञान की दृष्टि से न

होकर धार्मिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक ही रह जाता है। अतएव इस काल में जैन साहित्य की परवर्त्ती शृङ्खला पर विचार न कर, उसकी प्रस्तुत विशेषताओं पर ही विचार करना अधिक उचित होगा।

वर्ण्य विषय

जैन साहित्य की रचना का क्षेत्र जीवन के सभी विभागों में फैला हुआ है। जहाँ भावों के दृष्टिकोण से उसमें चरम व्यापकता है, वहाँ शैली के दृष्टिकोण से भी वह अत्यत विस्तृत है। भाव-पक्ष के चार विभाग किये जा सकते हैं :—

१ प्रथमानुयोग—(तीर्थंकरों की जीवनियाँ)

२ करणानुयोग—(विश्व वर्णन)

३ करणानुयोग—(श्रावकों का चित्रण)

४ द्रव्यानुयोग—(सांसारिक वर्णन)

इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि लौकिक पक्ष और अलौकिक पक्ष—दोनों ही में जैन-आचार्यों और कवियों ने अपनी अमित साधना और अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। जैन साहित्य के पुराणों और काव्यों की कथावस्तु प्रमुख रूप से त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्रों (त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित से) सम्बन्ध रखती है। त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्गीकरण इस प्रकार है:—

१	तीर्थंकर	२४
२	चक्रवर्ती	१२
३	बलदेव	६
४	नारायण	६
५	प्रति नारायण	९
	कुल	६३

चौबीस तीर्थंकरों के चरित्रों में जैन आचार्यों और जैन कवियों की परम आस्था है। ये चौबीस तीर्थंकर निम्नलिखित हैं :—

नाम	जन्मस्थान	प्रतीक
१ ऋषभदेव	अयोध्या	वृषभ
२ अजितनाथ	,,	हस्ति
३ सम्भवनाथ	श्रावस्ती	अश्व
४ अभिनन्दन नाथ	अयोध्या	वानर
५ सुमति नाथ	,,	क्रौंच
६ पद्मप्रभ	कौसाम्बी	कोकनाद
७ सुपार्श्व नाथ	काशी	स्वस्तिका
८ चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	चन्द्रकला
९ पुष्प दन्त	काकण्डी	मकर
१० शीतलनाथ	बद्रिकापुरी	श्रीवत्स
११ श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	गरुड़
१२ वासु पूज्य	चम्पापुरी	महिष
१३ विमलनाथ	कांपिल्य	वाराह
१४ अनन्तनाथ	अयोध्या	बाज
१५ धर्मनाथ	रत्नपुरी	वज्रदण्ड
१६ शान्ति नाथ	हस्तिनापुर	मृग
१७ कुंथुनाथ	,,	अज
१८ अरहनाथ	,,	मीन (नंद्यावर्त्त)
१९ मल्लिनाथ	मिथिलापुरी	कुम्भ
२० मुनि सुव्रत	कुशाग्र नगर (राजगृह)	कच्छप
२१ नमिनाथ	मिथिलापुरी	नीलकमल
२२ नेमिनाथ	सौरिपुर (द्वारिका)	शंख
२३ पार्श्वनाथ	काशी	फणि
२४ महावीर	कुन्दपुर	सिंह

इन तीर्थंकरों के चरित्र के अतिरिक्त नारायण और वलदेव के चरित्र भी विशेष रूप से लिखे गए। 'पउम चरिउ' मे पउम (पद्म) राम का चरित्र अनेक कवियों द्वारा लिखा गया। इसी के आधार पर

'जैन रामायण' का सूत्रपात हुआ। यह 'जैन रामायण' अनेक घटनाओं में 'वाल्मीक रामायण', 'अध्यात्म रामायण' या 'रामचरित मानस' से भिन्न है। 'जैन रामायण' में महाराज दशरथ की पटरानी का नाम अपराजिता है। यही पद्म (राम) की माता थीं। बड़े होने पर पद्म (राम) ने महाराजा जनक को अपनी वीरता से बहुत प्रभावित किया। महाराजा जनक के अनेक शत्रुओं को भी राम ने पराजित किया। उन्होंने शत्रुओं को नष्ट करने में महाराजा जनक की अनेक प्रकार से सहायता की। पद्म (राम) की इस वीरता से महाराजा जनक इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी पुत्री सीता को पद्म (राम) से ब्याह देने का विचार किया। किन्तु एक कठिनाई थी। विद्याधर कुमार चन्द्रगति के लिए सीता पहले से ही वाग्दत्ता थीं। इस कठिनाई को हल करने के लिए महाराजा जनक ने स्वयवर की व्यवस्था की। इसी स्वयंवर मे पद्म (राम) और सीता का विवाह हुआ, आदि। 'पद्म चरित' मे जैन-मुनि-दीक्षा का प्रभाव बहुत घोषित किया गया है। दशरथ, जनक और पद्म (राम) ने मुनि-दीक्षा लेकर मोक्ष का अधिकार प्राप्त किया। आचार्य रविषेण, गुणभद्र तथा हेमचन्द्र ने इस कथा को विविध शैलियों मे लिखा है।

इसी प्रकार 'महाभारत' की कथा भी जैन कवियों द्वारा विविधता से लिखी गई है। पुन्नार सघ के आचार्य जिनसेन ने 'हरिवश पुराण' में 'महाभारत' की कथा का वर्णन किया है। सकल कीर्ति, देव प्रभसूरि, शुभचन्द्र आदि इस इतिवृत्त के लिखने में विशेष रूप से सफल हुए हैं।

जैन साहित्य मे प्रेम कथाएँ अनेक रूपों मे लिखी गईं। वे प्रेम कथाएँ पूर्ण भौतिक उत्कर्ष मे हैं, किन्तु इन भौतिक उत्कर्षों में नश्वरता की भावना लेकर अलौकिक पक्ष या आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत किया गया है। 'विजली की प्रभा' या 'श्वेत केश' का आधार लेकर नायक की विरक्ति का सूत्रपात होता है और

अन्त में कथा का पर्य्यवसान मोक्ष में होता है। इन प्रेम-कथाओं में शृङ्गार-चेष्टाएँ, रूप की आकर्षण शक्ति तथा अनेक प्रकार की हृदयाकर्षक क्रीड़ाएँ वर्णित हैं। इनका स्पष्टीकरण कवियों ने पूर्ण सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण से किया है। इसके अनन्तर लौकिक प्रेम में एकाएक प्रतिक्रिया होती है। किसी जैन मुनि या तपस्वी के प्रभाव से दीक्षा तथा कठिन तपस्या का द्वार उद्घाटित होता है। अन्त में मोक्ष का आदर्श प्रस्तुत कर दिया जाता है।

जैन धर्म का दार्शनिक पक्ष पूर्ण रूप से तर्क पर आधारित है। 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्त' इसकी पृष्ठ-भूमि है। 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्त' का अर्थ सापेक्ष्य दृष्टिकोण है। एक ही वस्तु अनेक दृष्टि-कोणों से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए मैं अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र हूँ, बहिन की अपेक्षा से भाई हूँ, भाँजे की अपेक्षा से मामा हूँ। एक होकर मैं अनेक भावों से मान्य हूँ किन्तु पिना या माता की अपेक्षा से पुत्र होकर भी बहिन की अपेक्षा से पुत्र नहीं हूँ। यदि दोनों 'अपेक्षा' से वर्णन किया जाय तो मैं पुत्र हूँ और पुत्र नहीं भी हूँ। 'हूँ' और 'नहीं हूँ' एक साथ ही कहना अनिर्वचनीय है। इसी कारण विश्व के व्यवहारों का कथन करना विचारों की शैली से परे है। संसार की विविध वस्तुओं को विविध दृष्टिकोणों से देखने से एक ऐसी उदार दृष्टि प्राप्ति होती है जिससे विरोध की भावना हटती है और प्रेम का प्रसार होता है।

जैन धर्म में मुख्यतः सात तत्वों की मीमांसा है। वे सात तत्व निम्नलिखित हैं :—

१ जीव—चैतन्य गुण सम्पन्न सत्ता।

२ अजीव—शरीर आदि जड़ पदार्थ।

३ आस्रव—शुभाशुभ कर्म के द्वार।

४ कर्म बन्ध—अध्यात्म और कर्म का पारस्परिक सम्मिलन।

५ संवर—शुभाशुभ कर्मों का प्रतिकार।

६ निर्जरा—पूर्व संचित कर्मों से स्वतन्त्रता।

७ मोक्ष—संपूर्ण कर्मों का विनाश।

मोक्ष में प्रवेश करने के लिए तीन मार्ग (रत्नत्रयी) हैं :—

१ सम्यक् दर्शन—सर्व तत्वों में अन्तर्दृष्टि।

२ सम्यक् ज्ञान—वास्तविक विवेक।

३ सम्यक् चरित्र—दोष रहित पवित्र आचरण।

सम्यक चरित्र के दो रूप हैं :—

१ श्रावकाचार—ये आचार ग्रहस्थों के लिए हैं।

२ श्रमणाचार—ये आचार मुनियों के लिए हैं।

इन दोनों आचारों में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है।

जैन दर्शन के सिद्धान्तों का रेखा-चित्र निम्न प्रकार से हो सकता है :—
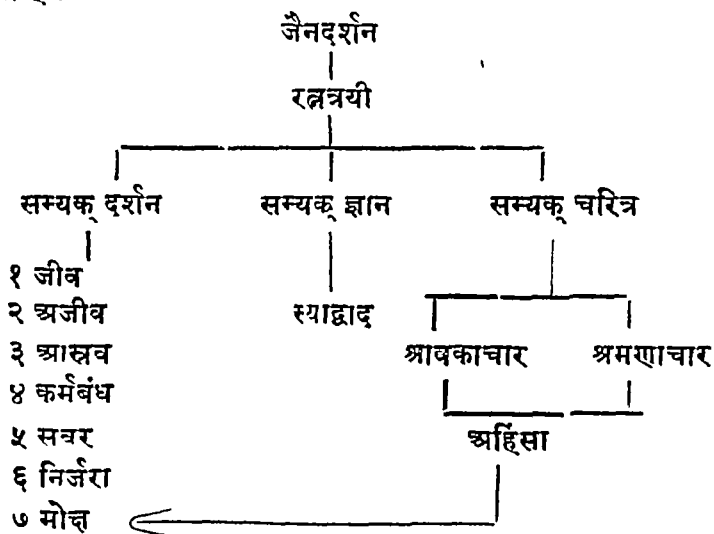
अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी के प्राचीन रूप हमें इस समय की भाषा में मिलते हैं। इस पर विशेष कर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है और उसी के व्याकरण के अनुसार शब्द-योजना है। यह भाषा अधिकतर पद्य रूप में ही है, गद्य रूप में कम। वादीयसिंह का 'गद्य चिन्ता-

भाषा

मणि' तथा धनपाल की 'तिलक मंजरी' गद्यकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। आगे चल कर जैन आचार्यों ने गद्य में यथेष्ट रचना अवश्य की है। इस समय यदि हमें कहीं गद्य के दर्शन होते हैं तो वे केवल टिप्पणियों के रूप ही में। जैन साहित्य में उनका नाम 'टव्बा' है।

जैन साहित्य सम्पूर्ण रूप से शान्त रस में लिखा गया है। यद्यपि शृङ्गार रस का भी अनेक कथानकों में पूर्ण परिपाक हुआ है। प्रेम-काव्यों में तो इस रस को उभरने का पूर्ण अवसर मिला है। मेरुतुङ्ग का यह दोहा

रस

एऊ जम्मु नग्गुहं गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खा तुरिय न माणियाँ गोरी गली न लग्गु ॥

(यह जन्म व्यर्थ ही गया। भटों के शीश पर खड्ग भङ्ग नहीं हुआ। न तेज घोड़े ही दौड़ाये और न गोरी (सुन्दर स्त्री) ही गले से लगी) काव्यों की अन्तर्दृष्टि का संकेत करता है।

इस प्रकार के उदाहरण उसी स्थल पर पाये जाते हैं, जहाँ किसी ऐतिहासिक पुरुष का चरित्राङ्कण हो अथवा किसी प्रेम-कथा का वर्णन हो। साधारणतया जैन साहित्य में तो जैन धर्म ही का शान्त वातावरण व्याप्त है। सन्त के हृदय में शृङ्गार कैसा ? फलतः इतने बड़े साहित्य में ऐसे ग्रन्थ कम हैं जिनमें केवल अलङ्कार निरूपण या केवल नायिका भेद है। संस्कृत अथवा प्राकृत में जैन विद्वानों के बनाये हुए शृङ्गार-रस पूर्ण ग्रन्थ अवश्य हैं, पर अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी में अपेक्षाकृत कम। उसका कारण यही था कि अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी में ग्रन्थ लिखते समय उन आचार्यों के हृदय में धर्म-प्रचार की भावना प्रधान रूप से रही होगी। वे साहित्य की अपेक्षा धर्म को अधिक प्रधान मानते थे। इसीलिए तत्त्व-सिद्धान्तों में ही उनके धर्म का निरूपण हुआ है। जयपुर के एक पुस्तक-भण्डार की सूची में दीवान लालमणि के 'रस-प्रकाश' अलंकार ग्रंथ का उल्लेख है। सेवाराम द्वारा भी एक 'रस ग्रन्थ' की रचना बतलाई

जाती है, पर इन दोनों में से एक भी ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका।[१]

जैन साहित्य में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। चरित्र, रास, चतुष्पदी, चौढालिया, ढाल, सिज्झाय, कवित्त, छन्द, दोहा आदि। किन्तु इस काल की कविता मे दोहे की ही प्रधानता है। इस प्रकार की रचना (प्रबन्ध चिन्तामणि में) 'दोहाविद्या' के नाम से कही गई है। रड्डा का प्रयोग भी यथेष्ट किया गया है।

छन्द

१—जैन साहित्य द्वारा इतिहास की विशेष रक्षा हुई है। पौराणिक चरित्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी लिखे गये हैं। हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित', सोमप्रभु सूरि का 'कुमारपाल प्रतिबोध', धर्मसूरि का 'जम्बू स्वामी रासा', विजयसेन सूरि का रेवंतगिरि रासा, अवदेव का 'सघपति समरा रासा', मेरुतुङ्ग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि', विजयभद्र का 'गौतम रासा', ईश्वरसूरि का 'ललितांग चरित्र' आदि इतिहास की प्रधान घटनाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अतएव इस साहित्य का महत्व भाषा-विज्ञान सम्बन्धी होते हुए इतिहास सम्बन्धी भी है।

विशेष

२—जैन साहित्य में अनुवादित ग्रन्थों की अधिकता है। स्वतत्र ग्रन्थ कम हैं। पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों अथवा छन्दों के उद्धरण ही साहित्य का कलेवर बढ़ाने मे सहायक हुए हैं। कारण यह है कि हिन्दी जैन साहित्य अधिकतर गृहस्थ या श्रावकों द्वारा लिखा गया है। गृहस्थ या श्रावकों को भय था कि वे स्वतंत्र ग्रन्थ रचना करते समय कहीं धर्म-विरुद्ध कोई अनुचित बात न कह दें। अतएव उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का ही अनुसरण किया और उन्हीं के ग्रन्थों को अनुवादित किया।

[illegible] (नाथूराम प्रेमी), पृष्ठ १५

३—जैन साहित्य में कोई बड़ा लक्षण कवि नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि प्रत्येक आचार्य का आदर्श धर्म की व्याख्या करना प्रमुख था, काव्य का शृङ्गार करना गौण। इसीलिए काव्य लक्षणों पर बहुत कम कवियों का ध्यान गया। केवल सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अच्छी कविता नहीं हो सकती। प्रसिद्ध जैन कवि बनारसी दास (जन्म स० १६४३) ने शृङ्गार रस की रचनाओं का एक संग्रह किया था। पर जैन होने के कारण उन्हें बाद में इस विषय से इतनी घृणा हो गई कि उन्होंने उसे यमुना में बहा दिया, जिससे उसका अस्तित्व ही न रहे।

संधिकाल का उत्तरार्ध

विविध साहित्य

१. नाथ संप्रदाय

संधिकाल के उत्तरार्ध में सिद्धों के वज्रयान की सहज साधना 'नाथ संप्रदाय' के रूप में पल्लवित हुई। जीवन के जिस रूप को सिद्धों ने कर्म-काण्डों के जाल से मुक्त कर 'सहज रूप' दिया था—उसे संप्रदाय के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय नाथों को ही दिया जाना चाहिए। इस प्रकार नाथ संप्रदाय को सिद्ध संप्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही समझना चाहिए। सिद्धों की विचार-धारा और उनके रूपकों को लेकर ही नाथ-वर्ग ने उनमें नवीन विचारों की प्रतिष्ठा की और उनकी व्यञ्जना में अनेक तत्वों का संमिश्रण किया। इसी शैली का अनुसरण करते हुए उन्होंने निरीश्वरवादी 'शून्य' को ईश्वरवादी 'शून्य' बना दिया।

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहर गंभीर॥[1]

कुछ विद्वानों का मत है कि नाथ संप्रदाय का विकास स्वतन्त्र रूप

---

१ गोरखबानी (डा० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल) पृष्ठ ७२ [हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९६]

से हुआ है। 'यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाए मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्व न मिलता'।[1] किंतु यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। सन्त 'लोगों' ने भी तो नाथ 'लोगों' के दिखाए मार्ग को अपना साधन चुना था फिर उनको क्या महत्व नहीं मिला? वस्तुतः बात यह है कि सिद्धों ने जिस पथ की ओर सकेत किया था, उसे राजमार्ग बनाने का कार्य नाथ सम्प्रदाय के सतों ने किया। सिद्धों की विचार धारा को अपना कर उसे व्यापकता देते हुए नाथ-संतों ने उसे नवीन और प्रगतिशील सिद्धान्तों से समन्वित किया। प्रत्येक धार्मिक विचार-धारा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि युगों और परिस्थितियों के अनुकूल उसमें संशोधन, परिवर्तन और परिमार्जन हुआ है। बौद्ध धर्म इस बात का द्योतक है, राम साहित्य में भी इस विकास की परपरा देखी जा सकती है। इसी भाँति मन्त्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ-संप्रदाय की विकासोन्मुख परंपरा समझनी चाहिए।

यह निस्संदेह माना जा सकता है कि नाथ सम्प्रदाय पर कौल पथ के कुछ प्रभाव हैं। कौल पथ में अष्टांग योग की जो भावना है वह साधना रूप से नाथ संप्रदाय में अवश्य चली आई है किंतु अभिचारों में प्रवृत्ति का तीव्र तम विरोध नाथ-संप्रदाय ने किय है। इसका प्रमुख कारण यही है कि अभिचारों और क्रिया-पक्ष मे प्रवृत्ति होने पर जीवन के सहज रूप मे विकृति की संभावना होने लगती है और तब ऐसे पथ का अनुसरण करना हिंस्र व्याघ्र की गर्दन का आलिंगन करने, विषैले सर्प से क्रीड़ा करने अथवा नगे कृपाण की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान भयानक हो जाता है। अष्टांग योग की साधना वज्रयान की साधना में भी रही। यह बात दूसरी है कि नाथ सम्प्रदाय में अष्टांग योग की साधना सीधे वज्रयान से न आई हो। किंतु मेरे विचार से सम्भ वना तो यही है कि वज्रयान

---

[1] नाथ सम्प्रदाय—श्री पूर्ण गिर गोस्वामी बी० ए० [सरस्वती, भाग ४७ खड १, सख्या २, पृष्ठ १०१]

के सशोधित रूप सहजयान को अपनाते हुए नाथ संप्रदाय ने वज्रयान के योग को भी अपना लिया हो। नाथ संप्रदाय के इस अष्टांग योग में रसायन का भी प्रभाव है। इस रसायन से योग की प्रारम्भिक अवस्थाओं में शरीर का 'काया कल्प' कर लेना[१] नाथ-संतों की साधना का आवश्यक अंश रहा है। जब तक शरीर चैतन्य और तेजयुक्त नहीं रहेगा तब तक उसके द्वारा साधना अविरत रूप से नहीं हो सकेगी।

कुछ तो अष्टांग योग और रसायन की कष्टसाध्य क्रियाओं के कारण नाथ सम्प्रदाय लोक-धर्म के रूप में प्रचलित नहीं हो सका और कुछ नाथ-सन्तों के साधना सम्बन्धी नियंत्रणों के कारण साधारण जनता उसकी दीक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रही। इस प्रकार यद्यपि नाथ सम्प्रदाय एक सार्वजनिक धर्म नहीं बन सका तथापि उसने जीवन के सदाचार की ओर अत्यंत वेग से गमन किया और कर्मकांडों की रूढ़ियों के प्रति दुर्निवार प्रहार किया।

गोरखनाथ या गोरक्षपा—इस नाथ संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री गोरखनाथ कहे जाते हैं। इनके आविर्भाव के सम्बन्ध में अभी तक बहुत सी भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं।

भारतीय दन्त-कथाओं में श्री गोरखनाथ सर्वव्यापक और सर्व-शक्तिमान माने गए हैं। ये मत्स्येन्द्रनाथ के प्रतिद्वन्द्वी थे और गोरखा (सं०—गोरक्ष) राज्य के संरक्षक सन्त थे। मत्स्येन्द्रनाथ से रक्षित नैपाल राज्य को ये अनेक वर्षों के अथक परिश्रम के बाद अपने संरक्षण में ला सके। इसके बाद इन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। तिब्बती जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे और उनके सारे कनफटे शिष्य भी आदि में बौद्ध थे। किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के नाश होने पर ये शैवमत में हो गए।[२]

---

१ बरसवै दिन काया पलटिवा, यूं कोई विरला जोगी।

गोरखबानी—पृष्ठ १५

२ एनसाइक्लोपीडिया अव् रिलीजन एंड एथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२८

नैपाल की एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ ने बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होने दी, वह भी एक साधारण कौशल के द्वारा। इन्होंने पानी के सभी उद्गमों की खोज की और उन्हें मन्त्र द्वारा एक ही सूत्र मे बॉध लिया। इसके बाद ये उन सभी उद्गम-सूत्रों पर बैठ गए। बारह वर्षों तक पानी किसी प्रकार भी नहीं बरस सका। चारों ओर हाहाकार मच गया। पानी किस प्रकार बन्धन से मुक्त किया गया, इसपर बौद्ध और ब्राह्मण जनश्रुतियॉ सहमत नहीं, किन्तु यह घटना प्राचीन किम्वदन्तियों में महत्वपूर्ण है।

राजस्थान की जनश्रुतियॉ गोरखनाथ के अनेक नाम बतलाती है, जिनमे मुख्य 'गुग्ग या 'गूग' है। ये 'जहरपीर' भी कहे जाते हैं, क्योंकि इन्होंने अपने शिशुपन में ही एक सर्प खा लिया था। ये बागर या उत्तरी राजस्थान के शासक भी कहे गये हैं, इसीलिये इनका नाम 'बागर वीर' भी कहा जाता है। इन्होंने बागर के शासक की हैसियत से अनेक युद्ध भी किये। एक जनश्रुदि के अनुसार ये अजमेर के पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे। दूसरी जनश्रुति के अनुसार ये अपने ४५ पुत्र और ६० भतीजों के साथ मुहम्मद ग़ोरी के साथ युद्ध करते हुए मारे गये।[1]

गोरखनाथ में देवत्व की स्थापना बहुत प्राचीन काल से है। जन-श्रुति के अनुसार ये सर्व शक्तिशाली हैं। कभी कभी तो ये शिव से भी बड़े बतलाए गये हैं। इनका मुख्य स्थान गोरखनाथ (गोरखपुर) में है। ये नैपाल में भी कुछ दिनों रहे और शैवमत का प्रचार करते रहे।

अनेक रङ्ग रूप की इन दन्त-कथाओं के आधार पर वास्तविक तथ्य की खोज बहुत कठिन है। इतना तो निश्चित है कि इन्होंने नैपाल को महायान बौद्धमत से शैवमत में रूपान्तरित किया। सम्भवत ये स्वय हिमालय-वासी रहे हों, जहाँ बौद्धमत के साथ-साथ शिव-पूजा भी प्रचलित रही हो, क्योंकि पञ्जाब के उत्तर मे हिमालय

---

१. रिलीजन एंड फ़ोकलोर अव् नार्दर्न इंडिया—(डब्ल्यू० क्रुक, १९२६)

के प्रदेश में अभी तक कनफटे योगी हैं, जो शिव का पूजन करते हैं। यदि गोरक्षराज्य से गोरखनाथ का सम्बन्ध है तो ये शिव के रूप भी माने जा सकते हैं, क्योंकि गोरक्ष राज्य के संरक्षक-देवता शिव हैं। ऐसी स्थिति में गोरक्ष के नाथ शिव रूप ही हो सकते हैं। गोरखनाथ के संरक्षण में गोरखों ने नैपाल पर विजय प्राप्त की थी, जो उस समय बौद्ध आर्य अवलोकितेश्वर (मत्स्येन्द्रनाथ) के संरक्षण में था। इस प्रकार नैपाल भी गोरखों के प्रभाव में आया। यह प्रमाण नैपाल की धार्मिक और राज-नीतिक परिस्थितियों में भले ही लागू हो, पर इससे गोरखनाथ की भारत-प्रसिद्धि पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

गोरखनाथ का अभी तक कोई सम्बद्ध विवरण नहीं मिलता। यह सन्ताप की बात अवश्य है कि जिस गोरखनाथ का भारत के धार्मिक इतिहास में इतना बड़ा महत्व है, उसके विषय में प्रामाणिक अन्वेषण अभी तक संतोषजनक रूप से नहीं हुआ।

मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वरी का बड़ा मान है। उसके लेखक हैं श्री ज्ञानेश्वर महाराज। पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए० ने मराठी में 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसका अनुवाद हिन्दी में श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे ने किया है।[1] उसके अनुसार श्री ज्ञानेश्वर महाराज के प्रपितामह श्री त्र्यम्बक पंत थे जो गोरखनाथ के समकालीन थे। त्र्यम्बक पंत के सम्बन्ध में श्री पांगार-कर लिखते हैं :—

"त्र्यम्बक पत ने यज्ञोपवीत होने के पश्चात् देवगढ़ जाकर वेद-शास्त्र का अध्ययन किया। इनकी पूर्व वयस देवगढ़ के यादव राजाओं की सेवा में व्यतीत हुई और उत्तर वयस् में इन्होंने श्री गोरखनाथ की कृपा से भगवच्चिन्तन का आनन्द लिया। इन्होंने पाँच

१. प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण १९६०.

वर्ष तक बीड के देशाधिकारी का काम किया। शाके ११२६ (संवत् १२६४) प्रभव-नाम संवत्सर चैत्र शुक्ल ५ इन्दुवासर प्रातःकाल घटि ११ का एक राजाज्ञापत्र भिङ्गारकर महोदय ने प्रकाशित किया है। उससे यह मालूम होता है कि जैत्रपाल महाराज ने दस सहस्र यादव मुद्रिका पर उन्हें बीडदेश का अधिकारी नियुक्त किया।"[1]

"इस बात का उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि राजसेवा और कुटुम्बभरण में ही सारी आयु गँवा दी। अब उन्होंने शेष जीवन भगवच्चरणों में लगा कर सार्थक करने का निश्चय किया। कर्म-धर्म संयोग से इसी समय गोरखनाथ महाराज तीर्थाटन करते हुए आपेगाँव में पधारे। त्र्यम्बक पंत उनकी शरण में गए और उनके अनुग्रह-पात्र हुए।"[2]

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि त्र्यम्बक पंत के पूर्व वयस् का समय संवत् १२६४ है जब इन्होंने बीडदेश के देशाधिकारी का कार्य हाथ में लिया। इन्होंने केवल पाँच वर्ष तक ही इस कार्य को सम्हाला। इसके बाद पुत्र की मृत्यु के उपरान्त इन्हें वैराग्य आ गया और इन्होंने स० १२७० के लगभग अपनी उत्तर वयस् में गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। इस तिथि के निर्देश से ज्ञात होता है कि गोरखनाथ स० १२७० मे वर्तमान थे और वे इतने प्रसिद्ध अवश्य हो गए थे कि उनका शिष्यत्व एक देशाधिकारी कर सके। अतएव इस आधार पर इनका आविर्भाव काल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का मध्य काल ठहरता है।

त्र्यम्बक पंत के जेष्ठ पुत्र गोविन्द पन्त और उनकी सहधर्मिणी निराबाई के सम्बन्ध में लिखा गया है कि गोविन्द पंत और निरा

---

१ श्री ज्ञानेश्वर चरित्र, पृष्ठ ३८

२. वही, पृष्ठ ४०

बाई दोनों को गोरक्षनाथ के शिष्य गैणीनाथ से ब्रह्मोपदेश प्राप्त हुआ था।[1] गोरखनाथ की शिष्य परम्परा में गैनीनाथ हुए थे। अतएव ये गोरखनाथ जिनसे त्र्यम्बक पत को ज्ञान-लाभ हुआ था, हठयोग के प्रवर्त्तक गोरखनाथ ही थे, इस नाम के अन्य कोई नहीं। ज्ञानेश्वरी के रचयिता श्री ज्ञानेश्वर ने भी अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए गोरखनाथ जी का नाम लिया है।[2]

---

१ वही, पृष्ठ ४१

२ क्षीरसिंधु परिसरीं। शक्तीच्या कर्णं कुहरीं।
नेणों कैं श्री त्रिपुरारीं। सागीत ले जे ॥ ५२ ॥

तें क्षीर कल्लोला ऑत। मकरोदरीं गुप्त।
होता तयाचा हात। पैठें जालें ॥ ५३ ॥

तो मत्स्येन्द्र सप्तश्रृङ्गी। भग्नावयवा चौरगीं।
भेटला कीं तो सर्वाङ्गीं। सपूर्ण जाला ॥ ५४ ॥

मग समाधी अव्यत्यया। भोगावी वासना मया।
ते मुद्रा श्री गोरक्ष राया। दिघली मीनीं ॥ ५५ ॥

तेणें भोगाब्जनी सरोवर। विषय विध्वंसै कवीर।
ति ये पदीं का सर्वेश्वर। अभिषेकिले ॥ ५६ ॥

मग तिहीं ते शाभव। अद्वयानद वैभव।
संपादिले सप्रभव। श्री गैणी नाथा ॥ ५७ ॥

तेणें कलिकलित भूता। आला देखोनि निरुता।
ते आज्ञा श्री निवृत्ति नाथा। दिघली ऐसी ॥ ५८ ॥

ना आदि गुरु शङ्करा। लागोनि शिष्य परम्परा।
बोधाचा हा संसरा। जाला जो आमुतें ॥ ५९ ॥

श्री ज्ञानेश्वरी—पृष्ठ ५४३

तुकराम जावजी (मुम्बई) सन् १९०४

इस उद्धरण के अनुसार श्री ज्ञानदेव की गुरु परम्परा इस प्रकार है :—

श्री मत्स्येन्द्रनाथ
|
श्री गोरक्षनाथ
|
श्री गैणीनाथ
|
श्री निवृत्तिनाथ
|
श्री ज्ञानेश्वर (ज्ञानदेव)

श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र से ज्ञात होता है कि इस गुरु-परम्परा के साथ श्री ज्ञानेश्वर की वशावली पूर्ण साम्य रखती है। श्री गोरखनाथ के समकालीन थे श्री त्र्यम्बकपन्त, जो श्री ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। श्री गैणीनाथ के समकालीन थे श्री गोविन्द पन्त और उनकी सहधर्मिणी निराबाई। और विट्ठलपन्त तो निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर महाराज के पिता ही थे। श्री निवृत्तिनाथ का जन्म-समय सं० १३३० और श्री ज्ञानेश्वर महाराज का स० १३३२ माना गया है।[1] श्री गोरखनाथ श्री ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बक पत के समकालीन थे। श्री त्र्यम्बक पन्त का समय सं० १२५० है अतः गोरखनाथ का समय भी यही मानना चाहिए अर्थात् वे तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। स्पष्टता के लिये श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वंशावली नीचे दी जाती है :—

---

१ श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र (गीता प्रेस, गोरखपुर) स० १९९०

गोरखनाथ के काल-निर्णय में यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था। उसने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे पंथ का प्रचार कच्छ में किया।[1] यदि धर्मनाथ का काल चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जावे तो गोरखनाथ का काल सरलता से तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है। इस साक्ष्य से भी गोरखनाथ तेरहवीं शताब्दी के मध्य मे हुए।

श्री ज्ञानेश्वरी का प्रमाण अधिक विश्वसनीय ज्ञात होता है, यद्यपि अनेक विद्वानों ने गोरखनाथ के आविर्भाव के सम्बन्ध में अपनी विवेचना और तर्क के आधार पर विविध संवत् निर्दिष्ट किए हैं। डा० शहीदुल्ला गोरखनाथ का आविर्भाव सं० ७२२ में मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने उनका समय स० ९०२ निर्धारित किया है। डा० मोहनसिंह के मतानुसार गोरखनाथ का समय विक्रम की नवीं और दशवीं शताब्दी है। डा० बडथ्वाल ने यह समय सं० १०५० निश्चित किया है। डा० फर्कहार गोरखनाथ का समय सं० १२५७ मानते हैं।

---

१ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृष्ठ ३२८-३३०

गोरखनाथ के काल-निर्णय में यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था। उसने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे पंथ का प्रचार कच्छ में किया।[1] यदि धर्मनाथ का काल चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जावे तो गोरखनाथ का काल सरलता से तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है। इस साक्ष्य से भी गोरखनाथ तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुए।

श्री ज्ञानेश्वरी का प्रमाण अधिक विश्वसनीय ज्ञात होता है, यद्यपि अनेक विद्वानों ने गोरखनाथ के आविर्भाव के सम्बन्ध मे अपनी विवेचना और तर्क के आधार पर विविध संवत् निर्दिष्ट किए हैं। डा० शहीदुल्ला गोरखनाथ का आविर्भाव सं० ७२२ में मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने उनका समय स० ९०२ निर्धारित किया है। डा० मोहनसिंह के मतानुसार गोरखनाथ का समय विक्रम की नवीं और दशवीं शताब्दी है। डा० वर्डथ्वाल ने यह समय सं० १०५० निश्चित किया है। डा० फर्क़हार गोरखनाथ का समय सं० १२५७ मानते हैं।

---

१ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृष्ठ ३२८-३१०

इस उद्धरण के अनुसार श्री ज्ञानदेव की गुरुपरम्परा इस प्रकार है :—

श्री मत्स्येन्द्रनाथ
|
श्री गोरक्षनाथ
|
श्री गैणीनाथ
|
श्री निवृत्तिनाथ
|
श्री ज्ञानेश्वर (ज्ञानदेव)

श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र से ज्ञात होता है कि इस गुरु-परम्परा के साथ श्री ज्ञानेश्वर की वशावली पूर्ण साम्य रखती है। श्री गोरखनाथ के समकालीन थे श्री त्र्यम्बकपन्त, जो श्री ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। श्री गैणीनाथ के समकालीन थे श्री गोविन्द पन्त और उनकी सहधर्मिणी निराबाई। और विट्ठलपन्त तो निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर महाराज के पिता ही थे। श्री निवृत्तिनाथ का जन्म-समय स० १३३० और श्री ज्ञानेश्वर महाराज का सं० १३३२ माना गया है।[1] श्री गोरखनाथ श्री ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बक पत के समकालीन थे। श्री त्र्यम्बक पन्त का समय स० १२५० है अत गोरखनाथ का समय भी यही मानना चाहिए अर्थात् वे तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। स्पष्टता के लिये श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वशावली नीचे दी जाती है :—

१ श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र (गीता प्रेस, गोरखपुर) स० १९९०

द्वारा, यह कहना कठिन है। 'गोरखनाथ जी के पद' पुस्तक स्वयं गोरखनाथ की लिखी हुई न होगी, क्योंकि पुस्तक का शीर्षक ही लेखक के लिए आदर-सूचक है। कोई भी संत अपने नाम को 'जी' प्रत्यय के साथ न लिखेगा। अतः यह पुस्तक तो गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा ही लिखी गई होगी, जिन्होंने अपने गुरु को आदर-सूचक प्रत्यय के साथ स्मरण किया है। इसी प्रकार 'दत्तगोरख संवाद' ग्रन्थ भी गोरखनाथ द्वारा न लिखा गया होगा क्योंकि देवता दत्तात्रेय की भावना को विवाद के लिए गोरखनाथ अपने मन में ला ही नहीं सकते थे। संभवतः शिष्यों ने गोरखनाथ की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए इस प्रकार की पुस्तकों की रचना की होगी।

इन्हीं नामों के अनुरूप हमें कुछ ग्रथ कबीर के भी मिलते हैं, जैसे 'कबीर गोरख की गोष्ठी', 'कबीर जी की साखी', 'मुहम्मद बोध' आदि। हम तीनों ग्रन्थों को कबीर द्वारा न लिखा हुआ मान कर उनके शिष्यों द्वारा लिखा हुआ मानते हैं। कबीर गोरख के सम-कालीन भी नहीं थे, अत उनकी 'गोष्ठी' तो किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार मुहम्मद भी कबीर से ज्ञान-लाभ नहीं कर सकते और कबीर अपने को 'कबीर जी' नहीं लिख सकते। कबीर के शिष्यों ने ही उनके नाम से इन ग्रथों की रचना की होगी। यही सिद्धान्त मिश्रबन्धुओं द्वारा मान्य गोरखनाथ के ग्रन्थों पर भी घटित होता है।

गोरखनाथ ने अपने नाथ-पन्थ के प्रचार के लिये जन-समुदाय की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। गौतम बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार संस्कृत को छोड़ कर जन-समुदाय की भाषा पाली में किया था। सर्व साधारण को अपने सिद्धान्त समझाने के लिए गोरखनाथ भी जन-भाषा मे कुछ लिखने के लिये बाध्य हुए। पर उनके ग्रन्थ पूर्ण प्रामाणिकता के साथ अभी निश्चित नहीं हो सके हैं। मिश्रबन्धुओं का कथन है कि "इस महात्मा ने प्रायः ४० छोटे-बड़े ग्रंथ रचे और

व्रजभाषा गद्य में भी एक अच्छा ग्रन्थ बनाया। सो ये महात्मा गद्य के प्रथम कवि हैं।"[१]

हिन्दी के सभी इतिहासकारों ने गोरखनाथ की रचना का निम्नलिखित अवतरण उद्धृत किया है :—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि को। जिन्ही के नित्य गाये तै शरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दर नाथ को दण्डवत् करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दर नाथ॥ आत्मा ज्योति निश्चल है अन्तःकरन जिनि कौ अरु मूलद्वार तै छइ चक्र जिनि नीकी तरह जानै॥ अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिनि कौ मेरी दण्डवत॥ स्वामी तुमे तो सत्गुरु अम्है तो सिष, सब्द एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस।"

यह अवतरण सम्भवतः इसलिए उद्धृत किया जाता है कि इसमें गोरख का नाम प्रथम पुरुष में है। गोरखनाथ अधिकतर पूरब और उत्तर के निवासी थे, अतः इन्हें साधारणतः पूरबी गद्य का प्रयोग करना चाहिये था। इसके विपरीत उनके द्वारा लिखा हुआ यह अवतरण व्रजभाषा में है। फिर इसमें 'पूछिबा' 'कहिबा' आदि शब्द विशेष हैं, जिन्हें पण्डित रामचन्द्र शुक्ल राजस्थान के शब्द मानते हैं।[२] जिस समय व्रजभाषा में कविता की शैली का जन्म ही नहीं हुआ था और वह साहित्य में मान्य भी नहीं थी, उस समय एक पूरब का निवासी अपने प्रान्त की भाषा मे न लिख कर सुदूर व्रजभाषा के अप्रचलित गद्य में अपना ग्रन्थ लिखे, यह बात विश्वसनीय नहीं जान पड़ती। यह माना जा सकता है कि गद्य का यह अवतरण

---

१ मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ११२

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४८०

परवर्ती काल में गोरखनाथ के किसी शिष्य ने (जो राजपूताने का निवासी होगा ?) अपने पन्थ-प्रवर्त्तक गोरखनाथ के नाम से लिख दिया हो।

नाथ-सम्प्रदाय प्रधान रूप से निवृत्तिमार्गी ज्ञान-योग के अन्तर्गत 'नाथ' का अर्थ इस सम्प्रदाय में 'मुक्तिदान करने वाला' माना गया है।[1] मुक्ति का दान वही कर सकता है जो स्वयं 'मुक्त' हो। अतः नाथ-सम्प्रदाय में ससार के वन्धनों से मुक्त होने की ही विधि विशेप रूप से मान्य है। संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विपयों से स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है, जब वैराग्य की भावना मन में स्थिर हो जावे। यह वैराग्य गुरु की सहायता से ही हो सकता है। अतः नाथ सम्प्रदाय अपने क्रिया पक्ष में गुरु-मन्त्र या गुरु-दीक्षा से प्रारम्भ होता है। गुरु भी शिष्य की दृढ़ता और योग्यता देखकर उसे दीक्षा देता है। वह उपवासादि और कठिन संयम से उसकी कठिन परीक्षा लेता है। जब शिष्य के अत्यत कठिन साध्य आचरणों से गुरु को सन्तोप हो जाता है, तब वह उसे दीक्षा देने को प्रस्तुत होता है। नाथ-सम्प्रदाय इसीलिए एक व्यापक सम्प्रदाय नहीं बन पाया। उसमें शिष्यों को आकर्षित करने का कोई प्रलोभन नहीं है। किन्तु जितने भी शिष्य उसमें दीक्षित होते हैं वे अपने साधना-मार्ग पर अत्यन्त दृढ रहते हैं। सम्प्रदाय के प्रचार की अपेक्षा उसमें मर्यादा-रक्षण का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इसीलिए इस सम्प्रदाय के कुछ आध्यात्मिक सकेत रहस्यात्मक शैली में—या उल्टबाँसी में—या विचित्र रूपकों मे दिए जाते हैं जो साधारण जनता की समझ से वाहर होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति उस रहस्यात्मक शैली से परिचित न हो तब तक वह उल्टबाँसियों या विचित्र रूपकों के अर्थ समझने में समर्थ नहीं होता।

---

१ अस्माकम्मते शक्ति. सृष्टि करोति, शिवः पालन करोति, कालः सहरति, नाथो मुक्ति ददाति।—गोरक्ष सिद्धान्त सग्रहः

मानी जा सकती है। इस नाथ-संप्रदाय ने चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया। इसमें अनुभूति और हठयोग का प्रधान स्थान है और इन्हीं विशेषताओं ने कबीर के निर्गुणपन्थ का बहुत कुछ साधन-रूप निर्धारित किया। 'गोरख-सिद्धान्त-संग्रह' में जहाँ स्वतन्त्र हठयोग का निर्देश है वहाँ दूसरी ओर चौरासी सिद्धों के छः प्रधान शिष्यों का भी वर्णन है। इस प्रकार नाथपन्थ को हम सिद्धयुग और संतयुग के बीच की अवस्था मान सकते हैं।

नाथपन्थ में ईश्वर की भावना शून्यवाद में है, जो सम्भवतः वज्रयान से ली गई है। इसी 'शून्य' को कबीर ने आगे चल कर 'सहस्रदलकमल' का 'शून्य' माना है, जहाँ अनहद्नाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं। इस शून्यवाद का इतिहास लिखते हुए श्री क्षितिमोहन सेन अपने ग्रन्थ 'दादू' में लिखते हैं[1] :—

"महायान की साधना में शून्य का महत्व ही अनेक प्रकार से सुख और ऐश्वर्य पूर्ण हो क्रमानुसार परिवर्द्धित हुआ। इसके बाद

---

१ "महायान शाधनाय शून्य तत्वटि क्रमशः नाना भावे शूखे ओ ऐश्वर्य भरिया उठिते लागिल। क्रमे माध्यमिक मतवादे बुद्ध, धर्म, ईश्वर शबाई शून्य होइया उठिलेन। वज्रयान योगाचार प्रभृति मतवादीदेर कृपाय शून्यई क्रमे होइया दाँड़ाइल विश्वेर मूलतत्व। शून्य छाड़ा विश्वजगत् देवदेवी प्रभृति किछूइ किछू नय, शबई माया।

एइ शून्यइ क्रमे अलख निरञ्जन होइया नाथ पन्थ निरञ्जन पंथ प्रभृतिदेर मध्ये स्थान पाइल। गोरखनाथ प्रभृति योगीदेर मतवादेओ इहा वेश स्थान जमाइया वशिल। औघड़ प्रभृति वारपन्थीदेर मध्येओ शून्यवादेर गौरवमय स्थान। चौराशी शिद्धादेर उपदेशे शून्य एकटि सूत्र वइ कथा।" दादू—श्री क्षितिमोहन सेन, पृष्ठ १७६

(विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता)

बौद्धधर्म के मध्यकाल में बौद्धधर्म और भी शून्य से सम्बद्ध हो गया। वज्रयान के योग और आचार मतावलम्बियों की कृपा से तो शून्य-वाद ही आगे चल कर विश्व का मूल तत्व हो गया। शून्य को छोड़ कर संसार में देवी देवताओं का अस्तित्व ही कुछ न रह गया। शून्य के अतिरिक्त सभी माया है।

यही शून्य क्रमानुसार अलख निरञ्जन होकर नाथपन्थ, निरञ्जन-पन्थ आदि मतों में स्थान पा गया। गोरखनाथ आदि योगियों के मत में तो इसने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया। औघड़ पन्थ आदि वार-पंथियों में तो शून्यवाद का स्थान गौरवपूर्ण है। चौरासी सिद्धों के उपदेशों में एक मात्र शून्य की ही गुणगाथा का विस्तार है।"

गोरखनाथ ने इसी शून्यवाद का प्रचार किया है। इसी कारण उन्हें योग की साधना को महत्व देना पड़ा। यह योग नाथपन्थ का आवश्यक अङ्ग है जिसका प्रचार चौदहवीं शताब्दी में समस्त उत्तर भारत मे हुआ।

नाथपंथ के अनुयायी 'कनफटे' कहलाते हैं क्योंकि ये अपने कानों के मध्य भाग को फाड़ कर उसमें बड़ा छेद कर लेते हैं। वे इस छेद में स्फटिक का कुण्डल भी धारण करते हैं। ये अनुयायी दो भागों में विभक्त हैं। एक तो वे जो भारत के उत्तर पूर्वीय भाग के निवासी हैं और गोरखनाथ को अपना गुरु मानते हैं। दूसरे वे जो पश्चिमी भारत के निवासी हैं और धर्मनाथ से अपनी वंश परम्परा मानते हैं।

गोरखनाथ धर्म-साहित्य के एक बड़े संत-कवि हैं। उनकी ग्रन्थ-रचना संस्कृत में ही अधिक कही जाती है। उनकी बहुत सी संस्कृत पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं, पर उनकी प्रामाणिकता के विषय मे सन्देह है। उनकी लिखी संस्कृत पुस्तकों में प्रधान निम्नलिखित हैं:—

गोरक्ष शतक, चतुर्शीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिन्तामणि, योग सिद्धान्त पद्धति, विवेक मार्तण्ड और सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

वैराग्य की भावना जब हृदय में दृढ़ता से स्थिर हो जाती है तब वह अपनी अभिव्यञ्जना में तीन मार्ग ग्रहण करती है। पहला मार्ग इन्द्रिय-निग्रह का है, दूसरा प्राण-साधना का और तीसरा मन-साधना का है। पहला मार्ग सब से प्रमुख है। नाथ सम्प्रदाय में इंद्रिय-निग्रह पर बड़ा जोर दिया गया है। इन्द्रियों के लिए सब से बड़ा आकर्षण 'नारी' है। इस इन्द्रिय-निग्रह पर श्री गोरखनाथ ने सम्भवतः इसीलिए इतना जोर दिया कि उन्होंने बौद्ध-विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम बौद्ध धर्म के अधःपतन में देखा हो, अथवा कौल-पद्धति या वज्रयान में उन्होंने भैरवी और योगिनी रूप नारियों की ऐंद्रिक उपासना में धर्म को विकृत होता हुआ देखा हो। उन्होंने कौल पद्धति में मद्य और मानवी की ओर प्रवृत्ति की भयानकता का अनुभव किया हो। प्रवृत्ति में लीन होकर निवृत्ति की ओर बढ़ना वैसा ही कठिन है जैसे शर्बत पीते हुए उसका स्वाद न लेना। सभी साधकों में इतनी क्षमता नहीं कि वे सुन्दरी को देखकर—उसका स्पर्श पाकर—उसका निकटतम साहचर्य पाकर उसके भीतर कंकाल का रूप देख सकें। 'सूल कुलिस असि अंगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन-सर मारे' जैसी अवस्था योग की चरमावस्था को पहुँचे हुए साधकों की भी हो सकती है। संयम में जकड़ी हुई इंद्रियाँ थोड़ा सा भी 'सुयोग' पाकर विद्रोह कर उठती हैं और साधना में उनकी प्रति-क्रिया होने लगती है। इसीको विज्ञानियों ने 'अविद्या' कहा है। महात्मा तुलसीदास ने इस परिस्थिति का कितना सुन्दर स्पष्टीकरण निम्न-लिखित दोहे में किया है :—

कवने अवसर का भयउ, गयेउ नारि विस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि यतिहिं 'अविद्या' नास॥

यहाँ 'नारि विस्वास', 'जोग सिद्धि', 'यतिहिं' और 'अविद्या' साभिप्राय रखे हुए ज्ञात होते हैं। नारी पर विश्वास करना 'जोग-सिद्धि' के लिए घातक है। इसी 'अविद्या' को दर्शन की पुस्तकों में

'आत्मा की अन्धकारमयी रजनी' (The Dark Night of the Soul) कहा गया है। इसीलिए नाथ-सम्प्रदाय में इन्द्रिय-निग्रह के अन्तर्गत सर्व प्रथम 'नारी' को रक्खा गया है। गोरखनाथ ने इस सत्य का अनुभव किया था और इसीलिए उन्होंने इस सम्प्रदाय को नारी से दूर रखने का अनुशासन पूर्ण आदेश दिया। इस इन्द्रिय-निग्रह मे आसन की दृढ़ता मानी गई और उससे 'बिन्दु' का स्थैर्य माना गया। इन्द्रिय निग्रह के उपरान्त प्राण-साधना का स्थान है। प्राण-साधना का तात्पर्य शरीर के अन्तर्गत प्राण-वायु के नियमित सचालन और कुम्भकादि से है। इस साधना मे प्राणायाम की सिद्धि की आवश्यकता होती है। प्राणायाम की सिद्धि मे जप फलीभूत होता है। प्राण साधना के बाद मन-साधना है। मन साधना का तात्पर्य यह है कि ससार की विविध मायिक प्रवृत्तियों से मन को खींच कर अपने अत:करण की ओर ही उन्मुख कर देना। मन की जो स्वाभाविक गति बहिर्जगत की ओर है उसे उलट कर अन्तर्जगत की ओर करना ही मन की साधना की कसौटी है। इसी उलटने की क्रिया से ससार के व्यापारों में विरोध भासित होता है और यही दृष्टिकोण 'उलट बाँसियों' का आधार है। इसीको मानसिक वृत्तियों का 'विपर्यय' कहा गया है।

इन्द्रिय-निग्रह से आसन, प्राण-साधना से प्राणायाम और मन साधना से प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक में नाड़ी-साधन और कुंडलिनी-जागरण की शक्ति उत्पन्न होती है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ी के सचेतन होने पर मूलाधार चक्र के त्रिकोण में स्थित निम्नमुखी कुंडलिनी तेज सम्पन्न होकर जाग्रत होती है और सुषुम्णा नाड़ी के भीतर ही भीतर ऊपर की ओर बढती है। अपने बढ़ने की क्रिया में वह मेरुदण्ड के समानान्तर सुषुम्णा नाड़ी पर स्थित मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों को भेदन करती हुई तालुमूल से सिर तक स्थित सहस्रार के ब्रह्म रध्र का स्पर्श करती है। इस क्रिया की अनवरत साधना मे रसायन या

रस-विद्या की सहायता से शरीर की दुर्वलताओं और विकारों को दूर कर काया-कल्प आदि करने का भी विधान है। योग साधना में शरीर का ध्यान भी नहीं रहता, समाधि में शरीर की क्रियाएँ भी रुक जाती हैं और यदि समाधि की अवधि लम्बी हो गई तो शरीर-रक्षा का ध्यान शिष्यों को ही विशेष रूप से करना पड़ता है। शरीर और नष्ट होने से बचाने के लिए काया-कल्प से शरीर को विशेष वलिष्ठ करने की आवश्यकता है। षट्चक्र-भेद की स्थिति के समानान्तर 'अजपा जाप' का प्रतिफलन होता है। यह 'जाप' विना जपे ही होता रहता है। इस जाप में जिह्वा की आवश्यकता नहीं होती। शरीर के रोम रोम से यह 'जाप' स्वाभाविक रूप से साँस के आने-जाने के समान ही होता रहता है। साधना की अन्य क्रियाओं में लीन रहते हुए भी साधक इस 'अजपा जाप' में कभी अन्तर और व्याघात होता हुआ नहीं देखता।

षट्चक्र-भेद की स्थिति के वाद सुरति-शब्द योग की अनुभूति होती है। यह शब्द-योग 'अनाहत नाद' से सम्बन्ध रखता है जो कुडलिनी के द्वारा षट्चक्र भेदन के उपरान्त सहस्रार या सहस्रदल कमल में होता है। इस 'अनाहत नाद' का सुख अनिर्वचनीय है। इसीमें 'शून्य' की महत्ता और व्यापकता समझ में आती है। यह शून्य' जहाँ प्रकृति के समस्त अनुबंधों का निराकरण करता है वहाँ वह अध्यात्मवाद की समस्त अनुभूतियों की सम्भावना के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है। यह 'शून्य' ऐसी अवस्था का द्योतक है जहाँ द्वैत का विनाश होकर सत्, चित्, आनन्द की अनुभूतियाँ शरीर में प्रकट होती हैं। यह 'शून्य' शरीर मनस् और प्रज्ञा के परे है। यही 'परम सुख' है। सिद्धों ने अपनी साधना का यही चरम ध्येय माना है। इसीलिए कि सिद्ध निरीश्वरवादी बौद्ध-धर्म की परम्परा में हुए थे, उन्होंने 'इस परम सुख' में 'ब्रह्मानंद' की स्थिति नहीं देखी किन्तु नाथ-सम्प्रदाय 'शैव धर्म' की स्फूर्ति से अनुप्राणित हुआ था अतः उसने इस शून्य में शिव और शक्ति की ज्योति देखी और इस

प्रकार सिद्धों के लक्ष्य से आगे चलकर उसने निश्चित विश्वास के साथ 'ईश्वरवाद' की भावना की प्रतिष्ठा की। 'शिव और 'शक्ति' की ज्योति में लीन होकर साधक 'असंप्रज्ञात समाधि' का अधिकारी होकर 'कैवल्य मोक्ष' प्राप्त करता है।

'शिव' ही नाथ-सम्प्रदाय के 'आराध्य देव' हैं। उन्होंने ही सर्व प्रथम योग की शिक्षा पार्वती (शक्ति) को दी। मत्स्येन्द्रनाथ ने उस शिक्षा को मछली का रूप धारण कर चोरी से सुना। इस प्रकार योग की शिक्षा पाकर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शिष्य गोरखनाथ को उसी का ज्ञान दिया। गोरखनाथ अपनी साधना और अनुभूति में अपने गुरु की महत्ता से भ आगे बढ़े। गुप्त रूप से योग की शिक्षा सुनने के कारण जब मत्स्येन्द्रनाथ मोह में फँस जाने के लिए अभिशप्त हुए तो गोरखनाथ ने ही उनका उद्धार किया था। गोरखनाथ ने योग-मार्ग का जो प्रचार किया उसमे 'शिव' और 'शक्ति' को आदि तत्त्व माना गया है।

सक्षेप में नाथ-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का रेखा-चित्र निम्न प्रकार से समझा जा सकता है :—

लेगा न जाणों देणा न जाणो
एका वणज हमारा ॥[1]

शिव-शक्ति—

यहु मन सकती यहु मन सीव ।
यहु मन पाँच तत्त का जीव ।
यहु मन ले जै उनमन रहै ।
तौ तीन लोक की बाता कहै ॥ [2]

सहज—

सहज गोरषनाथ वणिज कराई ।
पञ्च बलद नौ गाई ।
सहज सुभावै बाषर लाई
मोरे मन उडियानी आई ॥[3]

इस समस्त साधना-पद्धति के साथ नाथ-पथ मे उन सभी रूढ़ियों ा खडन है जो सिद्ध सम्प्रदाय में पाया जाता है। सदाचार का ाश्रय लेकर काया में तीर्थ की अनुभूति मानी गई है तथा साधना ; प्रतिक्रियात्मक भाव से पाखंड-खडन, मन्त्र-व्यर्थता और सम्प्रदाय-प्रवहेलना की प्रबल-भावना भी गोरखनाथ ने अपने शिष्यों के सामने रक्खी है। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय सिद्धों की "सहज" भावना का सा परिवर्द्धित रूप है जिसमें धर्म की वास्तविक अनुभूति की ोर सकेत किया गया है। लौकिक जीवन को हृदयंगम करते ुए भी उसमें ऊपरी रंग-रूप की ओर से उपेक्षा दिखलाई गई ै। इसी मनोभाव में माया की अवहेलना की गई है जो आगे लकर सन्त-सम्प्रदाय में चेतावनी का प्रमुख अङ्ग बनी। गोरखनाथ े नाथ-सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया, वह भारतीय

मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहाँ दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोर आघात भी किया गया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रख कर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।

नाथ-सम्प्रदाय में 'नवनाथ' की चर्चा की जाती है। परवर्ती कवियों ने भी 'चौरासी सिद्ध' और 'नवनाथ' की ओर संकेत किया है। कबीर ने भी लिखा है: 'सिध चउरासीह माइआ महि खेला' और 'नावै नाथ सूरज अरु चन्दा।'[1] इन 'नवनाथों' में निम्नलिखित 'नाथ' आते हैं :—

१ आदिनाथ
२ मत्स्येन्द्रनाथ
३ गोरखनाथ
४ गाहिणीनाथ
५ चर्पटनाथ
६ चौरंगीनाथ
७ ज्वालेन्द्रनाथ
८ भर्तृनाथ
९ गोपीचन्द्रनाथ

यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे तथापि गोरखनाथ ने जिस श्रद्धा और भक्ति से मत्स्येन्द्रनाथ की भक्ति की थी उससे स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को योग के प्रथम अधिकारी और आचार्य मान लिये जाने का आशीर्वाद दिया था। इन 'नवनाथों' में सभी की रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं; प्राप्त रचनाओं के साथ उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

आदिनाथ इस सम्प्रदाय के सर्व प्रथम आचार्य भले ही रहे हों किन्तु परवर्ती सन्तों द्वारा वे 'शिव' मान लिए गए

---

१ सन्त कबीर, पृष्ठ २१६-२२० (साहित्य भवन, इलाहाबाद)

अखी देखन कंर्णी सुनणा मुख सो कछू न कहना
बकते आगे सोता होइ रहु घीक आगै मसकीना
गुरु आगे चेला होइबो एहा बात परबीना
मन महि रहना भेद न कहना बोलिओ अम्रित बानी
अगला अगन होइवा औधू आप होइवा पानी
इहु ससार कटियों की बाड़ी निरख निरख पगु धरना
चरपट कहै सुनहु रे सिधो हठि करि तपु नहीं करना
जाणि के अजाणि होय बात तू ले पछाणि
चेले होइआ लाभु होइगा गुरू होइआ हान।
अदरि गगा बाहरि गदा। तू की भूलिओ चरपट अधा।[1]

चौरंगीनाथ

चौरंगीनाथ ही 'पूरन भगत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये गोरखनाथ के शिष्य थे। इनकी वश-परपरा से संबध मे यह किंवदती भी है कि एक खत्रानी सुदरी जब सियालकोट के समीप आइक नदी में स्नान कर रही थी तो नाग वासुकि उसके गौर शरीर और अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए। उन दोनों के सयोग से उस खत्रानी सुंदरी को एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम शालिवाहन रक्खा गया। नाग वासुकि की सहायता से शालिवाहन बड़ा प्रतापी राजा हुआ और उसने अतुल वैभव प्राप्त किया। वह सियालकोट का राजा हुआ। उसी शालिवाहन के दो पुत्र हुए जिनमे ज्येष्ठ का नाम पूरन भगत हुआ। अपनी विमाता के प्रणत की अवहेलना करने के कारण इनकी आँखें फोड़ दी गई और हाथ पैर काट कर इन्हें कुएँ में डाल दिया गया। ये बारह वर्ष तक उसी कुए में पड़े रहे। बाद में गोरखनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ के प्रभाव से उन्हें सुदर शरीर से सपन्न (चौरगी) बनाकर किसी कुमारी की बटी हुई रस्सी के सहारे ऊपर खींचा।

---

१ गोरखनाथ एड मिडीवल हिंदू मिस्टिसिज़्म (डा० मोहनसिह) परिशिष्ट, पृष्ठ २३

ज्वालेन्द्रनाथ

ज्वालेन्द्रनाथ गोपीचन्द्र के गुरु थे। गोपीचन्द्र की माता मैनावती भी ज्वालेन्द्रनाथ से प्रभावित थी। मैनावती आध्यात्मिक दृष्टि से अपने पुत्र गोपीचन्द्र को चाहती थी किंतु गोपीचन्द्र ने इसका सांसारिक दृष्टि से दूसरा ही अर्थ लगाया। मैनावती के मनोभावों में ज्वालेन्द्रनाथ का हाथ देखकर गोपीचन्द्र ने ज्वालेन्द्रनाथ का प्राणान्त करने का निश्चय किया। उन्होंने ज्वालेन्द्रनाथ को कुएँ में डाल दिया किंतु वे मरे नहीं। अपने योगबल से वे कुएँ में समाधि लगाकर बैठ गए। गोरखनाथ ने कुएँ पर आकर ज्वालेन्द्रनाथ से निकलने की प्रार्थना की। ज्वालेन्द्रनाथ मौन रहे। तब गोरखनाथ ने गोपीचन्द्र की प्रतिमा कुएँ पर रख कर उनसे बाहर आने का आग्रह किया। गोरखनाथ जानते थे कि यदि स्वयं गोपीनाथ को कुएं पर खड़ा किया जायगा तो गोपीचन्द्र भस्म हो जायँगे। हुआ भी यही। श्री ज्वालेन्द्रनाथ के योग बल से गोपीचन्द्र की प्रतिमा जल कर भस्म हो गई। दुबारा प्रतिमा रखने पर भी ऐसा ही हुआ। अन्त में गोपीनाथ को अत्यंत विनय और प्रार्थना से खड़े करते हुए गोरखनाथ ने ज्वालेन्द्रनाथ को कुएँ से बाहर निकलने का अनुरोध किया। ज्वालेन्द्रनाथ प्रसन्न हुए और वे गोपीचन्द्र को अमरत्व का आशीर्वाद देते हुए कुएँ से बाहर निकले।

भर्तृनाथ

भर्तृनाथ का दूसरा नाम भर्तृहरि या भरथरी भी प्रसिद्ध है। ये जालन्धर-पा के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु से प्रार्थना की कि मुझे धर्म का कोई विशिष्ट चिह्न दीजिये। जालन्धर पा ने उनके कानों के मध्य में छेद कर उसमें कुण्डल डाल दिया। भर्तृनाथ के योग-धारण के संबंध में कथा है कि वे एक बार शिकार खेलने के लिए गए। उन्होंने शिकार में देखा कि किसी शिकारी (पारधी) को नाग ने काट लिया। पारधी की स्त्री अपने पति को चिता पर रख कर और अपने मांस को काट काट कर सती हो गई। यह दृश्य देखकर भर्तृनाथ ने अपनी

अपनी रानी पिंगला की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने यह कथा पिंगला से कही। पिंगला ने कहा कि 'मैं तो तुम्हारी मृत्यु का संवाद मात्र सुनते ही सती हो जाऊँगी। कुछ दिनों बाद जब भर्तृहरि फिर शिकार को गए तो उन्होंने झूठमूठ अपनी मृत्यु का संवाद प्रचारित कर दिया। रानी पिंगला संवाद सुनते ही चिता में भस्म हो गई। घर आकर भर्तृहरि ने जलती हुई चिता देखी। वे शोक में डूब गए। उसी समय वहाँ गोरखनाथ पहुँचे। उन्होंने यह दृश्य देखकर अपना भिक्षा पात्र जमीन पर गिर जाने दिया। जब वह भिक्षा पात्र गिर कर टूट गया तो वे भर्तृहरि की भाँति ही रोने लगे। भर्तृहरि ने कहा कि "भिक्षापात्र के टूटने पर आप क्यों रोते हैं? वह तो दूसरा भी मिल सकता है।" गोरखनाथ ने "कहा आप पिंगला की मृत्यु पर क्यों रोते हैं? पिंगला तो फिर जीवित हो सकती है।" गोरखनाथ ने चिता पर जल डाल दिया और चिता से २५ रानियाँ पिंगला रूप से उठ खड़ी हुईं। दुबारा जल डालने पर केवल एक पिंगला रानी रह गई। भर्तृहरि का मोह दूर हुआ और वे योगी हो गए। पिंगला से माता कह कर उन्होंने भिक्षा प्राप्त की और गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया।

गोपीचन्दनाथ

गोपीचन्द का विवरण ज्वालेन्द्रनाथ के प्रसंग में आ ही गया है। गोपीचन्द ने जब राज्य छोड़ा तो उनकी रानियों, पुत्रियों, और माता ने उन्हें रोकने का बहुत प्रयत्न किया किंतु उन्होंने स्नेह-बन्धन तोड़ कर योग-साधना में ही जीवन की सार्थकता समझी। भर्तृहरि और गोपीचन्द के नाम से जनता में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। इन लोक गीतों में संसार की नश्वरता और वैभव-विलास की निस्सारता बड़े भावनामय शब्दों में कही गई हैं। साथ ही योग के सिद्धान्तों को अत्यंत व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है। भर्तृहरि और गोपीचन्द के गीतों ने शताब्दियों तक जिस धार्मिक

जीवन में आस्था रखने का संदेश दिया है, वह बड़े बड़े तत्ववादियों द्वारा नहीं दिया जा सका।

इन लोक-गीतों ने नाथ संप्रदाय के प्रभाव को जनता के हृदयों में दूर तक पहुँचा दिया और योग की कठिन साधनाएँ भी जीवन के लिए अत्यंत हितकर रूप में उपस्थित हो सकीं।

गोरखनाथ के शिष्यों ने बहुत सी रचनाएँ की हैं, पर वे किसी शिष्य विशेष के नाम से सम्बद्ध नहीं हैं, जिस प्रकार कबीर के शिष्य धर्मदास की रचनाएँ हैं। कहा जाता है कि गोरखनाथ के किसी शिष्य ने 'काफिर बोध' और 'अवलि सलूक' नाम की रचनाएँ 'किसी बादशाह' का ध्यान आकृष्ट करने के लिए की थीं। उस समय जब मुसलमानों का धार्मिक अत्याचार बढ़ रहा था, गोरखनाथ के शिष्यों ने उसका विरोध अपनी रचनाओं द्वारा किया था। उन्होंने इस बात की घोषणा की थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रभु के सेवक है और योगी उन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखते।[1]

अतः जहाँ गोरखनाथ के शिष्य एक ओर योग के द्वारा धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर वे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर कुछ छन्द भी लिख दिया करते थे। उन्होंने ऐसी रचना कितनी की है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ और उनके शिष्यों के ग्रन्थों की पूरी खोज होने पर ही उनकी शैली पर विश्वस्त रूप से प्रकाश डाला जा सकेगा।

---

१. हिन्दू मुसलमान खुदाइ के बन्दे। हम जोगी न रखें किस ही के छन्दे॥

—काफ़िर बोध, ६

दि निर्गुन स्कूल अव् हिन्दी पोयेट्री—पृष्ठ ६

—डा० पीताम्बरदत्त बड़्थ्वाल,

२—शृंगारी और मनोरंजक साहित्य

सिद्ध और जैन कवियों ने यद्यपि धार्मिक जीवन की व्यवस्था की ओर पूर्ण बल से जनता का ध्यान आकर्षित किया था तथापि उन्होंने अपने लक्ष्य की ओर चलते हुए संसार की पूर्ण उपेक्षा नहीं की थी। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में लौकिक जीवन के विकारों की ओर सकेत अवश्य किया था; और यह सकेत अपने समस्त पार्थिव आकर्षणों के साथ था। किसी भी रोग का निदान उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके लक्षणों की पूर्ण व्याख्या न कर दी जावे। इसी प्रकार ससार की माया का तिरस्कार उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि माया के समस्त आकर्षणों और प्रलोभनों की व्याख्या करते हुए उनके पाश से मुक्त होने का उपाय न बतला दिया जावे। ऐसे ही प्रसंगों में सिद्ध और जैन कवियों ने क्रमशः रूपकों और कथानकों का आश्रय लेकर माया के आकर्षणों की ऐंद्रिकता का परिपूर्ण चित्रण किया है। माया के आकर्षणों मे नारी प्रमुख है। अत: नारी का रूप-वर्णन, उसकी वेष-भूषा, उसके संयोग और वियोग की अवस्थाएँ, उसके हास-विलास में ऋतु-वर्णन आदि विषयों पर संधिकाल के सिद्ध और जैन कवियों ने यथेष्ट लिखा है। यह बात अवश्य है कि उन्होंने इन समस्त आकर्षणों की नश्वरता दिखलाकर उनके सौन्दर्य और वैभव को नींव में डाल कर अपने आध्यात्मिक जीवन का प्रासाद खड़ा किया है। उन्होंने 'प्रेय' को साधना में रख कर 'श्रेय' की सिद्धि की ओर संकेत किया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने 'प्रवृत्ति' का परिष्कार कर 'निवृत्ति' का पथ प्रशस्त किया।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कवियों का भी वर्ग था जिन्होंने संसार के सौन्दर्य वर्णन में एकमात्र लौकिक दृष्टिकोण ही लिया है। उन्होंने ससार के वस्तुवाद का यथातथ्य चित्रण करते हुए जीवन की उपयोगिता और उसकी नैतिक दृष्टि की ओर ध्यान दिया। उन्होंने संयोग और वियोग के बड़े हृदयाकर्षक चित्र खींचे। ऐसे चित्रों में

प्रकृति-वर्णन और उसके अनुरूप संयोग या वियोग की बड़ी सुंदर मनोवैज्ञानिक झाँकियाँ हैं। कभी कभी केवल मनोरंजनार्थ कौतूहल जनक शब्द-चमत्कार भी प्रस्तुत किये गए हैं। ऐसे कवियों में तीन प्रमुख हैं—अब्दुर्रहमान, बब्बर और अमीर ख़ुसरो। संभव है, इन कवियों के अतिरिक्त और भी कवि हुए हों किन्तु सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आन्दोलनों ने उन्हें विस्मृति के गर्त में डाल दिया है। इन तीनों कवियों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना उचित है।

अब्दुर्रहमान जुलाहा-वंश में उत्पन्न एक यशस्वी मुसलमान कवि थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १०६७ है। ये मुल्तान निवासी थे।

अब्दुर्रहमान

इनकी कविता पर भारतीय आदर्शों का बड़ा प्रभाव है। यद्यपि ये मुसलमान थे तथापि इनकी कविता में हिन्दू संस्कारों की आत्मा निवास कर रही है। इनका सनेह-रासय (संदेश रासक) ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसमें एक वियोगिनी का संदेश विविध ऋतुओं के उद्दीपन से बड़े स्वाभाविक क्रिया-कलापों में वर्णित है। अब्दुर्रहमान की कविता में प्रौढ़ता तथा सजीवता है। इनकी शैली विशेष मँजी हुई है। कविता को देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की होगी जो अब प्राप्त नहीं हैं। उनकी रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

कहवि इय गाह पथिय ! मनाएवि पिउ।
दोहा पच कहिज्जसु, गुरु विणएण सँउ॥
पिअ विरहानल सतविउ, जइ वचइ सुरलोइ।
तुअ छड्डिवि हिय अट्ठियह त परवाडि ण होइ॥
कंत जु तइ हिअयट्ठियह, विरह विडंबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ परपरिहव-संताउ॥
गरुअउ परिहवु किन सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगिहि न विलसियउ ते दद्धा विरहेण॥

विरह परिग्गह छायडइ, पहराविउ निरक्खिख ।
तट्टी ते हण हउ हियउ, तुअ समाणिय पिक्खि ॥
महण समत्थिम विरह सउ त अच्छहु विलवति ।
पालीरूअ पमाण पर धण सामिहि वुम्मति ॥
सदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ ।
जो कागुलि मूँदडउ सो बाहडी समाइ ॥

ल्हसिउ असु उद्धसिउ, अगु विलुलिय अलय,
हुय उव्विर बयण खलिय बिअरीय गय ।
कुकुम कणय सरिच्छ कति कसिणा वरिया,
हुइय मुंघ तुय विरहि णिसायर णिसियरिया ॥[1]

बब्बर

बब्बर का आविर्भाव काल स० ११०७ माना गया है। ये राजा कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इनका निवास स्थान त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर, मध्यप्रान्त) था इनकी रचना-शैली भी प्रौढ़ है। इनका कोई विशिष्ट ग्रथ देखने मे नहीं आता, स्फुट रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं। इन्होंने नारी का जो सौन्दर्य वर्णन किया है, उसका नमूना देखिए :—

रे धणि ! मत्त मअगज गामिणि, खजण लोअणि चदमुही ।
चचल जोब्बण जात ण जाणहि, छइल समप्पहि काइ णही ॥
सुदर गुज्जरि णारि, लोअण दीह विसारि ।
पीण पओहर भार लोलिअ मोत्तिअ हारि ॥
हरिण सरिस्सा णअणा, कमल सरिस्सा वअणा ।
जुवअण चित्ता हरिणी, पिय सहि दिट्टा तरुणी ॥
चल कमल णअणिआ, खलिअ थण वसणिआ ।
हसइ पर णिअलिआ, असइ धुअ बहुलिआ ॥

---

१ हिंदी काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन (किताब महल, इलाहाबाद) पृष्ठ २६६—८

महामत्त काअंग पाए ठवीआ।
महा तिक्ख बाणा कडक्खे धरीआ॥
भुआ पास भौंरा धणूहा समाणा।
अहो णाअरी काम राअस्स सेणा॥

संधि काल की संध्या में अमीर ख़ुसरो ने साहित्य को विविध रगों से रंजित किया। जब कि लौकिक साहित्य के आदर्श निश्चित नहीं थे और रचनाएँ धर्म या राजनीति के संकेतों

अमीर खुसरो

पर नाचती थीं, उस समय विनाद और मनोरंजन की प्रवृत्तियों को जन्म देना साधारण काम नहीं था। यही अमीर ख़ुसरो की विशेषता थी। साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति अपभ्रंश मिश्रित काव्य की रचनाओं तक ही सीमित थी पूर्व में उससे भी गभीर धर्म की भावना गोरखनाथ के शिष्यो द्वारा प्रचारित हो रही थी, उस समय अमीर ख़ुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्म-शासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त कर आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमंडल में विहार करने की स्वतंत्रता देना। यही अमीर ख़ुसरो की मौलिकता थी।

साहित्य जिस पथ पर चल रहा था, उस पथ का अनुसरण ख़ुसरो ने नहीं किया, यद्यपि उन्होंने अपने समय के इतिहास की रक्षा अपनी रचनाओं में अवश्य की। अपनी 'क़िरानुस्सादैन' नामक मसनवी में उन्होंने चगेज ख़ाॅ के नेतृत्व में मंगोलों के आक्रमण का वर्णन किया है। यह वर्णन अतिरंजित अवश्य है, क्योंकि खुसरो मंगोलो के द्वारा कैद कर लिये गए थे और वहुत सताए गए थे।[1]

काव्य की दो भाषाएँ अभी तक मान्य थीं। एक तो राजस्थानी जिसमें डिंगल काव्य की रचना हो रही थी और दूसरी अपभ्रंश से

---

१. मिडीवल इंडिया (डा० ईश्वरीप्रसाद), पृष्ठ १७१

निकली हुई हिन्दी जिसमे सिद्ध और जैन कवियो की रचनाएँ ये दोनों साहित्यिक भाषाएँ हो गई थीं। अमीर ख़ुसरो साधारण की खड़ी बोली भाषा को साहित्यिक रूप देने में स पहले सफल हुए। इस सम्बन्ध मे इतिहास के सामने उनकी र यथेष्ट मात्रा में है।

अमीर ख़ुसरो का वास्तविक नाम अबुलहसन था। इनकी का प्रतिभा की चकाचौंध मे अबुलहसन बिलकुल ही विस्मृत होकर गया। 'अमीर ख़ुसरो' नाम ही सब जगह प्रसिद्ध हो गया। उ जन्म एटा ज़िला के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० मे हुआ बालकपन ही मे ये शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य हो गए ये बलबन के दरबार मे उसके पुत्र मुहम्मद के काव्य विनोद के नौकर रख लिए गए। धीरे-धीरे बढ़कर ये दरबार के राजकवि गए। इन्होंने अपने जीवन-काल मे राजनीतिक हलचलों का जि अधिक अनुभव किया था, उतना हिन्दी के किसी भी कवि ने किया। गुलाम वंश के पतन से लेकर इन्होंने तुगलक वंश का आर तक देखा था। ख़िलजी वंश का शासन-काल तो इनके जीवन-क का मध्य युग था। इस प्रकार इन्होंने दिल्ली के सिंहासन पर ग्या बादशाहों का आरोहण देखा था। दरबारी होने के कारण इन कविता मुसलमानी आदर्शों के आश्रय मे पोषित हुई। यही का है कि वह बड़ी रसीली और मनोरंजक है। फ़ारसी के अप्र विद्वान् होते हुए भी इन्होंने हिन्दी की उपेक्षा नहीं की— हिन्दी की, जो दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। अनाय ही इन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को प्रथम बार कविता मे स्थान दिय यही कारण है कि ये खड़ी बोली के आदि कवि कहे जाते है इस प्रकार ये युग-परिवर्तनकारी हुए। जब निज़ामुद्दीन औलिया मृत्यु हुई तो ये बड़े दुःखित हुए। उसी शोक में संवत् १३८२ इनकी मृत्यु हो गई।

ख़ुसरो ने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया। जहाँ इन्हों

फ़ारसी में अनेक मसनवियाँ लिखीं,[1] वहाँ हिन्दी को भी नहीं भुलाया। इन्होंने खड़ी बोली हिन्दी में कविता कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया और ख़ालिकबारी की रचना कर हिन्दी, फारसी और अरबी को परस्पर समझने का मौक़ा दिया। उसमें हिन्दी, अरबी और फ़ारसी के समानार्थवाची शब्दों का समूह है, जिससे इन तीनों भाषाओं का ज्ञान सरल और मनोरंजक हो गया है।

अभी तक साहित्य किसी नरेश के यशोगान में अथवा जीवन के महत्वपूर्ण गंभीर स्वरूप के वर्णन ही में अपनी सार्थकता समझता था, पर खुसरो ने साहित्य में ऐसे भावों की सृष्टि की जिनसे साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल गया। साहित्य जीवन की मनोरंजक वस्तु हो गया। ऐसा हिन्दी साहित्य में पहली बार हुआ।

ख़ुसरो ने हिन्दी को किसी प्रकार भी अरबी या फ़ारसी से हीन और तुच्छ नहीं माना। वे अपनी 'आशिका' नामक रचना में हिन्दी की प्रशंसा जी खोल कर करते हैं :—

"किन्तु मेरी यह भूल थी, क्योंकि यदि आप इस विषय पर अच्छी तरह से विचार करें तो आप हिन्दी भाषा को फारसी से किसी प्रकार भी हीन न पावेंगे। वह भाषाओं की स्वामिनी अरबी से कुछ हीन अवश्य है, पर राय और रूम (परशिया के शहर) में जो भाषा प्रचलित है, वह हिन्दी से हीन है। यह मैंने बहुत विचारपूर्वक निर्धारित किया है।

---

१. मसनवी क़िरानुस्सादैन, मसनवी मतलउल अनवार, मसनवी शीरीं व खुसरो, मसनवी लैली व मजनूँ, मसनवी आईने इस्कन्दरी, मसनवी हश्त विहिश्त, मसनवी खिजनामह, मसनवी नुह सिपहर, मसनवी तुगलक़ नामा आदि।

दि हिस्ट्री अव् इंडिया (हेनरी इलियट) भाग ३, पृष्ठ ५५६

'हिन्दी अरबी के समान है क्योंकि इन दोनों में से कोई भी मिश्रित नहीं है। यदि अरबी मे व्याकरण और शब्द-विन्यास है तो हिन्दी में भी वह एक अक्षर कम नहीं है। यदि आप पूछें कि उसमें काव्य-शास्त्र है तो हिन्दी किसी प्रकार भी इस क्षेत्र में हीन नहीं है। जो व्यक्ति तीनों भाषाओं का ज्ञाता है, वह समझ लेगा कि मैं न तो भूल कर रहा हूँ और न अतिशयोक्ति ही।"[1]

ख़ुसरो की भाषा के सम्बन्ध में डॉक्टर सैयद महीउद्दीन कादरी का कथन इस प्रकार है :—

"यह वह जमाना है कि हिन्दोस्तान के हर हिस्से मे अज़ीमुश्शान लिसनी इन्क़िलाबात हो रहे थे और नई ज़बानें आलमेंवुजूद में आ रही थीं। चुनाँचे ख़ुसरो ने भी इन तब्दीलियों की तरफ़ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ व अक्नाफ़ जो बोलियाँ इस वक़्त मुरव्वज थीं उनके मुख्तलिफ़ नाम गिनाए हैं।...इनकी ज़बान ब्रजभाषा से मिलती-जुलती है। यह यक़ीन के साथ नहीं कहा जा सकता कि जिस ज़बान में वह शाअ़रगोई करता था वह वही थी जो आम तौर पर हिन्दू मुसलमान बोलते थे।"[2]

डॉक्टर साहब अपने वक्तव्य में भूल कर गए हैं। ख़ुसरो की ज़बान ब्रजभाषा नहीं थी। ब्रजभाषा के शब्दों का आ जाना ही ब्रजभाषा नहीं है। जब तक किसी भाषा के क्रियापद और कारक-चिह्नादि व्याकरण की दृष्टि से प्रयुक्त न हों तब तक उस भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं माना जा सकेगा। यही बात ख़ुसरो की कविता में है।

---

१ दि हिस्ट्री अव् इंडिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, दि मुहमडन पीरियड, भाग ३, परिशिष्ट, पृष्ठ ५५६ (हैनरी इलियट)

२ उर्दू शह पारे (जिल्द अव्वल) पृष्ठ १०
मक्तबए इब्राहीमिया, हैदराबाद, दखन
डॉक्टर सैयद महीउद्दीन क़ादरी एम० ए०, पी-एच० डी०

शब्द चाहे ब्रजभाषा के भले ही हों पर क्रिया और कारक-चिह्न आदि खड़ी बोली के हैं। ऐसी स्थिति में ख़ुसरो की भाषा को ब्रजभाषा न मान कर खड़ी बोली मानना ही अधिक समीचीन होगा।

डॉक्टर क़ादरी तो ख़ुसरो को खालिकबारी का कर्त्ता मानने में भी सन्देह करते हैं। वे कहते हैं :—

"आम तौर पर अमीर खुसरो को ख़ालिकबारी का जो हिन्दुस्तानी और इस्लामी ज़बानों की एक मन्ज़ूम फरहंग है, मुसन्निफ समझा जाता है। मगर हाल ही में ख़ास तौर पर महमूद शेरानी की तहक़ीक़ और तफतीश से यह साबित हो चुका है कि यह बहुत बाद के ज़माने की किताब है।"[१]

जब तक कि महमूद शेरानी की तहक़ीक पर पूर्ण विचार न हो जावे तब तक इस सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है।

डॉ० ईश्वरीप्रसाद ख़ुसरो के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"ख़ुसरो केवल कवि ही नहीं था, वह योद्धा भी था और साथ ही क्रियाशील मनुष्य भी। उसने अनेक चढ़ाइयों में भाग भी लिया था, जिनका वर्णन उसने अपने ग्रन्थों में किया है। उसके ग्रन्थों की विस्तृत समालोचना करना यहाँ असम्भव है, क्योंकि उसके लिए तो एक ग्रन्थ अलग ही चाहिए। इतना कहना पर्याप्त होगा कि वह एक प्रतिभावान कवि और गायक था, जिसकी कल्पना की उड़ान भाषा के साधन से विषयों की विविध रूपावली लिए हुए है। जिस चकित कर देने वाली सरलता और सौन्दर्य से वह मानवी उद्वेगों और रागात्मक प्रवृत्तियों का वर्णन करता है तथा प्रेम और युद्ध की चित्रावली प्रस्तुत करता है, वह उसे सर्वकालीन महाकवियों की पंक्ति में बिठलाने में समर्थ है। वह गद्य-लेखक भी था और यद्यपि

१—उर्दू शहपारे, जिल्द अव्वल, पृष्ठ १०

हम उसकी शैली मे मार्दव नहीं पाते, क्योंकि उसके 'खजायन-उल-फ़तूह' में अर्थ कल्पनातीत हो गया है, तथापि वह गद्य-काव्य का आचार्य कहा जा सकता है। कवि होने के अतिरिक्त खुसरो गायनाचार्य भी था। वह सङ्गीत-शास्त्र का ज्ञाता था, जैसा कि १४वीं शताब्दी के गायक गोपालनायक के साथ उसके वाद-विवाद से ज्ञात होता है।"[१]

डा० ईश्वरीप्रसाद आदि विद्वानों ने खुसरो की प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में की है। उन्होंने उसे ससार के सर्वश्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में बिठला दिया है। उसने जीवन का जो चित्रण किया है, उसके लिए उसे महाकवि या कवियों में राजकुमार (The Prince among Poets) कहा है। खुसरो की जो कविता हमें प्राप्त है, उसमें तो जीवन की विवेचना नहीं के बराबर है। सम्भव है, उसने फारसी में जो रचनाएँ की हैं, उनमें जीवन की महान समस्याओं पर प्रकाश डाला हो, अथवा हिन्दी में ही कुछ रचनाएँ इस प्रकार की हों, जो अब अप्राप्त हैं। पर जितनी कविता खुसरो की आज तक प्राप्त हो सकी है, उसमें तो जीवन के किसी गम्भीर तत्व का निरूपण नहीं है, उसमें जीवन की विवेचना भी नहीं है। उसमें न तो हृदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई सन्देश ही। वह केवल मनोरजन की सामग्री है। जीवन की गम्भीरता से ऊब कर कोई भी व्यक्ति उससे विनोद पा सकता है। पहेलियों, मुकरियों और दोसखुनों के द्वारा उन्होंने कौतूहल और विनोद की सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो उस विनोद में अश्लीलता भी आ गई है। उन्होंने दरबारी वातावरण में रह कर चलती हुई बोली से हास्य की सृष्टि करते हुए हमारे हृदय को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। खुसरो की कविता का उद्देश्य यहीं समाप्त हो जाता है।

खुसरो ने जो सबसे बड़ा काम किया है, वह यह कि उन्होंने

१—मिडीवल इडिया (डा० ईश्वरीप्रसाद), पृष्ठ ३१६

तत्कालीन काव्य आदर्शों में न बँध कर जन-साधारण की बोली में हिन्दी रचना की। इससे हम तत्कालीन बोलचाल की भाषा का स्वरूप जान सकते हैं। काव्य-आदर्शों के कारण भाषा कहीं-कहीं कृत्रिम हो जाया करती है। भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए उसे अलङ्कारों से सम्बद्ध करना एक प्रयास हो जाता है; उसकी शब्दावली सुसंस्कृत और तत्सम हो जाती है। पर जनसाधारण की भाषा में स्वाभाविकता और प्रवाह पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता। वह हृदय की वस्तु होती है और उसमें सजीवता रहती है। यही विशेष गुण ख़ुसरो की हिन्दी कविता में है। दिल्ली की खड़ी बोली हिन्दी कितने सरस, स्वाभाविक और मनोमोहक रूप में लिखी जा सकती है, यह ख़ुसरो की कविता से भली प्रकार ज्ञात हो सकता है। काव्य के आदर्श की भाषा न लेकर जन-समाज की भाषा ग्रहण करने मे ही ख़ुसरो की विशेषता है।

ख़ुसरो ने दूसरा काम यह किया कि उन्होंने साहित्य की तत्कालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों में फारसी के समान सिंहासन पर हिन्दी को आसीन किया। ख़ालिक़बारी कोष लिख कर उन्होंने अरबी, फ़ारसी और हिन्दी की त्रिवेणी को जन्म दिया। इन तीनों के पर्यायो से इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं की भाषा और संस्कृति जोड़ने का प्रयत्न किया। यदि यथार्थ में पूछा जावे तो उर्दू का जन्म ख़ुसरो की कविता मे ही हुआ। उसमें अरबी और फारसी शब्द हिन्दी कविता में सादर बिठलाये गए है। यद्यपि ख़ुसरो ने हिन्दी को अरबी के समान विशुद्ध और अमिश्रित भाषा ही माना है, तथापि उन्होंने अपनी नवीन हिन्दी शैली में उसे अरबी, फारसी से मिश्रित अवश्य कर दिया है। यहीं से उर्दू का प्रारम्भ होता है। आँख की पहेली में ख़ुसरो की भाषा वर्तमान उर्दू से कितना साम्य रखती है :—

ऐनमैन है सीप की सूरत, आँखों देखी कहती है।
अन खावे ना पानी पीवे, देखे से वह जीती है॥

दौड़-दौड़ जमीं पर दौड़े आसमान पर उड़ती है।
एक तमाशा हमने देखा, हाथ पाँव नहिं रखती है॥[1]

भाषा का इतना चलता हुआ रूप होना ख़ुसरो की कविता के लिए घातक भी हुआ। बहुत सी पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रक्षिप्त रूप से ख़ुसरो की कविता में आ गईं और वे सब इस प्रकार मिल गईं कि उनको अलग करना बहुत कठिन हो गया। जहाँ भाषा की सरलता और उसके व्यावहारिक रूप ने ख़ुसरो की कविता को आज तक सजीव और सरस रक्खा, वहाँ उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी सन्देह को स्थान मिला।

ख़ुसरो की कविता निम्नलिखित धाराओं मे प्रवाहित हुई है :—

ऊपर कहा ही जा चुका है कि ख़ुसरो की कविता में गम्भीरता के लिए कोई स्थान नहीं। उन्होंने उसे विनोद और हास्य की प्रवृत्तियों से भर रक्खा है। यदि गम्भीर रचनाएँ

ग़ज़ल

उन्होंने की भी हों, जो जीवन की परिस्थितियों का उद्घाटन करती हैं, तो वे हमें अप्राप्य हैं। विरह वर्णन की एक गज़ल अवश्य प्राप्त है, जिसमें स्त्री के व्याकुल हृदय का चित्र है। पर उस गज़ल की एक पंक्ति में फारसी और दूसरी पक्ति मे ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली रक्खी हुई है, जिससे उस ग़ज़ल में विनोद की मात्रा आ ही जाती है। वह गज़ल इस प्रकार है :—

ज़े हाल मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाए बतियाँ।
कि तावे हिजराँ न दारम ए जा न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥
शबाने हिजराँ दराज़ चूं ज़ुल्फ़ व रोज़े वसलत चु उम्र कोताह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ॥
यकायक अज़ दिल दो चश्मे जादू बसद फ़रेबम बेबुर्द तसकीं।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी बतियाँ॥

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग २, सम्वत् १९७८), पृष्ठ २८३

चु शमअ सोज़ाँ चु ज़र्र. हैराँ हमेशः गिरियाँ बइश्क़ आँ मेह।
न नींद नैना न अङ्ग चैना न आप आए न भेजी पतियाँ॥
बहक्क़ रोज़े विसाल दिलवर कि दाद मा रा फरेब ख़ुसरो।
स पीत मन की दुराए राखूँ जो जान पाऊँ पिया की गतियाँ॥[1]

ख़ुसरो ने इतिहास भी लिखा है, पर वह सब फारसी भाष
है। उन्होंने मसनवियों में वर्णनात्मक ढग से तत

२. इतिहास

लीन राजनीतिक घटनाओं पर प्रकाश डाला
हिन्दी में इस प्रकार की कोई भी रचना प्र
नहीं है।

खुसरो ने फारसी, अरबी और हिन्दी का एक कोष लिख
जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। उस विशाल कोष का के
संक्षिप्त रूप ही मिलता है, जो 'खालिकबारी' नाम

३ कोप

प्रसिद्ध है। डॉक्टर कादिरी इसे खुसरो का लि
हुआ नहीं मानते। उनके अनुसार 'खालिकबा
खुसरो के बहुत बाद की रचना है।

खुसरो सङ्गीतज्ञ थे, अतः इन्होंने सङ्गीत पर भी कुछ लिखा
कहा जाता है कि बरवा राग में लय रखने की रं

४ सङ्गीत

इन्होंने ही प्रारम्भ की। कव्वाली में इन्होंने अ
नये राग निकाले जिनका प्रचार अभी तक है। इ
बसन्त के पद बहुत लोकप्रिय ही है।

पहेलियो के लिए तो ख़ुसरो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार की पहे
और मुकरी कहने वाला हिन्दी साहित्य में एक भी नहीं है,
क्षेत्र मे वे अद्वितीय हैं। इन पहेलियों में उ

५ पहेलियाँ

कौतूहल है, वहाँ रसिकता और विनोद की म
भी पूरी है। ये पहेलियाँ छः प्रकार की हैं:—

---

१ आबेहयात—(मुहम्मद हुसेन आज़ाद) नवाँ संस्करण १६
इस्लामिया स्टीम प्रेस, लाहौर

(अ) अन्तर्लापिका (जिसका उत्तर पहेली में ही छिपा हुआ है) उदाहरणार्थ :—

श्याम बरन और दाँत अनेक। लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री॥

(आरी)

(आ) बहिर्लापिका (जिसका उत्तर पहेली मे न होकर बाहर से सोचकर बतलाया जाय) जैसे :—

श्याम बरन की है एक नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी।
जो मानुस इस अरथ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले।

(भौं)

(इ) मुकरी (जिसमे एक प्रश्नोत्तर रहता है। 'ऐ सखी साजन ?' के रूप मे प्रश्न किया जाता है और उसका उत्तर निषेध कर (मुकर कर) दिया जाता है। इसीसे इसका नाम 'मुकरी' पड़ा। अलङ्कार शास्त्र में उसे अपह्नुति कहते हैं) जैसे :—

मेरा मोसे सिङ्गार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत।
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा,
ऐ सखी साजन ? ना सखि सीसा॥

(ई) दो सखुना (जिसमें दो या तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर हो) जैसे:—

रोटी क्यों सूखी ?
बस्ती क्यों उजड़ी ?
—खाई न थी।

सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई ?
—परदा न था।

(उ) बराबरी या सम्बन्ध (जिसमें दो अर्थों के शब्दों को कौतूहल के साथ घटित किया जाय) जैसे:—

१. घोड़े और बजाज़ में क्या सम्बन्ध है ? उत्तर—थान, ज़ीन।

२ आदमी और गेहूँ ,, ,, बाल।

३. गहने और दरख़्त में ,, ,, पत्ता।

(ऊ) ढकोसला (जिसमें बेमतलब शब्दावली हो जैसे:—

पीपल पकी पपोलियाँ, झड़ झड़ पड़े हैं बैर।
सर में लगा खटाक से, वाह वे तेरी मिठास॥
ला पानी पिला

चारणकालीन रक्तरञ्जित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धत स्वरों में गूँज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म-शासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर ख़ुसरो की विनोदपूर्ण कविता हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर ख़ुसरो अपनी मौलिकता के लिए सदैव स्मरणीय रहेगा।

३—प्रेम-कथा साहित्य

ख़ुसरो का नाम जब समस्त उत्तरी भारत में एक महान् कवि के रूप में फैल रहा था, उसी समय मुल्ला दाऊद का नाम भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आता है। मुल्ला दाऊद

मुल्ला दाऊद की एक प्रेम-कहानी प्रसिद्ध है, उसका नाम है 'चंदावन' या 'चदावत'। यह ग्रंथ अभी तक अप्राप्य है[1] और इसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह कथा

---

१. इसकी एक प्रति बीकानेर में प्राप्त हुई। किंतु इस प्रति की प्रामाणिकता में अभी डा॰ धीरेन्द्र वर्मा को सन्देह है।

मुसलमान लेखक के द्वारा लिखी जाने के कारण मसनवी के आधार पर लिखी गई होगी। अमीर खुसरो ने स्वय कई मसनवियॉ लिखी हैं और वे उस समय के साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बहुत सम्भव है, मुल्ला दाऊद ने भी उन्हीं मसनवियों की शैली में अपनी प्रेमकथा लिखी हो। इस प्रेमकथा का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि इसी प्रेम-परम्परा को लेकर प्रेम-साहित्य के कवि कुतुबन, मझन, जायसी, आदि ने अपनी प्रेम-कथाएँ लिखीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रेम-कहानी मे कोई आध्यात्मिक व्यजना है या नहीं, अथवा सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है या नहीं, जैसा कि परवर्ती प्रेम-काव्य के कवियों ने किया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'चदावन' की भापा का क्या स्वरूप है। यदि इस प्रेम-कथा की कोई प्रामाणिक प्रति मिल सकी तो वह प्रेम-काव्य की परम्परा पर यथेष्ट प्रकाश डालने मे सहायक हो सकेगी।

मुल्ला दाऊद अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन था। अलाउद्दीन खिलजी सन् १२९६ में राजसिंहासन पर बैठा।[1] उसकी मृत्यु २ जनवरी सन् १३१६ में हुई।[2] अत अलाउद्दीन खिलजी का राजत्व-काल सन् १२९६ से सन् १३१६ (स० १३५३ से स० १३७३ तक मानना चाहिए। इसके अनुसार मुल्ला दाऊद का कविता-काल सवत् १३७५ के आसपास ही है। श्री मिश्रबन्धु मुल्ला दाऊद का कविता-काल सं० १३८५ मानते हैं और डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल स० १४९७ (सन् १४४०)। श्री मिश्रबन्धु द्वारा दिया हुआ सम्वत् तो किसी प्रकार माना भी जा सकता है पर डॉ० बड़थ्वाल द्वारा दिया हुआ संवत् तो अलाउद्दीन के बहुत बाद का है। वे मुल्ला दाऊद का आविर्भावकाल सन् १४४० मानते हुए उसे अलाउद्दीन खिलजी का

---

१ मिडीवल इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद) पृष्ठ २३९

२. वही, पृष्ठ २०८

समकालीन मानते हैं ।[1] अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु तो सन् १३१६ में ही हो गई थी। फिर यदि मुल्ला दाऊद सन् १४४० में हुआ तो वह अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन कैसे हो सकता है ? अतः डा० बड़थ्वाल का दिया हुआ मुल्ला दाऊद का समय अशुद्ध है।

अस्तु, संधि काल के उत्तरकाल में डिंगल साहित्य के अस्पष्ट प्रवाह के साथ पाँच महान कवि हुए। गोरखनाथ, अब्दुर्रहमान. बब्बर, अमीर खुसरो और मुल्ला दाऊद। इन सभों ने भिन्न भिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं। गोरखनाथ ने हठयोग साहित्य संबंधी, अब्दुर्रहमान और बब्बर ने शृङ्गार संबंधी, अमीर ख़ुसरो ने मनोरंजक साहित्य संबंधी और मुल्ला दाऊद ने प्रेम-कथा साहित्य संबंधी। इस प्रकार संधि काल के उत्तर युग की प्रवृत्तियाँ परस्पर किसी प्रकार साम्य नहीं रखतीं। इतना अवश्य ही मान लिया जा सकता है कि प्रेम-कथा साहित्य संबंधी रचनाओं का सूत्रपात शृङ्गार साहित्य संबंधी मनोवृत्ति से हुआ। प्रेम-कथा साहित्य में जो लौकिक दृष्टिकोण वर्तमान है, वही शृङ्गार संबंधी साहित्य में भी है। दोनों का उद्भव एक ही मनोविज्ञान से होता है। अंतर केवल इतना ही है कि शृङ्गार संबंधी साहित्य मुक्तक या अधिक से अधिक वर्णनात्मक है और प्रेम-कथा साहित्य घटनात्मक और इतिवृत्तात्मक है। इन समस्त साहित्यिक प्रयोगों में सब से बड़ी बात यह है कि प्रत्येक शैली का अपना व्यक्तित्व या वर्ग है और इससे संधिकालीन साहित्य इन्द्रधनुप की भाँति विविध रंगों की रेखाओं में समानान्तर होते हुए भी अलग अलग है। उसकी विविधता में ही सौन्दर्य है।

संधिकाल के साहित्य का सिंहावलोकन

संधिकाल हमारे साहित्य के इतिहास में ऐसा पुण्य पर्व समझा जाना चाहिए जिसमें शताब्दियों की धार्मिक, दार्शनिक और

---

[1] दि निर्गुण स्कूल अव् हिन्दी पोयेट्री (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) पृष्ठ १०

सांस्कृतिक परंपराएँ हमारी भाषा मे अवतरित हुईं और उनके द्वारा जन-मत के विकास का पूर्ण इतिहास हमे प्राप्त हुआ। संसारव्यापी धर्मों का अपने समस्त चिन्तन और अनुशीलन पक्ष से जन-भाषा में रूपान्तरित होना हमारे साहित्य के लिए गौरव का विषय है। यह बात दूसरी है कि हमारी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी न रही हो जिसमें इतने उदात्त विचारों की अभिव्यक्ति सफलता पूर्वक हो सके। उस समय भाषा विकास के पथ पर अग्रसर हो रही थी। उसमें नवीन जीवन के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह अपने पुराने पल्लवो को छोड़ कर नूतन किसलयों से सुसज्जित होती हुई वसत-श्री की शोभा धारण करने जा रही थी। यद्यपि उस समय की हमारी जन-भाषा संस्कृत या पाली की उत्कृष्टतम साहित्यिक गरिमाओं से संपन्न नहीं थी तथापि यही क्या कम है कि वह अपने निर्माण-पथ पर शैशव की विकासोन्मुखी अनन्त शक्तियों से समन्वित थी। फिर एक बात और है। संधिकालीन साहित्य से हमें अपनी भाषा की शोभा-श्री की वैभवमयी गाथा भले ही प्राप्त न हो। हमें भाषा विज्ञान की दृष्टि से अपनी भाषा के इतिहास की क्रमबद्ध रूपरेखा तो प्राप्त होती ही है। इस प्रकार सधिकालीन साहित्य हमारे साहित्य का प्रारंभिक इतिहास होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस साहित्य का वर्ण्य विषय प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक है। इसके अतिरिक्त राजनीति के आश्रय से उसमें लौकिक विषयों पर भी रचनाएँ हुईं। शृङ्गार का उदय हुआ और जीवन के आमोद प्रमोद के साथ मनोरजक का सूत्रपात भी भी हुआ। इस भाँति सधि युग के साहित्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रेखा-चित्र से ज्ञात हो सकता है :—

वर्ण्य विषय
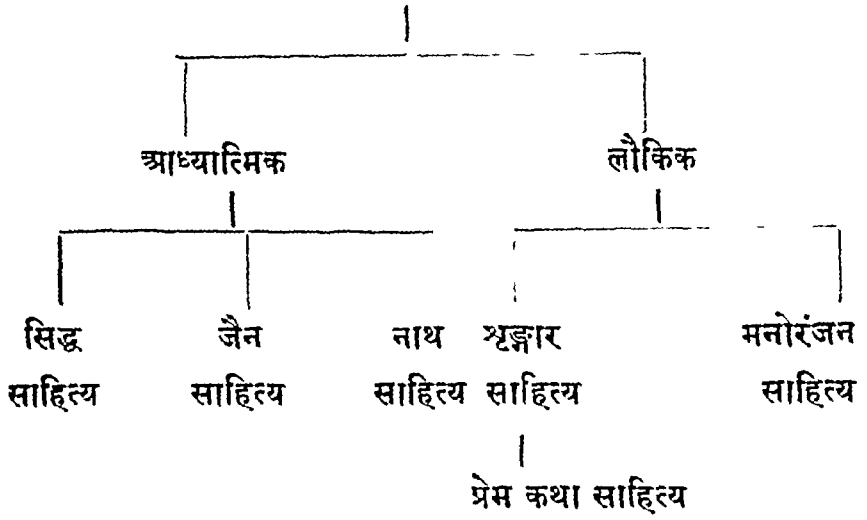
जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल का साहित्य प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक था। यह साहित्य प्रतिक्रियात्मक रूप से धार्मिक रूढ़ियों के विद्रोह में खड़ा हुआ। सिद्ध साहित्य वज्रयान के क्रोड में पोषित होकर भी उससे अनुशासित नहीं हुआ, वह सहजयान का मार्ग लेकर स्वतंत्र सा हो गया। जैन साहित्य अत्यंत प्राचीन होते हुए भी—बौद्ध धर्म के समानान्तर चल कर—श्रावकाचार के रूप में नैतिक मापदंडों के निर्माण में—शक्ति संपन्न हुआ। नाथ साहित्य शैव धर्म से स्फूर्ति पाकर सिद्ध-साहित्य के संशोधन मे और भी कृतकार्य हुआ। इस प्रकार इन सभी धर्मों में एक ऐसा वेग था जो अपने चारों ओर के वातावरण को परिष्कृत करने में पूर्ण सक्षम था। इन सभी धार्मिक आन्दोलनों में एक बात समान रूप से वर्तमान रही और वह यह कि इनमें अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के लिए कोई स्थान नहीं था। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करने तथा उन्हें स्वाभाविक क्षेत्रों में ले जाने का आदर्श सभी में मौजूद था। इस भावना के होते हुए भी इन तीनों के जीवनगत दृष्टिकोण में अन्तर था। सिद्ध-संप्रदाय प्रवृत्ति मार्गी था, जैन संप्रदाय प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से पूर्ण था और नाथ सप्रदाय संपूर्णतः निवृत्ति मार्गी था। किन्तु जीवन के लौकिक

पक्ष से साधना में बल प्राप्त करने की अंतर्दृष्टि तीनों में ही वर्तमान थी।

इन तीनो साम्प्रदायिक साहित्यों मे दार्शनिक पक्ष का महत्त्व भी भिन्न भिन्न है। जैनसाहित्य मे सबसे अधिक दार्शनिक तत्व हैं, इसके अनन्तर सिद्ध साहित्य में है फिर नाथ साहित्य में। ऐसा ज्ञात होता है कि युग के विकास के साथ दार्शनिक पक्ष निर्बल होता गया और व्यावहारिक पक्ष, सबलता प्राप्त करता गया। इसका कारण यह मालूम होता है कि बौद्ध और वैदिक धर्म परस्पर के संघर्षों में अपनी विजय के लिए जनमत की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे और जनमत के व्यावहारिक बुद्धि-तत्व से सबंध स्थापित कर अधिक से अधिक हृदयों में प्रवेश कर जाना चाहते थे। इस लिए बौद्ध और वैदिक धर्मो में अनेक वैकल्पिक सिद्धान्त प्रवेश करने लगे और शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हुए भी वे जनता के सामने क्रिया-पक्ष की सरलता लेकर आए। फल-स्वरूप उनमे व्यावहारिक पक्ष सबल हो गया। जैन धर्म को इस प्रकार का संघर्ष नहीं करना पडा। वह तो अपने उपासना मार्ग में सौम्य और वैराग्य पूर्ण जीवन से उपेक्षा भाव से रहा। इस लिए यद्यपि उसने जीवन के व्यवहार मे आने वाले क्रिया-कलापों पर ध्यान अवश्य दिया, श्रावकों और श्रमणों के लिए सिद्धान्त वाक्य निर्धारित किए तथापि उसके सामने आचार्यो द्वारा स्थिर किए गए ऐसे शास्त्रीय आदर्श रहे कि परवर्ती कवियो और सन्तों को पूर्व निश्चित साधनाओं से हटने का साहस ही नहीं हुआ।

इन धार्मिक सिद्धान्तों के साथ लौकिक जीवन के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति भी रही। जहाँ धार्मिक सिद्धान्तों के विवेचन मे लौकिक पक्ष रहा वहाँ वह केवल उपदेश का माध्यम ही रहा। लौकिक जीवन के रूपकों के आश्रय से धार्मिक जीवन का स्पष्टीकरण होता रहा। किन्तु जहाँ लौकिक जीवन स्वतत्र रूप से रहा, वहाँ तो कवियों ने अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने मे बड़ी स्वतन्त्रता के

साथ काम लिया। या तो प्रेम-कथाओं की सृष्टि की गई जिनमें शृङ्गार रस की बड़ी मोहक तरंगें उठाई गईं या संयोग या वियोग के ऐसे प्रसंग उठाए गए जिनमें लौकिक जीवन सत्य की स्थिरता लेकर भावनाओं में अमर हो गया। जहाँ ये दोनों बातें नहीं हुईं वहाँ केवल विनोद या मनोरंजन की सामग्री उपस्थित की गई। पहले प्रकार की रचनाओं में अब्दुर्रहमान और बब्बर का दृष्टि-कोण है और दूसरे प्रकार की रचनाओं में अमीर खुसरो का। किन्तु ऐसी रचनाएँ धार्मिक भावनाओं के सामने अधिक नहीं उभर सकीं। वे केवल राजदरबारों या किसी आश्रयदाता के प्रोत्साहन से ही लिखी जा सकीं। उनमें जनता के हृदय की ध्वनि नहीं थी, केवल नरेशों या विलासी-वर्ग के व्यक्तियों के विनोद या उच्छृङ्खल जीवन की प्रतिध्वनि मात्र थी। यदि ऐसा न होता तो अमीर खुसरो की बहुत सी पहेलियाँ और मुकरियाँ अश्लीलता की सीमा स्पर्श न करतीं।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि संधिकाल में आध्यात्मिक और लौकिक जीवन—दोनों पर ही रचनाएँ लिखी गईं और दोनों ही अपने क्षेत्रों में चरम स्थिति को पहुँची हुई हैं।

भाषा

संधि काल की भाषा अपभ्रंश से निकलती हुई आधुनिक भाषाओं के शैशव की स्थिति में है। इस प्रकार की भाषा में तीन बातें स्पष्टतः देखी जा सकती हैं.—

१ नवजात भाषा होने के कारण उसमें प्रयोगों की अनेक-रूपता है।

२ उसमे साहित्य के संस्कार नहीं देखे जाते। जब उसमे साहित्य की परिपाटियों का सूत्रपात ही होता है तो वह भावाभिव्यंजन की साधारण शैली ही लिए होती है।

३ उसमें पदावलीगत लालित्य कम रहता है।

४ प्राचीन भाषा की शैलियों का ही उसमे अनुकरण होता है।

सधिकाल की भाषा में ये चारों लक्षण पाये जाते हैं। नवजात होने के कारण वह अपनी परिस्थितियों से शासित है। वह अभी तक बड़े भू-भाग की मान्य भाषा-या काव्य भाषा नहीं हो पाई है। सिद्धों की वाणी मे वह मगही के रूप लिए हुए है, जैन कवियों की वाणी मे उस पर राजस्थानी प्रभाव है। अब्दुर्रहमान की रचना पर पश्चिमी प्रभाव है, बब्बर की रचना बुंदेलखडी से प्रभावित है और अमीर खुसरो की मुकरियाँ और पहेलियाँ दिल्ली की खडी बोली से शासित हैं। इन सभी कवियों ने किन्हीं विशिष्ट साहित्यिक सस्कारों से अपनी रचनाएँ नहीं लिखीं। यदि कुछ सस्कार हैं भी तो वे अपभ्रंश या फारसी के है। सरल भावाभिव्यञ्जन और भावों के अनुसार भाषा लिखने के प्रयास उनमे अवश्य देखे जा सकते हैं। सधिकाल मे नवीन भाषाओं का अस्तित्व दीख पड़ने लगता है। एक बात पर सहसा ध्यान आकर्षित हो जाता है और वह यह कि यदि अमीर खुसरो के बाद ब्रजभाषा के बजाय खड़ी बोली हिन्दी में नियमित और अविरत रूप से रचनाएँ होती रहतीं तो आज की खड़ी बोली हिन्दी कविता कितनी परिमार्जित हो गई होती, इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सधि काल की भाषाएँ अपने प्रगति के पथ पर अग्रसर हो गई थीं और उनमे जनभाषा होने के नाते इतनी अधिक गति आ गई थी कि धर्म की कृतियाँ आगे चल कर नवरसमयी हो सकीं।

रस

इस समय की रचनाओं मे शान्त और शृङ्गार ये दो रस प्रमुख हैं। गौंण रूप से हास्यरस भी अमीर ख़ुसरो की पहेलियों या मुकरियों द्वारा ध्यान आकर्षित करता है। धर्म की साधना में शान्त रस का उद्रेक पूर्ण सफलता के साथ हुआ है। लौकिक जीवन से सबध रखने वाले रूपकों में या प्रेम कथा की इतिवृत्तात्मकता मे शृङ्गार रस भी यथेष्ट मात्रा मे वर्तमान है। अमीर ख़ुसरो की कुछ रचनाओं मे शृङ्गार ही शृङ्गार है और मुल्लादाऊद ने तो अपनी प्रेम कहानी ही शृङ्गार का आधार

लेकर लिखी है। इसके बाद कौतूहल और विनोद में हास्य रस की सृष्टि हुई है। यदि प्रयास करके देखा जाय तो अद्भुत रस के दर्शन भी हो सकते हैं किन्तु यह रस केवल दो स्थानों पर वर्तमान है। पहला स्थान तो ईश्वरीय विभूति की आश्चर्य जनक सीमाओं के चित्रण में है और दूसरा स्थान गोरखनाथ की 'उल्टबाँसियों' में। किन्तु ऐसे स्थल अपेक्षाकृत कम ही हैं। महत्त्व के दृष्टिकोण से रसों का निम्नलिखित क्रम दीख पड़ता है :—

शान्त, शृङ्गार, हास्य, और अद्भुत।

रसों की विविधता होते हुए भी यह समझ लेना चाहिए कि कविगण रस की अपेक्षा भावाभिव्यञ्जन को प्रमुखता देते थे।

छन्द

रस की विवेचना में यह स्पष्ट हो चुका है कि कवियों ने शैली की अपेक्षा भावाभिव्यञ्जना पर अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार उन्होंने विविध छन्दों के लिखने की मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया। सिद्ध कवियों की रचना अधिकतर दो शैलियों में मिलती है। पहली तो गीत शैली है जिसमें उन्होंने चर्या गीतों की रचना की है। दूसरी शैली 'दोहा' की है। सिद्ध कवियों ने अनेक 'दोहा-कोष' लिखे हैं। 'दोहा' लिखने की शैली को जैन कवियों ने बहुत अपनाया। उन्होंने तो आचार संबंधी ग्रंथ लिखने में 'दोहा' छंद को ही प्रधानता दी। कुछ स्थलों पर उन्होने 'चौपाई' छंद भी लिखा है। यद्यपि 'चौपाई' छंद का प्रयोग कुछ सिद्ध कवियों द्वारा भी हुआ है तथापि जैन कवियों ने 'दोहा' छंद के साथ 'चौपाई' का मेल बड़ी सुन्दर रीति से किया है। स्वयंभूदेव ने अपने 'पउम चरिउ' (जैन रामायण) में तो 'दोहा-चौपाई' का प्रयोग ही अधिकतर किया है। संभव है, राम-काव्य के महाकवि तुलसीदास ने स्वयभू देव का 'पउम चरिउ' देखा हो और उसी शैली के अनुकरण में 'दोहा-चौपाई' शैली में अपना 'रामचरित मानस' लिखा हो। जैन कवियों ने 'दोहा' छंद के अतिरिक्त अन्य छंदो का प्रयोग भी किया है जिसका उल्लेख

१५२ पर है। जिन कवियों ने प्रेम कथा या शृङ्गार वर्णन के प्रसग लिखे हैं उन्होंने छंदों में विविधता लाने का प्रयत्न अवश्य किया है। विविध छदों में 'पद्धरि' और 'हरिगीतिका' विशेप प्रिय देखा जाता है। अमीर खुसरो ने अधिकतर 'बहरों' का अनुकरण किया है। जहाँ उन्होंने हिन्दी के छंद रक्खे हैं वहाँ चौपाई छद प्रधान है। चौपाई के अतिरिक्त कहीं कहीं सार, ताटङ्क और दोहा छन्द भी हैं किन्तु सब छंदों में चौपाई ही खुसरो को विशेष प्रिय रही। उनकी सारी मुकरियाँ तो इसी छद में हैं।

सिगरी रैन मोहि सँग जागा।
भोर भया तब बिछुरन लागा॥
वाके बिछुरत फाटे हिया।
ए सखि साजन? ना सखि दिया॥

खुसरो के ये दो दोहे भी बहुत प्रसिद्ध हैं :—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥
खुसरो रैन सोंहाग की, जागी पी के सग।
तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भये एक रग॥

खुसरो का ताटङ्क छद यह है :—

घूम घुमेला लहँगा पहने एक पाँव से रहे खड़ी।
आठ हाथ हैं उस नारी के, सूरत उसकी लगे परी॥
सब कोई उसकी चाह करे हैं मुसलमान हिन्दू-छत्री।
खुसरू ने यह कही पहेली दिल में अपने सोच जरी॥

(छतरी)

यहाँ अन्त मे दो गुरु होने के बदले लघु गुरु हैं। भुट्टे की पहेली में अन्त मे अवश्य दो गुरु हैं —

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर-भर झोली घर को धावैं, उसका नाम पहेला है॥

सार छन्द का उदाहरण इस प्रकार है :—

अंधा, बहिरा, गूँगा बोले, गूँगा आप कहावै ।
देख सफेदी होत अगारा गूँगे से भिड़ जावै ॥

कहीं कहीं खुसरो ने छन्दों के साथ बड़ी स्वतन्त्रता ली है :—

क्या करूँ बिन पाँवों के तुझे ले गया बिन सिर का ।
क्या करूँ लम्बी दुम के, तुझे खा गया बिन चोंच का लड़का ॥

(जाल)

उनके ढकोसले और दोसखुने तो पद्य की सीमा से बाहर हैं। कहीं वे गद्य में हैं, कही गद्यमय पद्य में ।

सधिकाल में गद्य-शैली के आविर्भाव की चर्चा भी है। कुछ इतिहास लेखकों के अनुसार गोरखनाथ ने नाथपंथ के प्रचार के लिए जन-समुदाय के गद्य का आश्रय ग्रहण किया। उनके गद्य के कुछ अवतरण भी प्रायः उद्धृत किए जाते हैं किन्तु जब तक किसी प्रामाणिक प्रति से उनके गद्य के अवतरणों का समर्थन नहीं हो जाता तब तक इस संबध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से स्थिर करना उचित प्रतीत नहीं होता।

लमानों ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया और बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत का अधिकांश भाग मुसलमानों के अधिकार में आ गया। यह काल भारत के प्राचीन इतिहास की वृद्धावस्था का ही है जिसमे शक्ति का अभाव है, विवशता का अवलम्ब है। इस काल का इतिहास अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र है, किसी एक महान् राज्य अथवा राजनीतिक केन्द्र का इतिवृत्त नहीं। ये छोटे छोटे राज्य शिशुओ की भाँति छोटी-छोटी बात पर झगड़ना भी खूब जानते थे।[1] आठवीं सदी मे कश्मीर और कन्नौज में यथेष्ट सघर्ष हुआ, यद्यपि कश्मीर नरेश ललितादित्य ने कन्नौज को कश्मीर मे नहीं मिलाया, शायद यह सभव भी न था। कन्नौज का सघर्ष मगध से भी हुआ, फिर गुर्जर राज्य से भी, और कन्नौज गुर्जर राज्य मे मिला लिया गया। किन्तु कन्नौज की प्रधानता बनी ही रही। देवपाल और विजयपाल के समय मे कन्नौज की अवनति होनी प्रारम्भ हो गई। जयपाल (सवत् १०७६) के समय में तो चन्देल और कछवाहों ने उसे और भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्त मे राठौर जयचन्द (सवत् १०६७) के समय में उसकी दशा ठीक हुई। जयचन्द ने कन्नौज को समृद्धिशाली बनाने मे यथेष्ट परिश्रम किया और उसे वैभव से पूर्ण किया। कन्नौज का मुसलमानों के द्वारा पतन होना स्वतंत्र हिन्दू राज्यों के अस्तित्व की अन्तिम स्थिति थी। वास्तव मे मुसलमानों के अन्तिम आक्रमणों के पहले कन्नौज सुसगठित और शक्तिशाली राज्य हो गया था। गुजरात भी एक शक्तिशाली राज्य था। समुद्र के किनारे होने के कारण उसकी व्यापारिक स्थिति बहुत दृढ थी और उसमे धन और वैभव की राशि बिखरी हुई थी। उसके चार महान् शासक हुए। उन्हीं के कारण गुजरात पूर्ण रूप से सुसगठित और शक्तिशाली हो गया था।

---

१ विंसेण्ट ए० स्मिथ (इंपीरियल गजेटियर अव् इंडिया, भाग २, पृष्ठ ३०१)

प्रथम शासक मूलराज था, जिसने शक्ति और साहस के साथ शासन किया। उसी ने तलवार की नोंक से अपने राज्य की सीमा खींची। जीवन भर वह युद्ध में लगा रहा और रणभूमि की विजय-श्री से उसने अपने राज्य के वैभव की वृद्धि की। अन्त में अपने वृद्ध शरीर को उसने रणभूमि के ही समर्पित कर दिया। दूसरा महान शासक भीम था, जिसने संवत् १०७९ से ११२० तक राज्य किया। इसीके समय में सोमनाथ के मन्दिर की पवित्रता, धन के साथ महमूद के हाथों ने लूट ली और पँवार उसकी राजधानी तक बढ़ आए, पर उसने अपनी मृत्यु के समय अपने राज्य की सीमा का विस्तार किसी भाँति भी कम नहीं होने दिया। तीसरे शासक सिद्धराज ने सं० ११५० से १२०० तक राज्य किया और उसने बारह वर्षों तक पँवारों के साथ युद्ध कर उन्हें पराजित किया। कुमारपाल (सं० १२००—१२२९) ने तो मालवा की विजय का श्रेय स्वयं ही प्राप्त किया। इस प्रकार गुजरात एक बहुत शक्तिशाली राज्य हो गया था, जो मुसलमानों के आक्रमणों का प्रतिकार करता हुआ कहीं अलाउद्दीन खिलजी के शासन (संवत् १३५५) मे नष्ट हुआ। गुजरात के शासक सोलंकी के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

मालवा में पँवारों का राज्य था। इन्हीं पँवारों के वश में राजा भोज हुए (संवत् १०६७—११०७) जो योद्धा, कवि और साहित्य के संरक्षक थे। इनके समय में मालवा की बहुत उन्नति हुई थी। बारहवीं शताब्दी में सोलंकियों ने पँवारों को बुरी तरह पराजित किया और मालवा को छोटे-छोटे भागों में विभक्त कर दिया। बारहवीं शताब्दी में अन्त में सोलंकियों की एक शाखा बघेल ने ही रीवाँ राज्य स्थापित किया।

कछवाहा ग्वालियर के अधिपति थे और बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ग्वालियर और नरवर पर शासन करते रहे। संवत ११८६ में यह शासन परिहार वंश के हाथों में चला गया।

नवमी शताब्दी में चन्देलों ने महोबा (हमीरपुर) पर विजय प्राप्त की। लगभग एक शताब्दी बाद उन्होंने कालिंजर के सुदृढ़ क़िले पर भी अधिकार प्राप्त किया। ये वीर ही नहीं थे, वरन् कलाप्रिय भी थे। इन्होने खजुराहो में अनेक सुन्दर मन्दिरों का निर्माण किया। चन्देलों के वैभव का सूर्य संवत् १२३६ में अस्त हुआ जब पृथ्वीराज चौहान ने उन पर विजय प्राप्त की। संवत् १२५० में वे मुसलमानों के हाथ कालिंजर भी खो बैठे।

तोमर हिसार और दिल्ली के निकटवर्ती स्थानों मे राज्य करते थे। कहते हैं, तोमर वंश ने ही दिल्ली की नींव डाली, पर दिल्ली का महत्त्व अनंगपाल द्वितीय (संवत् ११०६) के बाद ही प्रकट हुआ। तोमर और चौहान सदैव परस्पर के शत्रु थे। अन्त मे चौहान ने दिल्ली को संवत् १२१० में विजय कर ही लिया। रुहेलखण्ड और उत्तरी अवध भार और अहीर वंश के अनेक राजाओं के अधिकार मे था। दशवीं शताब्दी के अन्त मे राजपूत के बाछल वंश ने उस प्रान्त मे अपना शासन स्थापित किया।

मेवाड़ में गहलोत वंश शासन करता था। उनका प्रथम सरदार बप्पा था, जिसने भीलों की सहायता से मेवाड़ मे राज्य स्थापित किया था। उसके पुत्र गुहिल ने चित्तौड़ पर अधिकार प्राप्त कर लिया, जो गहलोत वंश के हाथो में ८०० वर्ष तक रहा। यही गहलोत वंश आगे चल कर सीसोदिया वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तेरहवीं शताब्दी के बाद तो इस वंश की मर्यादा समस्त राजस्थान मे स्थापित हो गई।

सबसे बड़ा और शक्तिशाली वंश चौहानों का था, जो एक बड़े क्षेत्र मे बिखरा हुआ था। आबू पर्वत से लेकर हिसार तक और अरवली से लेकर हमीरपुर की सीमा तक इनका प्रभुत्व था। ये अपने-अपने राज्यों मे नाममात्र की स्वतन्त्रा के साथ विभाजित थे। सब से शक्तिशाली शाखा साँभर झील के आसपास थी। यह शाखा ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी मे बढ़कर समस्त चौहानों की अधिपति बन

बैठी, साँभर नरेश ही सब से बड़े राजा हो गए। इनकी राजधानी अजमेर थी।

अजमेर की प्राचीनता और उसके नाम के सम्बन्ध में 'पृथ्वीराज-विजय' के पाँचवें सर्ग के लंबे अवतरण के आधार पर डा० मारिसन एक लेख लिखते हैं। ७७ वें पद्य से अजयराज का वर्णन प्रारम्भ होता है और ४० पद्यों से अधिक में लिखा जाकर सर्ग के अन्त तक चलता है। ६६ वें पद में लिखा है कि अजयराज ने एक नगर का निर्माण किया [(रा) जा नगरं कृतवान्] इसके बाद उसके वैभव और उत्कर्ष का वर्णन है। अन्तिम पद्य में लिखा है कि उसके पुत्र का नाम अर्णोराज था, जिसे उसने अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाया था। उसके राज्य का वर्णन छठें और सातवें सर्ग के प्रारम्भिक भाग में है। उसके समय का निर्धारण 'पृथ्वीराज-विजय', गुजरात के इतिहास और कुमारपाल के चित्तौड़गढ़ शिलालेखों के विवरणों से ज्ञात हो सकता है। पृथ्वीराज विजय के सप्तम सर्ग से ज्ञात होता है कि अर्णोराज ने गुजरात के जयसिंह सिद्धराज की कन्या कांचनदेवी से दूसरा विवाह किया। (गूर्जरेन्द्रो जयसिंहस्तस्मै यां दत्तवान्सा काञ्चनदेवी रात्रौ च दिने च सोमं सोमेश्वर संज्ञमजनयत्।) इस प्रकार वह गुजरात के राजा जिन्होंने सन् १०९४ से ११४३ (सं० ११५० ११९९) तक राज्य किया, के परवर्ती भाग में समकालीन थे।

गुजरात के इतिहास में हेमचन्द्र के 'द्वयाश्रय कोष' तथा अन्य इतिहास जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल का अर्णोराज के विरुद्ध सफल युद्ध करने का वर्णन करते हैं। चित्तौरगढ़ शिलालेख सिद्ध करता है कि इस युद्ध की समाप्ति सं० १२०७ (सन् ११४९-५०) या उसके कुछ ही पूर्व हुई। अर्णोराज के द्वितीय पुत्र विग्रहराज चतुर्थ या वीसलदेव के अजमेर शिलालेख (सं० १२१०) से ज्ञात होता है कि उसकी (अर्णोराज) की मृत्यु स० १२०७ और १२१० के बीच में अवश्य हुई होगी।[1]

१ पृथ्वीराज विजय सप्तम सर्ग—

इन तिथियों से यह ज्ञात होता है कि अर्णोराज ने विक्रम की १२वीं शताब्दी के चतुर्थांश में राज्य किया और उसके पिता ने सं० ११००—११२५ के बीच में या उसी के आस-पास। अजमेर नगर भी उसी समय बना होगा। 'पृथ्वीराज-विजय' का महत्व आधुनिक इतिहास या 'हम्मीर महाकाव्य' या फ़िरिश्ता से अधिक है, क्योंकि 'पृथ्वीराजविजय' की रचना पृथ्वीराज द्वितीय के समय मे अथवा १२वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुई थी। 'हम्मीर महाकाव्य' १४वीं शताब्दी के अन्त की रचना है और फ़िरिश्ता ने २०० वर्ष बाद सोलहवीं शताब्दी के अन्त में लिखा। फिर 'पृथ्वीराज विजय' अकेला ही ग्रन्थ है, जिसमें चौहानों का वंश परिचय उनके शिलालेखों से मिलता है। अन्य संस्कृत ग्रंथों के द्वारा दिया हुआ परिचय परस्पर विरोध रखता है और उसमें काल-दोष स्पष्ट है।

इन सब बातों से पता चलता है कि 'पृथ्वीराज-विजय' का कथन ही स्पष्ट और ठीक है कि अजय (बीसवाँ शाकम्भरी चौहान) अजमेर का निर्माता था।[1] उसकी परम्परा में चौहान वंश का सब से बड़ा राजा पृथ्वीराज था, जिसका शासन-समय सं० १२२६ (सन् ११७२) से सं० १२४६ (सन् ११९२) तक है।

संक्षेप में यदि चारणकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि राठौर, सोलंकी, पँवार, कछवाहा, परिहार, चंदेल, तोमर, भार, अहिर, गहलोत और चौहान वंश इस समय राजनीति का शासन कर रहे थे। राजनीतिक परिस्थिति बहुत अनिश्चित थी। परस्पर युद्ध करने में ये राजे सदैव सन्नद्ध रहा करते थे और अपने राज्य को अपनी मर्यादा के सामने तुच्छ समझते थे। कोई ऐसा वर्ष नहीं था जब कि इन राजाओं में से किसी में पारस्परिक

प्रथम, सुधवासुतस्तदानीं परिचर्या जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्य जलाञ्जलिं घृणायै विदधे यां भृगुनन्दनो जनन्यै॥

१ आरिजिन अव् दि टाउन अव् अजमेर—
(जी० बुलर)—जे० आर० ए० एस-भाग २६, पृष्ठ १६२—१६३

विग्रह न होता हो। इन सब राजाओं के सामने मुसलमानी आतंक अपनी निर्दयता और उच्छृंखलता के साथ अनेक रूप रखा करता था। अपनी मर्यादा और गौरव की रक्षा करने के लिए युद्ध-वीर राजपूत युद्ध-दान के लिए सदैव प्रस्तुत रहा करते थे। देश की शान्ति रक्त-धारा में बही जा रही थी।

इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव होने के कारण साहित्यिक क्षेत्र में भी शान्ति नहीं रही। राजस्थान राजनीति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण अपने यहाँ के चारणों और भाटों को मौन नहीं रख सका। अपभ्रंश भाषा भी उस समय पुराने संस्कारों को छोड़ कर नवीन रूप धारण करने का प्रयत्न कर रही थी। उसी अपभ्रंश की डिंगल भाषा में उनकी कविता प्रवाहित हो उठी। इसके साथ ही देश के किसी कोने में बैठ कर कविगण मुसलमानी आतंक भुलाने के लिए धर्म की कविता भी कर देते थे।

हिन्दी साहित्य के प्रभात काल में सात कवियों का उल्लेख हमारे इतिहासकार करते चले आए हैं, यद्यपि उन सात कवियों की एक पंक्ति भी अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी।

पुंड या पुष्य

प्रथम हिन्दी कवि पुंड या पुष्य कहा जाता है जिसका आविर्भाव-काल सं० ७७० माना गया है।

दूसरे अज्ञात कवि का ग्रन्थ जो प्राप्त हो सका है वह खुमान रासो है। एक स्थान पर इस कवि का नाम दलपत विजय मिलता है। इसमें चित्तौराधिपति रावल खुमान, द्वितीय का वृत्तान्त लिखा गया है। यह प्रति अपूर्ण है। इसमें चित्तौर के महाराणा प्रतापसिंह तक का हाल दिया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह प्रति समय-समय पर कवियों के हाथों से नई सामग्री प्राप्त करती रही और अपने पूर्व रूप की केवल एक अस्पष्ट छाया ही रख सकी। अतएव खुमान रासो अपने वास्तविक रूप में अब नहीं है। खुमान का समय संवत् ८८७ माना गया है और महाराणा प्रताप का विक्रम की

दलपत विजय

१७वीं शताब्दी। इस प्रकार खुमान रासो लगभग ८०० वर्ष के परिमार्जन का ग्रन्थ है। इसके बाद मसूद, कुतुबअली, साईदान और अकरम फैज के नाम आते हैं। इनकी रचनाएँ भी अप्राप्य हैं। इनका आविर्भाव-काल सम्वत् ११८० से १२०५ तक माना गया है। इसके बाद चन्दबरदाई का नाम आता है, जिसका समय सम्वत् १२४८ (सन् ११६१) है। अभी तक के इतिहास की यह स्थिति है। चन्दबरदाई के पूर्व दो कवियों का नाम और लिया जाता है। किन्तु ये दोनों कवि निश्चित रूप से क्रमशः १७ वीं और १८वीं शताब्दी के हैं। प्रथम कवि हैं भुवाल, जिन्होंने दोहा-चौपाई मे 'भगवद्गीता' का अनुवाद किया है।

भुवाल

इनका समय विक्रम की दशवीं शताब्दी माना गया है। इसका आधार भुवाल का वह दोहा है, जिसमें वे अपने ग्रन्थ रचना की तिथि देते हैं। यह दोहा इस प्रकार है —

सवत् कर अब करौं बखाना।
सहस्र सो सपूरन जाना॥
माघ मास कृष्ण पक्ष भयऊ।
दुतिया रवि तृतिया जो भयऊ॥

अर्थात् ग्रन्थ की रचना संवत् १००० में माघ कृष्ण पक्ष की द्वितीया और तृतीया तिथि, रविवार को हुई। किन्तु गणना के अनुसार यह तिथि सवत् १००० में रविवार को नहीं पड़ती। यह समय सवत् १७०० माघ कृष्ण रविवार को आता है जब द्वितीया के बाद उसी दिन तृतीया लग जाती है। इस प्रकार ग्रन्थ की रचना संवत् १००० मे न होकर १७०० में की गई जान पड़ती है, अर्थात् दी हुई तिथि के ७०० वर्ष बाद। सभव है "सहस्र सो सम्पूरन जाना" के बदले "सहस्र सो सत (१७००) पूरन जाना" हो[1]। लिपिकार की साधारण गलती से ७०० वर्ष का अन्तर पड़ गया। अतः भुवाल कवि दसवीं शताब्दी के कवि न माने जाकर सत्रहवीं शताब्दी के कवि

---

१ खोज रिपोर्ट १६१७, १८, १६, पृष्ठ ५

माने जावेंगे। उनकी भाषा भी दसवीं शताब्दी की प्राचीन हिन्दी नहीं मानी जा सकती। छंद भी सत्रहवीं शताब्दी ही का है, जो रामचरितमानस के प्रचार मे बड़ा लोकप्रिय हो गया था। संभव है, तुलसीदास का 'रामचरित मानस' दोहा, चौपाई में देखकर भुवाल कवि ने कृष्ण-चरित भी दोहा, चौपाई में लिखने का विचार किया हो।

मोहनलाल द्विज

द्वितीय कवि मोहनलाल द्विज हैं, जिन्होंने 'पत्तलि' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें श्रीकृष्ण की बारात के भोजन की पत्तलि की विविध भोजन-सामग्री का वर्णन है। इस ग्रन्थ का समय सम्वत् १२४७ दिया गया है। इसके प्रमाण में कवि की यह पंक्ति दी जाती है :—

सुनौ कहै यह संवत् जानौ।
बारह सानौ सैता लानो॥

इसका तात्पर्य संवत् १२४७ लिया जाता है। किन्तु भाषा इतनी आधुनिक है तथा उसमें जुहार, जलेबी, रकेबी आदि शब्दों तथा 'पचि पचि रची सुधारि' आदि वाक्यांशों का इतना प्राचुर्य है कि भाषा १३ वीं शताब्दी की नहीं कही जा सकती। दूसरी बात यह है कि मोहनलाल ने अपना मंगलाचरण केशवदास के ही शब्दों मे किया है।[1] केशवदास का पांडित्य उन्हें मोहनलाल जैसे साधारण कवि की चोरी करने से रोकता है, अतः मोहनलाल ने ही केशवदास के शब्दों में वंदना की है। इस प्रकार मोहनलाल का समय केशव के बाद ही का समझा जाना चाहिए। डा० हीरालाल के अनुसार 'बारह सानों' शुद्ध पाठ न होकर 'ठारह सानों' शुद्ध पाठ है। अत: मोहनलाल का समय १८ वीं शताब्दी है।

---

१ केशवदास—एक रदन गजबदन, सदन बुधि मदन कदन सुत।
गवरिनंद आनन्द कन्द जगदम्ब चन्द युत॥
मोहनलाल—एक रदन बारन बदन सदन बुद्धि गुण गेह।
गवरिनन्द आनन्द दें मोहन प्रणति करेह॥

चारण काल के इन अनिश्चित कवियों के बाद जो निश्चित कवि मिलता है वह नरपति नाल्ह है। उसका ग्रन्थ गीतात्मक है और नाम 'वीसलदेव रासो' है। ग्रियर्सन ने न जाने क्यों इसका वर्णन नहीं किया। गीतात्मक रहने के कारण इसकी भाषा में भी अनेक परिवर्तन हुए, पर वे परिवर्तन अभी तक सम्पूर्णत प्राचीन भाषा का स्वरूप विकृत नहीं कर सके। इसमें अपभ्रंश के प्रयोग अधिक हैं, इसलिए यह अपभ्रंश की अन्तिम बोलचाल की भाषा में लिखा गया है। यद्यपि कहीं-कहीं सत्रहवीं शताब्दी की हिन्दी के प्रयोग अवश्य पाये जाते हैं[1]। किन्तु ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। वीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं, अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्य. विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वीसलदेव का काल-निर्णय हमे इतिहास मे इस प्रकार मिलता है—जैपाल जो नवम्बर १००१ में पुनः सुल्तान महमूद से पराजित हुआ था आत्मघात कर मर गया। उसका पुत्र अनगपाल उत्तराधिकारी हुआ, जो अपने पिता की भाँति अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव के नेतृत्व मे हिन्दू शक्तियों के संघ में सम्मिलित हुआ।[2] अतएव वीसलदेव का समय सन् १००१ (सं० १०५८) माना जाना चाहिए। वीसलदेव रासो में वर्णित धार के राजा भोज जिन्होंने अपनी पुत्री राजमती का विवाह वीसलदेव के साथ किया था, उनके भी इसी समय में होने का प्रमाण मिलता है।

मुञ्ज का भतीजा यशस्वी भोज तत्कालीन मालवा की राजधानी धार के राज्यासन पर लगभग सम्वत् १०७५ में आसीन हुआ और

---

१ वेटी राजा भोज की—वीसलदेव रासो—(संपादक-श्री सत्यजीवन वर्मा)—पृष्ठ ६ नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् १९८२।

२ विंसेण्ट स्मिथ।

उसने चालीस वर्ष से अधिक प्रतापशाली राज्य किया। गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा के अनुसार वीसलदेव का समय संवत् १०३० से १०५६ माना गया है।[1] ओझा जी के अनुसार राजा भोज का राजसिंहासनासीन होना सं० १०५५ में है। अतएव यह निश्चित होता है कि वीसलदेव का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। नाल्ह ने अपने रासो को भी उसी समय लिखा क्योंकि ग्रंथ में जहाँ क्रिया का प्रयोग वर्तमान-काल में किया गया है वहाँ 'कहइ', 'वसइ', इत्यादि क्रियाओं के रूप समय की घटनाओं के अनुसार ही घटित होते हैं।

इन सब वातों को दृष्टि में रखते हुए एक कठिनाई सामने आती है। नाल्ह अपनी पुस्तक-रचना की तिथि इस प्रकार देता है :—

"बारह सै बरहोत्तरां हां मॅझारि,
माघ सुदी नवमी बुधवारि।'

मिश्रबन्धुओं ने इसे सं० १२२०, लाला सीताराम ने १२७२ तथा सत्यजीवन वर्मा ने १२१२ माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे सं० १२१२ माना है। यदि गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार वीसलदेव का काल संवत् १०३० से १०५६ मान लिया जाय तो वीसलदेव रासो की रचना १५६ वर्ष बाद होती है। ऐसी स्थिति में लेखक का वर्तमान काल में लिखना समीचीन नहीं जान पड़ता। अतएव या तो वीसलदेव का काल जो विनसेंट स्मिथ और गौरीशंकर हीराचद ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है, उसे अशुद्ध मानना चाहिए; अथवा वीसलदेव रासो में वर्णित इस 'बारह सै बरहोत्तरां हां मॅझारि' वाली तिथि को। श्री गजराज ओझा, बी० ए० बीकानेर ने लिखा है कि "बड़ा उपाश्रय, बीकानेर में इसकी एक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति मिली है, जिसमे इसका रचना-

---

१ हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृष्ठ ३५८

काल १०७३ वि० लिखा है।"[१] उसमें 'बारह सै बरहोतरां हॉ मंझारि' के स्थान पर "संवत् सहस तिहुतरइ जाणि, नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि" मिलता है ; जिसके अनुसार 'रासो' की रचना सं० १०७३ में मानी गई है। यदि हम इसी तिथि को ठीक मानें तो भी ग्रन्थ की रचना वीसलदेव-काल से १७ वर्ष बाद ठहरती है। उस समय भी कवि वर्तमान काल में लिख सकता है।

जो हो, १०७३ इतिहास के अधिक समीप है। यदि 'रासो' की एक प्रति हमें यही सम्वत् देती है और इतिहास वीसलदेव के समय को भी लगभग यही मानता है तो हमें 'वीसलदेव रासो' की रचना १०७३ मानने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर राजेंद्रलाल मित्र के अनुसार भोज का समय सवत् १०२६ से १०८३ माना गया है। इससे भी उपर्युक्त विचार की पुष्टि होती है।

अभी तक इस ग्रन्थ की पंद्रह हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। सबसे प्राचीन प्रति का लिपिकाल स० १६६९ है। यह विद्याप्रचारिणी जैन सभा पुस्तकालय (जयपुर) की है। इन प्रतियो में पाठ भेद बहुत है। ये प्रतियाँ दो विशिष्ट कुलों की ज्ञात होता है। रचनाकाल के सवत् में जो भ्रांति उत्पन्न हो गई है, उसके मूल में भी इन्हीं दो कुलों की विभिन्नता है। पहले कुल की प्रतियॉ स० १२१२ या १२७२ का उल्लेख करती हैं और दूसरे कुल की प्रतियाँ स० १०७३ या १०७७ का। पहले कुल की प्रतियों में वर्णन-विस्तार बहुत अधिक है, दूसरे कुल की प्रतियाँ अपने वर्णनों में संक्षिप्त हैं। यहॉ तक कि पहले वर्ग की प्रतियों में कथा चार खडों तक बढ़ी हुई है जहॉ दूसरे वर्ग की प्रतियों मे खड-विभाजन शैली से रहित कथा वहीं समाप्त हो जाती है जहाँ पहले वर्ग की प्रतियों मे तीसरा खड समाप्त होता है। सरदारों के नाम गिनाने में भी पहले कुल की प्रतियों में विशेप अभिरुचि है जो दूसरे कुल की प्रतियों मे नहीं है। इस दृष्टि से पहले

---

१ ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अक १, पृष्ठ ६६

कुल की प्रतियाँ अपेक्षाकृत बाद की होंगी और समय के प्रवाह के साथ उनमें वर्णन-विस्तार के प्रक्षिप्तांश भी बढ़ते चले गये होंगे, जो पहले कुल की प्रतियों में नहीं हैं।

श्री अगरचंद नाहटा वीसलदेव रासो को १३वीं शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि इसकी भाषा सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा है दूसरा यह कि ग्रन्थ में जो ऐतिहासिक और भौगोलिक उल्लेख मिलते हैं वे १३वीं शताब्दी के बाद के हैं।[1] उदाहरण के लिए ग्रन्थ में जो जैसलमेर[2], अजमेर[3] आदि स्थानों के नाम हैं वे ग्यारहवीं शताब्दी के बाद बसाए गए और प्रसिद्ध हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विषमता ऐतिहासिक मूल ग्रन्थ के संवत् निर्धारण में कठिनाई उपस्थित करती है, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हमें वीसलदेव रासो की कोई भी प्रति सं० १६६६ के पहले की प्राप्त नहीं हुई। वीसलदेव रासो के रचनाकाल में और ग्रन्थ के प्रतिलिपि काल में पाँच सौ वर्ष से ऊपर का समय व्यतीत हो गया है। और जब वीसलदेव रासो की कविता लोकरंजनार्थ गेय रूप में लिखी गई तब उसमें गायकों की परंपराओं ने कितना प्रक्षिप्तांश मिलाया होगा और भाषा में कितना परिवर्तन हुआ होगा यह साधारण अनुमान से ही जाना जा सकता है। फिर नरपति ने इस ग्रंथ को इतिहास या वंशावली के रूप में नहीं लिखा, उसने तो इसमें काव्य की सरस कल्पनाओं का सौंदर्य सुसज्जित किया है, संयोग और वियोग के मनोहर चित्र उपस्थित किए हैं। इसलिये यह वीर काव्य न होकर शृंगार काव्य ही हो गया है।

---

१. राजस्थानी—भाग २, अंक ३, पृष्ठ २२

२. जोयो छै तोड़उ जेसलमेर—पृष्ठ ७, वीसलदेव रासो (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

३. गढ़ अजमेरा को चाल्यो राव—पृष्ठ १४, वही

इस ग्रन्थ का विस्तार २००० चरणों में है। इसमें चार खंड हैं। पहले खड में ८५ छंद हैं और उनमें मालवा के अधिपति श्री भोज परमार की लडकी राजमती का वीसलदेव साँभर के साथ विवाह वर्णित है। दूसरे खड में ८६ छद हैं जिनमें वीसलदेव की राजमती के प्रति उदासीनता और उड़ीसा की ओर रण यात्रा का उल्लेख है। तीसरे खंड में १०२ छंद हैं जिनमें राजमती का वियोग-वर्णन और वीसलदेव का चित्तौड़ागमन है। चौथे खंड में ४२ छद हैं और भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और वीसलदेव का पुनः राजमती को चित्तौड़ ले आने का वर्णन है। ग्रंथ में कुल ३१६ छद हैं।

कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कथा गीतिरूप में होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिए हुए है। कथा-वस्तु अनेक प्रकार की घटनाओं से निर्मित है, जिसमें वीर-रस की अपेक्षा शृंगार-रस ही प्रधान स्थान प्राप्त कर सका है। भाषा यद्यपि अपने असंस्कृत रूप में है तथापि उसमें साहित्यिक सौंदर्य की छटा यत्र तत्र है।

लोक-रजन के लिए वीसलदेव रासो में काव्य का सौंदर्य मनोवैज्ञानिक ढग से अनेक प्रसगों में सजाया गया है। उसमें जीवन के स्वाभाविक विचार, गृहस्थ जीवन के सरल विश्वास, जन्मांतरवाद, शकुन, संस्कार, बारहमासा आदि बडी सरसता के साथ चित्रित किए गए हैं। स्थानीय प्रथाओं और व्यवहारों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य में स्थानीय अनुरंजन (Local colour) विशेष मात्रा में है। वीसलदेव रासो के कुछ उदाहरण देखिए :

स्थानीय अनुरंजन—

> माणिक मोती चउक पुराय।
> पाँव पपाल्या राव का।
> राजमती दीई वीसलराव ॥
> हुई सोपारी मनि हरष्यो छइ राव।
> वाजित्र वाजइ नीसाणो घाव ॥

गढ़ मांहि गूडी उछली ।
घरि घरि मंगल तोरण व्हारि ॥[1]

... .

परणवा चाल्यो बीसलराव ।
पंच सखी मिलि कलस वन्दावि
मोती का श्राखा किया ।
कूँ कूँ चंदन पाका पान ॥
श्रमली उमली श्रारती ।
जाई बधेरइ दियो मिलाण ॥[2]

सूक्तियाँ—

१ दव का दाधा कुपली मेल्हो ।
जीभ का दाधा नु पाँगुरई ॥[3]

२ रतन कचोलो राप सापजै भीप ।
ते नाउ पग सूँ ठेलीजै ।
इसी न राया तणौ नहीं च श्रवास ।
इसी न देवल पूतली ।
नयण सलूंणा वचन सुमीत ।
ईसीय न खाती कौ घड़इ ।
इसी श्रस्त्री नहीं रवि तलै दीठ ॥[4]

३ वाहुड़ि गोरी देखाली छै वाट ।
ऊँचा पर्वत दुर्घट घाट ।

---

१ बीसलदेव रासो, पृष्ठ ८-६
२. वही, पृष्ठ १२
३. वही, पृष्ठ ३७
४. वही, पृष्ठ ४५

लाबी बाँह देखालियाँ ।
देखितो चालिजे देस की सीम ।
छाड़ही धूप थे भीणी गीणी ।
चीरी राखज्यो घन को जीव ॥[१]

शकुन—

चाल्यो उलीगाणो नग्र मझारि ।
आडी आवज्यो ईधण दार ।
साइ तट्रकज्यो जीमउइ अग ।
साँमही जोगणी काल भुयग ।
वाट काटे मजारड़ी ।
सामहीं छींक हणई कपाल ॥
आडीं लुकडी आवज्यो ।
गोरडीं कउ प्रीय पाछो हो वाल ॥[२]

वियोग के चित्र—

१ स्त्रीं जनम काई दींगो हो महेस ?
अवर जनम थारे घड़ा हो नरेस ।
रानइ न सिरजीं हरियाली ।
सूरइ न सिरजी धीणु गाई ।
वनषड कालीं कोईलीं ।
बइसतीं अब कइ चप की डालि ।
बइसतीं दाख बींजोरड़ीं ।
इणि दुख झूरइ अनला बालि ॥[३]

२ ससि वदनी जीत्यौ मात गयद ।
आषडीया रतनालिया

१. वही, पृष्ठ ७८
२. वही, पृष्ठ ५६-६०
३. वही, पृष्ठ ६५

भौहरा जाणे भमर भमाय ।
मूँगफली सी आँगुली । [१]
कुहणी फाटइ काँचुवउ ।
पोपरि फाटइ घन को चीर ।
जाँणे दव दाधी लोंकडी ।
दूबली हुई झूरइ ईम नाह ।
डावा हाथ को मूँदड़उ ।
आवण लागी जीवणी बाँह ।[२]

इस प्रकार स्वाभाविकता से परिपूर्ण अनेक चित्र दिये जा सकते हैं। रस की दृष्टि से वीसलदेव रासो में शृंगार रस प्रधान है किंतु इसके साथ रौद्र, शांत और हास्य रस के भी उदाहरण मिलते हैं।

हास्य रस का उदाहरण देखिए :—

चढ़ि चाल्यो छै मीर कबीर।
खुदबार तुझ टुकेटुक धीर।
अमल खलीती घरि रही।
मीना पौषत छाड्या, छाणि।
उभा बगितारा करइ।
दोड, सीताब बगनी भरि लाव ॥[३]

अलंकार भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं और कवि ने उनका प्रयोग बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया है। वीसलदेव की बारात के समूह पर उत्प्रेक्षा की गई है :—

जान को कटक अठीव हजार।
जाणे उदयाचल ऊलट्यो ॥[४]

---

१. वही, पृष्ठ ६६
२ वही, पृष्ठ ७५
३ वही, पृष्ठ १७
४. वही, पृष्ठ १८

वियोग में विरहिणी राजमती की उँगली को मूगफली के रूप का
ाम्य देना तथा विरहावस्था में उभरते हुए यौवन को सम्हालने की
पमा किसी चोर को पकड़ रखने से देना कितना उपयुक्त है —

मूँगफली सी आँगुली।[1]

कूलह की वेड़ी; सींयलै जंजीर।
जोवन राखो चोर ज्यु।
पगी पगी स्वामी लागु हु पाय।[2]

गीति काव्य होने के कारण इसकी भाषा का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है, पर 'डिंगल' की छाप इसमें सम्पूर्णतया है। साथ ही साथ इसमें अरबी और फारसी के शब्द भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उस समय मुसलमानों का प्रभुत्व भारत मे फैलने लगा था और उनकी बोली भी जन-समाज के द्वारा ग्रहण की जाने लगी थी।

यद्यपि वीसलदेव रासो अपने वास्तविक रूप में नहीं पाया जा सकता, क्योंकि वह मौखिक और गेय रहा है, तथापि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जन-साधारण की भाषा में भी रचना होने लगी थी और उसमे उस समय के प्रचलित सभी प्रकार के शब्द कविता में रखे जा सकते थे। इतिहास की घटनाओं का वर्णन भी साहित्य के अन्तर्गत आ गया था, क्योंकि साहित्य इस समय 'वीर-पूजा' अथवा धर्म और राजनीति के नेता के गौरव का गीत था। सत्य और धर्म के किसी भी अग्रणी का जीवन-चरित उस समय साहित्य था। राजनीति और साहित्य का इतने समीप आ जाना हिन्दी साहित्य के इतिहास मे चारणकाल की विशेपता है।

पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो राजस्थानी साहित्य का सर्व-प्रथम प्रबंधात्मक

---

१ वही, पृष्ठ ६६

२. वही, पृष्ठ ८३—८४

काव्य माना गया है। उसका रचयिता चन्द भी हमारे साहित्य का प्रथम महाकवि है। इसने पृथ्वीराज चौहान की कीर्ति गाथा ६९ समयों (अध्याय) में वर्णित की है। कहा जाता है कि वह लाहौर का निवासी था, किन्तु उसने अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण भाग दिल्ली और अजमेर के सम्राट् पृथ्वीराज के साहचर्य में व्यतीत किया था। वह बहुत पण्डित और विद्वान् था, क्योंकि 'रासो' में उसने काव्य की अनेक रीतियाँ प्रदर्शित की हैं।

चन्द

पृथ्वीराज रासो एक महान् ग्रन्थ है। ढाई हजार पृष्ठों से अधिक का ग्रन्थ होने के कारण उसका प्रकाशन बहुत दिनों तक नहीं हुआ। रायल एशियाटिक सोसाइटी ने उसके प्रकाशन का विचार किया था, पर बुहलर ने उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में अविश्वास कर उसे छपने से रोक दिया। अन्त में उसका प्रकाशन नागरी-प्रचारिणी सभा से सं० १९६२ में हुआ। अभी तक पृथ्वीराज रासो की निम्नलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो सकी हैं :—

१. बेदले[1] की प्रति
२. रायल एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित कर्नल टाड की प्रति
३. कर्नल कालफील्ड की प्रति
४. बोदलियन प्रति
५. आगरा कॉलेज की प्रति

यही पाँचों प्रतियाँ प्रामाणिक मानी गई हैं। इसके अतिरिक्त बीकानेर राज्य में 'प्रिथीराज रासो' की दो हस्तलिखित प्रतियाँ और मिली हैं :—

---

१. बेदला उदयपुर से लगभग दो कोस उत्तर में चौहानवंशी राजपूतों का एक ठिकाना है।

१. प्रिथीराज रासौ कवि चन्द विरचित (हस्तलिखित प्रति न० ३१)
२ प्रिथीराज रासौ कवि चन्द विरचित (हस्तलिखित प्रति नं० २४)

श्री मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के प्रथम भाग में पृथ्वीराज रासो की नौ प्रतियों का उल्लेख किया है[1]। उन प्रतियों के संबन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

प्रति नं० १—

'प्रति में तीन चार व्यक्तियों के हाथ की लिखावट है और कागज भी दो तीन तरह का काम में लाया गया है.. प्रति में कहीं भी इसके लेखन-काल का निर्देश नहीं है, लेकिन प्रति है यह बहुत पुरानी। अनुमानतः ३०० ३५० वर्ष की पुरानी होगी।.. कुल मिलाकर ६१ प्रस्ताव हैं,

प्रति नं० २—

'प्रति में दो व्यक्तियों के हाथ की लिखावट है। प्रति के अंत में लाल स्याही से लिखी हुई एक विज्ञप्ति है जिसमें बतलाया गया है कि यह प्रति मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह जी (दूसरे) के शासन काल में सं० १७६० में लिखी गई थी। इस प्रति में ६९ प्रस्ताव हैं।'

प्रति नं० ३—

इस प्रति का लिपि संवत् १८६१ है। इसमें भी ६९ प्रस्ताव हैं।

प्रति न० ४—

इस प्रति का लिपि संवत् १९१७ है। इसमें भी ६९ प्रस्ताव हैं। श्लोक संख्या २९००० है। इसमें 'महोबा सम्यौ' नहीं है।

---

१ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—(प्रथम भाग) पृष्ठ ५५—७० (हिंदी विद्यापीठ, उदयपुर)

प्रति नं० ५—

इसमें ६-१० तरह की लिखावट है और यह प्रारम्भ और अंत में खण्डित है। कुछ 'सम्यौ' के नीचे उनका लेखन काल दिया गया है। ससिव्रता सम्यौ—सं० १७७०, सलप युद्ध सम्यौ—स० १७७२, अनंगपाल सम्यौं—सं० १६७३। 'रासो' की यह एक ऐसी प्रति है जिसको तैयार करने में अनुमानतः ६० वर्ष (सं० १७४०—१८००) का समय लगा है। इसमें ६७ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ६—

यह सं० १६३७ में वेदले के राव तखतसिंह जी के पुत्र कर्णसिंह जी के लिए लिखी गई थी। प्रति दो जिल्दों में है पहली जिल्द में ११०५ पन्ने और १८ प्रस्ताव हैं। दूसरी जिल्द में ५०५ पन्ने और २५ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ७

इसे रामलाल नामक किसी व्यक्ति ने अपने खुद के पढ़ने के लिए सं० १८५५ में शाहपुरे में लिखा था। प्रति अपूर्ण है। उसमें १४ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ८—

इस प्रति का लिपि संवत् १८६२ और पत्र संख्या १०४ है, इसमें केवल 'कनवज्ज सम्यौ' है।

प्रति नं० ६—

इस प्रति में लिपिकाल नहीं दिया गया। अनुमानतः २०० वर्ष पुरानी है। पत्र-संख्या ११५ है। इसमें 'वड़ो युद्ध सम्यौ' है।

इन प्रतियों के अतिरिक्त राजस्थान में तथा अन्य स्थानों में भी 'पृथ्वीराज रासो' की अनेक प्रतियाँ मिली हैं। प्राप्त प्रतियों के आधार पर श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'पृथ्वीराज रासो' के चार रूपान्तर निश्चित किए हैं।[1]

---

१ राजस्थान भारती—भाग १, अंक १, अप्रैल १६४६ (श्री शादूल राजस्थान रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर)

(१) वृहत् रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतियाँ हैं जो संवत् १७५० के बाद लिपिबद्ध हुईं। इसमें अध्यायों का नाम 'सम्यौ' है।

(२) मध्यम रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतियाँ हैं जो सवत् १७२३ और १७३९-१७४० में लिपिबद्ध हुईं। इसमें अध्यायों का नाम 'प्रस्ताव' है।

(३) लघु रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतियॉ हैं जो सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुईं। इसमें अध्यायों का नाम 'खण्ड' है।

(४) लघुतम रूपान्तर—इस रूपान्तर का भी आधार ऐसी प्रतियॉ हैं जो सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुईं। इसमें रासो अध्यायों में विभक्त नहीं है।

रासो की प्रतियों के संग्रह करने में सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य राजस्थानी साहित्य के विद्वान् श्री अगरचन्द नाहटा का है। श्री नरोत्तमदास स्वामी के कथनानुसार लघुतम रूपान्तर के अन्वेषण का श्रेय नाहटा जी ही को है।[1]

श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्री राधाकृष्णदास और श्री श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सपादित तथा नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९०५ में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार इस वृहत्

---

१ आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर या श्री सादूल राजस्थानी रिसर्च इस्टीट्यूट, बीकानेर जैसी सस्थाओं की ओर से 'रासो' की अधिक से अधिक प्रतियों की खोज की जाय और राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वानों तथा भाषा विज्ञानियों के सहयोग से उन प्रतियों को 'कुलों' और रूपान्तरों में विभाजित कर 'रासो' की वास्तविक रचना का निर्धारण किया जाय। यह प्रश्न हिंदी भाषा और साहित्य के सामने प्रमुख महत्त्व का है। क्या किसी संस्था से ऐसी आशा की जाय ?

ग्रन्थ के 'समयो' और कथा का संकेत इस प्रकार दिया जा सकता है :—

इस प्रकार रासो की सात प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यदि कहीं अन्तर है तो वह नगण्य ही है। इन सातों प्रतियों के आधार पर रासो की कथा का संक्षेप इस प्रकार दिया जा सकता है :—

१ आदि पर्व (मङ्गलाचरण, चौहान वंश की उत्पत्ति आदि, पृथ्वीराज का जन्म)
२ दासम समय (विष्णु के दशावतार)
३ दिल्ली कीली कथा
४ अजान बाहु समय
५ कन्हपट्टी समय (मूँछ ऐंठने पर प्रतापसिंह चालुक्य को कन्ह चौहान भरे दरबार में मार डालता है। पृथ्वी राज उसे दरबार में अपनी आँखों में पट्टी बाँधने के लिये बाध्य करता है।)
६ आखेटक वीर समय (मृगया वर्णन)
७ नाहर राय समय (नाहर राय से युद्ध)
८ मेवाती मुग़ल समय (मेवातियों से युद्ध)
९ हुसेन कथा समय (शहाबुद्दीन से हुसेन के पीछे युद्ध. जिसने पृथ्वीराज की शरण ली थी।)
१० आखेटक चूक वर्णन (शहाबुद्दीन के द्वारा आखेट में पृथ्वीराज पर आक्रमण, पर उसकी पराजय)
११ चित्ररेखा समय (गक्कर कुमारी जो शहाबुद्दीन की प्रियतमा थी और जिसे लेकर हुसेन पृथ्वीराज के समीप भाग आया था।)
१२ भोलाराय समय (गुजरात के भोला राय से युद्ध)
१३ सलख युद्ध समय (सलख के द्वारा सुलतान का फिर बन्दी होना पर उसका उद्धार)

१४ इंछिनी ब्याह कथा (पृथ्वीराज का इंछिनी से विवाह)

१५ मुगल जुद्ध कथा (मुगलों से युद्ध)

१६ पुंडीर दाहिनी ब्याह कथा (दाहिनी से ब्याह)

१७ भूमि स्वप्न प्रस्ताव

१८ दिल्ली दान प्रस्ताव (अनङ्गपाल के द्वारा पृथ्वीराज को दिल्ली का उपहार)

१९ माधो भाट कथा (माधो भाट का आगमन; शहाबुद्दीन का पुनः आक्रमण पर पराजय)

२० पद्मावती ब्याह कथा (पद्मावती से ब्याह)

२१ पृथा ब्याह कथा (चित्रकोट के राजा समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहन पृथा का ब्याह)

२२ होली कथा (होलिकोत्सव का वर्णन)

२३ दीपमालिका कथा (दीपमालिकोत्सव का वर्णन ।)

२४ धन कथा (खत्त वन में पृथ्वीराज को खज़ाने की प्राप्ति)

२५ शशिव्रता वर्णन (देवगिरि के राजा की पुत्री का पृथ्वीराज द्वारा हरण और फलस्वरूप कन्नौज के राजा जयचन्द से युद्ध)

२६ देवगिरि समय (जयचन्द के द्वारा देवगिरि का घेरा, पृथ्वीराज के सेनापति चामण्डराय द्वारा जयचन्द की हार)

२७ रेवातट समय (सुल्तान शहाबुद्दीन से रेवातट पर युद्ध)

२८ अनङ्गपाल समय (अनङ्गपाल का दिल्ली आगमन पर फिर बद्रीनाथ गमन)

२९ घघर नदी की लड़ाई (सुल्तान शहाबुद्दीन से घघर नदी पर युद्ध)

३० करनाटि पात्र गमन (पृथ्वीराज का करनाट गमन)

३१ पीपा जुद्ध

३२ करहरा जुद्ध

३३ इन्द्रावती ब्याह

३४ जैतराय जुद्ध (जैतराय द्वारा सुलतान की फिर पराजय, जिसने धोखे से मृगया करते समय पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था।)

३५ कांगुरा जुद्ध प्रस्ताव (कांगुरा किले पर पृथ्वीराज की विजय)

३६ हंसवती नाम प्रस्ताव (हंसवती से ब्याह)

३७ पहाड़राय समय

३८ वरण कथा

३९ सोमेश्वर वध (गुज़रात के भोला भीम के द्वारा पृथ्वीराज के पिता का वध)

४० पज्जून छोंगा नाम प्रस्ताव

४१ चालूक्य प्रस्ताव

४२ चन्द द्वारिका गमन—(चन्द की द्वारिका को तीर्थ-यात्रा)

४३ कैमास जुद्ध (पृथ्वीराज का सेनापति कैमास द्वारा फिर सुलतान का पकड़ा जाना)

४४ भीम वध (अपने पितृघाती भीम का, पृथ्वीराज द्वारा वध)

४५ विनय मङ्गल नाम प्रस्ताव—(संयोगिता के पूर्व जन्म की कथा—उसकी तपस्या।)

४६ विनय मङ्गल।

४७ सुक वर्णन।

४८ बालुकाराय प्रस्ताव।

४९ पङ्ग जज्ञ विध्वंस समय

५० संजोगिता नेम प्रस्ताव (संजोगिता का पृथ्वीराज से विवाह करने का प्रण)

५१ हंसी पुर प्रथम जुद्ध।

५२ हंसी द्वितीय जुद्ध।

५३ पज्जून महोबा प्रस्ताव।

५४ पज्जून पातिसाह जुद्ध प्रस्ताव (दसवीं बार सुलतान का फिर बन्दी होना पर उसे फिर छोड़ देना)

५५ सामंत पङ्ग जुद्ध प्रस्ताव।

५६ समर पङ्ग जुद्ध प्रस्ताव।

५७ कैमाश वध समय।

५८ दुर्गा केदार समय।

५९ दिल्ली वर्णन।

६० जङ्गम कथा।

६१ कनवज्ज जुद्ध कथा (कन्नौज के राजा जयचन्द से युद्ध, सारे महाकाव्य में सबसे बड़ा 'समय')

६२ शुक चरित्र।

६३ आखेट चाख श्राप प्रस्ताव।

६४ धीर पुण्डीर प्रस्ताव (पुण्डीर का फिर सुलतान को बन्दी करना पर उसे मुक्त कर देना)

६५ विवाह सम्यौ (पृथ्वीराज को स्त्रियों की सूची।)

६६ बड़ी लड़ाई (पृथ्वीराज का सुलतान से लड़ाई में पराजित और बन्दी होना)

६७ बान वेध सम्यौ (युद्ध के बाद चन्द का गजनी पहुँचकर पृथ्वीराज का शब्दवेधी बाण से सुलतान को मारना)

६८ राजा रैनसी नाम प्रस्ताव (पृथ्वीराज के पुत्र नारायणसिंह का दिल्ली में राज्याभिषेक पर उसका वध और दिल्ली का पतन)

६९ महोबा जुद्ध प्रस्ताव।

यदि रासो की कथा-वस्तु पर दृष्टि डाली जावे तो ज्ञात होगा कि निम्नलिखित घटनाओं पर रासोकार ने बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है :—

१. पृथ्वीराज के शौर्य

(अ) शहाबुद्दीन गोरी से युद्ध करना। उसे अनेक बार पराजित कर अपनी उदारता और वीरत्व का आदर्श रख, मुक्त कर देना।

(आ) अनेक प्रदेशों पर चढ़ाई कर उनके राजाओं को पराजित करना।

(इ) अपने आत्म-सम्मान के लिये शरणागत (हुसेन) की रक्षा कर अपनी दृढ़ता का परिचय देना।

२. पृथ्वीराज के विवाह

इंछनी, पद्मावती, शशिव्रता, इन्द्रावती, हंसवती, संयोगिता आदि से विवाह। ६५ वे सम्यौ (विवाह सम्यौ) में इनकी सूची तक बनाई गई है।

३. पृथ्वीराज के आखेट

४. पृथ्वीराज के विलास—होली तथा दीपमालिका के उत्सव।

इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में पृथ्वीराज की गुण-गाथा और उसका शौर्य-प्रदर्शन है। सक्षेप में रासो की कथा इस प्रकार है :—

अर्णोराज अजमेर के राजा थे। वे चौहान-वंशीय थे। उनके पुत्र का नाम सोमेश्वर था। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमरवंशी राजा अनङ्गपाल की कन्या कमला से हुआ था। पृथ्वीराज सोमेश्वर और कमला के ही पुत्र थे। कमला की एक वहिन और थी। उसका नाम था सुन्दरी। उसका विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से हुआ था। इसके पुत्र का नाम जयचन्द राठौर था। दिल्ली के राजा अनङ्गपाल ने जब पृथ्वीराज को गोद लिया तो इससे दिल्ली और अजमेर एक ही राज्य के अन्तर्गत हो गये। यह बात कन्नौज के राठौर जयचन्द को बहुत बुरी लगी। उसने अपना महत्त्व प्रदर्शित करने के लिये एक राजसूय यज्ञ का विधान किया, जिसमें अनेक राजे सम्मिलित हुए। पृथ्वीराज ने इसे अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझ कर वहाँ जाना

अस्वीकार किया। इस पर क्रुद्ध होकर जयचन्द ने पृथ्वीराज की स्वर्ण निर्मित प्रतिमा द्वारपाल के रूप में दरवाजे पर रखवा दी। उसी अवसर पर जयचन्द ने अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयवर भी किया। संयोगिता पहले से ही पृथ्वीराज पर अनुरक्त थी। उसने जयमाल पृथ्वीराज की स्वर्ण-प्रतिमा के गले में डाल दी। पृथ्वीराज ने आकर सयोगिता से गन्धर्व विवाह किया और उसे हरण कर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में जयचन्द की सेना से बहुत युद्ध हुआ पर पृथ्वीराज ही अन्त में विजयी हुए। दिल्ली आकर पृथ्वीराज ने विलास की सेज सजाई। राज्य-प्रबन्ध में वह सतर्कता नहीं रही।

इसी समय शहाबुद्दीन गोरी अपने यहाँ के एक पठान-सरदार की प्रेमिका चित्ररेखा पर मुग्ध हुआ। वह पठान-सरदार भाग कर पृथ्वीराज की शरण में आया। शरणागत-वत्सल पृथ्वीराज ने उसे आश्रय दिया। गोरी ने उसे लौटा देने के लिये कहला भेजा पर पृथ्वीराज ने अपनी धर्मवीरता का आदर्श सामने रख कर ऐसा करना अस्वीकार किया। गोरी ने अनेक बार पृथ्वीराज से लोहा लिया पर प्रत्येक समय पराजित हुआ। इस बीच में पृथ्वीराज ने अनेक विवाह किए और अनेक राजाओं से लड़ाइयाँ लड़ीं। अन्त में बारहवीं बार गोरी ने पृथ्वीराज को हरा कर क़ैद किया और उसे गजनी भेज दिया। वहाँ उसकी आँखे निकलवा ली गईं। कुछ दिनों बाद चन्द भी 'रासो' को अपने पुत्र जल्हन के हाथ देकर गजनी पहुँचा और अपने स्वामी पृथ्वीराज से मिला। चन्द के सङ्केत से पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण से गोरी को मारा। तत्पश्चात् चद और पृथ्वीराज एक दूसरे को मार कर मर गये।

रासो की इस कथा ने तथा इसमें लिखित संवतों ने इस ग्रथ को बहुत अप्रामाणिक बना दिया है। अब तो बहुत से विद्वान् 'पृथ्वी-राज-विजय' नामक एक नये ग्रंथ के प्रकाश मे इसे जाली समझते हैं। प्रोफ़ेसर बुलर ने रायल एशियाटिक सोसाइटी को लिखे गए अप्रैल

सन् १८९३ के अपने पत्र में[1] इस विषय में अपनी निश्चित धारणा प्रकट करते हुए लिखा है :—

"पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में मैं एकेडमी के लिये एक 'नोट' तैयार कर रहा हूँ और जो उसे जाली मानते हैं, उन्हीं के पक्ष में अपना मत दूँगा। मेरे एक शिष्य मि० जेम्स मारीसन ने संस्कृत 'पृथ्वीराज विजय' का अध्ययन कर लिया है जिसे मैंने जोनराज की टीका के साथ (जो सन् १४५०-७५ के बीच लिखी गई थी) सन् १८७५ में काश्मीर में प्राप्त किया था। ग्रन्थकार निश्चित रूप से पृथ्वीराज का समकालीन था और उसके राज-कवियों में एक था। वह सम्भवतः काश्मीरी था और अच्छा कवि और पंडित भी था। उसके द्वारा वर्णित चौहानों का वर्णन चन्द के वर्णन से प्रत्येक विवरण में भिन्न है और वह वि० स० १०३० और १२२५ के शिलालेखों से मिलता है। पृथ्वीराज का वंश-वर्णन उसी प्रकार है जैसा हम इन शिलालेखों में पाते हैं। अन्य बहुत से विवरण जो 'विजय' से मिलते हैं अन्य साक्ष्यों से भी मिलते हैं, (जैसे मालवा और गुजरात के शिलालेख)

पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर अर्णोराज के पुत्र थे और उनकी चालुक्य स्त्री कांचनदेवी गुजरात के महाराज जयसिंह सिद्धराज की लड़की थीं। अर्णोराज की प्रथम स्त्री मारवाड़ की राजकन्या सुधवा थीं जिनके दो पुत्र हुए। एक का नाम न तो 'विजय' में दिया हुआ है और न शिलालेखों में। दूसरा था विग्रहराज वीसलदेव।

अविदित नाम वाले ज्येष्ठ लड़के ने अपने पिता की हत्या कर दी, जैसा कवि कहता है :—'उसने वैसा ही व्यवहार किया जैसा भृगु के पुत्र (परशुराम) ने अपनी माता के साथ किया। और एक दुर्गन्धि छोड़ कर बत्ती के समान बुझ गया।' विग्रहराज पिता के बाद

---

१. प्रोसीडिंग्स अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल, फार एप्रिल, १८९३

सिंहासनासीन हुआ। उसके बाद उसका पुत्र राजा हुआ और तब पितृघाती का पुत्र पृथ्वीभट्ट या पृथ्वीराज सिंहासन पर बैठा।

उसके बाद मंत्रियों द्वारा सोमेश्वर गद्दी पर बिठाया गया। इस लम्बे समय तक वह विदेशों में था। उसके नाना जयसिंह ने उसे शिक्षा दी थी। इसके बाद वह चेदि की राजधानी त्रिपुर गया और उसने चेदि राजा की कन्या कर्पूरदेवी से विवाह किया। उससे पृथ्वीराज (कथा के नायक) हरिराज उत्पन्न हुए। अजमेरु की गद्दी पर बैठने के उपरान्त ही सोमेश्वर मर गया। कर्पूरदेवी ने अपने पुत्र की छोटी अवस्था में राज्य का शासन कादम्बवास मंत्री की सहायता से किया।

उस कथन का पता भी नहीं है कि पृथ्वीराज दिल्ली के राजा अनङ्गपाल की लड़की के पुत्र थे या वे उसके दत्तक पुत्र थे और विशेष बात यह है कि प्राचीन मुसलमान इतिहासकार पृथ्वीराज का दिल्ली पर शासन करना लिखते भी नहीं हैं। उनके अनुसार वे केवल अजमेर के राजा थे और उनका वध भी विजेताओं द्वारा जिन्हें उन्होंने अपने देश में शक्ति दे रक्खी थी, राजद्रोह के कारण अजमेर में हुआ।

मैं समझता हूँ, इस काल के इतिहास पर पुनर्विचार की आवश्यकता है और चन्द का 'रासो' अप्रकाशित ही रहने दिया जाय। वह जाली है, जैसा जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदान ने बहुत पहले कहा है। 'विजय' के अनुसार पृथ्वीराज के वन्दिराज या प्रधान कवि का नाम पृथ्वीभट्ट था न कि चन्दबरदाई।"

अपने इस पत्र में डा० बुलर ने जिस 'पृथ्वीराज विजय' का उल्लेख किया है वह उन्हें काश्मीर में संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों की खोज में मिला था। उसकी रिपोर्ट उन्होंने सन् १८७७ में प्रकाशित की थी।[१] वे

१ डिटेल्ड रिपोर्ट अव् ए टूअर इन सर्च अव् संस्कृत मेनसक्रिप्ट्स मेड इन काश्मीर, राजपूताना, सेंट्रल इण्डिया बाइ डा० जी० बुलर पबलिश्ड इन दि एक्स्ट्रा नम्बर अव् दि जर्नल अव् दि बाम्बे ब्रांच अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी इन १८७७.

'विजय' को पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं, क्योंकि उसमें वर्णित घटनाओं का विवरण तत्कालीन लिखे हुए शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक विवरणों से पुष्ट हो जाता है। हरविलास शारदा भी इसे प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।

पृथ्वीराज-विजय

(जयानक)

ऐतिहासिकता की दृष्टि से पृथ्वीराज-विजय का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसमें अन्तिम हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज चौहान (अजमेर) का वीरत्वपूर्ण-वर्णन है। इस ग्रन्थ की केवल एक ही प्रति प्राप्त है जो शारदा लिपि में लिखी गई है और पूना के दक्षिण कालेज लायब्रेरी में सुरक्षित है। यह प्रति डा० बुलर द्वारा काश्मीर में प्राप्त की गई थी, जब वे सन् १८७५ में संस्कृत ग्रन्थों की खोज में वहाँ पर्यटन कर रहे थे।

हस्त-लिखित प्रति बहुत ही खराब दशा में है। प्राचीन होने के कारण प्रति के नीचे का हिस्सा टूट गया है जिससे पाठ का क्रम भङ्ग हो जाता है। उस पुस्तक में जो बारह सर्ग प्राप्त हुए हैं उनमें से एक भी सम्पूर्ण नहीं हैं। प्रारम्भिक भाग भी नहीं है। बाएँ हाथ की ओर का स्थान जहाँ पृष्ठ-संख्या दी हुई है, भङ्ग हो गया है, जिससे पृष्ठों का तारतम्य भी नहीं मिलाया जा सकता। केवल सन्दर्भ के द्वारा पृष्ठ क्रम से लगाये जा सकते हैं। हस्तलिखित प्रति में लेखक का नाम भी नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का लेखक पृथ्वीराज का दरबारी कवि रहा होगा, क्योंकि प्रथम सर्ग में पृथ्वीराज के उस ग्रन्थ के सुनने की इच्छा का निर्देश है। लेखक काश्मीरी पण्डित ही होगा क्योंकि :—

१—मङ्गलाचरण और प्रारम्भ में कवियों की आलोचना विल्हण की रीति के अनुसार ही है।

२—काश्मीर की अत्यधिक प्रशंसा है।

है। उसी वंश में अजयराज की प्रशंसा जिसने अजयमेरु (अजमेर) नगर अपने नाम पर बसाया। अजमेर के वैभव का वर्णन है।

षष्ठ सर्ग—अजयराज के पुत्र अर्णोराज का वर्णन। मुसलमानों पर उसकी विजय। अर्णोराज की दो रानियाँ थीं, सुधवा (अवीजिया मारवाड़) और कञ्चनदेवी (गुजरात)। सुधवा के तीन पुत्र हुए, जिनमें विग्रहराज सतोगुणी था। कञ्चनदेवी से सोमेश्वर हुआ। सोमेश्वर के पुत्र के विषय में भविष्यवाणी है कि वह राम का अवतार होगा। सोमेश्वर अपने नाना के यहाँ ले जाया गया, वहीं उसका पालन हुआ।

सप्तम सर्ग—बाल्यावस्था में सोमेश्वर के पालक कुमारपाल का वर्णन। सोमेश्वर ने युद्ध में अपनी ही तलवार से कोकन के राजा का सिर काट लिया। सोमेश्वर का विवाह त्रिपुरि (आधुनिक जबलपुर के समीप) के राजा की लड़की कर्पूरदेवी से हुआ। पृथ्वीराज का जन्म वैशाख शुक्लपक्ष में हुआ (सम्वत् का निर्देश नहीं है)

अष्टम सर्ग—पृथ्वीराज का जन्मोत्सव। कर्पूरदेवी से द्वितीय पुत्र हरिराज का जन्म। विग्रहराज आदि की मृत्यु के उपरान्त मंत्रियों द्वारा सोमेश्वर का सपादलक्ष (अजमेर) लाया जाना। कर्पूरदेवी का दोनों पुत्रों, पृथ्वीराज और हरिराज सहित आगमन। सोमेश्वर का नूतन रूप से नगर निर्माण। सोमेश्वर की मृत्यु।

नवम सर्ग—दोनों पुत्रों की बाल्यावस्था के कारण कर्पूरदेवी का शासन। नगर की वैभव-वृद्धि। पृथ्वीराज की शिक्षा। पृथ्वीराज का सौन्दर्य। पृथ्वीराज के मंत्री कादम्बवास का सुयोग्य मंत्रित्व। पृथ्वीराज का रामावतार के रूप में वर्णन,

कादम्बवाम का हनुमान के रूप में, हरिराज का लक्ष्मण के रूप में।

दशम सर्ग—पृथ्वीराज का यौवन। अनेक राजकुमारियों की उनके साथ विवाह करने की लालसा। पृथ्वीराज का युद्ध-वर्णन। ग़जनी को अधिकार में कर लेने के बाद ग़ोरी की महत्त्वाकांक्षा। उसके दूत का अजमेर में आगमन। पृथ्वीराज के वीरों का शौर्य-वर्णन।

एकादश सर्ग—कादम्बवाम का ग़ोरी से युद्ध करना गरुड़ का सर्पों से युद्ध करने के समान वर्णन करना। इसी समय गुजरात के राजा भीमदेव द्वारा ग़ोरी के पराजित होने का समाचार मिलना। हर्षोत्साह। पृथ्वीराज का अपनी चित्र-शाला में प्रस्थान। वहाँ चित्रों को देख प्रेमावेग से पृथ्वीराज का उद्विग्न हो जाना।

द्वादश सर्ग—परम विद्वान् जयानक कवि का पृथ्वीराज के दरबार में आना। हस्तलिखित ग्रंथ के अन्तिम पृष्ठ में इस बात की छाया है कि कवि छः भाषाओं को जानता है और उसे सरस्वती से आज्ञा मिली है कि वह विष्णु के अवतार पृथ्वीराज की सेवा करे।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ कितना बड़ा है, पर यह निश्चय है कि इस ग्रंथ में और भी सर्ग अवश्य रहे होंगे। इसमें ग़ोरी और पृथ्वीराज की विजय का वर्णन तो अवश्य ही होना चाहिए, क्योंकि वह पृथ्वीराज की सब से बड़ी विजय है और उसका इस ग्रंथ में विशेष स्थान रहना चाहिए। ग्रंथ का नाम ही ऐसा है।

इस प्रकार जहाँ तक ऐतिहासिक घटनाओं से संबंध है, पृथ्वीराज रासो बहुत भ्रमपूर्ण है।[1] विजय में पृथ्वीराज के संबंध

---

१. दि इंपीरियल गज़ेटियर अव् इंडिया, भाग २, पृष्ठ ३०४

में जो वर्णन मिलता है वह चौहानों के शिलालेखों से पूर्ण साम्य रखता है। मुन्शी देवीप्रसाद का कथन है कि 'रासो' में पृथ्वीराज की वीरता का परिचय देने के लिए रासोकार ने बहुत से राजाओं के झूठे नाम लिख रखे हैं।

आबू पहाड़ के राजा जेत और शलख शिलालेखों में कहीं भी नहीं मिलते। आबू पर उस समय धारावर्ष परमार राज्य करता था, जिसका उल्लेख कहीं नहीं है। पृथ्वीराज की शक्ति का परिचय देने के लिए अनेक राजाओं का पृथ्वीराज के हाथों मारा जाना लिखा है। गुजरात के राजा भीमदेव पृथ्वीराज के हाथों मारे गए, किन्तु शिलालेखों के अनुसार वे स० १२७२ तक जीवित रहे। शहाबुद्दीन गोरी भी पृथ्वीराज के तीर से नहीं मारा गया। स० १२६० में गक्करों के हाथों उसकी मृत्यु हुई। पृथ्वीराज से सौ वर्ष बाद के राजाओं को उसका समकालीन होना लिखा गया है। चित्तौड़ के रावल समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह होना वर्णित है। किन्तु समरसी के शिलालेख सं० १३३५–१३४२ के भी मिलते हैं।[1] इस प्रकार 'रासो' मे केवल ऐतिहासिक घटनाओं ही में नहीं, वरन् तिथियों में भी भूलें भरी पड़ी हैं। कपोलकल्पित और मनमानी कथाएँ इतनी अधिक हैं कि वे अविश्वसनीय भी हैं और उनका इतिहास से कोई सम्बन्ध भी नहीं पाया जाता।

कविराज श्यामलदास ने इसकी अप्रामाणिकता स्थान-स्थान पर निर्देशित की है।[2] वे इसे पृथ्वीराज के समय से अनेकों शताब्दियों बाद राजपूताने के किसी चारण अथवा भट्ट द्वारा अपनी जाति के महत्त्व और चौहान वंश के गौरव के प्रदर्शित करने के लिए लिखा

---

१ मुंशी देवीप्रसाद लिखित पृथ्वीराज रासो शीर्षक लेख, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका सं० १६०१, भाग ५, पृष्ठ १७०

२ जर्नल अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी अव् बेंगाल (१८७३) पृष्ठ १६७

गया मानते हैं। यह ग्रन्थ-रचना राजस्थान में ही हुई है, क्योंकि 'रासो' में प्रयुक्त बहुत से प्रयोग ऐसे हैं, जो केवल राजस्थान में ही बोले और समझे जाते हैं। जैसे :—

यह घात सद्ध गोरी सुवर
करूँ चूक कै सज्ज रन

(आखेट चूक, पाँचवीं चौपाई)

चूक करने का अर्थ है छल से वध करना। इस अर्थ में यह राजस्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में नहीं बोला जाता। इसी प्रकार अनेक प्रयोग दिये जा सकते हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'रासो' की प्रामाणिकता के विषय में बहुत कुछ लिखा है।[1] उनका कथन है कि पृथ्वीराज, जयचन्द, कालिंजर के राजा परमार दिदेवा के विषय में प्राप्त दान-पत्र और शिलालेख एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। गोरी के सम्बन्ध में रेवर्टी की तबक़ात-इ-नासिरी भी उक्त सम्वतों से साम्य रखती है। चन्द ने पृथ्वीराज का जन्म काल संवत् १११५, पृथ्वीराज का गोद जाना सवत् ११२२, कन्नौज गमन संवत् ११५१ और शहाबुद्दीन गोरी के साथ अन्तिम युद्ध सवत् ११५८ लिखा है। तबक़ात-इ नासिरी में अन्तिम युद्ध का समय हिजरी ५८८ दिया गया है, जो सं० १२४८ होता है। वास्तविक तिथि से चन्द का संवत् ९० वर्ष पीछे है। अन्य घटनाओं का भी यही संवत् इतिहास-विरुद्ध है। अतएव इस भूल में अवश्य कोई कारण है।

हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों के अनुसंधान में पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या से ९ प्राचीन परवानों और पट्टों की प्राप्ति हुई है। उनसे यह ज्ञात होता है कि ऋषीकेश जिसका वर्णन उक्त परवानों में है, कोई बड़ा वैद्य था, जो पृथा के विवाह में सरमसी को दहेज में

---

१ श्यामसुन्दर दास—हिन्दी का आदि कवि
नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९०१, भाग ५, पृष्ठ १७५।

दिया गया था। पृथाबाई ने जो अन्तिम पत्र अपने पुत्र को लिखा था उसमें उन चार घर के लोगों का उल्लेख है जो उनके साथ चित्तौड़ से आए थे। उनका वर्णन 'रासो' में इस प्रकार है :—

श्रीपत साह सुजान देश थम्मह संग दिन्नो।
अरु प्रोहित गुरुराम ताहि अग्या नृप किन्नो॥
रिषीकेष दिये ब्रह्म ताहि धनन्तर पद सोहे।
चन्द सुतन कवि जल्ह असुर सुर नर मन मोहे॥

इस तरह श्रीपत शाह गुरुराम प्रोहित, ऋषीकेश और चन्द-पुत्र जल्हन का वर्णन है।

पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है, उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय संवत् ११२२ विदित होता है।

चन्द ने अपने रासो के दिल्ली दान सम्यौ में लिखा है :—

एकादस संवत अट्ठ अग्ग हत तीस भने। =(सवत् ११२२)

सवतों में नियमित रूप से ६० या ६१ वर्षों की भूल होती है। संभवतः पृथ्वीराज का 'साक' चलाने के लिए ही एक नवीन सवत् की कल्पना कर ली गई हो। आदिपर्व में चन्द ने लिखा ही है :—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रुम सुत्त।
त्रतिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्रगुन गुप्त॥

अथवा एक कारण यह भी हो सकता है कि जयचन्द के पूर्व राजाओं से लेकर स्वयं जयचन्द ने केवल ६०-६१ वर्ष राज्य किया। जयचन्द से वैमनस्य होने के कारण कवि ने उसके राजत्व-काल को न गिना हो। इसलिए ६०-६१ वर्ष का अन्तर पड़ गया हो।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा की है। इधर के विद्वानों ने उसे एकमात्र अप्रामाणिक माना है। यहाँ तक कि सर जार्ज ग्रियर्सन भी उसके सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं रखते। उनके विचार में वे कहते हैं :

तत्कालीन इतिहास है।[1] यद्यपि यह ग्रंथ संदिग्ध माना गया है तथापि सच बात तो यह है कि संस्कृत महाभारत की भाँति इसमें इतने अंश प्रक्षिप्त हैं कि वास्तविक ग्रंथ में से क्षेपकों को अलग करना असम्भव है। अत: 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हो गए हैं।

श्री मुरारीदान और श्यामलदान ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में 'रासो' की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया था। उनके मत से सहमत होकर और 'पृथ्वीराज विजय' की सामग्री से विश्वस्त होकर ही डॉ० बुलर ने रायल एशियाटिक सोसाइटी से 'रासो' का प्रकाशन स्थगित करा दिया था। मुंशी देवीप्रसाद ने भी 'पृथ्वीराज रासो' शीर्षक लेख में 'रासो' के प्रति अश्रद्धा प्रकट की थी[2] और उसे ऐतिहासिक महत्त्व से शून्य बतलाया था। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा पुरातत्व के आचार्य समझे जाते हैं। उन्होंने भी 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक लेख लिख कर 'पृथ्वीराज रासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध की है।[3]

दूसरी ओर श्री श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धु इस ग्रन्थ को जाली नहीं मानते। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'नवरत्न'[4] में तो ओझा जी के प्रमाणों को युक्तिपूर्वक निरर्थक भी बतलाया है। श्री श्यामसुन्दर दास और श्री मिश्रबन्धु 'रासो' को अनेक प्रक्षिप्त अंशों से पूर्ण अवश्य मानते हैं, पर उसकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट नहीं करते। प्रोफेसर रमाकान्त त्रिपाठी ने भी महाकवि चन्द के वंशधर श्री नेनूराम जी ब्रह्मभट्ट (जो महाकवि चन्द से २७ वीं पीढ़ी में हैं) का परिचय देते

---

१ इंपीरियल गज़ेटियर अव् इंडिया, भाग २, पृष्ठ ४२७

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १६०१, भाग ५, पृष्ठ १७०

३ वही, भाग १०, अंक १-२

४. नवरत्न (गङ्गा ग्रन्थागार, लखनऊ) संवत् १६६१

हुए[1] पृथ्वीराज रासो की एक प्राचीन प्रति का परिचय दिया है, जिसका रचना-काल संवत् १४५५ है।

"सवत् १४५५ वरषे शरद ऋतौ आश्विन मासे शुक्ल पक्षे उदयात् घटी १६ चतुरथी दिवसे लिषतं। श्रीषरतरगच्छधिराजे, पण्डित श्री० रूप जी लिषत। चेलः श्री० सोभा जीरा। कपासन मध्ये लिपिकृतं।"

नेनूराम जी स्वय कहते हैं कि रासो का अधिकतर अंश प्रक्षिप्त है और वह सोलहवीं शताब्दी में जोड़ा गया है। नेनूराम जी के पास सुरक्षित प्रति जिसका लिपि काल सं० १४५५ है, यह स्पष्ट सिद्ध करती है कि 'रासो' विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व भी विद्यमान था जिसके आधार पर उक्त प्रति की प्रतिलिपि की गई होगी। किन्तु नेनूराम जी की प्रति अभी तक आलोचकों के सम्मुख नहीं आई और उसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ विचार भी नहीं हुआ। अतः इस प्रति के सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रक्षिप्त अशों के विषय में विचार करते हुए पं० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने भी चंद के वशधर जदुनाथ के संवत् १८०० के स्वरचित्त ग्रन्थ 'वृत्त विलास' का निर्देश किया था और लिखा था कि उस ग्रन्थ में जदुनाथ ने चद के 'रासो' का वही आकार बतलाया है, जो उसका वर्तमान आकार है। ओझा जी लिखते हैं कि "जदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रन्थ अवश्य होगा; जिसके आधार पर उसने उक्त ग्रथ का परिमाण लिखा होगा।"[2] इसका उत्तर श्री मिश्रबन्धु ने बड़ी झुँझलाहट से दिया है। वे लिखते हैं :—

---

१. महाकवि चन्द के वशधर ('चाँद' मारवाड़ी-अक, वर्ष ८, खण्ड १, नवम्बर १९२९, पृष्ठ १४९)

२ पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल (ना० प्र० पत्रिका, भाग १०, पृष्ठ ६४)

"आपकी समझ में सं० १२४८ से सं० १८०० तक रासो में कोई क्षेपक का बढ़ना असंभव था, और यदुनाथ पूरे ६०० वर्षों के रासो सम्बन्धी आकार के ख़ज़ान्ची बने-बनाए हैं। आपको तो रासो मिट्टी में मिलाना है, सो कोई भी प्रमाण इसके लिये अकाट्य क्षमता रखता है।[1]"

एक बात अवश्य है कि प्रक्षिप्त अशों के विषय में ओझा जी ने जो धारणा बनाई है, वह जदुनाथ के सम्वत् १८०० के 'वृत्त विलास' के आधार पर है। श्री नेनूराम की प्रति सम्वत् १४५५ की है, जिसमें भी प्रक्षिप्त अंश हैं और जिन्हें नेनूराम जी सोलहवीं शताब्दी के लगभग डाले गये बतलाते हैं। कहा नहीं जा सकता कि श्री ओझा जी ने नेनूराम की रासो की सम्वत् १४५५ वाली प्रति देखी है या नहीं।

यदि नेनूराम जी की १४५५ वाली प्रति ठीक है, तब एक विचारणीय विषय और उपस्थित होता है। वह यह कि श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा 'पृथ्वीराज रासो' की रचना संवत् १४६० से पहले मानते ही नहीं हैं। उनका कथन है :

"वि० सं० १४६० में 'हम्मीर काव्य' बना..। उसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है, परन्तु उसमें पृथ्वीराज रासो के अनुसार चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और न उसकी वंशावली को आधार माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि 'रासो' की प्रसिद्धि हो गई होती, तो 'हम्मीर महाकाव्य' का लेखक उसी के आधार पर चलता।"[2]

पृथ्वीराज रासो का समय निर्णय करते हुए ओझा जी लिखते हैं :—

"महाराणा कुम्भकर्ण ने वि० स० १५१७ में कुम्भलगढ़ के क़िले

---

१. हिन्दी नवरत्न (गङ्गा ग्रन्थागार, लखनऊ सं० १९९१) पृष्ठ ६०६-१०

२ पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, ना० प्र० पत्रिका भाग १०, पृष्ठ ६०

की प्रतिष्ठा की और वहाँ के मामादेव (कुम्भ स्वामी) के मन्दिर में बड़ी-बड़ी पाँच शिलाओं पर कई श्लोकों का एक विस्तृत लेख खुदवाया, जिसमें मेवाड़ के उस समय तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तान्त दिया है। उसमें समरसिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या उसके साथ शहाबुद्दीन की लड़ाई में मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है, परन्तु विक्रम संवत् १७३२ में महाराणा राजसिंह ने अपने बनवाए हुए राजसमुद्र तालाब के नौचौकी नामक बाँध पर २५ बड़ी बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया, जो अब तक विद्यमान है। उसके तीसरे सर्ग में लिखा है कि 'समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में वह मारा गया, जिसका वृत्तान्त भाषा के 'रासो' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है।' (राज प्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३) · निश्चित है कि रासो वि० सं० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय में बना होगा।[1]"

रासो को जाली ठहराने के लिए जो प्रमाण दिये गये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१ उसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियाँ हैं, जो शिलालेखों और 'पृथ्वीराज विजय' से सिद्ध हो जाती हैं।

२ उसमें तिथियाँ बिलकुल अशुद्ध दी गई हैं।

३. उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द बहुत से हैं, जो चन्द के समय किसी प्रकार भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे। ऐसे शब्द प्रायः दस प्रतिशत हैं।

४ भाषा अनुस्वारांत शब्दों से भरी हुई है और उसमें कोई स्थिरता नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द-रूपावली का कोई विचार ही नहीं है और शब्दों की रूपावली और नये पुराने ढंग की विभक्तियां बुरी तरह से मिली हुई हैं।

---

१. वही, पृष्ठ ६२

इन प्रमाणों के विरोध में मिश्रबन्धुओं ने बाबू श्यामसुन्दर दास से अनेक बातों में सहमत होकर अनेक दलीलें पेश की हैं।

(१) इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के वे तीन कारण समझते —

(अ) चंद ने अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रताप-कथन किया हो। कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है।

(आ) जो भ्रान्तियाँ मालूम पड़ती हैं, वे वास्तव में भ्रान्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित कुछ तत्कालीन पट्टे परवानों से उनकी पुष्टि होती है। यदि ओझा जी इन्हें जाली मानते हैं तो यह उनका "साहस मात्र" है।

(इ) यदि ये वास्तव में भ्रान्तियाँ हैं, तो क्षेपकों के कारण हो सकती हैं।

(२) तिथियों के बारे में श्री मिश्रबन्धु निम्न-लिखित कारण देते हैं :—

'रासो' के संवत् विक्रम सवत् से ९० वर्ष कम हैं। यह अतर सभी तिथियों में दीख पड़ता है। इसका कारण यह है कि "रासो में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। उसमें किसी ऐसे सम्वत् का प्रयोग हुआ है, जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ९० वर्ष पीछे था।" यह आनन्द संवत् कहा गया है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या जी ने भी लिखा है कि समरसी के पट्टे परवानों में भी इस संवत् का प्रयोग किया गया है। बाप्पा रावल आदि के समय भी इसी सम्वत् से मिलाए जा सकते हैं। अतः जान पड़ता है कि उस समय राजों के यहाँ यही 'आनन्द' सम्वत् प्रचलित था।

(३) अरबी फारसी शब्दों के विषय में श्री मिश्रबन्धु बाबू श्यामसुन्दर दास के मत का निर्देश करते हुए दो कारण लिखते हैं :—

(अ) शहाबुद्दीन ग़ोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूट मार करने आ चुका था। ग़जनवी से तीन सौ वर्ष पहले भी सिंध और मुल्तान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पजाब भी मुसलमानी सस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था, अतः उसकी बाल्यावस्था से ही ये अरवी-फ़ारसी शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चन्द की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है।

(ब) 'रासो' का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है, अतः परवर्ती काल मे मुसलमानी आतक के साथ-साथ भाषा पर अरबी, फ़ारसी का आतक होना भी स्वाभाविक था ! इसी लिये प्रक्षिप्त अशों में और भी मुसलमानी शब्दों के आ जाने से रासो में दस प्रतिशत शब्द अरबी-फ़ारसी के आ गए हैं।

(४) भाषा की शब्द-रूपावली के सम्बन्ध में श्री मिश्रबन्धु का कथन है कि भाषा के नवीन रूप जहाँ 'रासो' की अर्वाचीनता को सिद्ध करते हैं वहाँ प्राचीन रूप 'रासो' की प्राचीनता को भी प्रमाणित करते हैं। प्रक्षिप्त अंशों के कारण ही भाषा की शब्द-रूपावली अर्वाचीन हो गई है। नहीं तो 'रासो' का वास्तविक रूप प्राचीनता ही लिए हुए है।

दोनों मतों के प्रमाणों को ध्यान में रखकर 'रासो' की प्रामाणिकता पर कुछ निश्चित रूप से कहना बहुत ही कठिन है। 'रासो' हमारे साहित्य का आदि ग्रन्थ है। वह प्राचीन काल से श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। उसमे हमारे साहित्य का श्रीगणेश हुआ है। अत उसके विरुद्ध कुछ कहना अपने साहित्य की प्राचीन सम्पत्ति को खो देना है। दोनों मतों में कौन मान्य है, यह तो भविष्य ही बतलावेगा, पर अभी तक जितनी खोज हुई है उसको दृष्टि मे रख कर मैं 'रासो'

को अप्रामाणिक मानने के लिये ही बाध्य हूँ। संक्षेप में कारण निम्न-लिखित हैं :—

१—इतिहास में अतिशयोक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। कवि अपने संरक्षक का प्रताप-वर्णन करने में पूर्ववर्ती और परवर्ती व्यक्तियों का अपने संरक्षक से सादृश्य नहीं करा सकता। कवि घटनाओं का विस्तार चाहे जितना कर दे, पर ऐतिहासिक व्यक्तियों के समय में व्यतिक्रम नहीं कर सकता। इसी आधार पर हम "गोरख की गोष्ठी", "बलख की पैंज", "मुहम्मद बोध" आदि कबीर के ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। वे कबीर के लिखे हुए नहीं हैं। कबीर के शिष्यों ने अपने गुरु का महत्त्व बतलाने के लिये गोरख, मुहम्मद और शाह बलख से उनका वार्तालाप करा कर अपने पथ के ज्ञान की प्रशसा की है। कबीर इन तीनों के समकालीन नही थे, और इस प्रकार वे इन व्यक्तियों के सम्पर्क में किसी प्रकार भी नहीं आ सकते थे। इसी प्रकार समरसी जो सम्वत् १३४२ में वर्तमान थे, किसी प्रकार भी पृथ्वीराज चौहान के समकालीन नहीं हो सकते। वे पृथ्वीराज चौहान के लगभग १०० वर्ष बाद हुए। उनका विवाह किसी प्रकार भी पृथ्वीराज की बहिन पृथा के साथ नहीं हो सकता। ये घटनाएँ किसी भाँति भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकतीं क्योंकि ये रासो की कथावस्तु के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्बद्ध हैं। रासो का 'बान वेध सम्यौ' तो कवि की मिथ्या कल्पना है।

२—तिथियों की अशुद्धता इतिहास के द्वारा प्रमाणित हो गई है। 'आनन्द' सम्वत् केवल क्लिष्ट कल्पना है। 'अनन्द' का अर्थ (अ=०, नन्द=९ इस प्रकार काव्य परिपाटी से ९०) मानना और संवतों में ९० कम होने का प्रमाण सिद्ध करना उपहासास्पद है। जयचन्द के पूर्व से लेकर स्वयं जयचन्द का ९०-९१ वर्ष राज्य करना और उससे वैमनस्य होने के कारण कवि का उसका राजत्व काल न गिनना एक विचित्र बात है।

३—अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग 'रासो' के सभी 'सम्यौ' में

समान रूप से है। किसी 'सम्यौ' के कितने अंश को प्राचीन और प्रामाणिक माना जावे और कितने को प्रक्षिप्त, यह निर्धारण करना बहुत कठिन है। यदि फारसी और अरबी शब्दों को निकाल कर 'रासो' का संस्करण किया जाय तो कथा का रूप ही विकृत हो जायगा। किस शब्द को निकाला जाय, और किसे न निकाला जाय, यह भी निश्चित करना बहुत कठिन है। फिर हमें 'रासो' में कुछ ऐसे फारसी शब्द मिलते हैं जो बिल्कुल अर्वाचीन अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे —

बँचि कागग्र चहुँआन ने फिर न चढ़ सर थान।[1]

यहाँ 'कागज बाँचना' पत्र पढ़ने के अर्थ में है, जिसका प्रयोग अर्वाचीन है। इस प्रकार "कुसादे कुसादे चवै मुष्प खान"[2] में 'कुसादे' का प्रयोग है।

४—भाषा की भिन्नकालीन विषमता तो 'रासो' की प्रामाणिकता को सबसे अधिक नष्ट करती है। एक ही छंद में शब्दों की विविध रूपावली के दर्शन होते हैं। क्या एक ही शब्द मे समय का इतना अधिक अन्तर हो जाता है जिससे शब्द का रूप ही बदल जावे? शब्दों और विभक्तियों की भिन्न रूपावली छन्दों में गुथी पड़ी है। यह किस प्रकार अलग की जा सकती है? २७ वें 'सम्यौ' में हम 'कागज्ज बाँचने' के मुहावरे पर विचार कर चुके हैं। उसी सम्यौ में "कागज्ज" को 'कग्गज़' के रूप में लिखा गया है[3] जिसका कोई विशेष कारण नहीं है। 'कग्गज' के स्थान मे कागज सरलतापूर्वक लिखा जा सकता था, क्योंकि 'दूहा' मात्रिक छन्द में दोनों की मात्राएँ बराबर हैं। एक ही 'सम्यौ' में—केवल २० छन्दों के अन्तर पर—शब्द की भिन्न रूपावली का क्या कारण हो सकता है?

---

१ पृथ्वीराज रासो—रेवातट सम्यौ, छन्द ३१

२ वही, छन्द ११७

३ वही, छन्द ११,

इसी प्रकार निम्न-लिखित कुछ शब्दों के कितने बहुत से रूप मिलते हैं :—

१ बात—बात, बत्त, बत, वत

२ शैल—सैल, सयल, सइल, सेलह

३ मनुष्य—मनुष, मानुष्य, मानष, मनष

४ एक—एक, इक, इकह, इकि, इक्क

व्यंजन भी कहीं संयुक्त रूप से सरल और सरल से संयुक्त हो गए हैं :—

१ पहुकर, पोक्खर

२ कम्र्म, कम्म, क्रम्म, काम

३ कारज, काज, कज्ज

४ अस्नान, सनान, न्हान।

कहा जा सकता है कि छन्द के अन्तर्गत मात्रा की पूर्ति के लिए कवि को शब्दों का रूप विकृत करना पड़ा। अथवा लेखक या लिपिकार से लिखने में भूल हो गई, किन्तु ये दोष इतने बड़े हैं कि इतने बड़े काव्यकार से नहीं हो सकते। फिर जहाँ वर्णवृत्त छन्द हैं, वहाँ भी शब्द-रूपों में भिन्नता है। अतएव इस ग्रन्थ की भाषा बहुत अनिश्चित है।[१] भाषा की प्रथम परिस्थिति में यह असंस्कृति हो सकती है, पर शब्दों के एक साथ इतने विकृत रूप नहीं हो सकते। रासो की सभी प्राप्त प्रतियों में ये दोष हैं। अतएव लिपिकार का दोष भी नहीं माना जा सकता।

५—'रासो' के प्रारम्भ में ईश्वर की वन्दना करने के बाद चन्द पहले तो ईश्वर को निराकार और निर्गुण कहते हैं जिसका रूप नहीं, रेखा नहीं, आकार नहीं—

" जिहित सबद नहीं रूप रेख आकार ब्रन्न नहीं"

---

१. जान बीम्स—ग्रामर अव् दि चंद बरदाई, जर्नल अव् एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल, भाग ४२, प्रकरण १, १८७३.

बाद में वे उसी ब्रह्म को ब्रह्मा के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। आगे चल कर दशावतार की कथा कही गई है। चन्द जैसा महाकवि क्या इतनी छोटी सी भूल कर सकता है?

६—'रासो' में अनेक वन्दनाएँ हैं—शिवस्तुति, ईश्वर-स्तुति, देवी-स्तुति, सूर्य-स्तुति आदि। यदि ये स्तुतियाँ चन्द ने लिखी होतीं तो इनका प्रभाव चारण काल के अन्य कवियों पर अवश्य पड़ता और वे भी अपने ग्रन्थ में स्तुतियाँ अवश्य लिखते, पर चारण काल के अन्य कवियों ने प्रारम्भिक मंगलाचरण के अतिरिक्त इस प्रकार की स्तुतियाँ लिखीं ही नहीं। चन्द जैसे महाकवि की शैली अवश्य ही परिवर्तित कवियों द्वारा मान्य होती। ये स्तुतियाँ तुलसीदास की विनय-पत्रिका की शिव, सूर्य, देवी आदि स्तुतियों की शैली से बहुत मिलती हैं। सम्भव है सत्रहवीं शताब्दी में जब तुलसीदास की ये स्तुतियाँ बहुत लोक प्रिय थीं, किसी कवि ने उसी प्रकार की स्तुतियाँ लिख कर 'रासो' में सन्निविष्ट कर दी हों।

इस समय तक 'रासो' को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने की सामग्री बहुत ही कम है। आज तक की सामग्री के सहारे 'रासो' को प्रामाणिक ग्रन्थ कहना इतिहास और साहित्य के आदर्शों की उपेक्षा करना है।

'पृथ्वीराज रासो' के बाद दो ग्रथों का उल्लेख मिलता है, जिनके सम्बध मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पहला ग्रथ है 'जयचद प्रकाश' जिसका कर्ता भट्ट केदार कहा जाता है। इसने कन्नौज के अधिपति जयचद की वीर-गाथा का गान किया है। इस ग्रथ का परिमाण भी अज्ञात है क्योंकि वह अभी तक अप्राप्य है, उसका केवल निर्देश मात्र 'राठौड़ा री ख्यात" नामक सग्रह-ग्रथ मे मिलता है, जिसका लेखक सिंघायच दयाल दास नामक कोई चारण था। अतः भट्ट केदार कृत 'जयचद प्रकाश हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल स्मरण कर लेने की वस्तु है। भट्ट केदार का समय सम्वत् १२२५ माना गया है।

भट्ट केदार

दूसरा ग्रथ 'जय मयंक जस चन्द्रिका' है, जिसमें जयचन्द की

कीर्ति सुरक्षित की गई है। इसका लेखक मधुकर नामक कवि है जिसका आविर्भाव काल सं० १२४० माना जाता है।

मधुकर

यह ग्रंथ भी अप्राप्य है और इसका उल्लेख भी उपर्युक्त 'ख्यात' में पाया जाता है। यह निस्सन्देह खेद का विषय है कि हिन्दी साहित्य के इस समुन्नत काल में भी राजस्थान में ग्रन्थों के लिए पर्याप्त खोज नहीं हुई। इतिहास की सामग्री से पूर्ण ऐसे बहुत से ग्रन्थ होंगे, जो अंधकार में पड़े हुए हैं और हम उनके वास्तविक रूप को नहीं जान सके हैं। डॉ० एल० पी० टेसीटरी द्वारा राजस्थान में चारण-काल के ग्रथों की जो खोज हुई है, उससे ही हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा काल के ग्रथों की खोज समाप्त नहीं हो जाती।

मुंशी देवीप्रसाद का तो कथन है कि चारणकाल के प्रभात में ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं; जो ऐतिहासिक और साहित्यिक होते हुए भी भली प्रकार से सुरक्षित नहीं रखे जा सके। "यदि ये संग्रह किये जायँ तो हिन्दुस्तान के इतिहास की अँधेरी कोठरी में कुछ उजाला हो जाय।" उन महत्वपूर्ण ग्रन्थों के सुरक्षित न रखे जाने का कारण यह था कि वे अधिकांश में डाढ़ी जाति के द्वारा लिखे गए थे। "डाढ़ियों का दर्जा नीचा होने से उनको चारण भाटों के समान राजाओं के दरबारों में जगह नहीं मिलती, इससे उनकी हिन्दी कविता उतनी मशहूर नहीं हुई है"।[१]

डाढ़ियों की कविता चारणों की कविता से भी पुरानी मानी जाती है। डाढ़ियों की फुटकर कविता तो अवश्य मिलती है, पर उनका कोई पूर्ण ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हुआ। एक पन्द्रहवीं शताब्दी का ग्रंथ अवश्य प्राप्त हुआ है जिसका नाम है 'वीरमायण'। उसमे राव वीरमजी राठौड़ का शौर्य वर्णन है। जिनका शासन-काल सम्वत्

---

१ भाट और चारणों का हिन्दी भाषा सम्बन्धी काम—मुंशी देवीप्रसाद। 'चाँद' (मारवाड़ी अंक) नवम्बर १९२९. पृष्ठ २०६।

१४३५ माना गया है। 'वीरमायण' के रचयिता ढाढ़ी का नाम अज्ञात है। वह राव वीरम जी राठौर के आश्रय में अवश्य था। कहा जाता है कि ऊदावत राठौड़ ही ढाढ़ियों को आश्रय देते थे। चाँपावत राठौड़ ढाढ़ियों को नीची जाति का मान कर उनकी अवहेलना करते थे। राजस्थान में एक कहावत भी है :—

चॉपा पालन चारणाँ ऊदा पालण डोम।

(अर्थात् चॉपावत राठौड़ तो चारणों को पालते हैं और ऊदावत डोमों को) चाहे ढाढ़ी अपनी उत्पत्ति देवताओं के गायकों—गन्धर्वों से भले ही मानते हों, पर चाँपावत राठौड़ों में तो वे सदैव हेय थे।

राजस्थान के भाट और चारणों ने अनेक ग्रंथ लिखे, जो डिंगल साहित्य के महत्व को बहुत बढ़ा देते हैं। ये रचनाएँ चारण काल तक ही सीमित नहीं रहीं वरन् धार्मिक काल में भी अबाध रूप से होती रहीं, जब समस्त उत्तरी भारत इस्लाम की प्रतिद्वन्द्विता में वैष्णव-धर्म का प्रचार कर रहा था। रीति-काल में भी ये रचनाएँ होती रहीं और सम्भवतः चारणों की रचनाएँ अपनी परम्परा की रक्षा करती रहीं। हाँ, एक बात अवश्य है। जहाँ चारणों की रचनाएँ वीर रसात्मक होती रहीं वहाँ भाटों की रचनाएँ शृङ्गार रसात्मक। किंतु राजस्थान के इस साहित्यिक प्रवाह ने किसी काल में अपने को सीमित नहीं किया और अपनी परम्परा अक्षुण्ण रक्खी। यही कारण है कि सं० १३७५ के बाद जिस समय चारण-काल का महत्त्व भक्ति-काल के प्रभाव से क्षीण होने लगा, उस समय भी चारण-काल की डिंगल रचनाएँ अबाध रूप से होती रहीं यद्यपि वे अप्रसिद्ध रहीं। इन परवर्ती अज्ञात रचनाओं पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। आगे के पृष्ठों में चारण-काल की इन परवर्ती रचनाओं पर विवेचन होगा, पर 'पृथ्वीराज रासो' के कुछ समय बाद ही कुछ ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें चारण-काल के आदर्शों की रक्षा की गई है। पहिले उन पर विचार हो जाना चाहिए। इस प्रकार का पहला ग्रंथ महोबे का एक गीतिकाव्य है, जिसका नाम है आल्हखण्ड।

आल्हखण्ड

जगनिक (स० १२३०) का यह वीर रस प्रधान एक गीतिकाव्य माना जाता है। इसकी कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। पृथ्वीराज की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद महोबा का पतन हो गया और उसके साथ परमाल का यश जो इस ग्रंथ का वर्ण्य-विषय है, विस्मृत हो गया। लेखक का नाम भी अज्ञात है, केवल जनश्रुति इस बात की सूचना देती है कि वह जगनिक के द्वारा रचित है। इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह रचना उत्तर भारत में बड़ी लोकप्रिय रही है। इसका साहित्यिक महत्त्व इतना नहीं है जितना जनसाधारण की रुचि के अनुसार वर्णन का महत्त्व है। अतएव वह उन्हीं में अधिकतर प्रचलित है। मौखिक होने के कारण उसका पाठ अत्यन्त विकृत हो गया है। भावों के विकास के साथ उसकी भाषा में भी अन्तर हो गया है और बारहवीं शताब्दी में रचित होने पर भी उसमें बन्दूक, और 'पिस्तौल' शब्द आ गए हैं।

इसे लेखबद्ध करने का सबसे प्रथम श्रेय श्री (अब सर) चार्ल्स इलियट को है जिन्होंने सन् १८६५ में इसे अनेक भाटों की सहायता से फर्रुखाबाद में लिखवाया। क़न्नौज के निकट होने के कारण फर्रुखाबाद की भाषा इस रचना का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करने मे बहुत कुछ सफल हुई है। इसके अतिरिक्त सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिहार[1] में और विंसेण्टस्मिथ ने बुन्देलखण्ड[2] में भी आल्हखण्ड के कुछ भागों का संग्रह किया है। मि० इलियट के अनुरोध से मि० डब्ल्यू वाटरफील्ड ने उनके द्वारा संग्रहीत 'आल्हखण्ड' का अङ्गरेजी अनुवाद किया जिसका सम्पादन सर जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १९२३ में किया।[3] उसमें बुन्देली शब्दों का प्राचीन रूप अनेक स्थलों पर पाया जाता है।

---

१. इण्डियन एन्टीक्वेरी, भाग १४, पृष्ठ २०६, २५५

२. लिंग्विस्टिक सर्वे अव् इण्डिया भाग ६, (१) पृष्ठ ५०२

३ दि ले अव् आल्हा (विलियम वाटरफील्ड)

मिस्टर वाटरफील्ड का अनुवाद कलकत्ता रिव्यू में सन १८७५—६ में 'दि नाइन लाख चेन' या 'दि मेरो फ्यूड' के नाम से प्रकाशित हुआ था।

मि० वाटरफील्ड ने 'आल्हखण्ड' को 'पृथ्वीराज रासो' का एक भाग मात्र माना है। उनका कथन है कि वास्तविक रूप में यह 'रासो' का एक सम्पूर्ण खण्ड ही है।[1] यह सम्भव है कि कथा के विस्तार में समय के विकास से परिवर्तन हो गया हो और नये शब्द और नये वर्णन समय समय पर इसमें मिला दिये गए हों, पर कथा का रूप तो चन्द से ही लिया गया जान पड़ता है। सर जार्ज ग्रियर्सन के मतानुसार यह रचना रासो से बिलकुल भिन्न है। यद्यपि 'आल्हखण्ड' 'रासो' के महोबा खण्ड की कथा से साम्य रखता है पर उसकी रचना बिलकुल स्वतंत्र है। चन्द की रचना दिल्ली के ऐश्वर्य और 'पृथ्वीराज' के गौरव के वर्णन का आदर्श रखती है, 'आल्हखण्ड' की रचना कन्नौज और महोबा के गौरव से सम्बद्ध है। दोनों रचनाओं मे सिरसा युद्ध और मलखान की मृत्यु का अवश्य निर्देश है, पर दोनों की वर्णन शैली सर्वथा भिन्न है। 'रासो' मे महत्त्व केवल दिल्ली के चौहान वंश को है, किन्तु प्रस्तुत रचना में दिल्ली के चौहान, क़न्नौज के राठौर और महोबा के चन्देल अपनी शक्ति का परिचय देते हैं। इसमें बनाफर वंश के आल्हा और ऊदल नामी दो वीरों का वीरत्व बड़ी ओजस्वी भाषा मे वर्णित है। भाषा में तो महान् अन्तर है। इस प्रकार 'आल्ह-खण्ड' को एक स्वतंत्र रचना ही माननी चाहिए।

'आल्हखण्ड' में अनेक दोष भी हैं। उसमें पुनरुक्ति की भरमार है। युद्ध में एक ही प्रकार के वर्णन, एक ही प्रकार की शस्त्र-सूची और एक ही प्रकार के दृश्य अनेक बार आये हैं, जिन्हें पढ़ कर मन ऊब उठता है। कथा मे सम्बद्धता भी नहीं है। अनेक स्थानों पर शैथिल्य है। उसका कारण यही है कि यह रचना मौखिक रहने के कारण अनेक प्रकार से कही गई है। कुछ अंश नये जोड़े गए होंगे और कुछ तो

---

[1] के अव् आल्हा (प्रस्तावना) पृष्ठ ११, १९२३

विस्मृत भी हो गए होंगे। कवि को भौगोलिक ज्ञान भी पूर्ण नहीं था, क्योंकि स्थानों की दूरी के सम्बन्ध में उनके बहुत से वर्णन अशुद्ध हैं। अत्युक्ति तो इस रचना में हास्यास्पद हो गई है। छोटी छोटी लड़ाइयों में लाखों वीरों के मरने और खेत रहने का वर्णन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस रचना मे वीरत्व की मनोरम गाथा है, जिसमें उत्साह और गौरव की मर्यादा सुन्दर रूप से निभाई गई है। रचना के समय से लेकर अभी तक न जाने कितने सुप्त हृदयों में इसने साहस और जीवन का मन्त्र फूँका है। इस रचना ने यद्यपि साहित्य में कोई प्रमुख स्थान नहीं बनाया, तथापि इसने जनता की सुप्त भावनाओं को सदैव गौरव के गर्व से सजीव रक्खा। यह जनसमूह की निधि है और उसी दृष्टि से इसके महत्त्व का मूल्य आँकना चाहिए।

हम्मीर रासो—इसके रचयिता शारङ्गधर कहे जाते हैं, जिनका आविर्भाव चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसमें रणथम्भोर के राजा हमीर का गौरव-गान है। मुसलमान शासक अलाउद्दीन की सेना से हमीर का जो युद्ध हुआ था, उसका ओजस्वी वर्णन इस ग्रंथ की कथावस्तु माना गया है। किन्तु इस ग्रथ की एक भी वास्तविक प्रति प्राप्त नहीं है। इतिहासकारों ने उसका निर्देश मात्र कर दिया है। जिस प्रति के आधार पर इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है वह असली नहीं है। भाषा से यह ज्ञात होता है कि किसी परवर्ती कवि ने उसकी रचना की है। शारङ्गधर का समय (संवत् १३५७) माना जाता है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त हमीर की यशोगाथा के सम्बन्ध में एक ग्रंथ और मिलता है। उसका नाम है 'हम्मीर महाकाव्य'। इसका लेखक ग्वालियर के तोमरवंशी राजा वीरमदेव के आश्रित जैन कवि नयचंद्र सूरि था जिसका आविर्भाव विक्रम संवत् १४६० के आसपास माना गया है।[1] इस ग्रंथ में चौहानों को सूर्यवंशी लिखा गया है, अग्नि-

---

१. प्रेमोत्सव स्मारक संग्रह, पृष्ठ २८

वंशी नहीं। श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा इस ग्रन्थ के आधार पर भी 'रासो' को जाली समझते हैं।

विजय पाल रासो—नल्लसिंह भट्ट द्वारा रचित इस ग्रंथ में करौली नरेश विजयपाल के युद्धों का ओजपूर्ण वर्णन है। यद्यपि इसकी भाषा अपभ्रंश-युक्त है, तथापि इस भाषा में भी परिवर्तन के चिह्न हैं। काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत साधारण है। नल्लसिंह का समय संवत् १३५५ माना गया है और उसके कथाप्रसंग का समय संवत् ११५०।

डिंगल साहित्य के प्रधान रूप से दो ही ग्रन्थ माने गए हैं, 'वीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो'। इनमें 'पृथ्वीराज रासो' संदिग्ध है। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आए। यह समझना तो अयुक्ति सङ्गत होगा कि डिंगल की रचना रासो ग्रन्थों के साथ ही समाप्त हो गई। चारणों के द्वारा डिंगल रचनाएँ अवश्य होती रही होंगी, पर या तो वे रचनाएँ साधारण रहीं अथवा प्रसिद्धि नहीं पा सकीं। एक बात और है। चारणकाल की रचनाएँ केवल पद्य में ही नहीं, गद्य में भी होती रहीं जिसका प्रमाण राजस्थान की अनेक ख्यातों से मिलता है। चारणों के द्वारा लिखी गई अधिकांश रचनाएँ राजाओं की वंशावलियों से सम्बन्ध रखती हैं। ये चारण राजदरबार में रहा करते थे और अवसर विशेष पर अपने सरक्षक राणाओं की विरुदावली गाया अथवा लिखा करते थे। यही उनके इतिहास-लेखन का रूप था। चारणों के द्वारा विरुदावली का वर्णन चार प्रकार से किया जाता था: इतिहास, वात, प्रसङ्ग और दासतान। डा० एल० पी० टेसीटरी के द्वारा संग्रहीत चारणकाल के हस्तलिखित ग्रन्थों के सग्रह में 'फुटकर ख्यात वात तथा गीत" नामक हस्तलिपि में इन शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी गई है:—

जिण खिसा मैं दराजी रहै सो खिसौ इतिहास कहावै १
जिण खिसा मैं कम दराजी सो खिसौ वात कहावै २
इतिहास रो अवयव प्रसङ्ग कहावै ३.
जिण वात में एक प्रसङ्ग हीज चमत्कारीक होय तिका
वात दासतान कहावै[1] ४ .... .

ये इतिहास, वात, प्रसङ्ग और दासतान गद्य और पद्य दोनों ही में लिखे जा सकते थे। इतिहास और दासतान तो अधिकतर गद्य में लिखे गए और वात और प्रसङ्ग पद्य में।

मुंशी देवीप्रसाद इस विषय को निम्नलिखित अवतरण में और भी स्पष्ट करते हैं :—

'ये लोग पद्य को 'कविता' और गद्य को 'वारता' कहते हैं। 'वारता' ग्रन्थ 'वचनका' वात और 'ख्यात' कहलाते हैं। वचनका' और 'ख्यात' इतिहास के और वात' किस्से-कहानी के ग्रन्थ हैं। इनमें गद्य-पद्य दोनों प्रकार की कविताएँ हैं। 'वचनका' और 'ख्यात' में बनावट का भेद होता है। 'वचनका' में तुकबन्दी होती है, 'ख्यात' में नहीं होती पर उसकी इबारत सीधी-सादी होती है।'[2]

विषय के विचार से 'वात' के ग्रन्थों में राजाओं और वीर पुरुषों के जीवन-चरित्र, 'वचनका' ग्रन्थ में एक-एक चरित्र-नायक का विवरण और यश वर्णन, 'ख्यात' में राजाओं की वंशावलियाँ होती हैं।

अस्तु डिंगल साहित्य में काव्य-ग्रन्थ तो लिखे गए पर वे अधिकतर अज्ञात ही हैं। चारणों के वंशजों ने उन्हें अपने वंश की निधि

---

१. ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलाग अव् बारडिक एंड हिस्टारिकल मैनस्क्रिप्ट्स, सैक्शन १, प्रोज क्रानिकल्स, भाग १ डा० एल० सी० टैसीटरी, पृष्ठ ६

२ भाट और चारणों का हिन्दी भाषा सम्बन्धी काम — मुन्शी देवीप्रसाद। 'चाँद' (मारवाड़ी अङ्क) नवम्बर १६२६, पृष्ठ २०५.

मानकर सुरक्षित तो अवश्य रक्खा, पर उन्हें प्रकाशित करने की चेष्टा कभी नहीं की। हमारे इतिहास-लेखकों ने भी उनकी खोज नहीं की और परम्परागत प्राप्त पुस्तकों पर आलोचना लिख कर ही सतोष की साँस ली। इस डिंगल साहित्य में बहुत सी रचनाओं की तिथि अज्ञात है। कुछ ग्रन्थों की तिथि तो ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर ही निर्धारित की गई है। ऐसे ग्रन्थ अधिकतर बीकानेर राज्य में प्राप्त हुए हैं। एक ग्रन्थ स्वतत्र रूप से न होकर अन्य ग्रथों के साथ सग्रह रूप में है। अतः कहीं-कहीं यह भी कठिनाई है कि जो तिथि सग्रह ग्रथ की हो वही तिथि सम्भवत: ग्रथ विशेष की न हो। इस विषय में खोज की बहुत आवश्यकता है। यहाँ पर खोज में प्राप्त हुए कुछ डिंगल ग्रथों पर विचार किया जायगा यद्यपि वे चारणकाल (स० १००० १३७५) से बहुत बाद के हैं। इसलिए कि वे चारण काल की परम्परा में हैं, अतः उनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक है।

जैतसी रानै पाबू जी रा छन्द

यह ग्रथ बीकानेर के राव जैतसी की प्रशसा में लिखा गया है। बाबर के पुत्र कामरान ने जब भटनेरा को जीत कर बीकनेर पर चढ़ाई की, तब राव जैतसी ने उसे वीरता के साथ मार भगाया और अभूतपूर्व विजय प्राप्त की। उसी विजय का स्तवन इसमें किया गया है। प्रारम्भ में जैतसी की वशावली का वर्णन है। यह वशावली बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। जैतसी के पूर्वज राव बीको और राव लूणकरण की प्रशसा बहुत की गई है। साथ ही साथ उनकी जीवन की घटनाएँ भी बहुत वर्णित हैं। अतः इतिहास के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। राव जैतसी का वर्णन भी बहुत विस्तार से है। कामरान से युद्ध में तो कवि ने प्रत्येक राजपूत वीर और उनके घोड़ों का भी वर्णन किया है। राव जैतसी की मृत्यु सम्वत् १५९८ में हुई। यह ग्रन्थ राव जैतसी के जीवन में ही कामरान

पर विजय प्राप्त करने के बाद सम्वत् १५६१ में लिखा गया ज्ञात होता है। अतः इसका रचना-काल सम्वत् १५११ और १५६८ के बीच में मानना चाहिए।

इस ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रति बीकानेर के दरबार पुस्तकालय में सुरक्षित है। वह मारवाड़ी मिश्रित देवनागरी और महाजनी लिपि में लिखी गई है। कवि का नाम अज्ञात है।

अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही

शिवदास चारण ने गागुरण के खीची शासक अचलदास की उस वीरता का वर्णन किया है, जो उन्होंने माड़व के पातिशाह के साथ युद्ध में दिखलाई थी। उस युद्ध में अचलदास वीर गति को प्राप्त हुए। माड़व के पातिशाह ने जब गागुरण पर चढ़ाई की तो अचलदास ने रानियों तथा अन्य स्त्रियों से जौहर करा कर स्वयं तलवार हाथ में लेकर शत्रु का सामना किया। शिवदास चारण ने यह सब आँखों-देखा वर्णन किया है और उन्होंने इस युद्ध से बच कर अचलदास की कीर्ति गाथा कहने के लिए ही अपनी रक्षा की। इसमें वीरता का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। माड़व के पातिशाह के सहायक रूप में उन्होंने दिल्ली के आलम गोरी को युद्ध में ला खड़ा किया है।

शैली पुरानी और सीधी-सादी है, पर डिंगल साहित्य की अच्छी रचना मानी जाती है। इसका रचना काल सवत् १६१५ माना गया है।

माधवानल प्रबन्ध दोग्धबन्ध कवि गणपति कृत

माधवानल, कामकन्दला की प्रेम-कहानी राजस्थान में बहुत प्रचलित है। इस ग्रन्थ की पाँच हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर राज्य में ही प्राप्त हो चुकी हैं। यह प्रति मारवाड़ी दूहा में लिखी गई है। इसके लेखक नरसा के पुत्र गणपति हैं। इन्होंने इसकी रचना नर्मदा तट पर आम्रपद्र नामक स्थान पर की। रचना-काल संवत् १५८४ है।

इसके साथ 'माधवानल कामकन्दला चरित्र' भी मिलता है, जो वाचक कुशललाभ द्वारा जैसलमेर में संवत् १६१६ में लिखा गया। यह रावल माल दे के राज्य में कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ लिखा गया था।

क्रिपन रुक्मणी री वेल राज प्रिथीराज री कही

तुलसीदास जिस समय मानस के द्वारा भक्ति का प्रचार करने में संलग्न थे, उस समय राजस्थान में एक कवि शृङ्गार काव्य की सृष्टि में कटिबद्ध था। राजस्थान तो राजपूतों की जन्मभूमि रही है और उसने अनेकों बार रक्त में स्नान कर अपनी मर्यादा की रक्षा करने में ही अपने व्यक्तित्व की सार्थकता समझी है। किन्तु शृङ्गार मे भी वह अद्वितीय है। इसी के प्रमाण स्वरूप हमारे सामने बीकानेर के राठौर पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' रचना है। जिसे राजस्थान में पंचम वेद के रूप मे मान लिया गया है।[1] यह रचना डिंगल काव्य में अपना एक विशेष स्थान रखती है।

पृथ्वीराज बीकानेर के राजा रायसिंह के भाई थे। वे अकबर के समकालीन थे। उनका जन्म संवत् १६०६ में हुआ था। उन्होंने बड़े होने पर युद्ध मे भी भाग लिया था। अबुलफजल के कथनानुसार वे काबुल के मिरजा हकीम से लड़ने के लिए अकबर की ओर से भेजे गए थे। रणकौशल में तो वे श्रेष्ठ थे ही, काव्य कौशल में भी वे पीछे नहीं रहे। उन्होंने वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर कृष्ण और रुक्मिणी की प्रेम-कथा शृङ्गार रस में डूबी हुई लेखनी से अद्वितीय

---

[1] रुक्मणि गुण लखण रूप गुण रचावण

वेलि तास कुण करै वखाण

पाँचमौं वेद भाख्यो पीथल

पुणियौ उगणीसमौ पुराण—वेलि (डा० एल० पी० टैसीटरी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १ (प्रस्तावना)

रूप में लिखी। इसी समय तुलसीदास लोक-शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला राम का आदर्श जनता के सामने रख रहे थे। पृथ्वीराज प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने मे तत्पर थे। यही कारण है कि प्रेम के सामने भक्ति के निर्वेद पूर्ण आदर्श रखने में वे असमर्थ रहे थे। उनकी वीरता और रसिकता उन्हें माला लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकी। वे राजपूत थे और साहस और उत्साह का मूल्य पहचानते थे। यही कारण है कि उन्होंने सन् १५७८ में[1] अकबर से सन्धि न करने पर महाराणा प्रताप की प्रशंसा में एक गीत लिख कर भेजा था।[2] पृथ्वीराज के साहस का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है कि उन्होंने अकबर के राज्य मे कर्मचारी होते हुए भी अकबर की निन्दा करते हुए उसके शत्रु राणा प्रताप की प्रशंसा की। पृथ्वीराज का यह ग्रन्थ डिंगल साहित्य में एक विशेष स्थान रखता है, इसलिए इस पर विस्तारपूर्वक विचार होना चाहिये।

कथावस्तु और रचनाकाल—वेलि की रचना संवत् १६३७ में हुई थी।[3] उसका कथानक रुक्मिणी-हरण, कृष्ण रुक्मिणी विवाह, विलास और प्रद्युम्न-जन्म में सम्पूर्ण हुआ है।

---

१. अकबरनामा, अनु० वेकीज़ भाग ३, पृष्ठ ५१८

२. नर जेथि निमाणा नीलज नारी
अकबर गाहक वट अवट।
आवै तिथि हाटै अदाउत,
वेचे किमि रजपूत वट ॥ १ ॥ आदि

३. वरसि अचल गुण अङ्ग ससी संवति
तवियौ जस करि स्री भरतार।
करि स्रवणे दिन रात कण्ठि करि
पावै स्री फल भगति अपार ॥ ३०५ ॥
(वेलि का अन्तिम पद)

आधार—वेलि का आधार भागवत पुराण ही है। स्वयं लेखक ने उसका उल्लेख किया है।

बल्ली तसु बीज भागवत वायौ,
यहि थाणौं प्रिथुदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२६१॥

किन्तु यह आधार केवल कथानक ही का है। काव्य सौन्दर्य और घटनाओं के प्रवाह में लेखक की मौलिकता है।

छन्द—डिंगल के अनुसार जिस छन्द में 'वेलि' की रचना हुई है वह 'वेलियो गीत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें चार चरण होते हैं। द्वितीय और चतुर्थ चरण की रचना एक समान होती है। उसमें तुकान्त भी रहता है। प्रथम और तृतीय पक्तियों की रचना भिन्न प्रकार से पाई जाती है। प्रथम पक्ति में १८ और तृतीय पक्ति में १६ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ पक्तियों में १३, १४ या १५ मात्राएँ होती हैं। यदि द्वितीय और चतुर्थ पक्ति में ।। है तो १३ मात्रा, यदि ।ऽ है तो १४ मात्रा और यदि ऽ। है तो १५ मात्रा।

विस्तार—वेलि में ३०५ पद्य हैं। विषय है रुक्मिणी का शैशव, सुकुमार शरीर में यौवन का मादक उभार और सौन्दर्य के वसन्त में अंगों की आकर्षक शोभा। शिशुपाल की ओर उसके विवाह का विचार। रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और पत्र-लेखन। कृष्ण का आगमन और अम्बिका के मन्दिर में रुक्मिणी से मिलाप, रुक्मिणी-हरण, शिशुपाल और रुक्मि से युद्ध और उनका पराजय, श्रीकृष्ण का रुक्मिणी सहित द्वारिका-गमन और दोनों का यथाविधि विवाह, रात्रि का आगमन और कृष्ण की रुक्मिणी से मिलने की उत्कट इच्छा। रुक्मिणी की लज्जा और श्रीकृष्ण का उल्लास, दोनों का मिलन। षट्ऋतु वर्णन, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त।

प्रद्युम्न-जन्म तत्पश्चात् प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का विवरण। 'वेलि' की प्रशंसा कामधेनु के रूप में, कवि की आत्म-प्रशंसा।

कवित्व—भाषा में सौन्दर्य के साथ प्रवाह है। डिंगल के सभी नियमों का पालन करते हुए भी शब्दावली विकृत नहीं है। कविता में केवल स्वाभाविकता ही नहीं है, वरन् उसमें संगीत भी है। पृथ्वीराज की काव्य-कला ने हमें डिंगल साहित्य का सुन्दर नमूना दिया है।

'वेलि' के अतिरिक्त पृथ्वीराज ने हमें छोटे-छोटे पद्य भी दिये हैं, जो 'साख रा गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये समसामयिक घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन का विवरण देते हैं।

विशेषता—'वेलि' की विशेषता यही है कि उसमें भक्ति की भावना के साथ शृङ्गार की रसीली साधना भी है। भक्ति और रीति-काल की प्रवृत्तियों का एक स्थान पर सम्मिलन इसी पुस्तक में है। षट् ऋतु वर्णन[1] और मुग्धा[2] मानिनी नायिका का निरूपण हमारे सामने रीति-काल की आत्मा का प्रदर्शन करता है। भक्ति के युग में रीति का यह मनोरञ्जक और सरस वर्णन हमारे साहित्य की अनोखी वस्तु है। इसका सारा श्रेय राठौड़ पृथ्वीराज को है।

सुन्दर सिणगार—

शाहजहाँ के राज्य-काल में कविराय (बाद में महा कविराय) ग्वालियर निवासी सुन्दर ने काव्य-शास्त्र पर यह ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के आरम्भ में शाहजहाँ और उनके पूर्वजों की प्रशंसा की गई है। बाद में कवि ने अपना परिचय देकर ग्रन्थ का रचना-काल दिया है। इसमें दोहा, सवैया, छन्द आदि पाये जाते हैं। ग्रन्थ की रचना सम्वत् १६८८ में हुई।

---

१. पद्य १८७ से २६८ तक

२. पद्य १५६ से १७६ तक

वचनिका राठौर रतनसिंह जी री महेस दासौत री खिड़िये जगै री कही

खिड़ियो जगो द्वारा लिखी हुई यह प्रसिद्ध काव्य-रचना है। इसमें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और शाहजहाँ के बागी पुत्र औरङ्गजेब और मुराद के बीच में उज्जैन की रणभूमि पर स० १७१५ का युद्ध वर्णित है। इस युद्ध में रतलाम के रतनसिंह जी ने विशेष महत्त्वपूर्ण काम किया था। उन्होंने वेश बदल कर युद्ध किया था और अन्त में वीरगति प्राप्त की थी। उन्हीं के नाम से पुस्तक का नामकरण हुआ। यह युद्ध सं० १७१५ में हुआ। अतः यह रचना इस काल के आस-पास की ही मानी जानी चाहिए।

सोढ़ी नाथी री कविता

सोढी नाथी सम्भवतः अमरकोट के राणा भोजराज की पुत्री थीं। राणा भोजराज चन्द्रसेन के पुत्र थे और विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक राज्य करते रहे। 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' से ज्ञात होता है कि राणा भोज के पुत्र ईशरदास रावल सबलसिंह के द्वारा सम्वत् १७१० में गद्दी से उतारे गए थे। नाथी ईशरदास की बहिन थीं। उनका कविता-काल सम्वत् १७३० ठहरता है। देरावर में इनका विवाह हुआ था। बाद में ये वैष्णव धर्म में अत्यन्त भक्ति रखने लगी थीं। इनके सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं:—

१—भगत भाव रा चन्द्रायणा

२—गूठा रथ

३—साख्यां

४—हरि लीला

५—नाम लीला

६—बालचरित

७—कंस लीला

ये सभी ग्रन्थ भक्ति-भावना से पूर्ण हैं।

ढोला मारवणी चउपही

यह ग्रन्थ सन् १६०० की खोज रिपोर्ट से प्रकाश में लाया गया। इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम हरराज था और उसने सं० १६०७ में जैसलमेर के यादवराज के मनोरञ्जनार्थ यह ग्रन्थ लिखा था। इसकी कथा प्रेम-गाथात्मक है और उसका सम्बन्ध इतिहास से न होकर कल्पना से है। मारवाड़ के अधिपति पिङ्गलराय शिकार खेलते हुए जालौर की सीमा पर पहुँचे। वहाँ एक भाट से जालौर के सामन्तसिंह की लड़की उमादे के सौंदर्य की प्रशंसा सुन उन्होंने उससे विवाह किया। उमादे से पिङ्गलराय के एक लड़की हुई, उसका नाम रखा गया मारव। मारव का विवाह नलवर गढ़ के राजा नल के पुत्र सालह से हुआ। सालह के लाड़-प्यार का नाम ढोला था। यह विवाह पुष्कर (अजमेर) में सम्पन्न हुआ। नलवरगढ़ लौट आने पर सालह का दूसरा विवाह मालवा नरेश की कन्या से हो गया। १५ वर्ष तक दोनों सुख से रहे। एक दिन मारव ने अपने पति का समाचार पाकर उससे आने की प्रार्थना की। सालह ने शीघ्रही आकर मारव को दर्शन दिए और उसे लेकर वह नलवरगढ़ लौट गये। सालह दोनों रानियों के साथ सुख से रहने लगा। कथा का यही सारांश है। यह ऐतिहासिक सत्य से परे ज्ञात होती है। इतिहास पिङ्गलराय के विषय में मौन है। कन्नौज के राजा जयचन्द (सं० १२५०) मरवाड़ वश के धर्मभुम्य के वंशज होने के कारण दुल पिङ्गल अवश्य कहे जाते थे। किन्तु जयचन्द पिङ्गलराय नहीं हो सकते। अतः यह कथा कल्पना से ही निर्मित है, जिसमें प्रेम की विस्तृत व्याख्या है। यह ग्रंथ रूप और विस्तार में अधिकतर नरपति नाल्ह के वीसलदेव रासो से मिलता जुलता है। इसका विस्तार लगभग एक हजार पद्यों में है। इसकी एक प्रति जयपुर की विद्याप्रचारिणी जैन सभा में सुरक्षित है। बीकानेर में इस प्रेम-कथा पर दोहों में 'ढोलै मारू रा दूहा' नामक ग्रंथ की चार प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं[1]। इस रचना

---

१. बार्डिक एंड हिस्टारिकल सर्वे अव् राजपूताना पृष्ठ ६. २३, २६ ३४

का समय अज्ञात है। बीकानेर राज्य में प्राप्त हुए जिस संग्रह ग्रंथ में 'ढोलै मारूरा दूहा' संग्रहीत है, उसका काल संवत् १७५२ है। अतः यह ग्रन्थ संवत् १७५२ के पूर्व ही लिखा गया होगा। कवि का नाम अज्ञात है।

वरसलपुर गढ़ विजय

इस रचना का दूसरा नाम ' महाराजा श्री सुजानसिंह जी रौ रासौ' भी है। यह एक छोटा सा ग्रन्थ है, जिसमें केवल ६८ पद्य हैं जो दूहा, कवित्त और छन्द में लिखे गए हैं। इसकी कथावस्तु बहुत छोटी और साधारण है। मुल्तान की ओर से एक काफ़िला आ रहा था, वह वरसलपुर में पहुँचते-पहुँचते वहाँ के भाटियों द्वारा लूट लिया गया। बीकानेर के महाराजा सुजानसिंह ने शीघ्र ही अपनी सेना वहाँ भेजी और स्वय उस ओर प्रयाण किया। इस छोटी सी लड़ाई में सुजानसिंह की ओर से फ़तहसिंह काम आए। पर कुछ ही दिनों में भाटीराव लखधीर को सुलह करनी पड़ी और वह क्षमा भी कर दिया गया।

रचना साधारण है। इसकी हस्तलिखित प्रति सवत् १७६६ की है, जो बीकानेर के राज्यपुस्तकालय में सुरक्षित है।

महाराजा गजसिंह जी रौ रूपक

इसमें बीकानेर के महाराजा गजसिंह की प्रशस्ति है। इसके लेखक सिणढायच फतेराम हैं। इसमें बीकानेर के राव सीहो से लेकर महाराजा गजसिंह तक की वशावली वर्णित है। महाराज गजसिंह की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा है। अन्त में जोधपुर बीकानेर के कुछ युद्ध का भी वर्णन है। यह रचना संवत् १८०४ की कही जाती है इसमें दूहा, कवित्त और छन्द प्रयुक्त हुए हैं, प्रारम्भ में गाहा प्रयोग है। इसमें साहित्यकता की अपेक्षा ऐतिहासिकता ही अधिक है।

ग्रन्थराज गाडण गोपीनाथ रौ कहियौ

यह ग्रन्थ डिंगल साहित्य में महत्वपूर्ण माना जाता है। गाडण गोपीनाथ प्रतिभावान और डिंगल के आचार्य थे। उन्होंने कुशलता के

साथ अपने चरित्रनायक बीकानेर के महाराज गजसिंह की प्रशंसा में यह ग्रन्थ लिखा। बीकानेर के दयालदास की ख्यात से ज्ञात होता है कि स्वयं गोपीनाथ ने अपना ग्रन्थ महाराज गजसिंह को सम्वत् १८१० में समर्पित किया और महाराज ने प्रसन्न होकर लाख पसाव[1] से कवि का सम्मान किया।

यह ग्रन्थ बहुत विस्तारपूर्वक लिखा गया है। मङ्गलाचरण के बाद महाराज गजसिंह की प्रशंसा में कवि-स्त्री-सम्वाद है। इसके बाद महाराज गजसिंह की वंशावली का वर्णन है। राव बीको, नारो, लूण-करण, जैतसी, कल्याणमल, रायसिंह, दलपतसिंह, सूरसिंह, करणसिंह। वंशावली पहले तो संक्षेप में लिखी जाती है। कवि जैसे-जैसे वर्णन कर चलता है, वंशावली वैसे ही वैसे विस्तारपूर्ण होती जाती है। अन्त में रायसिंह और जयसिंह का विस्तृत वर्णन है। सुजानसिंह के बाद महाराज गजसिंह का वर्णन कवि अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा से करता है। जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। तत्कालीन बीकानेर की परिस्थिति का भी चित्र है। जोधपुर के विरुद्ध जो युद्ध लड़े गये थे उनका भी विशद वर्णन है। युद्ध वर्णन तो डिंगल साहित्य की अपनी विशेषता है। उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य यहाँ इकट्ठा कर दिया गया है।

ग्रन्थ में मुख्यतः गाहा, पाघड़ी, कवि, और दूहो प्रयुक्त हैं और उनकी रचना एक सफल कवि द्वारा हुई है। वर्णनात्मक का सच्चा सौन्दर्य इस ग्रन्थ में पाया जा सकता है। गाडण गोपीनाथ डिंगल काव्य के उत्कृष्ट कवि कहे जा सकते हैं। यह ग्रन्थ सम्वत् १८०३ में

---

१. पीछे रिणी विराजता गाडण गोपीनाथ ग्रन्थ १ श्री जी रौ वणायौ नाम ग्रन्थराज। पीछे मालम कीयौ। तिण पर इतरी निवाजस हुई॥ रुपीया २०००) रोक। हाथी १। हथणी १। घोड़ा २। सिरपाव। मोतियाँ री कण्ठी इणरीत लाख पसाव दीयौ। —ख्यात दयालदास

प्रारम्भ होकर १८१० (?) में समाप्त हुआ, जैसा कि ग्रन्थ के अन्तिम कवित्त से ज्ञात होता है :—

[कवित्त ॥] अठार से त्रिथे
ग्रन्थ पूरब आरम्भे ।
चिरत गजण चित्रीया,
सुणे जण तेण अचम्भे ।
वरषे दाहो तरै,
रित वरषा घण बदल ।
तेरिस पुष्पा अरक
मास भाद्रपद कृष्ण दल
मझ नयर रिणी सिध जोग मझि
वदै कृत चहुँवै वले
सिरताज राज ग्रन्थी सिरे
हवौ लस महि मण्डले ॥ ५ ॥

डिंगल काव्य के अवनति काल में इस ग्रन्थ का लिखा जाना महत्व-पूर्ण है। इस ग्रंथ का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व समान रूप से है। अनेक शैलियों और अनेक छन्दों में सफलतापूर्वक लिखे जाने के कारण इस ग्रथ ने डिंगल साहित्य में गाडण गोपीनाथ को बहुत ऊँचा स्थान दे दिया है।

महाराजा रतनसिंह जी री कविता बीठू भोमौ री कही

यह रचना बीकानेर के महाराज रतनसिंह और उनके पुत्र कुँवर सिरदारसिंह के विषय में की गई है। प्रधानतया देवलियो प्रतापगढ़ कुँवर सिरदारसिंह का विवाह होना विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसमें अधिकतर वंशावलियाँ ही हैं, जिनके साथ प्रशंसा के पद हैं। ग्रन्थ बहुत साधारण श्रेणी का है। दूहा, कवित्त और छन्द का प्रयोग इस रचना में किया गया है। देसणोक (बीकानेर) के बीठू भोमौ इसके रचयिता हैं और रचना-काल सम्वत् १८९५ है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत से छोटे छोटे ग्रन्थ हैं, जिनका समय अज्ञात है। वे चारणों के घर पड़े हुए हैं और उनमें दीमक अपने परिवारों का पोषण करती हैं। फुटकर कविताओं में संग्रह तो इतने अधिक हैं कि ग्रंथों में न समा सकने के कारण वे चारणों के कंठों में बसे हुए हैं। इस प्रकार की कविता का वर्णन करते हुए डा० एल०-पी० टेसीटरी महोदय लिखते हैं :—

संस्मरण[1] के गीत अथवा चारणों के अनुसार 'साख रा गीत' राजपूताने में बहुत सुलभ हैं और आज भी ऐसे चारण कम नहीं हैं जिन्हें दर्जनों ऐसे गीत कंठ हैं। संग्रह में तो वे सैकड़ों और हजारों की संख्या में हैं। उत्कृष्ट साहित्यिक महत्व के अतिरिक्त इन संस्करण के गीतों का महत्व इसलिये है कि वे मध्यकालीन राजपूत जीवन पर प्रकाश डालते हैं। समकालीन होने के कारण तो ये रचनाएँ इतिहासकारों के बड़े लाभ की है।

फुटकर कविता में निम्नलिखित कविताएँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

१. गुण जोधायण गाडण पसाइत री कही
२. राव गाँगै रा छंद किनियै खेमै रा कहिया
३. सोढै भारवासी रा छंद
४. चाहवानाँ रा गीत
५. जस रत्नाकर (बीकानेर के राजा रतनसिंह की विरुदावली)
६. ढोलै मारू रा दूहा
७. माधव कामकन्दला चउपई
८. रुक्मणी हरण
९. वेताल पचीसी री कथा
१०. कुतुब सतक (कुतुब दी और साहिबा की प्रेम-कथा)

---

१. प्रिफेस—बार्डिक एंड हिस्टारिकल सर्वे अव् राजपूताना, सेक्शन २, भाग १ (डा० एल० पी० टैसीटरी, कलकत्ता, १९१८)

११. सोनै नै लोहरौ झगड़ौ
१२ पञ्च सहेली कवि छीहल री कही
१३ फुटकर दूहा सग्रह
१४ राणै हमीर रिण थम्भौर रै रा कवित्त
१५ अमादे भठियाणी रा कवित्त बारठ आसै रा कहिया
१६ जलाल गहाणी री बात (जलाल और गहाणी की प्रेम-कथा)
१७ गोरै बादल री बात
१८. राव छत्रसाल रा दूहा

१—डिंगल साहित्य का सिंहावलोकन

सक्षेप में चारण-काल की प्रवृत्तियों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१ वर्ण्य विषय—वीर गाथाओं का विषय प्रधान रूप से राजाओं का यशोगान था। उनका युद्ध-कौशल, उनकी धर्मवीरता और उनके ऐश्वर्य का वर्णन ओजस्वी और शक्तिशालिनी भाषा में किया जाता था। अपने नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिये कवि विपक्षी (हिन्दू अथवा मुसलमान) की हीनता का नग्न चित्र अकित करता था। कथा का स्वरूप अधिकतर कल्पना से भी निर्मित हुआ करता था। यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है, पर उसका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था। तिथि पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। कथा में वर्णनात्मकता ही अधिक होती थी। वस्तुओं की सूची तथा सेना आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक हुआ करता था, यद्यपि इसका उद्देश्य एकमात्र नायक की शक्ति और उसकी वीरता की सूचना देना था। कहीं-कहीं तो ये वर्णन नीरस भी हो गये हैं। अतएव कवि का आदर्श

अधिकतर अपने चरित-नायक के गुण-वर्णन तक ही सीमित रहता था।

भाषा—इस समय की भाषा डिंगल कही गई है। यह राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी। इसका छन्द-शास्त्र भी अलग था। इसमें अपभ्रंश से निकली हुई राजस्थानी भाषा के स्वरूप मिलते हैं। यह वीर रस के लिये बहुत उपयुक्त थी, इसीलिये इसका प्रयोग इस काल में बड़ी सफलता के साथ हुआ। डिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुन्शी देवीप्रसाद जी का कथन है कि "मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डीगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पॉंगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभापा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसीलिये डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"[१] इससे स्पष्ट हो गया कि वीर रस के लिये डिंगल भाषा ही उपयुक्त थी और इसलिये चारण-काल में उसी का प्रयोग भी हुआ। डिंगल का माध्यमिक काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। इस काल में भी डिंगल की रचना होती रही, पर धार्मिक काल के उन्मेष के कारण वीर रस की तेजस्वी धारा मन्द पड़ गई। अतः डिंगल की रचना अब साहित्य की प्रधान धारा न रही। यह भाषा जन-समुदाय को अवश्य स्पर्श करती थी, क्योंकि इसका शब्द-भाण्डार प्रचलित शब्दों से ही भरा जाता था। कहीं-कहीं जन-समुदाय के सम्पर्क में आने से भाषा में बहुत परिवर्तन

---

१. भाट और चारणों का हिन्दी भाषा-सम्बन्धी काम। 'चाँद' नवम्बर १९२९, पृष्ठ २०५।

भी हो गया है। कई ग्रन्थ मौखिक होने के कारण भाषा के वास्तविक स्वरूप से रहित हो गये हैं और समय के परिवर्तन के साथ उनके रूपों में भाषा सम्बन्धी परिवर्तन हो गए हैं। इसलिए भाषा कहीं-कहीं मिश्रित है। शब्द-भाण्डार बहुत विस्तृत है। यदि एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्द हैं तो दूसरी ओर मुसलमानों के प्रभाव से अरबी-फ़ारसी शब्द भी आ गये हैं।

[३]. रस—इस काल के साहित्य में वीर रस का प्राधान्य है। अपने चरित-नायकों के शौर्य और महत्व के वर्णन में वीर रस की अधिक आवश्यकता पड़ी है। इस वीर रस के क्रोड़ में शृङ्गार रस भी कभी-कभी दीख पड़ता है, क्योंकि युद्ध के बाद ये वीर आमोद-प्रमोद अथवा स्वयंवर-विवाह में भी अपना समय बिताते थे। विशेष बात तो यह है कि वीर रस की उमंग के साथ साथ हमें इस काल की कविता में विरह-वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार शृङ्गार रस अपने संयोग और विप्रलम्भ रूप में इन काव्यों की सीमा के भीतर है। अद्भुत रस भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त है, जहाँ सेना की अद्भुत वीरता और नायक की शक्ति का वर्णन है। रौद्र और वीभत्स भी युद्ध वर्णन में पाये जा सकते हैं। शत्रुओं की मृत्यु पर शत्रु-नारियों के हृदय में करुणा की धारा भी प्रवाहित हुई है। अतएव हास्य और शान्त रस को छोड़कर प्राय. सभी रसों का समावेश इस काल के काव्यों में हो गया है, पर प्राधान्य वीर रस का ही है।

४ छंद—इस काव्य में डिंगल भाषा के छन्द ही प्रयुक्त हुआ करते थे। दूहा, पाधड़ी, कवित्त आदि इसमें प्रधान थे। इन छंदों में साहित्यिक सौन्दर्य न रहते हुए भी प्रवाह रहा करता

था। छन्द भी ऐसे चुने जाते थे जिनसे वीर-रस की भावना को प्रश्रय मिलता था।

५. विशेष—इस काल के ग्रन्थों की प्रतियाँ दुष्प्राप्य हैं। अतएव उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। या तो इस काल के ग्रंथ अधिकतर मौखिक रूप में हैं या उनके निर्देश मात्र ही मिलते हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम परिचित हो सकते हैं। जो ग्रन्थ अब मिलते हैं, वे भी हमें अपने वास्तविक रूप में नहीं मिलते। भाषा के विकास के अनुसार या तो उनका रूप ही बदल गया है अथवा उनमे बहुत से प्रक्षिप्त अंश मिला दिये गए हैं। अतएव उनकी सच्ची समालोचना एक प्रकार से असम्भव है, जब तक हम भाषाविज्ञान के अनुसार—उस काल की भाषा के अनुसार—किसी ग्रन्थ की भाषा से सन्तुष्ट न हो जावें। इन ग्रन्थों का महत्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण किया, और भविष्य की रचनाओं के लिये मार्ग निर्देशन किया। यदि ये साहित्यिक सौन्दर्य से नहीं तो भाषा-विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं।

२—डिंगल साहित्य का ह्रास

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही वीर गाथा काल की रचना क्षीण होने लगी। इसका प्रधान कारण राजनीति की परिस्थितियों के परिवर्तन में ही पाया जा सकता है। मुसलमानों के प्रभुत्व ने हिन्दू राजाओं को जर्जरित कर दिया था, अथवा हिन्दू राजा स्वयं ही लड़ते-लड़ते क्षीण हो गये थे। इसलिए न तो उनके पास गौरव की गाथा गाने की सामग्री ही थी और न कवियों के हृदय में उत्साह ही रह गया था। राज्य क्षीण होने के कारण कवियों का महत्व भी क्षीण

होगया था और वे अब किसी राजदरबार में सम्मानित होने का अवसर नहीं पा सकते थे। अतएव चारणों के अभाव में वीर गाथा का महत्व दिनोंदिन कम होता जा रहा था।

इस समय मुसलमानी राज्य का प्रभुत्व हिन्दुओं के हृदयों में जान पड़ने लगा था। मुसलमानों की प्रवृत्ति केवल लूटमार कर धन-संचय की न होकर भारत में राज्य करने की हो चली थी। पंजाब से लेकर बंगाल तक मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था। बिहार, बंगाल, रणथंभोर, अन्हलवाड़ा, अजमेर, कन्नौज, कालिंजर आदि प्रधान स्थानों में मुसलमानी शासन स्थापित हो चुका था। राठौर और चौहान वश के पराक्रम का सूर्य ढल चुका था। इतना अवश्य था कि राजस्थान के राजपूत अभी तक अपने गौरव की गाथा नहीं भूले थे। मुसलमानों की असावधानी देखते ही वे फिर प्रंचड हो उठते थे। पर ये दिन उनकी अवनति के थे। मुसलमानों का आधिपत्य दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। वे राज्य के साथ-साथ अपने धर्म का विस्तार भी करते जाते थे जिससे हिन्दुओं के प्राचीन आदर्शों पर आघात होता था। मुसलमानी धर्म की कट्टरता हिन्दुत्व के विपक्ष में होकर जनता के हृदय में असतोष और विद्रोह का बीज वपन कर रही थी, हिन्दुओं के पास शक्ति नहीं थी अतएव वे मुसलमानों से युद्ध नहीं कर सकते थे ; उन्हें अपमान का दंड नहीं दे सकते थे। ऐसी परिस्थिति में वे केवल ईश्वर से अपनी रक्षा की प्रार्थना भर कर सकते थे।

उन्होंने तलवार के बदले माला का आश्रय लिया और वे अपने लौकिक जीवन में आध्यात्मिक तत्व खोजने लगे। अब वे सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिए ईश्वर की शरण में जाने लगे और दुष्टों को दंड देने के लिए अपनी शक्ति पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर रहने की भावना करने लगे। इस प्रकार ओज और गौरव के तत्वों से निर्मित वीर रस करुण और दयनीय भावों से ओतप्रोत होकर शान्त और श्रृंगार रस में परिणत होने लगा। इस प्रकार भावों में परिवर्तन हुआ।

चारणों के साहित्य-क्षेत्र से हट जाने के कारण डिंगल साहित्य के विकास में भी वाधा आने लगी। अब भी कुछ चारण कभी किसी राजा की प्रशंसा करते थे पर साहित्य की गतिविधि ही बदल जाने के कारण डिंगल काव्य की नियमित रचना रुक गई थी। चारण काल की परम्परागत भाषा अब केवल नाममात्र को रह गई थी। साधारण जनता जो अब मुसलमानी आतंक से क्षुब्ध हो रही थी, अधिक धार्मिक प्रवृत्ति वाली हो रही थी। जनता के प्रतिनिधि कवि धर्म का प्रचार कर ईश्वर की प्रार्थना मे अपना काव्य कौशल प्रदर्शित करने लगे। इन कवियों ने व्रज भाषा का आश्रय लिया, जो कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा थी। चारण-काल मे काव्य-रचना के केन्द्र उन स्थानों में थे जो राजनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने गए थे। इसीलिये राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, कन्नौज और महोबा भी साहित्यिक रचना के केन्द्र थे। पर चारण काल के समाप्त होने पर जनता की धामिक प्रवृति ने उन स्थानों मे साहित्य-रचना के केन्द्र स्थापित किए, जो धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। सन्तों, कवियों और आचार्यों ने धार्मिक क्षेत्रो और तीर्थों को ही अपना केन्द्र निश्चित किया और उसी स्थान से जनता के भावों का प्रतिनिधित्व करते हुए उनके जीवन में उत्साह और साहस उत्पन्न किया। फलतः उन केन्द्रों की भाषा ही साहित्यिक भाषा हुई। धार्मिक-काल में दो भाषाओं को प्राधान्य मिला। वे भाषाएँ व्रजभाषा और अवधी थीं। व्रजभाषा कृष्ण की जन्मभूमि व्रज प्रांत की भाषा थी और अवधी राम की जन्मभूमि अयोध्या की। राम और कृष्ण ही जनता के आराध्य थे, किन्तु राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक लोकरंजक हुए। इसीलिए व्रजभाषा को अवधी से अधिक काव्य पर अधिकार करने का अवसर प्राप्त हुआ। दूसरी वात यह भी थी कि धर्म के कोमल और पवित्र भावों को प्रकाशित करने में डिंगल भाषा असमर्थ थी। उसमें वह कोमलता और श्रुति माधुर्य का गुण नहीं था जो व्रजभाषा में था। डिंगल युद्ध के लिए शस्त्र की सहायिका थी. उसमें नाद था;

उसमें शक्ति थी और वह परुष भावों के प्रकाशन करने की उपयुक्त शैली लिए हुए थी। ऐसी स्थिति में राजस्थान की साहित्यिक भाषा धार्मिक जनता के हृदय में नहीं पैठ सकती थी। वह चारणों तक अथवा चारणों के आश्रय दाता राजाओं तक ही सीमित रह सकती थी। वह रण की भाषा थी, धर्म के स्फुरण की नहीं। फलतः ब्रजभाषा जिसमें फूलों की कोमलता है, अगूर की मिठास है, साहित्य की भाषा स्वयमेव हो गई; क्योंकि धर्म की भावना प्रदर्शित करने के लिए इससे अधिक सरस और मधुर भाषा किसी प्रकार भी नहीं मिल सकती थी।

साहित्य के नवीन विकास के अवसर पर इस परिवर्तन काल में कुछ प्रवृत्तियाँ और प्रकट हुई थीं। दिल्ली जो राजतीति की रगशाला थी, मुसलमानी प्रभुत्व में भी साहित्य की रंगशाला बनी रही। अन्तर केवल यही रहा कि वीर गीत गाने वाले कवियों के स्थान पर मनोरंजन और चमत्कार की रचना करने वाले अमीर ख़ुसरो को स्थान मिला। मुसलमानों के आगमन से जैसे वीर गाथा का अवसान और भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ वैसे ही मुसलमानों के आमोद प्रमोद के साथ ही साथ मुसलमानी सिद्धान्तों का प्रचार भी हुआ, जो आख्यानक कवियों की प्रेम-गाथा मे प्रस्फुटित हुआ। इस पर आगे विचार किया जायगा।

तीसरा प्रकरण

भक्ति-काल की अनुक्रमणिका

सन्त-काव्य, प्रेम-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य

वीरगाथा काल के समाप्त होने के पहले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति प्रारम्भ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानी शक्ति और धर्म के विस्तार ने साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल दिया था और चारणों की रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। वे अब विशेषतः राजस्थान ही में सीमित थीं। मध्यदेश में जहाँ मुसलमानी तलवार का पानी राज्यों के अनेक सिंहासनों को डुबा रहा था, चारणों का आश्रयदाता कोई न था। न तो हिन्दू राजाओं के पास बल था और न साहस ही। उनकी परिस्थिति अत्यन्त अनिश्चित हो गई थी। खिलजी वंश के अलाउद्दीन ने समस्त उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में ले लिया था। दक्षिण-भारत भी उसके आक्रमणों से नहीं बचा। देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र को पराजित कर उसने एलिचपुर अपने राज्य में मिला लिया। वारंगल और होयसिल के राजा को भी उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। महाराष्ट्र और कर्नाटक के राजाओं ने भी आधीनता स्वीकार कर ली। अलाउद्दीन के सहायक मलिक काफ़ूर ने तो अपनी राज्य-लिप्सा के कारण सन् १३१२ में यादव राजा का क़त्ल भी कर दिया। मुसलमानों की इस बढ़ती हुई ऐश्वर्याकांक्षा ने हिन्दुओं के अस्तित्व पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। जिन हिन्दू राजाओं में आत्म-सम्मान और शक्ति की मात्रा शेष थी, वे उसकी रक्षा का अनवरत परिश्रम कर रहे थे। विजयनगर का हिन्दू शासक स्वतंत्र हो गया था। दक्षिण में कृष्णा और तुङ्गभद्रा के बीच

के प्रदेश पर अधिकार पाने के लिये विजयनगर और बहमनी राज्य में बहुधा युद्ध हुआ करते थे। जो प्रदेश हिन्दुओं के अधिकार में थे वे भी अपनी सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील थे। सिन्ध राजपूतों के अधिकार में था, पर मुसलमानी आतङ्क उस पर छाया हुआ था। इस प्रकार राजनीति की मन्त्रणाएँ ही राज्यों के उत्थान और पतन की कुंजियाँ थीं। ऐसे अनिश्चित काल में हिन्दू जनता के हृदय में जिस भय और आतङ्क को स्थान मिल रहा था, वह उनके धर्म को जर्जरित कर रहा था। धर्म की रक्षा करने की शक्ति हिन्दुओं के पास रह ही नहीं गई थी।

मुसलमानों के बढ़ते हुए आतङ्क ने हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी थी। यदि मुसलमान केवल लूट मार कर ही चले जाते तब भी हिन्दुओं की शान्ति मे क्षणिक बाधा ही पड़ती, किन्तु, जब मुसलमानों ने भारत को अपनी सम्पत्ति मानकर उस पर शासन करना प्रारम्भ किया तब हिन्दुओं के सामने अपने अस्तित्व का प्रश्न आ गया। मुसलमान जब अपनी सत्ता के साथ अपना धर्म-प्रचार करने लगे तब तो परिस्थिति और भी विषम हो गई। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे और न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे। कभी कभी यदि वीरत्व की चिनगारी भी कहीं दीख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टों को दण्ड देने का कार्य उन्होंने ईश्वर पर ही छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तु-स्थिति से परे पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरण में ही विहार करने लगे। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गए और वीरगाथा काल की वीररसमयी प्रवृत्ति धीरे धीरे शान्त और शृङ्गार रस में परिणत होने लगी।

राजाओं का राजनीतिक दृष्टिकोण अस्पष्ट और धुँधला हो गया, अतएव वे अपनी महत्वाकांक्षा और आदर्श के उच्च आसन पर स्थिर न रह सके। उनके आदर्शों में परिवर्तन होने के कारण चारणों के आश्रय का भी कोई स्थान नहीं रह गया। वे अब किसकी वीर-गाथा गाते और किसे रण के लिए उत्साहित करते! अतः वे भी अपने क्षेत्र से हटने लगे। फल यह हुआ कि डिंगल साहित्य की गति-विधि में भी परिवर्तन आने लगा। उसकी नियमित रचना में बाधा पड़ने लगी और वह साहित्यिक गौरव से गिरने लगी। परम्परागत डिंगल भाषा केवल नाम के लिये व्यावहारिक भाषा रह गई, उसका साहित्यिक महत्त्व समकालीन साहित्य के लिये सम्पूर्णतः नष्ट हो गया।

इस प्रकार राजनीतिक वातावरण धीरे धीरे शान्त होता जा रहा था, यद्यपि समय समय पर उसमें युद्ध का झोंका अवश्य आ जाता था। हिन्दुओं को शान्त करने के लिये मुसलमानों ने उन्हें अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का भी प्रयत्न किया, क्योंकि अब मुसलमान भी अपने को इसी देश का निवासी मानने लगे थे। शासकों की नीति-रीति शासितों को प्रभावित अवश्य करती है, इसी सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म भी हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में अज्ञात रूप से परिवर्तन लाने में व्यस्त था। हिन्दू धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठी तथापि आत्म-रक्षा के विचार से किसी अंश तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म के समझने की चेष्टा की। फलत. धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी। यह नवीन धारा संत काव्य के रूप में प्रवाहित हुई।

संत मत में ऐसे ईश्वर की भावना मानी गई, जो हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में समान रूप से ग्राह्य हो सके। उसके कोई मुख-माथा, रूप-कुरूप नहीं है, वह एक है। वह निर्गुण और सगुण दोनों से परे रह कर पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है। वह सर्वशक्तिमय, सर्व-व्यापक और अखण्ड ज्योति-

सत काव्य

स्वरूप है। उसके मानने के लिये आत्म ज्ञान की आवश्यकता है। हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम उसी ईश्वर का रूपान्तर मात्र है। उसका ध्यान ही महान धर्म है। इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों की संस्कृति के मिश्रण से ईश्वर के इस रूप का प्रचार हुआ, यद्यपि ईश्वर की ऐसी भावना वेदान्त सूत्र में भी मिलती है।

इस मत में जहाँ एक ओर अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और तीर्थ-व्रत आदि का निषेध है वहाँ दूसरी ओर हलाल, रोजा और नमाज़ आदि का भी विरोध है। वाह्याडम्बर के जितने रूप हो सकते हैं उनका बहिष्कार सम्पूर्ण रूप से किया गया है। इस रूप में सन्त मत केवल ईश्वर के तात्विक स्वरूप की मीमांसा करता है, यद्यपि उसमें संस्कृत विचार-धारा और बौद्धिक गवेषणा के लिये कोई स्थान नहीं है। यह धर्म का ऐसा रूप है, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को सरलता से ग्राह्य हो सकता है। जिन कर्मकाण्डों के कारण दोनों धर्मों में विरोध हो सकता है, उनका समावेश इस धर्म में है ही नहीं।

इस मत के प्रचारक कबीर थे। मुसलमानी संस्कारों में पोषित होने के कारण वे स्वभावतः हिन्दू आचार-विचार से दूर थे, उन्हें मूर्ति-पूजा के लिये कोई आकर्षण नहीं था। मुसलमानी अत्याचार की क्रूरता ने इस्लाम की अनेक बातों से उन्हें विरक्त कर दिया था, जिनमें नमाज़ और रोज़ा भी थे। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभाव की वे उपेक्षा भी न कर सकते थे। इस परिस्थिति में उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की सारभूत बातें लेकर इस पंथ की स्थापना की। वे रामानन्द के प्रभाव में आकर माया और ब्रह्म को नहीं छोड़ सकते थे, इसी प्रकार जौनपुर सूफी सिद्धों के मलकूत आदि सिद्धान्त भी उन्हें प्रिय थे। इन्हीं प्रभावों ने कबीर के सन्त मत को एक विशिष्ट रूप दिया।

सन्त मत का काव्य उच्चकोटि का नहीं है। इस मत की भावना शास्त्र-पद्धति के आधार पर भी नहीं थी जिससे शिक्षित वर्ग उसकी ओर आकृष्ट होता, हाँ, जनता के हृदय तक पहुँचने के

लिए भाषा की सरलता उसमें अवश्य थी। इस प्रकार सन्त मत अधिकतर साधु और वैरागियों के द्वारा धर्म-प्रचार का एक सरल मार्ग ही था। सन्त मत में एक ही प्रकार के विचारों की आवृत्ति अनेक बार की गई है—वह भी एक ही प्रकार के शब्दों में—अतएव शिक्षित जन-समुदाय के लिए उसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था। सन्त मत सगुणवाद का खण्डन भी करता है, इसलिए जनता का अधिकांश समुदाय इसे ग्रहण भी नहीं कर सका। इतना अवश्य है कि जनता के अशिक्षित और साधारण वर्ग को सन्त मत ने यथेष्ट प्रभावित किया और मुसलमानी आतङ्क में भी धर्म की रूपरेखा की रक्षा में उसे बल प्रदान किया। सन्त मत का साहित्यिक क्षेत्र में विशेष महत्त्व न होते हुए भी धार्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा हाथ रहा।

कबीर के चलाए हुए संतमत में जो प्रधान भावनाएँ हैं, उन पर विचार कर लेना आवश्यक है:—

१. ईश्वर

संत मत का ईश्वर एक है।[१] उसका रूप और आकार नहीं है;[२] वह निर्गुण और सगुण के परे है[३]। वह ससार के प्रत्येक कण मे है। वही प्रत्येक की साँस में है। वह वर्णन नही किया जा सकता, वह केवल अनुभव-गम्य ही है।[४] वह ज्योति-स्वरूप है। वह अलख और

१—मेरा साहब एक है दूजा कहा न जाय।
साहिब दूजा जो कहूँ साहब खरा रिसाय॥—कबीर वचनावली

२—जाके मुख माथा नहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा ऐसा तत्त अनूप॥ " "

३—निर्गुण की सेवा करो सर्गुण को करो ध्यान।
निर्गुण सर्गुण से परे तहाँ हमारो ध्यान॥ कबीर वचनावली

४—पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥ " "

निरजन है। वह सुरति रूप है। उसकी प्राप्ति भक्ति और योग से हो सकती है। उसका नाम अक्षय पुरुष या सत्पुरुष है। उसी से संसार की उत्पत्ति है।[१] ईश्वर की प्राप्ति में गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिष्य को परमात्मा से मिलाने के कारण गुरु का स्थान स्वयं परमात्मा से ऊँचा है।

२ माया

यह सत्पुरुष से उत्पन्न है। यह सृष्टि की सृजन शक्ति है। इसके दो रूप हैं, सत्य और मिथ्या।[२] सत्य माया तो महात्माओं को ईश्वर की प्राप्ति में सहायक है। मिथ्या माया संसार को ईश्वर से विमुख कराती है।[३] कबीर ने मिथ्या माया का ही अधिकतर वर्णन किया है। वह त्रिगुणात्मक है।[४] वह जन्म, पालन और सहार करने वाली भी है।[५] अधिकतर वह संसार को सत्पथ से हटा कर कुमार्ग पर लाने वाली है। वह 'खांड' की तरह मीठी है[६] किन्तु उसका प्रभाव विप के समान है। उसने सारे संसार को अपने वश में कर रक्खा

१—अच्छय पुरुष इक वृच्छ है निरञ्जन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये पात भया ससार॥ कबीर वचनावली

२—माया के दुइ रूप हैं सत्य मिथ्या ससार॥ कबीर परिचय, पृष्ठ ३०५

३—कबीर माया पापिणीं हरि सूं करै हराम—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१

४—तिरगुण फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी
माया महा ठगिनि हम जानी—कबीर के पद, पृष्ठ ३७

५—माया के गुण तीन हैं, जनम पालन संहार—
कबीर परिचय, पृष्ठ ३०४

६—कबीर माया मोहिनी जैसे मीठी खाड।
सतगुर की किरपा भई नहीं तौ करती भाड॥
कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३

है।[1] उसका सम्बन्ध कनक और कामिनी से है।[2] संसार की जितनी ही आकर्षक और मोह में आबद्ध करने वाली वस्तुएँ हैं, वे सब माया की रस्सियाँ हैं। कबीर कहते हैं :—

माया तजूँ तजी नहिं जाइ,
फिर फिर माया मोहि लपटाइ ॥ टेक ॥
माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियान ॥
काया रस माया कर जान, माया कारनि तजै परान ॥
काया जप तप माया जोग, माया बाँधे सब ही लोग ॥
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहूँ पासि ॥
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता ॥
माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार[3] ॥

३ हठयोग

अङ्गों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित सचालन करते हुए (हठयोग) एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए आत्मा समाधिस्थ हो ईश्वर में मिल जाती है। हठयोग का तात्पर्य बलपूर्वक ब्रह्म से मिल जाना है। शारीरिक और मानसिक परिश्रम के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना ही हठयोग का आदर्श है। इसमें ८४ आसनों का विधान है।[4] इसके द्वारा ईश्वरीय चिन्तन के लिये शरीर को तैयार करने का विचार है। उसके बाद प्राणायाम है अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति को नियमित

१—कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि ।
सब जग तो फंधे पड्या गया कबीरा काटि ॥ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३२

२—माया की झल जग जल्या, कनक कामिणी लागि ।
कहुधौ किहि विधि राखिये, रुई लपेटी आगि ॥ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३५

३—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११५

४—चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना विधानि च ।
—शिव संहिता, तृतीय पटल, श्लोक ८४

करने का नियम है। इससे मन में एकाग्रता आती है और ईश्वर-चिन्तन में सहायता मिलती है। रेचक, कुंभक और पूरक साँसों के द्वारा प्राणायाम की शक्ति जागृत होती है जिससे शरीर के अंतर्गत मूलाधार चक्र से कुडलिनी चैतन्य होती है। मेरुदण्ड के समानान्तर सुषुम्णा नाड़ी के विस्तार में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञाचक्र को पार कर कुडलिनी ब्रह्मांड में स्थित सहस्रदल कमल का स्पर्श करती है जिससे 'अनहद्नाद' की ध्वनि सुनाई पड़ती है।[1] सहस्रदल कमल मे स्थित चन्द्र से गगा रूप पिंगला नाड़ी मे अमृत का प्रवाह होता है और मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य से यमुनारूप इडा नाड़ी में विष का प्रवाह होता है। शरीर मे गंगा और यमुना के सहारे अमृत और विष का प्रवाह निरंतर होता रहता है। जो योगी हैं वे विष का प्रवाह रोक कर अपने शरीर को अमृतमय कर लेते हैं और हजारों वर्षों तक जीवित रहते हैं। प्राणायाम के द्वारा पच प्राणों की साधना में कुडलिनी जो सर्प के समान मूलाधार चक्र में सोती है, और जो अपनी ही ज्योति से आलोकित है, हठयोग में महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इसी हठयोग को कबीर ने ईश्वर-प्राप्ति का एक साधन माना है।

४ सूफ़ीमत

सूफ़ीमत का प्रभाव सन्तमत पर यथेष्ट पड़ा है। सूफ़ीमत में बन्दे और ख़ुदा का एकीकरण है। उसमे माया के लिए कोई स्थान नहीं है। हाँ, शैतान की स्थिति अवश्य मानी गई है, जो बन्दे को भुलावा देकर कुमार्ग पर ले जाता है। ख़ुदा से मिलने के लिए बन्दे को अपनी रूह का परिष्करण करना पड़ता है। उसके लिए चार दशाएँ मानी गई हैं :—

१—उलटे पवन चक्र पट वेधा सुनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहिं जीवै, ताहि खोजि वैरागी॥

१—शरीयत (شریعت)
२—तरीक़त (طریقت)
३—हक़ीक़त (حقیقت)
४—मारिफत (معرفت)

मारिफ़त में रूह 'वक़ा' (जीवन) प्राप्त करने के लिए 'फ़ना' हो जाती है। इस 'फ़ना' होने में इश्क़ (प्रेम) का बहुत बड़ा हाथ है। बिना इश्क़ के 'वक़ा' की कल्पना ही नहीं हो सकती। इसी 'वका' में रूह अपने को 'अनलहक़' की अधिकारिणी बना सकती है।[1] इस 'अनलहक़' में रूह आलमे 'लाहूत' की निवासिनी बनती है। 'लाहूत' के पहले अन्य तीन जगतों में आत्मा अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करती है। उसे हम परिष्करण की स्थिति (Purgatory) कह सकते हैं। वे तीन जगत हैं—आलमे नासूत (सत्-भौतिक संसार), आलमे मलकूत (चित् संसार) और आलमे जबरूत (आनन्द संसार)। "लाहूत" में हक (ईश्वर) से सामीप्य होता है। जो सदैव एक है।

५. रहस्यवाद

कबीर ने अद्वैतवाद और सूफ़ीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की। इसमें आत्मा परमात्मा से मिलकर एक स्वरूप धारण करती है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं होती। इस रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम पति-पत्नी के सम्बन्ध ही में पूर्णता को पहुँचता है। इसलिए कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप देकर परमात्मा रूपी पति की आराधना की है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आत्मा विरहणी के समान दुःखी होती है। जब आत्मा परमात्मा से मिल जाती है तब रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता—"जब वह (मेरा जीवन-

---

१—हम चु बूदनि बूद खालिक गरक हम तुम पेश।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७

तत्व) 'दूसरा' नहीं कहलाता तो मेरे गुण उसके गुण हैं। जब हम दोनों एक हैं तो उसका बाह्य रूप मेरा है। यदि वह बुलाई जाय तो मैं उत्तर देता हूँ और यदि मैं बुलाया जाता हूँ तो वह मेरे बुलाने वाले को उत्तर देती है और कह उठती है "लब्बयक" (जो आज्ञा)। वह बोलती है, मानों मैं ही वार्तालाप कर रहा हूँ, उसी प्रकार यदि मैं कोई कथा कहता हूँ तो मानों वह ही उसे कहती है। हम लोगों के बीच में से मध्यम पुरुष सर्वनाम ही उठ गया है और उसके न रहने से मैं विभिन्न करने वाले समाज से बहुत ऊपर उठ गया हूँ।"[१]

कबीर ने ईश्वर की उपासना में अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से पतिव्रता स्त्री माना है।[२] वे परमात्मा से मिलने के लिये बहुत व्याकुल हैं। परमात्मा से विरह का जीवन उन्हें असह्य है।[३] कबीर का रहस्यवाद बहुत ही भावमय है। उसमें परमात्मा के लिये अविचल प्रेम है। जब उसकी पूर्ति होती है तो कबीर की आत्मा एक विवाहिता पत्नी की भाँति पति से मिलाप करने पर प्रसन्न हो उठती है।[४] इस प्रकार के विरह और मिलन के पदों में ही कबीर ने अपने रहस्यवाद की उत्कृष्ट सृष्टि की है। सन्तमत के अन्य कवियों ने भी इसी रहस्य वाद पर लिखा है, पर उनमें वह अनुभूति नहीं है जो कबीर में है।

१—दि आइडिया अव् पर्सोनालिटी इन सूफीज्म, पृष्ठ २०

२—बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुम मिलन कूँ मनि नाहीं विश्राम॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८

३—कै विरहित कूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सहा न जाय॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०

४—दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आए हो राजा राम भतार॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७

६. रूपक

संतों ने अपनी अनुभूति को अनेक प्रकार से प्रकट किया है। जब उनके विचार साधारण भाषा में प्रकट नहीं किए जा सकते थे, तब वे किसी रूपक का सहारा लिया करते थे। ये रूपक कभी कभी तो बिलकुल ही अस्पष्ट होते थे जिनका अर्थ लगाना केवल उन्हीं से साध्य था जो संतमत में थे अथवा सतों के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थे। भाव-सौन्दर्य और भावोन्माद साधारण शब्दों में उपस्थित नहीं किया जा सकता, इसीलिए संतों ने अनेक चित्रों की सृष्टि की इसे अंग्रेज़ी कवियों ने 'रूपक भाषा'[१] नाम दिया है।

कबीर ने इन रूपकों को विशेष कर दो रूपों में बाँधा है। एक तो उलटबाँसी का रूप है, जिसमें स्वाभाविक व्यापारों के विपरीत कार्य की कल्पना की जाती है[२]। और दूसरा रूप है आश्चर्यजनक घटनाओं की सृष्टि[३]। इन दोनों का संबंध रहस्यवाद से है। शरीर में अनंत परमात्मा की अनुभूति वैसी ही है जैसे नाव में नदी का डूब जाना और परमात्मा से मिलन का आनंद वैसा ही है जैसे सिंह का पान कतरना। इन रूपकों से यद्यपि भावना स्पष्ट नहीं हो पाती, पर अनुभूति की अभिव्यक्ति अवश्य हो जाती है। कबीर ने इन रूपकों को अधिकतर दो क्षेत्रों से लिया है। एक तो पशु-संसार से और दूसरा जुलाहे की कार्यावली से। कबीर इन्हीं रूपकों के कारण कहीं

१—दि लैंग्वेज अव् सिम्बल्स

२—पहले पूत पीछें भई माइ, चेला कै गुरु लागै पाइ ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९१

३—पुहुप बिना एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज-रूप सो पाया ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९०

कहीं अस्पष्ट हो गए हैं, पर हमें उन रूपकों में कबीर की अनुभूति को ही खोजने की चेष्टा करनी चाहिए।

मुसलमानी शासन का दूसरा बड़ा प्रभाव साहित्य में प्रेम-काव्य से प्रारम्भ होता है। उसमें सूफ़ी सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हिन्दू पात्रों के जीवन में किया गया है। इस्लाम के बढ़ते हुए स्वरूप ने जहाँ एक ओर हिन्दूधर्म के विश्वास को उच्छिन्न कर संतों के द्वारा निराकार ईश्वर की उपासना का मार्ग तैयार किया, वहाँ दूसरी ओर अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए सूफ़ी कवियों की लेखनी को भी गतिशील बनाया।

प्रेम काव्य

संत काव्य और सूफ़ी कवियों के प्रेम-काव्य हमारे साहित्य में स्पष्टतः मुसलमानी राज्य के विकार हैं, जो राम और कृष्ण साहित्य पर लिखे गए सिद्धान्तों से समानान्तर होते हुए भी वस्तुतः उनसे भिन्न हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धर्म के वातावरण से दूर न रहते हुए भी प्रेम-काव्य ने हमें सम्पूर्ण रूप से लौकिक कहानियाँ दी हैं। संसार के प्रेम का इतना सजीव वर्णन हमें पहली बार प्रेम-काव्य में मिलता है। इस दिशा में फ़ारसी साहित्य की मसनवियों ने हमारे हिन्दी साहित्य के प्रेमकाव्य को बहुत प्रभावित किया है।

प्रेम-काव्य में जो प्रधान भावनाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१. ईश्वर

प्रेम-काव्य सूफ़ीमत पर ही आश्रित है, अतः सूफ़ीमत के समस्त सिद्धान्त प्रेम काव्य में प्रस्फुटित हुए हैं। सूफ़ीमत में ईश्वर एक है, जिसका नाम 'हक़' है। उसमें और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा 'बन्दे' के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है और बन्दा इश्क़ (प्रेम) के सूत्र से 'हक़' तक पहुँचने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार एक पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए अनेक 'मञ्ज़िलों' को पार करता है उसी प्रकार बन्दे को खुदा तक पहुँचने में चार दशाएँ पार करनी पड़ती हैं। वे दशाएँ हैं शरीयत, तरीक़त

हक़ीक़त और मारिफ़त। इन दशाओं का परिचय पीछे संत काव्य की रूपरेखा में दिया जा चुका है।

मारिफ़त में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। इसमें आत्मा स्वयं 'फ़ना' होकर 'बक़ा' के लिये प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक़' सार्थक हो जाता है। प्रेम में चूर होकर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार कर ईश्वर में मिलती है और तब दोनों शराब-पानी की तरह मिल जाते हैं।

२. प्रेम

सूफ़ीमत में प्रेम का अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रेम ही कर्म है, और प्रेम ही धर्म है। इसी प्रेम से हिन्दी का प्रेम-काव्य पोषित हुआ है। प्रत्येक कहानी में प्रेम का ही निरूपण है। उसका बीज और अन्त उसी की विजय है। सूफ़ीमत मानों स्थान-स्थान पर प्रेम के आवरण से ढका हुआ है। उस सूफ़ीमत के बाग़ को प्रेम के फ़ुहारे सदा सींचते रहते हैं। निस्वार्थ प्रेम ही सूफ़ीमत का प्राण है। फ़ारसी के जितने सूफ़ी कवि हैं वे कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं हैं। प्रमाण-स्वरूप जलालउद्दीन रूमी और जामी के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। जायसी ने भी पद्मावत में लिखा है :—

> विक्रम धँसा प्रेम के बारा।
> सपनावति कहँ गयउ पतारा॥

प्रेम के साथ साथ उस सूफ़ीमत में प्रेम का नशा भी प्रधान है। उसमें नशे के ख़ुमार का और भी महत्त्वपूर्ण अंश है। उसी नशे के ख़ुमार की बदौलत ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। फिर संसार की कोई स्मृति नहीं रहती, शरीर का कुछ ध्यान ही नहीं रहता। केवल परमात्मा की 'लौ' ही सब कुछ होती है।

एक बात और है। सूफ़ीमत में ईश्वर की भावना स्त्री-रूप में मानी गई है। वहाँ भक्त पुरुष बन कर उस स्त्री को प्रसन्नता के लिए

सौ जान से निसार होता है, उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है। उसके द्वार पर जाकर प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप मे उसके सामने उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ रूमी की एक कविता का भावार्थ दिया जा सकता है :—

प्रियतमा के प्रति प्रेमी की पुकार

मेरे विचारों के सघर्ष से मेरी कमर टूट गई है।
ओ प्रियतमे, आओ और करुणा से मेरे सिर का स्पर्श करो।
मेरे सिर से तुम्हारी हथेली का स्पर्श मुझे शान्ति देता है।
तुम्हारा हाथ ही तुम्हारी उदारता का सूचक है।
मेरे सिर से अपनी छाया को दूर मत करो।
मैं सन्तप्त हूँ, सन्तप्त हूँ, सन्तप्त हूँ।

ऐ, मेरा जीवन ले लो,
तुम जीवन स्रोत हो, क्योंकि तुम्हारे विरह में मैं अपने जीवन से क्लांत हूँ। मैं वह प्रेमी हूँ जो प्रेम के पागलपन मे निपुण है।
मैं विवेक और बुद्धि से हैरान हूँ।[1]

इस तरह सूफीमत में ईश्वर स्त्री और भक्त पुरुष है। पुरुष ही स्त्री ...लने की चेष्टा करता है, जिस प्रकार जायसी के पद्मावत में ...न (साधक) सिंहलदीप जाकर पद्मावती (ईश्वर) से मिलने ...ष्टा करता है।

...तान और पीर

सूफीमत में माया तो नहीं है, पर शैतान अवश्य है, जो ...क को उसके पथ से विचलित कर देता है। पद्मावत में रत्नसेन ...चलित करने वाला राघवचेतन है जो कवि के द्वारा शैतान ...रूप में चित्रित किया गया है।[2] इस शैतान से बचने के

---

१ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ २३

२ जायसी ने माया का भी सकेत किया है और वह अलाउद्दीन के ...में है।

लिये पीर (गुरु) की बहुत आवश्यकता है। इसीलिये सूफीमत में पीर का बड़ा सम्मान है। वही ऐसा शक्तिशाली है जो साधक को शैतान से बचा सकता है। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी के प्रथम भाग में पीर की बहुत प्रशंसा लिखी है :—

ओ सत्य के वैभव, हुसामुद्दीन, कागज के कुछ पन्ने और ले और पीर के वर्णन में उन्हें कविता से जोड़ दे।

यद्यपि तेरे निर्बल शरीर में कुछ शक्ति नहीं है, तथापि तेरी शक्ति के सूर्य विना हमारे पास प्रकाश नहीं है।

पीर (पथ प्रदर्शक) ग्रीष्म (के समान) है, और (अन्य) व्यक्ति शरत्काल (के समान) हैं। (अन्य) व्यक्ति रात्रि के समान हैं, और पीर चन्द्रमा है।

मैंने (अपनी) छोटी निधि (हुसामुद्दीन) को पीर (वृद्ध) का नाम दिया है। क्योंकि वह सत्य से वृद्ध (बनाया गया) है। समय से वृद्ध नहीं (बनाया गया)।

वह इतना वृद्ध है कि उसका आदि नहीं है, ऐसे अनोखे मोती का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

वस्तुतः पुरानी शराब अधिक शक्तिशालिनी है, निस्सन्देह पुराना सोना अधिक मूल्यवान है।

पीर चुनो, क्योंकि बिना पीर के यह यात्रा बहुत ही कष्टमय, भयानक और विपत्तिमय है।

बिना साथी के तुम सड़क पर भी उद्भ्रान्त हो जाओगे, जिस पर तुम अनेक बार चल चुके हो।

जिस रास्ते को तुमने बिलकुल भी नहीं देखा, उस पर अकेले मत चलो, अपने पथ-प्रदर्शक के पास से अपना सिर मत हटाओ।

मूर्ख, यदि उसकी छाया (रक्षा) तेरे ऊपर न हो तो शैतान की कर्कश ध्वनि तेरे सिर को चक्कर में डाल कर तुझे (यहाँ-वहाँ) घुमाती रहेगी। शैतान तुझे रास्ते से बहका ले जायगा (और) तुझे

'नाश' में डाल देगा। इस रास्ते में तुझसे भी चालाक हो गये हैं (जो बुरी तरह से नष्ट किये गये हैं।)

सुन (सीख) क़ुरान से—यात्रियों का विनाश ! नीच इबलिस ने उनसे क्या व्यवहार किया है ॥

वह उन्हें रात्रि में अलग, बहुत दूर ले गया—सैकड़ों-हज़ारों वर्ष की यात्रा में—उन्हें दुराचारी (अच्छे कार्यों से रहित) नग्न कर दिया।

उनकी हड्डियाँ देख—उनके बाल देख ! शिक्षा ले, और उनकी ओर अपने गधे को मत हाँक। अपने गधे (इन्द्रियों) की गर्दन पकड़ और उसे रास्ते की तरफ उनकी ओर ले जा, जो रास्ते को जानते हैं और उस पर अधिकार रखते हैं।

ख़बरदार ! अपना गधा मत जाने दे, और अपने हाथ उस पर से मत हटा, क्योंकि उसका प्रेम उस स्थान से है जहाँ हरी पत्तियाँ बहुत होती हैं।

यदि तू एक क्षण के लिये भी असावधानी से उसे छोड़ दे तो वह उस हरे मैदान की दिशा में अनेक मील चला जायगा। गधा रास्ते का शत्रु है, (वह) भोजन के प्रेम में पागल-सा है। ओः ! बहुत से हैं जिनका उसने सर्वनाश किया है !

यदि तू रास्ता नहीं जानता, तो जो कुछ गधा चाहता है, उसके विरुद्ध कर। वह अवश्य ही सच्चा रास्ता होगा।[१]

सूफ़ीमत के इन व्यापक सिद्धान्तों को लेकर ही प्रेम काव्य चला है, उन्हीं सिद्धान्तों के अनुरूप ही कथा की सृष्टि हुई है। एक राजकुमार एक राजकुमारी से प्रेम करने लगता है, पर मार्ग में बहुत सी बाधाएँ हैं, प्रेमी प्रेमिका से नहीं मिल पाता। अनेक प्रयत्न विफल होते हैं। अन्त में किसी हितैषी या पथ-प्रदर्शक की सहायता पाकर दोनों का मिलाप होता है। यही परिस्थिति खुदा और उसके बन्दे में

१ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६३

है। साधक ईश्वर की विभूति—उसका सौन्दर्य—देख कर उस पर मोहित हो जाता है, पर दोनों में मिलाप नहीं होता। संसार की अनेक कठिनाइयाँ हैं। माया है, मोह है। अन्त में गुरु की सहायता पाकर दोनों मिल जाते हैं। इस प्रकार पार्थिव प्रेम मे अपार्थिव प्रेम की ओर संकेत है, भौतिकता के पीछे रहस्यवाद की छाया है। कभी कभी कथा में इसका स्पष्टीकरण हो जाता है, जैसा जायसी के पद्मावत में है। प्रत्येक प्रेम-काव्य के लेखक का कथानक थोड़े-बहुत अन्तर से यही रहता है। कोई भी कहानी दुःखान्त नहीं है, क्योंकि मिलन ही सूफ़ीमत की एक-मात्र चरम स्थिति है।

प्रेम-काव्य में सब से विचित्र बात यह है कि कथानक सम्पूर्ण रूप से भारतीय है। उसमें पात्रों के आदर्श भी एकान्त रूप से हिन्दू धर्म से पोषित हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दू वातावरण रहते हुए भी निष्कर्ष मुसलमानी सिद्धान्तों से पूर्ण है। भारतीय काव्य-शैली से पूर्ण रहते हुए भी ये प्रेम-काव्य मसनवी के वर्णनात्मक रूप लिए हुए हैं। जहाँ एक ओर मसनवी के अनुसार विषय-निरूपण है, वहाँ दूसरी ओर दोहा, चौपाई छंद में समस्त कथा कही गई है। भाषा भी अवधी है। कथानक के अंतर्गत हिन्दू देवी-देवताओं के भी विवरण हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रेम-काव्य के कवियों ने हिन्दू शरीर मे मुसलमानी प्राण डाल दिए हैं।

इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप मे राम और कृष्ण काव्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें भक्ति की भावना अपनी चरम सीमा पर थी।

धार्मिक काल की यह भक्ति-भावना उत्तरी भारत मे पल्लवित होने के पूर्व दक्षिण में अपना निर्माण कर चुकी थी। यह भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी, जिसका सम्बन्ध भागवत या पंचरात्र धर्म से है। वैष्णव धर्म का आदि रूप हमें विष्णु के देवत्व मे और देवत्व की प्रधानता मे मिलता है। विष्णु का निर्देश हमें सबसे पहले

राम और कृष्ण काव्य

ऋग्वेद में मिलता है।[1] [विष्णु (विश धातु) व्याप्त होना] ऋग्वेद में विष्णु प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं हैं। वे सौर शक्ति

---

१ अतो देवा अवंतु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ १६ ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदं ।

समूलहमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥ १८ ॥

विष्णुः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।

इंद्रस्य युज्यः सखा ॥ १९ ॥

तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यति सूरय ।

दिवी व चक्षु राततं ॥ २० ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांस : समिंधते ।

विष्णोर्यत्परमं पदं ॥ २१ ॥

इति प्रथमस्य द्वितीयं सप्तमो वर्गः

ऋग्वेद संहिता—(सायणाचार्य)—डा० मैक्स मूलर

के रूप में माने गए हैं। सूर्य सम्पूर्ण सृष्टि में प्रकाश रूप से व्याप्त हैं, इसलिए सूर्य का रूप ही विष्णु है। उनका वर्णन विश्व के सात विभागों को केवल तीन पग ही में पार कर लेने के रूप में किया गया है। ये तीन पग या तो अग्नि, विद्युत्, सूर्य के रूप हैं अथवा सूर्य के आकाश मार्ग की तीन स्थितियाँ, उदय, उत्कर्ष और अस्त हैं। वेद में कभी कभी उनका साम्य इन्द्र से भी हुआ है। यद्यपि वेद के विष्णु महाकाव्यों के विष्णु नहीं हैं तथापि विष्णु में संरक्षण और व्याप्त होने की भावना का जो प्राधान्य पहले था उसी का पल्लवित और विकसित रूप आगे चल कर हमारे आचार्यों और कवियों द्वारा प्रचारित हुआ। शाकपूणि के द्वारा विष्णु के तीन पैरों का रूपक पृथ्वी पर अग्नि, वायु-मण्डल में इन्द्र अथवा वायु और आकाश में सूर्य के आधार पर समझाया गया है।[1] और्णवाभ ने सूर्य का उदय, मध्याह्न और अस्त ही विष्णु के तीन पैरों के रूप में समझाया है[1]। विष्णु का महत्त्व इतना बढ़कर वर्णित किया गया है कि प्रशंसा की दृष्टि से इनका स्थान वैदिक देवताओं में सर्वश्रेष्ठ होता, किन्तु विष्णु को इन्द्र का सहयोगी और प्रशंसक तथा सोम से उत्पन्न भी कहा गया है। इस कारण उसका महत्त्व बहुत ही गिर गया है।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु के रूप में परिवर्तन हुआ। यह रूप वेद और पुराणों के बीच का है। वेद से परिवर्द्धित होते हुए भी पुराणों मे वर्णित रूप तक विष्णु का रूप अभी नहीं पहुँचा। शतपथ ब्राह्मण मे विष्णु वामन रूप में चित्रित किये गए हैं। वे यज्ञ रूप होकर असुर से सारी पृथ्वी प्राप्त कर लेते हैं :—

[तंयज्ञम् एव विष्णुम् पुरस्यकृत्य ईयुः ....आदि।][2]

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु सब से उच्च देवता माने गए हैं। अग्नि का स्थान निम्नतम है और अन्य देव इन दोनों के मध्य में हैं :—

---

१. ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट—जे म्योर, भाग ४, पृष्ठ ६८

२. शतपथ ब्राह्मण [२. ५, १]

[अग्निर वै देवानाम् अवमो । विष्णुःपरमम् । तदन्तरेण सर्वाः अन्याः देवताः ।][1]

निरुक्त में केवल तीन देवता माने गए हैं। पृथ्वी के देवता हैं अग्नि, वायुमण्डल के देवता हैं वायु और इन्द्र तथा आकाश के देवता हैं सूर्य। विष्णु का केवल इन्द्र के साथ पूजित होने का निर्देश है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में त्रिदेव अभी तक अज्ञात हैं। मनु ने वैदिक देवताओं के साथ विष्णु का उल्लेख अवश्य किया है। पर उनमें अधिक दैवत्व का आरोप नहीं है। मनु ने सृष्टि की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए ब्रह्म की संज्ञा नारायण दी है, किन्तु उससे विष्णु का बोध नहीं होता।

आपो नाराः इति प्रोक्ताः आपो वै नर सूनवः
ताः यद् अस्यायनम् पूर्वं तेन नारायणः स्मृत (मनुस्मृति) १, (५)

[नर से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम नाराः है। उसकी (ब्रह्म की) क्रीड़ा जल में होने के कारण उसका नाम नारायण है।

रामायण में भी विष्णु का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

पुत्रेष्टि यज्ञ में वे अन्य देवताओं के समान अपना भाग पाने के लिये ही आते हैं।

ब्रह्मा सुरेश्वरः स्थाणुस् तथा नाराय: प्रभुः ।
इन्द्रश्च भगवान साक्षाद् मरुदम् वृतस् तथा ॥

किन्तु आगे चल कर ज्ञात होता है कि रामायण में अनेक प्रक्षिप्त अंश आ गए[2] और उनके अनुसार विष्णु प्रधानतया सर्वश्रेष्ठ हो गए। ब्रह्म के स्थान पर विष्णु का स्थान हो जाता है।

ब्रह्मा स्वयम्भुर्विष्णुरव्यय· (२) ११९ ।

उनके आयुध भी उनके हाथ में आ जाते हैं।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण (१, १)

२. लैसन—इण्डियन एंटीक्विटी, भाग १, पृष्ठ ४८८

शङ्ख चक्र[1] गदा पाणि पीत वस्त्रः जगत्पति १, १४, २

महाभारत और पुराणों में त्रिवेदों में विष्णु मध्य स्थान ग्रहण किए हुए हैं। वे सतोगुणी, दयालु, पोषक, स्वयंभू और व्यापक हैं। इसीलिए उनका सम्बन्ध जल से है, जो सृष्टि के पूर्व सर्वव्यापक था। इस कारण वे नारायण हैं—जल के निवासी हैं। वे शेषशायी होकर जल पर शयन कर रहे हैं।

विष्णु का रूप महाभारत में सृष्टा के रूप में हो गया है। इसीलिए वे प्रजापति के नाम से विभूषित हैं। वे ब्रह्म हैं, इस रूप में उनकी तीन स्थितियाँ हैं।

१ ब्रह्मा—जो उनके नाभि कमल से उत्पन्न हुआ है, जिसमे विष्णु के उत्पन्न करने की शक्ति प्रस्फुटित है।

२ विष्णु—जिसमें वे, संसार की रक्षा करते हैं। अवतार ही उनका साधन है।

३. रुद्र—जिसमें विष्णु सृष्टि का विनाश करते हैं। रुद्र विष्णु के मस्तक से उत्पन्न हुए हैं। किन्तु विष्णु सदैव ही सर्वश्रेष्ठ देवता नहीं हैं। कृष्ण विष्णु के अवतार अवश्य माने गए हैं, पर वे प्रधानतः दैवी शक्ति के बदले मानवीय शक्ति से काम करते हैं। द्रोणपर्व में तो वे महादेव को अपने से बड़ा मानते हैं—

वासुदेवस् तु ता दृष्ट्वा जगाम शिरसा क्षितिम् ...... 'द्रोणपर्व'

विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण और भागवत पुराण में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है। 'सर्व शक्तिमयो विष्णुः' की संज्ञा से वे विभूषित किए गए हैं। इस प्रकार वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु बहुत ही साधारण देवता हैं। परवर्ती साहित्य में वे अवतार के रूप में धीरे-धीरे श्रेष्ठ पद को पहुँचते हैं। वे संरक्षक के रूप मे बहुत ही लोकप्रिय हैं। वे सहस्रनाम हैं और उनके नामों का भजन

---

१ चक्र की भावना, सम्भव है, विष्णु का सूर्य की गति से साम्य होने पर या सूर्य के बिम्ब के आधार पर की गई हो।

भक्ति का प्रधान अंग है। उनकी स्त्री का नाम श्री या लक्ष्मी है, जो संपत्ति और वैभव की स्वामिनी हैं। उनका स्थान वैकुंठ है और उनका वाहन गरुड़। वे श्याम वर्ण के सुन्दर और कोमल देवता हैं। वे चतुर्भुज हैं। उनके हाथों में पंचजन्य (शङ्ख), सुदर्शन (चक्र), कौमोदकी (गदा) और पद्म (कमल) है। उनके धनुष का नाम 'सारंग' है और तलवार का नाम 'नन्दक'। उनके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि, श्रीवत्स (बालों का चक्र-समूह) है। बाहु पर स्यमतक मणि है। कभी वे लक्ष्मी के साथ कमल पर बैठते हैं, कभी वे सर्प शय्या पर विश्राम करते हैं और कभी वे गरुड़ पर भी गमन करते हैं। शैव और शाक्त मत से भिन्न और उनसे भी अधिक व्यापक यह वैष्णव धर्म केवल विष्णु को ही परब्रह्म के रूप में मानता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु ब्रह्म के आदि रूप हैं। यही वैष्णव धर्म की चरम भावना है।

बौद्ध मत और जैन मत के समान ही वैष्णव मत की भावना धार्मिक सुधार से ही सम्बन्ध रखती है जिसका उद्भव ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था।[1] इसी का परिवर्द्धित रूप पञ्चरात्र या भागवत धर्म है। नारायण को भावना के मिश्रण से यह धर्म और भी विस्तृत हो गया। ईसा के कुछ वर्ष बाद आभीरों ने इसमें श्रीकृष्ण की भावना सम्मिलित कर दी। ८वीं शताब्दी में यह धर्म शङ्कर के अद्वैतवाद के सम्पर्क में आया। अपनी भक्ति के आदर्श के कारण इसे शङ्कर के मायावाद से सङ्घर्ष लेना पड़ा, जिसका विकसित रूप ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में प्रदर्शित हुआ। आगे चल कर निम्बार्क ने इस विष्णु रूप में कृष्ण रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसमें राधा के स्वरूप को भी जोड़ दिया। तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने इस विचार को और

---

१ एनसाइक्लोपीडिया अव् रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग १२, पृष्ठ ५७१

भी पल्लवित किया और द्वैतवाद का प्रचार कर विष्णु को और भी अधिक महानता दी। रामानन्द ने दूसरी ओर विष्णु के राम रूप का प्रचार किया और भक्ति को अधिक महत्त्व दिया। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभ ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण किया और बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने बालकृष्ण की भावना पर ज़ोर दिया। चैतन्य ने बालकृष्ण और राधा को मिला कर वैष्णव धर्म में प्रेम के मार्ग को बहुत प्रशस्त किया।

दक्षिण के नामदेव और तुकाराम ने राधाकृष्ण की भावना न मान कर विष्णु के विट्ठल या विठोवा नाम की उद्‌भावना की जिसमें प्रेम के बदले उपासना और शास्त्रीय भक्ति की भावना ही प्रधान रही। दक्षिण की ओर से उठकर उत्तर भारत में धर्म की जो लहर फैली उस पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

वैष्णव धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में प्रथमतः व्याप्त होकर उत्तर भारत मे वृद्धि पाने लगा। इस धर्म का प्रचार करने में चार महान आचार्यों ने सहयोग दिया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बार्क। इनके पश्चात् कुछ आचार्य और हुए जिन्होंने वैष्णव धर्म को अधिक व्यापक बना दिया। वे थे रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य। वैष्णव धर्म को अनेक प्रकार से समझाने के लिए प्रत्येक आचार्य ने भिन्न भिन्न रूप से विष्णु के रूप की विवेचना की। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। वैष्णव धर्म के इन चार प्रमुख विभेदों पर विचार करने के पूर्व यह देख लेना चाहिये कि चारों विभाग परस्पर कितना साम्य रखते हैं। निम्नलिखित बातों में उपर्युक्त चारों आचार्य सहमत हैं :—

१. भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं होना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मण जाति सभी जातियों से श्रेष्ठ है, पर शूद्र होने से ही कोई भगवद्‌भक्ति के अधिकार से च्युत नहीं हो सकता।

२ अद्वैतवाद से ब्रह्म का निरूपण किसी न किसी रूप में अवश्य भिन्न है।

३ गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है। उसका सम्मान संसार की सभी वस्तुओं से अधिक है।

४ गोलोक अथवा वैकुंठ प्राप्ति ही भक्ति का चरम उद्देश्य है। यह मत प्रथमतः भक्ति-सूत्र के लेखक शाण्डिल्य के द्वारा प्रतिपादित है।

रामानुजाचार्य—रामानुज का जन्म सं० १०७४ में श्री परम वद्दूर में हुआ था। यह स्थान मद्रास से २६ मील दूर पश्चिम में है। ये शेष के अवतार माने गए हैं। इन्होंने कंजीवरम में शङ्कर मतानुयायी यादव प्रकाश से शिक्षा प्राप्त की, किन्तु अन्त में ये उनके सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो सके। नाथ मुनि के पौत्र यामुनाचार्य के बाद अपने सम्प्रदाय के आचार्य यही हुए। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। वेदार्थ-संग्रह, श्री भाष्य और गीता भाष्य। इन्होंने भारत की दो बार यात्राएँ कीं, अन्त में इन्होंने श्रीरङ्गम् (त्रिचनापल्ली) में अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किए। इनकी मृत्यु सं० ११६४ में हुई।

सिद्धान्त—अल्वारों के गीतों ने इस सम्प्रदाय की रूप-रेखा निर्धारित करने में विशेष सहयोग दिया। ये गीत मन्दिरों में गाये जाते थे, अतएव इन गीतों की भावुकता और प्रेम विषयक तल्लीनता ने इस सम्प्रदाय की भक्ति का रूप और भी स्पष्ट और दृढ़ कर दिया। नम्मालवार के गीतों का संकलन सबसे प्रथम नाथ मुनि (दशम शताब्दी) द्वारा हुआ, जिसे उन्होंने नालायिर प्रबन्धम् के रूप में प्रचारित किया। ये श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य माने गए हैं। नाथ मुनि के पौत्र श्री यामुनाचार्य थे जो ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। इन्होंने सिद्धित्रय में आत्मा की सत्य सत्ता (शंकर द्वारा आत्मा की मिथ्या सत्ता के विरुद्ध)

घोषित की। इसी सिद्धान्त पर रामानुज ने अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया।

रामानुज ने शकर के मायावाद या अद्वैतवाद का खण्डन कर ोव की स्थिति मे सत्य की भावना उपस्थित की।

ये पदार्थ त्रितयम् की स्थिति में विश्वास रखते थे, जिसमें रब्रह्म (विष्णु) चित् (जीव) और अचित् (दृश्यम्) सम्मिलित । ये तीनों अविनाशी हैं। परब्रह्म स्वतत्र है और चित् और अचित् रब्रह्म पर निर्भर हैं। चित् और अचित् दोनों परब्रह्म से ही निर्मित , पर वे परब्रह्म के समान नहीं है। परब्रह्म ही कर्त्ता है और वही पादान कारण भी। जीव परब्रह्म को क्रिया है, वह परब्रह्म पर म्पूर्ण रूप से निर्भर है। इसीलिए जीव को परब्रह्म से सामीप्य ाप्त करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। परब्रह्म के भाग होते ए भी चित् और अचित् अपनी सत्ता में भिन्न और सत्य हैं। लय होने पर चित् और अचित् ब्रह्म मे लीन हो जाते हैं, किन्तु वे अभिन्न नहीं हो जाते। सृष्टि होने पर वे पुनः पृथक् हो जाते हैं, अद्वैतवाद के समान वे अपना अस्तित्व नहीं खो देते। इतना होते ए भी ब्रह्म और चित् समान नहीं हैं।

"जीव और ब्रह्म कैसे समान हो सकते हैं? मैं कभी सुखी हूँ, कभी दुखी। ब्रह्म सदैव सुखी है। यही अन्तर है। वह अनन्त ज्योति , पवित्र विश्वात्मा है, जीव ऐसा नहीं है। मूर्ख, तू कैसे कह सकता , मैं वह हूँ जो विश्वनियन्ता है? यदि वह अनन्त सत्य है तो वह झूठी माया का निर्माता कैसे हो सकता है? यदि वह ज्ञान-कोष है ो अविद्या का स्रष्टा कैसा?" यद्यपि ब्रह्म और चित् एक ही तत्त्व े निर्मित (अद्वैत) हैं तथापि उनका अन्तर माया-जनित नहीं है। यही विशेषता है जिसके कारण रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति **पाँच प्रकार** मे होती है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन् और **अर्चावतार**। ॥

एक बार ही अन्तिम परिस्थिति (अर्चावतार) को हृदयंगम नहीं कर सकता। अतएव उसे विभव से आरम्भ करना चाहिए। क्रमश अन्य परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद साधक अपने हृदय में स्थित पर और व्यूह की अनुभूति प्राप्त करता है। उस समय उसे वैकुण्ठ या साकेत की प्राप्ति होती है और वह परब्रह्म से मिलकर अनन्त आनन्द का उपभोग करता है। अभिज्ञान सम्मिलन (Conscious assimilation) विशिष्टाद्वैत की विशेषता है।

मध्वाचार्य—मध्व अथवा आनन्दतीर्थ का जन्म सवत् १३१४ (सन् १२५७) मे मङ्गलोर से ६० मील उत्तर उदीपी में हुआ था। ये द्वैतवाद के प्रतिपादक थे। उन्होंने अपने सिद्धान्त अधिकतर भागवत पुराण से लिये।

सिद्धान्त—इनके अनुसार एक विष्णु ही अविनाशी ब्रह्म है। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता तो नाशवान हैं। जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं। किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र। दोनों में स्वामी तथा सेवक अथवा राजा और प्रजा का सम्बन्ध है। ब्रह्म और जीव में जो अन्तर है, वह एकान्त सत्य है, मिथ्या नहीं। ब्रह्म आराध्य है, जीव आराधक। दोनों में समानता कैसी? प्रजा राजा नहीं है और न राजा ही प्रजा है। शरीर और शक्ति मे जो अन्तर है वही जीव और ब्रह्म में है। एक बार ब्रह्म से उत्पन्न होने पर जीव सदैव के लिए—अनन्त काल के लिए—स्वतन्त्र सत्ता है। जिस प्रकार कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है—(कारण ही कार्य नहीं है और न कार्य कारण ही) उसी प्रकार ब्रह्म जीव नहीं है और न जीव ब्रह्म है।

कृष्ण ब्रह्म हैं और उनकी भक्ति ही ब्रह्म के पाने का एकमात्र साधन है। इस सम्प्रदाय मे राधा मान्य नहीं हैं। अपने सम्प्रदाय में मध्व वायु के अवतार माने जाते हैं। उनके दो प्रधान ग्रन्थ वेदान्त सूत्र पर भाष्य और अनुभाष्य हैं।

विष्णु स्वामी—विष्णु स्वामी के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। सभवत: वे भी दक्षिण निवासी थे। वे महाराष्ट्र भक्त ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर महाराज से तीस वर्ष बड़े थे।[1] ज्ञानेश्वर महाराज का आविर्भाव-काल सन् १२९० माना जाता है।[2] अतएव विष्णु स्वामी का समय (१२९०+३०) सन् १३२० माना जाना चाहिए। यह समय संवत् १३७७ होगा।

सिद्धान्त—ये मध्वाचार्य के मतानुयायी माने जाते हैं, पर कहा जाता है कि इन्होंने अद्वैतवाद को माया से रहित मान कर शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया जिसका अनुसरण आगे चल कर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने किया। विष्णु स्वामी ने कृष्ण को अपना आराध्य माना है, पर साथ ही राधा को भी भक्ति में प्रधान स्थान दिया है। इन्होंने गीता, वेदान्त सूत्र और भागवत पुराण पर भाष्य लिखे। कहा जाता है कि विष्णु स्वामी ज्ञानेश्वर महाराज के गुरु थे, किन्तु इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भक्तमाल में इसका निर्देश मात्र है।

निम्बार्क—निम्बार्क बारहवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए। ये तेलगू प्रदेश से आकर वृन्दावन में बस गए थे। ये सूर्य के अवतार माने जाते हैं। गीत गोविन्द के रचयिता श्री जयदेव इनके शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने सूर्य की गति रोक कर उसे आकाश से हटाकर नीम वृक्ष के पीछे कुछ काल तक के लिए छिपा दिया था, क्योंकि सूर्यास्त के पूर्व उन्हें किसी संत को भोजन देना था। सूर्यास्त के बाद भोजन करना निम्बार्क की क्रिया के विरुद्ध था। वे राधाकृष्ण के उपासक और द्वैताद्वैत के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। वे रामानुज से विशेष प्रभावित थे।

---

१ आउट लाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इंडिया—जे० एन० फ़र्कुहार, पृष्ठ २३५

२. वही, पृष्ठ २३४

सिद्धान्त—ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी जीव उसमें अपना अस्तित्व खो देता है। फिर उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती। जीव को इस चरम मिलन की साधना भक्ति से करनी चाहिए। कृष्ण के साथ राधा की महानता इस सम्प्रदाय की विशेषता है। राधा कृष्ण के साथ सब स्वर्गों से परे गोलोक में निवास करती हैं। कृष्ण परब्रह्म हैं, उन्हीं से राधा और गोपिकाओं का अविर्भाव हुआ है। इस प्रकार राधा और कृष्ण की उपासना ही प्रधान है। निम्बार्क स्मार्त नहीं हैं इसलिए वे राधा कृष्ण के अतिरिक्त किसी देवी-देवता को नहीं मानते। इनके दो ग्रन्थ प्रधान हैं। वेदान्तसूत्र पर भाष्य वेदान्त-पारिजात सौरभ और दशश्लोकी। सन् १५०० के लगभग इन चार सिद्धान्तों के फल-स्वरूप चार सम्प्रदाय के रूप उत्तर भारत में निश्चित हुए। वे सम्प्रदाय इस भाँति थे —

१—श्री सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी रामानन्दी वैष्णव थे।

२—ब्रह्म सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी माधव वैष्णव थे।

३—रुद्र सम्प्रदाय " " विष्णु स्वामी मत के थे।
४—सनकादि सम्प्रदाय " " निम्बार्क मत के थे।

रामानन्द—चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्द ने रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय को बहुत ही व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया। रामानन्द पुण्यसदन शर्मा के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुशीला था। इन्होंने अपना विद्याभ्यास काशी के स्वामी राघवानन्द के आश्रय में किया। इनकी प्रतिभा देख कर राघवानन्द ने इन्हें अपना आचार्य पद प्रदान किया। इन्होंने सारे भारतवर्ष का पर्यटन कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

सिद्धान्त—इन्होंने विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर अवतार रूप राम की भक्ति पर ज़ोर दिया। साथ ही साथ इन्होंने रामानुज

के कर्म-काण्ड (समुच्चय) की उपेक्षा कर एकमात्र भक्ति को सर्व-श्रेष्ठ घोषित किया। भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद का वहिष्कार एवं संस्कृत के स्थान पर भाषा में अपनी भक्ति के प्रचार की नवीनता ... पित कर इन्होंने अपने मत को बहुत लोकप्रिय बना दिया। रामानंद ने राम सीता की मर्यादापूर्ण भक्ति का प्रचार कर वैष्णव धर्म की नींव उत्तर भारत में पूर्णतः जमा दी। विष्णु अथवा नारायण का वास्तविक महत्त्व तो अवतारों के द्वारा ही प्रकट हुआ है, जिनमें विष्णु का सम्पूर्ण और अधिकांश मनुष्य के रूप में अवतरित होकर 'धर्म की ग्लानि' दूर करता है, दुष्टों का विनाश और साधुओं का परित्राण करता है और प्रत्येक युग में उत्पन्न होता है। अवतारों की संख्या दस मानी गई है, पर भागवत पुराण के अनुसार यह संख्या २२ है। दशावतारों मे सभी मान्य हैं, पर सप्तम और अष्टम अवतार में राम और कृष्ण का महत्त्व अधिक है।

चैतन्य—चैतन्य का वास्तविक नाम विश्वम्भर मिश्र था। इनका जन्म नदिया (बंगाल) में संवत् १५४२ में हुआ था। प्रारम्भ से ही ये न्याय और व्याकरण में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने लगे। २२ वर्ष में ये मध्वाचार्य के ब्रह्म सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए, किन्तु इन्हें द्वैतवाद विशेष पसन्द नहीं आया, अतएव ये रुद्र और सनकादि सम्प्रदाय के प्रभाव से भी प्रभावित हुए।

सिद्धान्त—इन्होंने राधा को प्रमुख स्थान दिया और उनकी आराधना में जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदों का प्रयोग किया। इन्होंने गान और नृत्य के साथ अपने सम्प्रदाय मे संकीर्तन को भी स्थान दिया। दार्शनिक दृष्टिकोण से इन्होंने मध्व के द्वैतवाद को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना निम्बार्क के द्वैताद्वैत को। इन्होंने अपनी भक्ति का दृष्टिकोण अधिकतर भागवत पुराण से लिया है। इन्होंने जगन्नाथपुरी जाकर अपने सिद्धान्तों को बहुत लोकप्रिय रूप मे रक्खा। वहीं संवत् १५९० में ये जगन्नाथ जी में लीन हो गए।

चैतन्य ने राधा और कृष्ण को प्राधान्य देकर उन्हीं के चरित्रों में अपनी आत्मा को परिष्कृत करने का सिद्धान्त निर्धारित किया। इनके अनुसार भक्ति पाँच प्रकार की है :—

१. शान्ति—ब्रह्म पर मनन

२ दास्य—सेवा

३. सख्य—मैत्री

४ वात्सल्य—स्नेह

५. माधुर्य—दाम्पत्य

इस प्रकार पूर्व बंगाल मे इन्होंने वैष्णव धर्म का बड़ा आकर्षक रूप रक्खा।

वल्लभाचार्य--वल्लभाचार्य तैलिगू प्रदेश के विष्णुस्वामी मतावलम्बी भक्त के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५३६ में हुआ था। ये चैतन्य के समकालीन थे। इन्होंने सस्कृत अध्ययन और अनेक विद्वानों को विवाद में पराजित कर छोटी अवस्था ही में यशार्जन किया। विजयनगर के कृष्णदेव की सभा में तो ये 'महाप्रभु' घोषित किए गए।

सिद्धान्त—वल्लभ ने अपने को अग्नि का अवतार कहा है। इन्होंने यद्यपि विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का पालन किया, तथापि चैतन्य के समान इन्होंने भी निम्बार्क के मत का अवलम्बन किया। कृष्ण को ही इन्होंने ब्रह्म माना है, राधा को उनकी स्त्री और उनके क्रीड़ा-स्थान को वैकुण्ठ। दार्शनिक दृष्टिकोण से इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का है, शङ्कर का अद्वैत जैसे शुद्ध बना दिया गया हो। शङ्कर की माया के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार माया से रहित अद्वैत ही शुद्धाद्वैत है। शङ्कर के अद्वैत में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। इस शुद्धाद्वैत में माया के बहिष्कार के साथ भक्ति के लिए विशेष विधान है। यह भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। ज्ञान से ब्रह्म केवल जाना जा सकता है, भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है। इस प्रकार भक्ति का स्थान सर्वोच्च है।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म जो सत्, चित् और आनन्दमय है, स्वयं तीन रूपों में प्रकट हुआ। सत् गुण के आविर्भाव और चित् तथा आनन्द गुण के तिरोभाव से वह प्रकृति रूप में प्रकट हुआ है। सत् और चित् के आविर्भाव तथा आनन्द के तिरोभाव से वह जीव के रूप में प्रकट हुआ। सत्, चित् और आनन्द के रूप में वह सर्वव्यापक हुआ। इस प्रकार त्रय रूपात्मक ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार में प्रकट हुआ। प्रकृति और जीव उससे उसी भाँति प्रकट हुए जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी। यह रचनात्मक कार्य ब्रह्म केवल अपनी शक्ति एव अपने गुणों से करता है, वह माया का उपयोग नहीं करता।

जिस भक्ति से कृष्ण (जो ब्रह्म हैं) की अनुभूति होती है, वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है। उस अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य के अनुसार 'पुष्टि' है। इसी कारण वल्लभाचार्य का मार्ग 'पुष्टि मार्ग' कहलाता है (The Path of Divine Grace)। यह पुष्टि चार प्रकार की है :—

१. प्रवाह पुष्टि—ससार में रहते हुए भी श्रीकृष्ण की भक्ति प्रवाह रूप से हृदय में होती रहे।

२ मर्यादा पुष्टि—ससार के सुखों से अपना हृदय खींचकर श्रीकृष्ण का गुण गान। इस प्रकार मर्यादा-पूर्ण भक्ति का विकास हो।

३ पुष्टि पुष्टि—श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होने पर भी भक्ति की साधना अधिकाधिक होती रहे।

४. शुद्ध पुष्टि—केवल प्रेम और अनुराग के आधार पर श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर हृदय मे श्रीकृष्ण की अनुभूति हो। यह अनुभूति हृदय को श्रीकृष्ण का स्थान बना दे और गो, गोप, यमुना गोपी, कदम्ब आदि के सबध से उसे श्रीकृष्णमय कर दे।

वल्लभाचार्य ने शुद्ध पुष्टि को ही अपने सम्प्रदाय का चरम

उद्देश्य माना है। इसके अनुसार वे जीव को राधाकृष्ण के साथ गोलोक में निवास पा जाने पर ही सार्थक समझते हैं।

वैष्णव धर्म के प्रधान चार आचार्यों के सिद्धान्तों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि रामानुजाचाय ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति और ज्ञान पर ही जोर दिया है। उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर 'राम' भक्ति का प्रचार किया। शेष तीन आचार्य निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी विष्णु के रूप में श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने के पक्ष मे हैं। उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की ही भक्ति का प्रचार किया। रामानुज की भक्ति एवं अन्य तीन आचार्यों की भक्ति में भी कुछ अन्तर है। रामानुज की भक्ति श्वेताश्वतर उपनिषद् (ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व) से ली गई जान पड़ती है[1] जिसका रूप गीता मे और भी अधिक स्पष्ट हो गया है। गीता के बाद पुराणों, तत्रों और बारहवीं शताब्दी में शांडिल्य के भक्ति-सूत्र में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन मिलता है।[2] इस भक्ति मे चिन्तन और ज्ञान का विशेष स्थान है। ससार से उद्धार पाने के लिये इसकी विशेष आवश्यकता है। अन्य तीन आचार्यों की भक्ति भागवत पुराण से ली गई है जिसमे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का अधिक महत्त्व है। इसमें आत्म-चिन्तन की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आत्म-समर्पण की। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन और आत्म-निवेदन की बड़ी आवश्यकता है। यह भक्ति केवल प्रेम से निर्मित है। इस प्रकार रामानुज अपने सिद्धान्तों मे भक्ति और ज्ञान का 'समुच्चय' मानते हैं अन्य आचार्य केवल आत्म-समपर्णमय भक्ति को। सक्षेप में वैष्णव आचार्यों ने वेदान्त पर जिस प्रकार भाष्य लिखे हैं, उनका विवरण इस प्रकार है :—

---

१ आउट लाइन अव् दि रिलीजस हिस्ट्री अव् इंडया—जे० एन० फ़र्क़ुहार, पृष्ठ २४३

२ ब्रह्मनिज़्म एंड हिन्दूइज़्म, सर मानियर विलियम्स, पृष्ठ ६३

संख्या	तिथि	आचार्य	भाष्य	वाद	सम्प्रदाय
१.	१०८५	श्री रामानुज	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत	श्री वैष्णव
२.	१२३०	श्री मध्व	सूत्र भाष्य	द्वैत	माधव
३.	१३वीं शता०	श्री विष्णु-स्वामी	ब्रह्म सूत्र-भाष्य	द्वैत (शुद्ध)	विष्णुस्वामी
४.	,,	श्रीश्रीनिवास	वेदान्त-कौस्तुभ	द्वैताद्वैत	निम्बार्क
५.	१६वीं०	श्री वल्ल-भाचार्य	अनुभाष्य	शुद्धाद्वैत (पुष्टि)	(वल्लभाचार्य
६.	१८वीं	श्री बल्देव	गोविन्द भाष्य	अचिंत्य द्वैताद्वैत	चैतन्य

विविध आचार्यो द्वारा प्रतिपादित विष्णु के निम्नलिखित रूप हुए जिनसे वैष्णव-साहित्य निर्मित हुआ :—

विष्णु के रूप	भक्ति केन्द्र
१. राम	अयोध्या, चित्रकूट, नासिक।
२. कृष्ण	मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, नाथद्वारा, द्वारिका।
३. जगन्नाथ	पुरी, बद्रीनाथ।
४. विट्ठोबा	पढरपुर (शोलापुर), कञ्जीवराम।

इन धर्मो के प्रचार के सम्बन्ध मे एक बात और भी है। लोक-रञ्जक विचारों की सृष्टि से धर्म का प्रचार तो किसी प्रकार किया ही जा रहा था, उसके साथ ही साथ जनता की भाषा का प्रयोग भी धर्म प्रचार में उपयुक्त समझा जाने लगा था। जो धार्मिक सिद्धान्त अभी तक संस्कृत में बतलाये जाते थे वे अब जनता की बोली में प्रचारित हो रहे थे जिससे धर्म की भावना अधिक से अधिक व्यापक हो जावे। भाषा के व्यवहार का दूसरा कारण यह भी था कि मुसल-मानी शासन में संस्कृत के अध्ययन के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति मे संस्कृत अपना अस्तित्व स्थिर रखने में

असमर्थ हो रही थी। वह धीरे धीरे स्थानीय बोलियों में अपना स्वरूप देख रही थी।

धार्मिक काल के प्रारम्भ में साहित्यिक वातावरण एक प्रकार से अस्त व्यस्त था और उसमें विचार-साम्य का एकान्त अभाव था। इतना अवश्य था कि भक्ति की धारा का रूप प्रधानता प्राप्त कर रहा था। भक्ति के प्राधान्य के कारण राम और कृष्ण के सम्बन्ध में जो रचनाएँ हुईं उनका निरूपण भक्तिकाल के अन्तर्गत इतिहास में किया जायगा, किन्तु इसका विकास चारण-काल के अवसान के बाद ही हो गया था। इस परिस्थिति का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :—
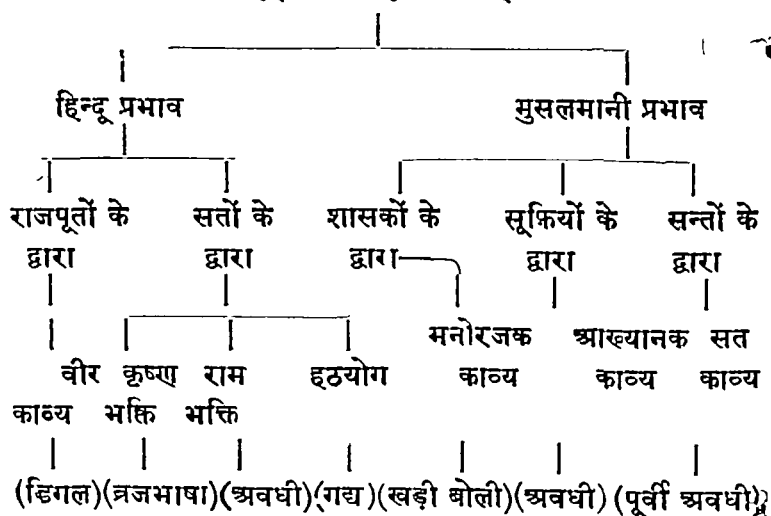
चौथा प्रकरण

भक्ति-काल

संवत् १३७५ से १७००

संत काव्य

मुसलमानी धर्म का प्रभाव सूफ़ीमत द्वारा प्रचारित प्रेम काव्य के अतिरिक्त संत काव्य पर भी पड़ा जिसकी रूप-रेखा सूफ़ीमत से बहुत कुछ मिलती है। मुसलमानों का शासन मूर्तिपूजा के लिए बिलकुल ही अनुकूल नहीं था। वे मूर्ति-विध्वंसक थे और थे काफ़िरों का समूल नाश करने वाले। अतएव हिन्दू धर्म की मूर्तिपूजा से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्ति तो किसी प्रकार मुसलमानों को सह्य हो ही नहीं सकती थी। हिन्दू धर्म के उपासकों के सामने यह जटिल प्रश्न था, जिसका हल उन्होंने संत मत में पाया। इसके प्रवर्त्तक महात्मा कबीर थे। कबीर ने हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्तों को मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिला कर एक नये पंथ की कल्पना की थी जिसमें ईश्वर एक था। वह निर्गुण और सगुण से परे था। उसकी सत्ता प्रत्येक कण मे थी। माया अद्वैतवाद की ही माया थी जिससे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का आभास होता है। गुरु की बड़ी शक्ति थी, वह गोविन्द से भी बड़ा था, आदि। सूफ़ीमत में भी खुदा या हक एक है। जीव उसका ही रूप है। वह निराकार है; उसकी व्याप्ति संसार के प्रत्येक भाग में है। साधक को साधना की अनेक स्थितियों को पार करना पड़ता है। इस तरह दोनों धर्मों के मेल से एक नवीन पंथ का प्रचार हुआ जो संतमत के नाम से पुकारा गया। हिन्दू धर्म की वे बातें जो इस्लाम को अमान्य थीं, संतमत में नहीं हैं। मुसलमानी धर्म की वे बातें जो हिन्दू धर्म से मिलती-जुलती हैं,

७ रामानन्द

८ धना

९ पीपा

१० सेन

११ कबीर

१२ रैदास

१३ सूरदास

१४ फ़रीद

१५ भीखन

१६ मीरा (ग्रन्थ का बन्नो संस्करण)

संत साहित्य के उद्गम के पूर्व जिन भक्तों का नाम इतिहास में आता है उन पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। वे चार भक्त उपासना के महत्त्व की दृष्टि से हैं—नामदेव, त्रिलोचन, सदन और वेनी।

नामदेव—ये महाराष्ट्र संत थे। संत-काल की महान् आत्माओं में इनकी गणना है। ये दमशेती नामक दर्जी के पुत्र थे और इनका जन्म नरसी-बमनी (सतारा) में संवत् १३२७ (सन् १२७०) में हुआ था।[१] भक्तमाल के अनुसार ये छीपा थे। बालकपन से ही नामदेव ईश्वरभक्त थे।[२] ये न तो पढ़ने में ही अपना जी लगाते

---

१ वैष्णविज़्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स, पृष्ठ ९२, सर आर० जी० भंडारकर

२. नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरि दास की ॥
बालदशा " बीठल " पानि जाके पै पीयौ।
मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरन कौ दीयौ ॥
सेज सलिल तें काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सब ही सोती ॥

थे और न अपने रोजगार ही में। इनका विवाह राजाबाई से हुआ था जिनसे इनके चार पुत्र हुए। नारायण, महादेव, गोविन्द और विट्ठल। इन्होंने बहुत पर्यटन किया, पर इनके जीवन का विशेष महत्त्वपूर्ण भाग पंढरपुर में व्यतीत हुआ, जहाँ इन्होंने अनेक 'अभङ्गों' की रचना की। नामदेव के जीवन-काल में ही उनका यश चारों ओर फैल गया था।

मराठी इतिहासकारों के अनुसार नामदेव की मृत्यु संवत् १४०७ (सन् १३५०) में ८० वर्ष की अवस्था में हुई।[१] उनकी समाधि पंढरपुर में बनाई गई।

नामदेव की रचनाओं से ज्ञात होता है कि अपने आराध्य विठोबा के प्रति उनकी बहुत भक्ति थी। नाभादास के भक्तमाल की टीका में नामदेव के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक घटनाएँ कही गई हैं। नामदेव की कविता उनके जीवनकाल के अनुसार तीन भागों मे विभाजित की जा सकती है :—

(१) पूर्वकालीन रचनाएँ, जब वे श्री पण्ढरीनाथ की मूर्ति की पूजा करते थे।

(२) मध्यकालीन रचनाएं, जब वे अन्धविश्वास से स्वतन्त्र हो रहे थे।

(३) उत्तरकालीन रचनाएँ, जब वे ईश्वर का व्यापक रूप सर्वत्र देखने लगे थे। इसी तीसरे काल की रचनाएँ ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं।

कुछ इतिहास-कारों का कथन है कि नामदेव कबीर के समकालीन

पण्डुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरि दास की॥

—श्री भक्तमाल सटीक (नाभादास) पृष्ठ ३०६—३०७
(सीतारामशरण भगवानप्रसाद) (लखनऊ १९१३)

१. दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ ३४ (एम० ए० मेकालिफ)

थे, क्योंकि उनकी भाषा पन्द्रहवीं शताब्दी की है। यदि हम भाषा के ही आधार पर नामदेव का समय निरूपण करें तो ख़ुसरो को हमें १९वीं शताब्दी में रखना होगा, क्योंकि उनकी खड़ी बोली भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली से मिलती-जुलती है। नामदेव की भाषा का परिष्कृत रूप उनके पर्यटन के फलस्वरूप ही मानना चाहिए। पन्द्रहवीं शताब्दी में नामदेव के आविर्भाव का एक कारण और दिया जाता है। वह यह कि उन्होंने मुसलमानों द्वारा मूर्ति तोड़ने का निर्देश अपने किसी पद में किया है और मुसलमानों का दक्षिण में पहला हमला ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ। अतः नामदेव चौदहवीं शताब्दी के बाद हुए। किन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है। महमूद ग़ज़नवी ने सोमनाथ की मूर्ति तो बारहवीं शताब्दी ही में तोड़ डाली थी। इसके बाद उत्तर में मूर्ति तोड़ने की अनेक घटनाएँ हुईं। नामदेव केवल पंढरपुर में ही नहीं रहे, वरन् उनकी यात्राएँ उत्तर में हस्तिनापुर और बद्रिकाश्रम तक हुईं।[1] अतः उत्तर में मुसलमानों को मूर्ति तोड़ने की प्रवृत्ति देखकर इन्होंने उसका वर्णन यदि अपने किसी 'अभंग' में कर दिया तो इससे उनके आविर्भाव काल में कोई अन्तर नहीं आता। फिर नामदेव को ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानदेव का भी शिष्य कहा गया है।[2] ज्ञानदेव का समय सं० १३३२ माना गया है।[3] अतः नामदेव ज्ञानदेव के समकालीन अवश्य रहे होंगे।

---

१ सिलेक्शंस फ़्राम हिन्दी लिटरेचर, बुक ४, पृष्ठ ११२

लाला सीताराम बी० ए०

२ भक्तमाल—हरिभक्त प्रकाशिका, पृष्ठ २९४

—ज्वालाप्रसाद मिश्र

(गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८१)

३. श्री ज्ञानेश्वर चरित, पृष्ठ ३७

(श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पागारकर)

त्रिलोचन

त्रिलोचन का जन्म वैश्य वंश में सम्वत् १३२४ (सन् १२६७) में हुआ था। ये पंढरपुर के निवासी और नामदेव के समकालीन थे।[1] नामदेव ने स्वयं त्रिलोचन के प्रति अनेक पद कहे हैं। इनका नाम त्रिलोचन इसलिये पड़ा कि ये भूत, वर्तमान और भविष्य के द्रष्टा थे। ये अतिथियों का सत्कार करने में सिद्धहस्त थे। जब अनेक संत इनके यहाँ आने लगे तो इन्होंने एक सेवक की खोज की। कहते हैं, ईश्वर ने 'अन्तर्यामी' नाम से सेवक बन कर इनकी सहायता की। इनके पद भी 'ग्रन्थ साहब' में पाये जाते हैं। 'भक्तमाल' में त्रिलोचन को भी नामदेव के साथ ज्ञानदेव का शिष्य कहा गया है।[2]

सदन

सदन का जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। ये नामदेव के सम-कालीन थे। अतः इनका समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का मध्य भाग ही मानना चाहिए। ये जाति के कसाई थे। ये शालग्राम पत्थर की मूर्ति पूजते थे और उसी से मांस तौल कर बेचते थे। बाद में इन्हें सांसारिक जीवन से घृणा हो गई। ये घर से भाग निकले। जीवन की अनेक परिस्थितियों से होते हुए इन्हें अनेक कष्ट भोगने

---

१. एन आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इंडिया, पृष्ठ २९०—३०० (जे० एन० फ़रक़ुहार)

२ विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति ॥
'नामदेव' 'त्रिलोचन' शिष्य सूर शशि सदृश उजागर।
गिरा गंग उनहारि, काव्य रचना प्रेमाकर ॥
आचारज हरिदास अतुल बल आनन्द दायन।
तेहि मारग वल्लभ विदित पृथुपद्धति परायन ॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन वच क्रम हरि चरन रति।
विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति

भक्तमाल (नाभादास) पृष्ठ ३६३

पड़े, किन्तु इन्होंने न तो ईश्वर का नाम ही छोड़ा और न सत्यमार्ग से अपना मुख ही मोड़ा। इनकी कविता थोड़ी होने हुए भी भक्ति का महत्त्व रखती है।

बेनी

बेनी का विशेष विवरण ज्ञात नहीं। इनकी रचना की भाषा प्राचीन और असंस्कृत है। अतः ज्ञात होता है कि सम्भवतः इनका आविर्भाव काल नामदेव से भी पहले हो। इनकी रचनाओं में हठयोग के साधन से अध्यात्म की शिक्षा दी गई है।

संत साहित्य के विकास में मुसलमानी प्रभाव का जितना बड़ा हाथ है उससे किसी प्रकार भी कम वैष्णव धर्म का नहीं। रामानन्द ने ही अपनी स्वतत्र भक्ति से कबीर आदि महात्माओं को जन्म दिया जिन्होंने संत साहित्य की स्थापना की। रामानन्द से पहले दक्षिण में नामदेव और त्रिलोचन और उत्तर में सदन और बेनी की रचनाओं ने भी भक्ति का बड़ा परिष्कृत रूप रक्खा, जिसमे ईश्वर केवल मूर्ति में ही सीमित न होकर विश्व में व्यापक हो गया। रामानन्द ने सत साहित्य के विकास में जो सहायता पहुँचाई उसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) रामानन्द ने जाति-बन्धन ढीला कर दिया था। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने वर्णाश्रम का मूलोच्छेद कर दिया था, उन्होंने केवल खान-पान के विषय में स्वाधीनता दी थी, जाति की अवहेलना नहीं की थी।[१] उन्होंने उसे वैसा ही रक्खा जैसा श्री सम्प्रदाय का आदेश था। उन्होंने इतना अवश्य किया कि भक्ति के लिये अनेक जाति के जिज्ञासुओं को एक ही पक्ति में बिठला दिया।

(२ उन्होंने धर्म-प्रचार के लिये संस्कृत की उपेक्षा कर जनता की

---

१. एन आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इण्डिया—पृष्ठ १२५ (जे० एन० फ़रकुहार)

भाषा को ही प्रश्रय दिया। यद्यपि रामानन्द की हिन्दी-रचना बहुत ही कम है, तथापि उन्होंने अपने शिष्यों को भाषा में धर्म-प्रचार की आज्ञा दे दी थी। रामानन्द का एक ही पद हमें 'ग्रन्थ साहब' में प्राप्त है।

(३) रामानन्द ने ईश्वर के वर्णन में अद्वैतवाद में प्रयुक्त ईश्वर के नामों का उपयोग किया है। उन्होंने राम की साकार उपासना को सुरक्षित रखते हुए भी अद्वैतवाद की ईश-नामावली को स्वीकार किया है। जहाँ एक ओर वे रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य का आधार लेते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे अद्वैतवाद के आधार पर लिखी हुई 'अध्यात्म रामायण' का भी सहारा लेते हैं।[1] यही कारण है कि आगे चल कर तुलसीदास ने भी साकार ब्रह्म राम को अद्वैतवाद के अनेक ईश्वर-सम्बन्धी नामों से पुकारा है।

(४) शङ्कराचार्य के सन्यासियों से रामानन्द के अवधूतों को आचारात्मक स्वतंत्रता बहुत अधिक है। (रामानन्द के वैरागियों का नाम 'अवधूत' है।)

रामानन्द

रामानन्द के जीवन के विषय में बहुत कम सामग्री प्राप्त है। जो कुछ भी विवरण हमें मिलता है, उसमें रामानन्द की प्रशंसा मात्र है। नाभादास के भक्तमाल से भी हमे कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती।[2]

---

१. वही, पृष्ठ ३२६

२. श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ॥
अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि ।
पीपा, भवानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसुरा की घरहरि ॥
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर ।
विश्व मंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर ॥
बहुत काल वपु धार कै प्रनत जनन को पार दियो ।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ॥
—भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ २९७—२९८

रामानन्दी सम्प्रदाय के लोग अपने सम्प्रदाय की सभी बातें गुप्त रखना चाहते हैं।[1]

रामानन्द का अविर्भाव-काल अभी तक संदिग्ध है। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुसार रामानन्द श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे शिष्य थे। यदि प्रत्येक शिष्य के लिए ७५ वर्ष का समय निर्धारित कर दिया जावे तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है। रामानन्द की तिथि के निर्णय में एक साधन और है। रामानन्द पीपा और कबीर के गुरु थे, यह निर्विवाद है। मेकालिफ़ के अनुसार पीपा का जन्म संवत् १४८२ (सन् १४२५) में हुआ। कबीरपंथी सन् १८३७ को ५३९ कबीराब्द मानते हैं। इसके अनुसार कबीर का जन्म सन् १३९८ (सं० १४५५) सिद्ध होता है। रामानन्द कबीर और पीपा के गुरु होने के कारण इसी समय वर्तमान होंगे। अतः रामानन्द का समय सं० १४५५ और १४८४ के पूर्व ही होना चाहिए। भक्तमाल सटीक में रामानन्द की जन्म-तिथि संम्वत् १३५६ दी गई है।[2] इस तिथि को वैष्णव धर्म के विशेषज्ञ सर आर जी भंडारकर भी मानते हैं।[3]

रामानन्द स्मार्त वैष्णव थे। उन्होंने श्री सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी वर्णाश्रम का बन्धन दूर कर दिया था। वे

---

१ दि सिख रिलीजन, भाग ४, पृष्ठ १०४ (एम० ए० मेकालिफ़)

२ स्वामी श्री १०८ रामानन्द जी दयालु श्री प्रयागराज में कश्यप जी के समान भगवद्धर्म युक्त बड़भागी कान्यकुब्ज ब्राह्मण 'पुण्य सदन' के गृह में, विक्रमीय संवत् १३५६ के माघ कृष्ण सप्तमी तिथि में, सूर्य के समान सबों के सुखदाता, सात दण्ड दिन चढ़े चित्रा नक्षत्र सिद्धयोग कुम्भ लग्न में गुरुवार को 'श्री सुशीला देवी' जी से प्रगट हुए।

श्री भक्तमाल सटीक, पृष्ठ २७३

३ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ६६,

(सर आर० जी० भंडारकर)

इस सम्बन्ध में अपने सम्प्रदाय में बहुत स्वतंत्र थे। उन्होंने श्री सम्प्रदाय के नारायण और लक्ष्मी के स्थान पर राम और सीता की भक्ति पर जोर दिया।

रामानन्द ने शास्त्रों के आधार पर जाति-बन्धन के महत्त्व को र्थ सिद्ध किया। उन्होंने भक्ति की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध कर प्रत्येक जाति लिए वैष्णव धर्म का दरवाजा खोल दिया। उन्होंने भक्ति और न-प्राप्ति के लिए सामाजिक बन्धन को तुच्छ सिद्ध कर दिया। भादास के अनुसार सभी जाति के भक्त उनके शिष्य थे। रामानन्द शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं:—

अनन्तानन्द, सुरेश्वरानन्द, सुखानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, वानन्द, पीपा, सेना, धना, रैदास, कबीर, गालवानन्द और ‌‌मावती।

रामानन्द ने अपने स्वतन्त्र विचारों से विभिन्न जातियों के नेक भक्तों को अपना शिष्य बनाया।[1] उन प्रधान शिष्यों का वरण इस प्रकार है:—

धना

धना जाति के जाट थे और सन् १४१५ (संवत् १४७२) में उत्पन्न र।[2] ये धुवान (देवली, राजपूताना) के निवासी थे। बचपन से । उनकी प्रवृत्ति ईश्वर की ओर थी। ये एक ब्राह्मण की पूजा देख र ईश्वर की ओर इतने आकृष्ट हुए कि बिना पूजा के जलपान ो ग्रहण न करते थे। इनकी धार्मिक प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती गई। न्त में काशी आकर ये श्रीरामानन्द से दीक्षित हुए। यद्यपि प्रारम्भ ये मूर्ति-पूजक थे, पर बाद में इनकी भक्ति इतनी परिष्कृत हुई कि ये केश्वर-वादी होकर ईश्वर के निर्विकार और निराकार रूप ही की

१ एन आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इंडिया, पृष्ठ ३२१, (जे० एन० फरकुहार)

२. दि सिख रिलीजन, भाग ६ पृष्ठ १०६ (एम० ए० मेकालिफ)

भावना में लीन हो गए। भक्तमाल में इनकी भक्ति की अनेक अलौकिक कथाएँ लिखी गई हैं।[१]

पीपा

पीपा का जन्म (सन् १४२५)[२] संवत् १४८२ में हुआ था। ये गगरौनगढ़ के अधिपति थे। ये पहले दुर्गा के उपासक थे, बाद में रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण कर वैष्णव हो गये। इन्होंने रामानन्द के साथ पर्यटन भी खूब किया। अन्त में द्वारिका में बस रहे। इनके साथ इनकी सुन्दरी स्त्री सीता भी थीं, जिन्होंने अपने पति का साहचर्य प्राप्त करने के लिये रत्नों और दुकूलों के स्थान पर वैरागियों की गूदड़ी शरीर पर धारण की। पीपा की भक्ति देखकर सूरसेन राजा भी उनका शिष्य हो गया था। पीपा के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक जनश्रुतियाँ हैं, जिनसे उनके वीतराग और भक्ति-भाव की उत्कृष्टता प्रमाणित होती है। इनके पद भी ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं। पीपा के सम्बन्ध में नाभादास का छप्पय प्रसिद्ध है।[२]

---

१. धन्य धना के भजन कों बिनहिं बीज अंकुर भयो ॥
घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लागलहिं चलाए ॥
आसपास कृषिकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रगट [illegible]ीति जु पाई ॥
अचरज मानत जगत मैं [illegible]हुँ निपज्यो कहुँ वै बयो।
धन्य धना के भजन कों, बिनहिं बीज अंकुर भयो ॥

भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ५०४

२ एन आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इंडिया, पृष्ठ ३२३ (जे० एन० फ़रकुहार)

पीपा प्रताप जग वासना, नाहर को उपदेश दियो ॥
प्रथम भवानी भक्त, मुक्ति माँगन को धायो,

उसकी टीका प्रियादास ने विस्तारपूर्वक की है :—

पूछ्यो हरि पाइबे को मग तब देवी कही,
सही रामानन्द गुरू करि, प्रभु पाइये।
लोग जानै बौरी भयो, गयो यह काशीपुरी,
फुरी मति अति आए वहाँ हरि गाइये।
द्वार पै न जान देत, आज्ञा ईश लेत कही,
राज सो न देत सुनि सब ही लुटाइये।
कह्यो कुआँ गिरौं, चले गिरन प्रसन्न हिय,
जिय सुख पाए लाए दरस दिखाइये॥

सेन

ये रामानन्द के शिष्य और उनके समकालीन थे। अतः सेन का भी आविर्भाव काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी मानना चाहिए। सेन जाति के नाई थे और बाँधोगढ़ (रीवाँ) के अधिपति राजाराम की सेवा करते थे। सेना अपनी दिनचर्या में भक्ति के लिये भी समय पा लेते थे और संतों की सूक्तियाँ गाया करते थे। सेन के सम्बन्ध में कथा है कि एक बार साधुओं की सेवा के कारण ये राजाराम की सेवा में उचित समय पर नहीं पहुँच सके। स्वयं भगवान ने सेन का रूप रख राजा की सेवा की।[1] अवकाश मिलने पर जब सेन ने आकर राजा से क्षमा माँगी तो राजा ने सेन के उपयुक्त समय पर उपस्थित

सत्य कह्यो तेहिं शक्ति सुदृढ़ हरिशरण बतायो॥
श्रीरामानन्द पद पाइ, भयो अति भक्ति की सींवाँ।
गुण असंख्य निर्मोल, सन्त धरि राखत ग्रीवाँ॥
परस प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग वासना नाहर को उपदेश दियो॥
भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ४७५

१. विदित बात जग जानिए, हरि भये सहायक सेन के॥
प्रभु दास के काज रूप नापित को कीनो।

होने की बात कही। सेन ने समझ लिया कि ईश्वर को ही मेरे स्थान पर कष्ट करना पड़ा। सेन की भक्ति जान कर राजाराम उनके शिष्य हो गए। ग्रन्थ साहब में सेन की कई सूक्तियाँ उद्धृत हैं।

रैदास

इनके जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं, पर वे सब मान्य नहीं। इनका जन्म चमार के घर में हुआ था। रैदास इसे अनेक बार कहते हैं :—

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं।
हृदय राम गोविन्द गुन सारं ॥[1]
जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचै से प्रभु ऊँच कियो है कह रैदास चमारा ॥[2]
तुम बिन सकल देव मुनि ढूढूँ कहूँ न पाऊँ जमपास छुड़इया।
हमसे दीन, दयाल न तुमसे चरन सरन रैदास चमैया ॥[3]

ये रामानन्द के शिष्य और कबीर के समकालीन थे। अतः इनका आविर्भाव-काल कबीर के समय मे ही मानना चाहिये, जो सं० १४५ से सं १५७५ है। आदि ग्रन्थ के अनुसार ये काशी के निवासी थे और चमारी का व्यवसाय करते थे। ये एक पद में स्वयं अपना परिचय इस प्रकार देते हैं :—

छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो॥
तादृश है तिहिं काल भूप के तेल लगायो।
उलटि राव भयो शिष्य, प्रगट परचो जब पायो॥
श्याम रहत सनमुख सदा, ज्यों बच्छा हित धेन के।
विदित बात जग जानिए, हरि भये सहायक सेन के॥

भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ५०

१. रैदास जी की बानी, पृष्ठ २१
२. वही, पृष्ठ ४३
३ वही, पृष्ठ ४०

जाके कुटुंब के ढेढ़ सब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बनारसी आस पासा ।
आचार सहित विप्र करहिं डण्डउति तिनि तनै रविदास दासानुदासा ॥[१]

भक्तमाल के अनुसार ये बड़े सिद्ध संत थे,[२] संसार के आकर्षण से परे ये एक वीतराग महात्मा थे । इसी गुण के कारण चित्तौड़ की रानी इनकी शिष्या हो गई थीं । अनुमान है कि ये रानी मीरांबाई ही थीं ।[३] मीरांबाई के एक पद मे भी रैदास का नाम गुरु के रूप में आता है :—

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी
सतगुरु सैन दई जब आके, जोत में जोत रली ॥[४]

यदि यह पद प्रक्षिप्त नहीं है तो मीरांबाई का रैदास को अपना गुरु स्वीकार करना माना जाना चाहिये ।

रैदास ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन भक्तो के विषय मे भी ा है । उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके ने ही हो गई थी ।[५]

---

१. आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी, पृष्ठ ६६८

२. सन्देह ग्रन्थि खण्डन निपुन, बानी विमल रैदास की ॥
सदाचार श्रुति शास्त्र वचन अविरुद्ध उचार्यो ।
नीर खीर बिवरन परम हंसनि उर धार्यो ॥
भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई ।
राजसिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई ॥
वर्णाश्रम अभिमान तजि पद रज वन्दहि जासु की ।
सन्देह ग्रन्थि खण्डन निपुन' बानी विमल रैदास की ॥

भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ४५२

३ एन आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इंडिया पृष्ठ ३०६ (जे० एन० फ़रकुहार)

४ संतबानी संग्रह (मीराबाई) भाग २ पृष्ठ ७०

५ नामदेव कबिरे जाति कै ओछ ।
जाको जस गावै लोक ॥ ३ ॥

रैदास की आयु १२० वर्ष की मानी गई है। इनका एक पथ अलग चल गया है, जिसे 'रैदासी पथ' कहते हैं। इस पंथ के अनुयायी गुजरात में बहुत हैं।

रैदास की कविता बहुत सरल और साधारण है। उसमें भाषा का बहुत चलता रूप है। पदों में अरबी फारसी शब्दों के सरल रूप हैं। एक पद में तो रैदास ने फारसी शब्दों की लड़ी बाँध दी है।[1]

रैदास ने यद्यपि ईश्वर के नाम सगुणात्मक रक्खे हैं पर उनका निर्देष निर्गुण ब्रह्म से ही है। रैदास जी के दो प्रधान ग्रन्थ हैं— रविदास की बानी और रविदास के पद।

रैदास जैसे निम्नजाति के संत को महत्त्व का स्थान देने में वैष्णव धर्म ने अपनी उदारता का पूर्ण परिचय दिया है।[2]

भगति हेत भगता के चले।
अङ्कमाल ले बीठल मिले ॥ ४ ॥
निरगुन का गुन देखो आई।
देही सहित कबीर बिधाई ॥ ५ ॥
—रैदास जी की बानी, पृष्ठ ३३

१ ख़ालिक सिकस्ता मैं तेरा।
दे दीदार उमेदगार, बेकरार जिव मेरा ॥ टेक ॥
अौवल आखिर इलाइ, आदम फरिस्ता बन्दा।
जिसकी पनह पीर पैगम्बर, मैं गरीब क्या गन्दा ॥
तू हाजरा हजूर जोग इक अवर नहीं है दूजा।
जिसके इसक़े आसरा नाहीं, क्या निवाज क्या पूजा ॥
नाली दोज, हनोज, बेबखत, कमि खिजमतगार तुम्हारा।
दरमांदा दर ज्वाब न पावै, कह रैदास विचारा ॥
रैदास जी की बानी, पृष्ठ ६०

२ सेकंड ट्रिनियल रिपोर्ट अव् दि सर्च फ़ार हिन्दी मेनस्क्रिप्ट्स

कबीर

भारतीय जनश्रुतियों में संतों और महात्माओं की जीवन-तिथियों को कभी महत्व नहीं दिया गया। अंधविश्वास और अज्ञान से भरी हुई कहानियाँ, श्रद्धा और अलौकिक चमत्कार पर आस्था रखने की प्रवृत्तियाँ हमें अपने संतों और कवियों की ऐतिहासिक स्थिति का निर्णय करने की ओर उत्साहित नहीं करतीं। जिन कवियों ने देश और जाति के दृष्टिकोण को बदलकर उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है और हमारे लिये साहित्य की अमर निधि छोड़ी है, उनका जन्म-काल और जीवन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विस्मृति के अंधकार में छिपा हुआ है। कबीर की जन्म तिथि भी हमारे सामने प्रामाणिक रूप में नहीं है।

कबीर की ऐतिहासिक स्थिति

कबीर पंथ के ग्रन्थों में कबीर के जीवन के संबंध में जितने अवतरण या संकेत मिलते हैं, उनमें जन्म-तिथि का उल्लेख नहीं है। ग्रंथों में तो कबीर को सत्पुरुष का प्रतिरूप मानते हुए, उन्हें सब युगों में वर्तमान कहा गया है। ग्रंथ भवतारण' में कबीर के वचनों का उल्लेख इस भाँति किया गया है कि 'मैंने युग-युग में अवतार धारण किये हैं और प्रकट रूप से मैं संसार में निरंतर वर्तमान हूँ। सतयुग में मेरा नाम सत सुकृत था, त्रेता में मुनींद्र, द्वापर में करुनाम और कलयुग में कबीर हुआ। इस प्रकार चारों युगों में मेरे चार नाम हैं और मैं इन युगों में माया-रहित होकर निवास करता हूँ!'[1] इस दृष्टिकोण

कबीर-पंथी ग्रंथ

१. जुगन जुगन लीन्हा अवतारा, रहौं निरंतर प्रगट पसारा। १३७
सतयुग सत सुकृत कह टेरा, त्रेता नाम मुनीन्द्र मेरा।
द्वापर में करुनाम कहाये, कलियुग नाम कबीर धराये। १३८
चारों युग के चारो नाऊँ, माया रहित रहे तिहि ठाऊँ।
सो आपा पहुँचे नहि कोई, सुर नर नाग रहे मुख गोई। १३९
—ग्रंथ भवतारण। (धर्मदास लिखित) पृष्ठ ३१, ३२,
सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर, सन् १९०८

में ऐतिहासिक रूप से जन्म-तिथि के लिये कोई स्थान ही नहीं है। अन्य स्थलों पर कबीर को चित्रगुप्त और गोरखनाथ से वार्तालाप करते हुए लिखा गया है। 'अमरसिंहबोध' मे कबीर और चित्रगुप्त में संवाद हुआ है जिसमें चित्रगुप्त ने कबीर द्वारा दी हुई राजा अमरसिंह की पवित्रता देखकर अपनी हार स्वीकार की है।[1] 'कबीर गोरष गुष्ट' में गोरख और कबीर मे तत्त्व-सिद्धांत पर प्रश्नोत्तर हुए हैं और कबीर ने गोरख को उपदेश दिया है।[2] यह स्पष्ट है कि चित्रगुप्त देवरूप से मान्य हैं और गोरखनाथ का आविर्भाव-काल कबीर की जन्म-तिथि से बहुत पहले है क्योंकि कबीर ने अपनी रचनाओं में नाथ आचार्यों को अनेक बार स्मरण किया है।[3] सन्त कबीर के चारों ओर जो आध्यात्मिक प्रकाश-मडल खिच रहा है, वह कबीर को एक मात्र दिव्य पुरुप के रूप मे प्रदर्शित करना चाहता है। उसमें वास्तविक जन्म-तिथि खोजने की प्रेरणा भी नहीं है।

---

१ साहेब गुप्त से कहे समुझाई। इनकू लोहा करो रे भाई।
लोहा मे जो कचन कियेऊ। यहि विधि हसा निरमल भयऊ।
इतनी सुनि यम भये अधीना। फेर न तिनमे बोलन कीना ॥
अमरसिंह बोध (श्री युगलानद द्वारा सशोधित) पृष्ठ १०
श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सवत् १६६३

२ गोरष तेरी गमि नहीं ॥ सकर घरे न धीर।
तहाँ जुलाहा बंदगी ॥ ढाढा दास कबीर ॥ ८३
कबीर गोरप गुष्ट, हस्तलिपि, सवत् १७६५, पृष्ठ ६
(जोधपुर राज्य-पुस्तकालय)

३, छिअ जती माइआ के बदा।
नवै नाथ सूरज अरू चदा ॥
सत कबीर, पृष्ठ २२०

कबीर-पंथी साहित्य में एक ग्रंथ 'कबीर चरित्र बोध'[1] अवश्य है जिसमें कबीर की जन्म-तिथि का निर्देश है। "संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन सत्य पुरुष का तेज-काशी के लहर तालाब में उतरा। उस समय पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया।" इस प्रकार कबीर-चरित्र बोध के अनुसार कबीर का आविर्भाव काल संवत् १४५५ (सन् १३९८) है। संभवतः इसी प्रमाण के आधार पर कबीर-पंथियों में कबीर के जन्म के संबंध में एक दोहा प्रचलित है.—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए।

इस प्रकार कबीर का जन्म संवत् १४५५ मे ज्येष्ठ पूर्णिमा चंद्रवार को कहा गया है। किंतु 'कबीर चरित्र बोध' की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता और कबीर पंथियों मे प्रचलित जनश्रुति केवल विश्वास की भावना है, इतिहास का तर्कसम्मत सत्य नहीं।

भक्तमाल

प्रामाणिकता के दृष्टिकोण से कबीर का सर्वप्रथम उल्लेख संवत् १६४२ (सन् १५८५) मे नाभादास लिखित भक्तमाल में मिलता है। उसमें कबीर के संबंध मे एक छप्पय लिखा गया है[2] :—

कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दरसनी ॥
भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाखी ॥

---

१. कबीर चरित्र बोध (बोधसागर, स्वामी युगलानंद द्वारा संशोधित) पृष्ठ ६, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई संवत् १९६३
२. भक्तमाल (नाभादास) पृष्ठ ४६१-४६२

आरूढ़ दसा है जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी॥

इस छप्पय में कबीर के जीवन काल का कोई निर्देश नहीं है, कबीर के धार्मिक आदर्श, समाज के प्रति उनका पक्षपात-रहित स्पष्ट दृष्टिकोण और उनकी कथन शैली पर ही प्रकाश डाला गया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनका आविर्भाव-काल ग्रंथ के रचना-काल संवत् १६४२ (सन् १५८५) के पूर्व ही होगा। श्री रामानद पर लिखे गए छप्पय[1] से यह भी स्पष्ट होता है कि कबीर रामानद के शिष्य थे। यही एक महत्त्वपूर्ण बात भक्तमाल से ज्ञात होती है।

अबुलफ़ज़्ल अल्लामी का 'आईन ए-अकबरी'[2] दूसरा ग्रंथ है जिसमें कबीर का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अकबर महान् के राजत्व-काल के ४२वें वर्ष सन् १५९८ (संवत् १६५५) में लिखा गया था। इसमें कबीर का परिचय 'मुवाहिद' कह कर दिया गया है। इस ग्रंथ में कबीर का उल्लेख दो बार किया गया है। प्रथम बार पृष्ठ १२९ पर, द्वितीय बार पृष्ठ १७१ पर। पृष्ठ १२९ पर पुरुषोत्तम (पुरी)

आईन-ए-अकबरी

---

१ श्रीरामानद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।
अनतानद कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानद, रैदास धना सेन सुरसर की घरहरि।
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्व मगल आधार सर्वानद दशधा के आगर॥
बहुत काल वपु धारि कै, प्रनत जनन कौ पार दियौ।
श्रीरामानद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियौ॥
(भक्तमाल, छप्पय ३१)

२ आईन-ए अकबरी (अबुलफ़ज़ल अल्लामी) कर्नल एच० एस० जेरेट द्वारा अनूदित। भाग २, कलकत्ता, सन् १८९१

का वर्णन करते हुए लेखक का कथन है[1] :—"कोई कहते हैं कि कबीर मुवाहिद यहाँ विश्राम करते हैं और आज तक उनके काव्य और कृत्यों के संबंध मे अनेक विश्वस्त जनश्रुतियाँ कही जाती हैं। वे हिंदू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपने उदार सिद्धान्तों और ज्योतित जीवन के कारण पूज्य थे और जब उनकी मृत्यु हुई, तब ब्राह्मण उनके शरीर को जलाना चाहते थे और मुसलमान गाड़ना चाहते थे" पृष्ठ १७१ पर लेखक पुनः कबीर का निर्देश करता है[2]:— "कोई कहते हैं कि रत्तनपुर (सूबा अवध) में कबीर की समाधि है जो ब्रह्मैक्य का मडन करते थे। आध्यात्मिक दृष्टि का द्वार उनके सामने अंशतः खुला था और उन्होंने अपने समय के सिद्धांतों का भी प्रतिकार कर दिया था। हिंदी भाषा में धार्मिक सत्यों से परिपूर्ण उनके अनेक पद आज भी वर्तमान हैं।"

आईन-ए-अकबरी की रचना तिथि (सन् १५९८) में ही महाराष्ट्र सत तुकाराम का जन्म हुआ। तुकाराम ने अपने गाथा-अभङ्ग ३२४१ मे कबीर का निर्देश किया है —"गोरा कुम्हार, रविदास चमार, कबीर मुसलमान, सेना नाई, कन्होपात्रा वेश्या, चोखामेला अछूत, जनाबाई कुमारी अपनी भक्ति के कारण ईश्वर में लीन हो गए हैं।"

किन्तु आईन-ए-अकबरी और संत तुकाराम के निर्देशों से भी कबीर के आविर्भाव-काल का संकेत नहीं मिलता। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर की जन्म-तिथि सवत् १६५५ (सन् १५९८) के पूर्व ही होगी जैसा कि हम भक्तमाल पर विचार करते हुए कह चुके हैं।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमें एक और ग्रंथ मिलता है जिसमें कबीर के जीवन का विस्तृत विवरण है। वह है

---

१. आईन-ए-अकबरी, पृष्ठ १२९

२ वही, पृष्ठ १७१

कबीर साहिब जी की परचई

श्री अनतदास लिखित 'श्री कबीर साहिब जी की परचई'। अनतदास का आविर्भाव संत रैदास के बाद हुआ और उनका काल पद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है।[1] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' में पृष्ठ ८७ पर १२८ न० की हस्तलिखित प्रति का समय सन् १६०० (संवत् १६५७) दिया गया है। इस प्रति के दो भाग हैं जिनमें पीपा और रैदास की जीवन-परचियाँ दी गई हैं। कबीर की जीवन-परची का उल्लेख नहीं है। जब अनंतदास ने पीपा और रैदास के जीवन की परचियों के साथ कबीर की जीवन परची भी लिखी तब उसका समय भी सन् १६०० के आसपास ही होना चाहिए, यद्यपि इस कथन के लिए हम कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते। अनन्तदास लिखित जो 'श्री कबीर साहिब जी की परचई' की हस्तलिखित प्रति मेरे पास है, उसका लेखन काल संवत् १८४२ (सन् १७८५) है। यह हस्तलिखित प्रति 'वाणी हजार नौं' के गुटिका का भाग मात्र है[2] और किसी अन्य प्राचीन प्रति की नक़ल है। इस ग्रंथ में यद्यपि कबीर के जीवन की तिथि नहीं है तथापि उनके जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख अवश्य है :—

१ वे जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे।[3]

---

१. खोज रिपोर्ट, १९०९-११

२ इतो श्री सरब गोटिको संपूरण ॥ वाणी हजार नौ ॥ ९००० ॥ संपूरण भवेत् ॥ संवत् ॥१८४२॥ बियाला की मीती। पोस सुद सूकल पषे॥ तिथ्यौनाम पचमी ॥ ५ वार मगलवार ॥ कै दिन शुभ भवेत् ॥ लिषते च नग्र कोलीया मध्ये। लिषत च साध बिह्नदास ॥ स्वामी जी श्री श्री श्री श्री श्री अमरदास जी ॥ कौ सिष ॥ स्वामीजी ॥ श्री श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्री ॥ १०८ ॥ सेवादास जी कौ पोता सिष ॥

३ काशी बसै जुलाहा ऐक। हरि भगतिन की पकड़ी टेक ॥

२. वे गुरु रामानन्द के शिष्य थे ।[1]

३. बघेल राजा वीरसिंह देव कबीर के समकालीन थे ।[2]

४. सिकंदर शाह का काशी में आगमन हुआ था और उन्होंने कबीर पर अत्याचार किए थे ।[3]

५, कबीर ने १२० वर्ष की आयु पाई ।[4]

तिथियों को छोड़कर जिन महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख इस 'परची' में किया गया है, उनसे कबीर के जीवन-काल के निर्णय मे बहुत सहायता मिलेगी ।

संवत् १६६१ (सन् १६०४) में सिख धर्म के पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेव जी ने श्री गुरु ग्रंथ साहब का संकलन किया ।[5] इसमें कबीर के 'रागु' और 'सलोक' का संग्रह अवश्य श्री गुरु ग्रन्थ साहब है किन्तु उनके आविर्भाव-काल के संबध में किसी पद में भी सकेत नहीं है। अनेक थलों पर सन्तों की पंक्ति में हमें कबीर का उल्लेख अवश्य मलता है।

१. नाम छीबा कबीरु जुलाहा पूरे गुरते गति पाई।[6] (नानक, सिरी रागु)

---

१. नृमल भगति कबीर की चीन्ही । परदा पोल्या दहुया दीन्ही ॥
भाग बडे रामानद गुरु पाया । जो मन मरन का भरम गमाया ॥

२. वरसिघदे बाघेलौ राजा । कबीर कारनि पोई लाजा ॥

३. स्याह सिकदर काशी आया । काजी मुलाँ कै मनि भाया ॥......
कहै सिकंदर औसी बाता । हूँ तोहि देपू दोजिग जाता । .....
गाफल संक न मानै मोरी । अब देपू साची करामाति तोरी ।
बांध्यौ पग मेल्यो जंजीरू । ले बोरयों गगा कै नीरू ॥...

४. बालपनों घोषा मैं गयौ । बीस बरस तै चेत न भयो ॥
बीस इक लग कीनी भगती । ता पीछै पाई है मुकती ॥

५. कबीर—हिज बायोग्रैफी (डा० मोहनसिंह)

६. आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ ३६

२ नामा जैदेउ कबीरु त्रिलोचनु अउ जाति रविदासु चमिआरू चलईआ ।[१] (नानक, रागु बिलावलु)

३. बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा ।
नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा ॥[२] (भगत धंनेजी, रागु आसा)

४ नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तरै ।
कहि रविदासु सुनहु रे सतहु हरिजीउ ते सभै सरै ॥[३] (भगत रविदास जी, रागु आसा)

५ हरि के नाम कबीर उजागर । जनम जनम के काटे कागर ।[४] (भगत रविदास जी, रागु मारू)

६ जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि
मानीअहि सेख सहीद पीरा ।
जाकै बाप वैसी करी पूत असी सरी,
तिहू रे लोक परसिध कबीरा ।।[५] (भगत रविदास जी, रागु मलार)

७ गुण गावै रविदासु भगतु जैदेव त्रिलोचन ।
नामा भगतु कबीरु सदा गावहि सम लोचन ॥[६]
(सवईए महले पहले के)

इस ग्रंथ में हमें कबीर के निर्देश के साथ उनकी समकालीन किसी भी घटना का विवरण नहीं मिलता । नानक के उद्धरण में यह अवश्य सकेत है कि कबीर ने 'पुरे गुर' से 'गति पाई' थी । 'पुरे गुर' से क्या हम श्री रामानंद का सकेत पा सकते हैं ? डा० मोहनसिंह ने

---

१ वही, पृष्ठ ४५१
२. " पृष्ठ २६४
३ " पृष्ठ ५६८
४ " पृष्ठ २६४
५ " पृष्ठ ६१८
६. " पृष्ठ ७४८

'पूरे गुर' से 'ब्रह्म' का अर्थ लगाया है[1]। यह अर्थ चित्य भी हो सकता है।

संवत् १७०२ (सन् १६४५) में प्रियादास द्वारा लिखी गई नाभादास के भक्तमाल की टीका' में कबीर का जीवन-वृत्त विस्तारपूर्वक दिया गया है। इस टीका से यह स्पष्ट होता है

भक्तमाल की टीका

कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे।[2] और सिकंदर लोदी ने कबीर के स्वतंत्र और 'अधार्मिक' विचार सुनकर उन पर मनमाने अत्याचार किए। इस टीका में भक्तमाल की इस बात का भी समर्थन किया गया है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे और यह समर्थन कबीर के जीवन का विवरण देते हुए कबीर सम्बन्धी छप्पय की व्याख्या में दिया गया है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'दबिस्तान' का लेखक मोहसिन फ़ानी (मृत्यु हिजरी १०८१; सन् १६७०) भी कबीर को रामानंद का शिष्य बतलाते हुए लिखता है:—"जन्म से जुलाहे कबीर, जो ब्रह्मैक्य मे विश्वास रखने वाले हिंदुओं मे मान्य थे, एक वैरागी थे। कहते हैं कि जब कबीर आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की खोज में थे, वे अच्छे अच्छे हिन्दू और मुसलमानों के पास गए किन्तु उन्हें कोई इच्छित व्यक्ति नहीं मिला। अन्त मे किसी ने उन्हें प्रतिभाशील वृद्ध ब्राह्मण रामानन्द की सेवा मे जाने का निर्देश किया।"

उपर्युक्त ग्रंथों से कबीर के जीवन की दो विशेष घटनाओं का पता हमें लगता है कि (१) वे रामानंद के शिष्य थे और (२) वे सिकंदर लोदी के समकालीन थे। यदि हम इन दोनों घटनाओं का समय निर्धारित कर सकें तो हमें कबीर का आविर्भाव-काल ज्ञात हो

---

१. कबीर हिज बायोग्रैफी (डा० मोहनसिंह) पृष्ठ २१

२. देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यो अभाव द्विज आयो पातशाह सो सिकंदर सुनाँव है। भक्तमाल, पृष्ठ ४११

२ नामा जैदेउ कबीरु त्रिलोचनु अउ जाति रविदासु चमिआरू चलईआ ।[1] (नानक, रागु बिलावलु)

३ बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा ।
नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा ॥[2] (भगत धनेजी, रागु आसा)

४ नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तरै ।
कहि रविदासु सुनहु रे संतहु हरिजीउ ते सभै सरै ॥[3] (भगत रविदास जी, रागु आसा)

५ हरि के नाम कबीर उजागर । जनम जनम के काटे कागर ।[4] (भगत रविदास जी, रागु मारू)

६ जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि
मानीअहि सेख सहीद पीरा ।
जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी,
तिहू रे लोक परसिध कबीरा ॥[5] (भगत रविदास जी, रागु मलार)

७ गुण गावै रविदासु भगतु जैदेव त्रिलोचन ।
नामा भगतु कबीरु सदा गावहि सम लोचन ॥[6]
(सवईए महले पहले के)

इस ग्रंथ में हमें कबीर के निर्देश के साथ उनकी समकालीन किसी भी घटना का विवरण नहीं मिलता । नानक के उद्धरण में यह अवश्य संकेत है कि कबीर ने 'पुरे गुर' से 'गति पाई' थी । 'पुरे गुर' से क्या हम श्री रामानंद का संकेत पा सकते हैं ? डा० मोहनसिंह ने

१. वही, पृष्ठ ४५१
२. " पृष्ठ २६४
३ " पृष्ठ ५६८
४ " पृष्ठ २६४
५ " पृष्ठ ६६८
६. " पृष्ठ ७४८

'पूरे गुर' से 'ब्रह्म' का अर्थ लगाया है[1]। यह अर्थ चित्य भी हो सकता है।

संवत् १७०२ (सन् १६५५) में प्रियादास द्वारा लिखी गई नाभादास के भक्तमाल की टीका' में कबीर का जीवन-वृत्त विस्तारपूर्वक दिया गया है। इस टीका से यह स्पष्ट होता है भक्तमाल की टीका कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे।[2] और सिकंदर लोदी ने कबीर के स्वतंत्र और 'अधार्मिक' विचार सुनकर उन पर मनमाने अत्याचार किए। इस टीका में भक्तमाल की इस बात का भी समर्थन किया गया है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे और यह समर्थन कबीर के जीवन का विवरण देते हुए कबीर सम्बन्धी छप्पय की व्याख्या में दिया गया है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'दबिस्तान' का लेखक मोहसिन फ़ानी (मृत्यु हिजरी १०८१; सन् १६७०) भी कबीर को रामानंद का शिष्य बतलाते हुए लिखता है :—"जन्म से जुलाहे कबीर, जो ब्रह्मैक्य मे विश्वास रखने वाले हिंदुओं में मान्य थे, एक वैरागी थे। कहते हैं कि जब कबीर आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की खोज में थे, वे अच्छे अच्छे हिन्दू और मुसलमानों के पास गए किन्तु उन्हें कोई इच्छित व्यक्ति नहीं मिला। अन्त में किसी ने उन्हें प्रतिभाशील वृद्ध ब्राह्मण रामानन्द की सेवा मे जाने का निर्देश किया।"

उपर्युक्त ग्रंथों से कबीर के जीवन की दो विशेष घटनाओं का पता हमें लगता है कि (१) वे रामानंद के शिष्य थे और (२) वे सिकंदर लोदी के समकालीन थे। यदि हम इन दोनों घटनाओं का समय निर्धारित कर सकें तो हमें कबीर का आविर्भाव-काल ज्ञात हो

---

१. कबीर हिज़ बायोग्रेफ़ी (डा० मोहनसिंह) पृष्ठ २१

२. देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यो अभाव द्विज आये पातसाह सों सिकंदर सुनाँव है। भक्तमाल, पृष्ठ ४११

सकेगा। यह सम्भव हो सकता है कि प्रियादास की टीका और मोहसिन फ़ानी का दबिस्तान जो सत्रहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं और कबीर के प्रथम निर्देश करने वाले ग्रंथों के बहुत बाद लिखी गई थीं, जनश्रुतियों से प्रभावित हो गई हों और सत्य से दूर हों। किन्तु समय निर्धारण की सुविधा के लिए अभी हमें उपर्युक्त दोनों घटनाओं को स्मरण रखना चाहिए।

'सत कबीर' के उल्लेख

सब से प्रथम हमें यह देखना चाहिए कि कबीर ने क्या अपनी रचनाओं में इन दोनों घटनाओं का उल्लेख किया है? सत कबीर ग्रन्थ के 'पद' और 'सलोक' जो हमें लगभग प्रामाणिक मानना चाहिए, रामानंद के नाम का कहीं उल्लेख नहीं करते। एक स्थान पर एक पद अवश्य ऐसा मिलता है जिससे रामानंद का सकेत निकाला जा सकता है। वह पद है :—

सिव की पुरी बसै बुधि सारु।
तह तुम्ह मिलि कै करहु बिचारु॥
(रागु भैरउ, १०)

'शिव की पुरी (बनारस) में बुद्धि के सार स्वरूप (रामानन्द ?) निवास करते हैं। वहाँ उनसे मिल कर तुम (धर्म-विचार) करो।' किन्तु शिवपुरी का अर्थ 'बनारस' न होकर 'ब्रह्मरंध्र' भी हो सकता है जिस अर्थ मे गोरखपंथी उसका प्रयोग करते हैं। स्वयं गोरखनाथ ने 'ब्रह्मरंध्र' के अर्थ में 'शिवपुरी' का प्रयोग किया है :—

अहुठ पटण मैं भिष्या करै। ते अवधू शिवपुरी संचरै।[1]

'साढ़े तीन (अहुठ) हाथ का शरीर ही वह नगर है जिसमें घूम फिर कर वह भिक्षा माँगता है।' हे अवधूत! ऐसे धूर्त शिवलोक (ब्रह्मरंध्र) में संचरण करते हैं।' कबीर पर गोरखपंथ का

---

१. गोरखबानी—डा० पीतांबरदत्त बडथ्वाल, पृष्ठ १६। साहित्य-समेलन, प्रयाग। १९९९

प्रभाव विशेष रूप से था अतः रामानंद के अर्थ में यह पद संदिग्ध है। इसका प्रमाण हम नहीं मान सकेंगे।

सिकंदर लोदी के अत्याचार का संकेत कबीर के इन संकलित पदों में दो स्थानों पर मिलता है। पहला संकेत हमें रागु गौंड के चौथे पद में मिलता है और दूसरा रागु भैरउ के अट्ठारहवें पद में। दोनों पद नीचे लिखे जाते हैं :—

१. भुजा बाँधि भिला करि डारिओ।
हसती क्रोपि मूंड महि मारिओ॥
हसति भागि कै चीसा मारै।
इआ मूरति कै हउ बलिहारै॥
आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु।
काजी बकिबो हसती तोरु॥१॥

रे महावत तुझु डारउ काटि।
इसहि तुरावहु घालहु साटि॥
हसति न तोरै धरै धिआनु।
वाकै रिदै बसै भगवानु॥२॥

किआ अपराधु संत है कीन्हा।
बाँधि पोटि कुंचर कउ दीना॥
कुंचरु पोट लै लै नमसकारै।
बूझी नहीं काजी अंधिआरै॥२॥

तीनि बार पतीआ भरि लीना।
मन कठोरु अजहू न पतीना॥
कहि कबीर हमरा गोबिंदु।
चउथे पद महि जनका जिंदु॥४॥

(रागु गौंड, ४)

२ गंग गुसाइनि गहिर गंभीर।
जंजीर बाँधि करि खरे कबीर॥

मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ।
चरन कमल चित रहिओ समाइ ॥१॥
गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर।
म्रिगछाला पर बैठे कबीर ॥२॥
कहि कबीर कोऊ संग न साथ।
जल थल राखन है रघुनाथ ॥३॥
(रागु भैरउ, १८)

इन पदों में क़ाजी द्वारा कबीर पर हाथी चलवाने और जंजीर से बँधवा कर कबीर को गंगा में डुबाने का वर्णन है। किंतु इन दोनों पदों में सिकंदर लोदी का नाम नहीं है। 'परची' आदि ग्रंथों में सिकंदर लोदी ने जो जो अत्याचार किए थे, उनमें उपर्युक्त दोनों घटनाएँ सम्मलित हैं। अतः यहाँ पर इन दोनों घटनाओं को सिकंदर लोदी के अत्याचारों के अंतर्गत मानने में अनुमान किया जा सकता है।

'आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु' और गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर' जैसी पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने अपने अनुभवों का वर्णन स्वयं ही किया है। यदि ये पद प्रामाणिक समझे जायँ तो कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन माने जा सकते हैं।

कबीर और सिकंदर लोदी का समय

कबीर और सिकंदर लोदी के समय के सम्बन्ध में भारतीय इतिहासकारों ने जो तिथियाँ दी हैं, उनका उल्लेख इस स्थान पर आवश्यक है। वह इस प्रकार है :—

इतिहासकार का नाम	ग्रंथ	कबीर का समय	सिकंदर लोदी का समय
१ बील	ओरिएंटल बायोग्रेफिकल डिक्शनरी	जन्म सन् १४९० (संवत् १५४७)	यही समय

इतिहासकार का नाम	ग्रथ	कबीर का समय	सिकदर लोदी का समय
२ फ़रकहार	आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इडिया	सन् १४००-१५१८ (सवत् १४५७-१५७५)	सन् १४८९-१५१७ (सवत् १५४६-१५७४)
३ हृटर	इडियन एम्पायर	सन् १३००-१४२० (सवत् १३५७-१४७७)	नहीं दिया।
४ ब्रिग्स	हिस्ट्री अव् दि राइज अव् दि मोहमडन पावर इन इडिया	नहीं दिया।	सन् १४८८-१५१७ (सवत् १५४५ १५७४)
५ मेकालिफ़	सिख रिलीजन, भाग ६	सन् १३९८-१५१८ (सवत् १४५५-१५७५	सिंहासनारोहण सन् १४८८ (सवत् १५४५)
६ वेसकट	कबीर एड दि कबीर पंथ	सन् १४४०-१५१८ (सवत् १४९७-१५७५)	सन् १४९६ (सवत् १५५३) (जौनपुर गमन)
७ स्मिथ	आक्सफर्ड हिस्ट्री अव् इडिया	सन् १४४०-१५१८ (सवत् १४९७ १५७५)	सन् १४८९-१५१७ (सवत् १५४६-१५७४)
८ भंडारकर	वैष्णविज्म शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स	सन् १३९८-१५१८ (सवत् १४५५-१५७५)	सन् १४८८-१५१७ (१५४५-१५७४)
९ ईश्वरी-प्रसाद	न्यू हिस्ट्री अव् इंडिया	ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी	सन् १४८९-१५१७ (संवत् १५४६-१५७४)

उपर्युक्त इतिहासकारों में प्रायः सभी इतिहासकार कबीर और सिकंदर लोदी का समकालीन होना मानते हैं। ब्रिग्स जिन्होंने अपना ग्रन्थ 'हिस्ट्री अव् दि राइज़ अव् दि मोहमडन पावर इन इंडिया', मुसलमान इतिहासकारों के हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर लिखा है, वे सिकंदर लोदी का बनारस आना हिजरी ६०० (अर्थात् सन् १४६४) मानते हैं। वे लिखते हैं कि बिहार के हुसेनशाह शरकी से युद्ध करने के लिए सिकंदर ने गंगा पार की और 'दोनों सेनाएँ एक दूसरे के सामने बनारस से १८ कोस (२७ मील) की दूरी पर' एकत्र हुईं।[1] प्रियादास ने अपनी भक्तमाल की टीका में सिकंदर लोदी और कबीर में संघर्ष दिखलाया है। श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद ने उस टीका में एक नोट देते हुए लिखा है कि 'यह प्रभाव देख कर ब्राह्मणों के हृदय में पुनः मत्सर उत्पन्न हुआ। वे सब काशीराज को भी श्री कबीर जी के वश में जान कर बादशाह सिकंदर लोदी के पास जो आगरे से काशी जी आया था, पहुँचे।[2]

अतः श्री कबीर साहिब जी की परचई, भक्तमाल और संत कबीर के रागु गौंड ४ और रागु भैरउ १८ के आधार पर हम कबीर और सिकंदर लोदी को समकालीन मान सकते हैं। सिकंदर लोदी का समय सभी प्रमुख इतिहासकारों के अनुसार सन् १४८८ या १४८९ से सन् १५१७ (संवत १५४५-४६ से १५७५) माना गया है। अतः कबीर भी सन् १४८८-८९ से १५१७ (संवत् १५४५-४६ से १५७५) से लगभग वर्तमान होंगे। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने अपने लेख 'कबीर जी का समय'[3] में स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि कबीर

१. हिस्ट्री अव् दि राइज़ अव् मोहमेडन पावर इन इंडिया (जान ब्रिग्स) लंदन १८२६, पृष्ठ ५७१-७२

२. भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ४७० सीतारामशरण भगवानप्रसाद (लखनऊ, १९११)

३ हिन्दुस्तानी, अप्रैल १९३२, पृष्ठ २०७-२१०

जी सिकंदर लोदी के समकालीन नहीं हो सकते। उन्होंने इसके दो प्रमुख कारण दिए हैं। पहला तो यह है कि जिन ग्रंथों के आधार पर सिकंदर का विश्वसनीय इतिहास लिखा गया है, उनमें कबीर और सिकंदर लोदी का संबंध कहीं भी उल्लिखित नहीं है। और दूसरा कारण यह है कि सिकंदर की धार्मिक दमन-नीति की प्रबलता से कबीर अधिक दिनों तक अपने धर्म का प्रचार करते हुए जीवित रहने नहीं दिए जा सकते थे। किंतु ये दोनों कारण अधिक पुष्ट नहीं कहे जा सकते। अबुलफज़ल ने अकबर का विश्वसनीय इतिहास लिखते हुए भी 'आइन अकबरी' में तुलसीदास का उल्लेख नहीं किया है यद्यपि वे अकबर के समकालीन थे और प्रसिद्ध व्यक्तियों में गिने जाते थे। दूसरे कबीर ने जो धार्मिक प्रचार किया था वह तो हिंदू और मुसलमानी धर्म की सम्मिलित समालोचना के रूप में था। उनके सिद्धांतों में मूर्तिपूजा की उतनी ही अवहेलना थी जितनी की 'मुल्ला के बाँग देने की। अतः कबीर को एक बारगी ही विधर्मी प्रचारक नहीं कहा जा सकता और वे एक मात्र हिंदू-धर्म प्रचारकों की भाँति मृत्यु-दंड से दंडित न किए गए हों। उन्हें दंड अवश्य दिया गया हो जिससे वे युक्तिपूर्वक अपने को बचा सके। फिर एक बात यह भी है कि सिकंदर को बनारस में रहने का अधिक अवकाश नहीं मिला जिससे वह कबीर को अधिक दिनों तक जीवित न रहने देता। इतिहासकारों ने सिकंदर लोदी का बनारस आगमन सन् १४९४ में माना है और उसे राजनीतिक उलझनों के कारण शीघ्र ही जौनपुर चले जाना पड़ा। अतः राजनीति में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण सिकंदर लोदी कबीर की ओर अधिक ध्यान न दे सका हो और कबीर जीवित रह गए हों। उसने चलते फिरते क़ाज़ी को आज्ञा दे दी कि कबीर को दंड दिया जाय और वह दंड उनका जीवन समाप्त करने में अपूर्ण रहा हो। इस प्रकार जो दो कारण डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने दिये हैं, केवल उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना

कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन नही हो सकते, मेरी दृष्टि से समीचीन नहीं हैं।

आरकिआलाजिकल सर्वे अव् इंडिया — इस सम्बन्ध में अभी एक कठिनाई शेष रह जाती है।

'आरकिआलाजिकल सर्वे अव् इंडिया' से ज्ञात होता है कि बिजली खाँ ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहने तट पर कबीर-दास या कबीर शाह का एक स्मारक (रौजा) सन् १४५० (संवत् १५०७) मे स्थापित किया।[1] बाद मे सन् १५६७ मे (१२७ वर्ष बाद) नवाब फ़िदाई खां ने उसकी मरम्मत की। इसी स्मारक (रौजे) के आधार पर कबीर साहब के कुछ आधुनिक आलोचकों ने कबीर का निधन सन् १४५० (संवत् १५०७) या उसके कुछ पूर्व माना है। यदि कबीर का निधन सन् १४५० में हो गया था तो वे सिकदर लोदी के समकालीन नहीं हो सकते जिसका राजत्वकाल सन् १४८८ या १४८९ से प्रारभ होता है। अर्थात् कबीर के निधन के अड़तीस वर्ष बाद सिकदर लोदी राज्यसिंहासन पर बैठा। 'आरकिआलाजिकल सर्वे अव् इंडिया' मे दिए गए अवतरण के सम्बन्ध में मेरा विचार अन्य आलोचकों से भिन्न है। सन् १४५० में स्थापित किए गए बस्ती जिले के स्मारक (रौजे) को मैं कबीर का मरण-चिन्ह नहीं मानता। गुरु ग्रथ साहब मे उल्लिखित कबीर के प्रस्तुत पदों में एक पद कबीर की जन्म-भूमि का उल्लेख करता है। उस पद के अनुसार कबीर की जन्म-भूमि मगहर मे थी। रागु रामकली के तीसरे पद की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

> तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपति बुझाई।
> पहिले दरसनु मगहर पाइओ, पुनि कासी बसे आई ॥[2]

---

१ आरकिआलाजिकल सर्वे अव् इडिया (न्यू सीरीज़) नार्थ वैस्टर्न प्राविसेज भाग २, पृष्ठ २२४।

२ संत कबीर, पृष्ठ १७८।

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि काशी में बसने के पूर्व कबीर मगहर में निवास करते थे। मगहर बस्ती के नैऋत्य (दक्षिण-पूर्व) में २७ मील दूर पर खलीलाबाद तहसील मे एक गाँव है। मैं तो समझता हूँ कि कबीर मगहर में आमी नदी के दाहने तट पर ही निवास करते थे जहाँ बिजली खाँ ने रौजा बनवाया था। बिजली खाँ कबीर का बहुत बड़ा भक्त और अनुयायी था। जब उसने यह देखा कि मगहर के निवासी कबीर ने काशी मे जाकर अक्षय कीर्ति अर्जित की है तब उसने अपनी भक्ति और श्रद्धा के आवेश मे कबीर के निवास-स्थान मगहर में स्मृति-चिह्न के रूप मे एक चबूतरा या सिद्धपीठ बनवा दिया जो कालान्तर मे नष्ट हो गया। जब १२७ वर्ष बाद सन् १५६७ मे नवाब फिदाई खाँ ने उसकी मरम्मत की तो इस समय तक कबीर साहब का निधन हो जाने के कारण सन् १४५० ईस्वी में बिजली खाँ द्वारा बनवाए गए स्मृति-चिन्ह को लोगों ने या स्वयं नवाब फिदाई खाँ ने समाधि या रौजा मान लिया। तभी से मगहर का वह स्मृति-चिन्ह रौजे के रूप मे जनता में प्रसिद्ध हो गया। इस दृष्टिकोण से सन् १४५० का समय बिजली खाँ द्वारा चिन्हित कबीर का प्रसिद्धिकाल ही है और वे १४५० के बाद जीवित रहकर सिकंदर लोदी के समकालीन रह सकते हैं। अब कबीर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए।

कबीर ने अपनी रचनाओं मे जयदेव और नामदेव का उल्लेख किया है—

> गुर प्रसादि जैदेउ नामा।
> भगति के प्रेमि इनही है जाना।'
>
> (रागु गउड़ी ३६)

इससे ज्ञात होता है कि जयदेव और नामदेव कबीर से कुछ पहले हो चुके थे। यहाँ यह निर्धारित करना आवश्यक है कि जय-

---

१. संत कबीर, पृष्ठ ३६

देव और नामदेव का आविर्भाव काल क्या है ?

जयदेव और नामदेव का उल्लेख

नाभादास अपने ग्रंथ भक्तमाल में जयदेव का निर्देश करते हुए उन्हें 'गीत गोविंद' का रचयिता मानते हैं।[1] किंतु अन्य छप्पयों की भाँति उसमें कोई तिथि-संवत् नहीं है। आलोचकों के निर्णयानुसार जयदेव लक्ष्मणसेन के समकालीन थे जिनका आविर्भाव ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जाता है।[2] अतः जयदेव का समय भी बारहवीं शताब्दी है।

भक्तमाल में नामदेव का भी उल्लेख है।[3] इस उल्लेख में विशेष बात यह है कि नामदेव के भक्ति-प्रताप की महिमा कहते हुए

---

१ जयदेव कवि चक्कवै, खंड मंडलेश्वर आन कवि।
प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीत गोविंद उजागर।
कोक काव्य नवरस सरस सिंगार को सागर।
अष्टपदी अभ्यास करै तेहि बुद्धि बढावैं।
राधारमन प्रसन्न सुनन निश्चय तह आवैं।
संत सरोरुह षंड को पद्मापति सुखजनक रवि।
जयदेव कवि नृप चक्कवै, खंड मंडलेश्वर आन कवि॥
(भक्तमाल, छप्पय ३९)

२ संस्कृत ड्रामा—ए० बी० कीथ, पृष्ठ २७२

बारहवीं शताब्दी में एक दूसरे जयदेव भी थे जो नैयायिक और नाटककार थे। ये महादेव और सुमित्रा के पुत्र थे और कुंडिन (बरार) के निवासी थे। किन्तु कबीर का तात्पर्य इनसे नहीं है।

३ नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरिदास की।
बालदशा बीठल पानि जाके पै पीयौ।
मृतक गऊ जीवाय परचौ असुरन कौं दीयौ॥
सेन सलिल तै काढ़ि पहिल जैसी ही होती।

नामादास ने उनके समकालीन 'असुरन' का भी संकेत किया है। यह 'असुरन' यवनों या मुसलमानों का पर्यायवाची शब्द है। इस सङ्केत से यह निष्कर्ष निकलता है कि नामदेव का आविर्भाव उस समय हुआ था जब मुसलमान लोग भारत में—विशेषकर दक्षिण भारत में बस गए थे क्योंकि नामदेव का कुटुंब पहले नरसी बामणी गाँव (करहाल, सतारा) में ही निवास करता था। बाद में वह पंढरपुर में आ बसा था जहाँ नामदेव का जन्म हुआ। नामदेव के जन्म की परम्परागत तिथि शक ११९२ या सन् १२७० ईस्वी है। इस प्रकार वे ज्ञानेश्वरी के लेखक ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। ज्ञानेश्वर ने अपनी ज्ञानेश्वरी सन् १२९० में समाप्त की थी।

नामदेव मूर्ति-पूजा के विरुद्ध थे। इस विचार को दृष्टि में रखते हुए डा० भंडारकर का कथन है कि 'नामदेव का आविर्भाव उस समय हुआ होगा जब मुसलमानी आतंक प्रथम बार दक्षिण में फैला होगा। दक्षिण में मुसलमानों ने अपना राव्य चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित किया। मूर्तिपूजा के प्रति मुसलमानों की घृणा को धार्मिक हिंदुओं के हृदय में प्रवेश पाने के लिए कम से कम सौ वर्ष लगे होंगे। किंतु इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण कि नामदेव का आविर्भाव उस समय हुआ जब मुसलमान महाराष्ट्र प्रदेश में बस गए थे, स्वयं नामदेव के एक गीत (नं० ३६४) से मिलता है जिसमें उन्होंने तुरकों के हाथ से मूर्तियों के तोड़े जाने की बात कही है। हिंदू लोग पहले मुसलमानों ही को 'तुरक' कहा करते थे। इस प्रकार नामदेव सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी के लगभग या उसके अंत ही में

देवल उलट्यो देखि सकुच रहे सब ही सेवें ॥
'पंढुरनाथ' कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की।
(भक्तमाल, छप्पय ३८)

हुए होंगे।'[1] पुनः डा० भंडारकर का कथन है कि नामदेव की मराठी ज्ञानेश्वर की मराठी से अधिक अर्वाचीन है जब कि नामदेव ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। फिर नामदेव की हिन्दी रचनाएँ भी तेरहवीं शताब्दी की अन्य हिन्दी रचनाओं से अधिक अर्वाचीन हैं। इस कारण नामदेव का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के बाद ही हुआ। नामदेव का परम्परागत आविर्भाव-काल जो ज्ञानेश्वर के साथ तेरहवीं शताब्दी में रक्खा जाता है, ऐतिहासिकता के विरुद्ध है।

प्रो० रानाडे का मत है कि नामदेव ज्ञानेश्वर के समकालीन ही थे और परंपरागत उनका आविर्भाव-काल सही है। नामदेव की कविता में भाषा की अर्वाचीनता इस कारण है कि नामदेव की कविता बहुत दिनों तक मौखिक रूप से जनता के बीच में प्रचलित रही और युगों तक मुख में निवास करने के कारण कविता की भाषा समय-क्रम से अर्वाचीन होती गई। जनता के प्रेम और प्रचार ने ही कविता की भाषा को आधुनिकता का रूप दे दिया। मूर्ति तोड़े जाने के प्रसंगोल्लेख के सम्बन्ध में प्रो० रानाडे का कथन है कि नामदेव का यह निर्देश अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण पर आक्रमण करने के सबंध मे है।

प्रो० रानाडे का विचार अधिक युक्तिसंगत है। नामदेव की कविता की आधुनिकता बहुत से पुराने हिंदी कवियों की कविता की आधुनिकता के समकक्ष है। जगनायक कबीर, मीरां आदि की कविताओं में भी भाषा बहुत आधुनिक हो गई है, क्योंकि ये कविताएँ जनता के द्वारा शताब्दियों तक गाई गई हैं और उनकी भाषा में बहुत परिवर्तन हो गए हैं। भाषा के आधुनिक रूप के आधार पर हम मीरां, कबीर या जगनायक का काल-निरूपण नहीं कर सकते। यही

---

१ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स—(भंडारकर), पृष्ठ ६२

बात नामदेव की काव्य-भाषा के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। अतः भाषा की आधुनिकता नामदेव के आविर्भाव-काल को परवर्ती नहीं बना सकती। प्रो॰ रानाडे ने अलाउद्दीन खिलजी की सेना के द्वारा दक्षिण भारत के आक्रमण मे मूर्ति तोडने का जो मत प्रस्तुत किया है वह फरिश्ता की तवारीख़ से भी पुष्ट होता है। फरिश्ता की तवारीख़ का अनुवाद ब्रिग्स ने किया है। उसमे स्पष्ट निर्देश है कि ७१० वें वर्ष में सुलतान ने मलिक काफूर और ख़्वाजा हजी को एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण में द्वारसमुद्र और मआबीर (मलाबार) को जीतने के लिए भेजा जहाँ, स्वर्ण और रत्नों से संपत्तिशाली बहुत मन्दिर सुने गए थे। उन्होंने मंदिरों से असंख्य द्रव्य प्राप्त किया जिसमें बहुमूल्य रत्नों से सजी हुई स्वर्ण मूर्तियाँ और पूजा की अनेक क़ीमती सामग्रियाँ थीं।[१] इस प्रकार प्रो॰ रानाडे के मतानुसार नामदेव का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के अन्त मे ही मानना चाहिए। जयदेव और नामदेव के आविर्भाव-काल को दृष्टि में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि कबीर का समय तेरहवीं शताब्दी के अंत या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के बाद ही होना चाहिए क्योंकि कबीर ने जयदेव और नामदेव को अपने पूर्व के भक्तों की भाँति श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

श्री पीपा जी द्वारा निर्देश

इस प्रसङ्ग में एक उल्लेख और महत्त्वपूर्ण है। 'श्री पीपाजी की बाणी,'[२] मे हमें कबीर की प्रशंसा में पीपा जी का एक पद मिलता है। वह पद इस प्रकार है :—

> जो कलि मांझ कबीर न होते।
> तौ लै वेद अरु कलिजुग मिलि करि भगति रसातलि देते॥

---

१. हिस्ट्री आव् दि राइज़ आव् दि मोहमडन पावर इन इंडिया (ब्रिग्स) भाग १, पृष्ठ ३७३।

२. हस्तलिखित प्रति, रचना काल सं० १८८८, पत्र १८८

अगम निगम की कहि कहि पांडे फल भागोत लगाया।
राजस तामस स्वातक कथि कथि इनही जगत भुलाया ॥
सरगुन कथि कथि मिष्टा षवाया काया रोग बढाया।
निरगुन नीम पीयौ नहीं गुरमुष तातैं हांटे जीव बिकाया ॥
बकता स्रोता दोऊ भूले दुनीयाँ सबै भुलाई।
कलि बिर्छ की छाया बैठा, क्यूं न कलपना जाई ॥
अध लुकटीयां गही जु अधे परत कूंप कित थोरै।
अबरन बरन दोऊसे अजन, आंषि सबन की फोरै ॥
हम से पतित कहा कहि रहेते कौंन प्रतीत मन धरते।
नांनां बांनी देषि सुनि स्रवनां बही मारग अणसरते ॥
त्रिगुण रहत भगति भगवत की तिरि बिरला कोई पावै।
दया होइ जोइ कृपानिधान की तौ नांम कबीरा गावै ॥
हरि हरि भगति भगत कन लीना त्रिवधि रहत थित मोहे।
पाषड रूप भेष सब ककर ग्यौंन सुपले सोहे ॥
भगति प्रताप राष्यवे कारन निज जन आप पठाया।
नांम कबीर साच परकास्या तहां पीपै कछु पाया ॥

पीपा का जन्म सन् १४२५ (सवत् १४८२) में हुआ था। जब पीपा ने कबीर की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है तो इससे यह सिद्ध होता है कि या तो कबीर पीपा से पहले हो चुके होंगे अथवा कबीर ने पीपा के जीवन-काल में ही यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली होगी। भक्तमाल के अनुसार पीपा रामानंद के शिष्य थे अतः कबीर भी रामानन्द के सम्पर्क में आ सकते हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि कबीर सन् १४२५ (संवत् १४८२) के पूर्व ही हुए होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि कबीर का जन्म संवत् तेरहवीं शताब्दी के अत या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर संवत् १४८२ के मध्य में होना चाहिए।

कबीर के सम्बन्ध में जिन ग्रथों पर पहले विचार किया जा चुका

है उनमें कोई भी कबीर की जन्म तिथि का उल्लेख नहीं करते।

जन्म-तिथि

केवल 'कबीर चरित्र बोध' में कबीर का जन्म 'चौदह सौ पचपन विक्रमी जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार' को स्पष्टतः लिखा है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने एस० आर० पिल्ले की 'इंडियन क्रोनोलॉजी' के आधार पर गणित कर यह स्पष्ट किया है कि संवत् १४५५ की जेष्ठ पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है। डा० श्यामसुन्दरदास ने कबीर-पंथियों में प्रचलित दोहे—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

के आधार पर 'गए' को व्यतीत हो जाने के अर्थ में मान कर कबीर का जन्म संवत् १४५६ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किंतु गणित करने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५६ को चंद्रवार नहीं पड़ता। अतः कबीर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में संवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा ही अधिक प्रामाणिक जान

रामानंद का शिष्यत्व

पड़ती है। अब यदि कबीर का जन्म संवत् १४५५ (सन् १३९८) में हुआ था तो क्या वे रामानन्द के शिष्य हो सकते हैं? डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक 'कबीर—हिज बायोग्रेफी' में कबीर को रामानन्द का शिष्य नहीं माना है। उनका कथन है कि वे कबीर के जन्म के बीस वर्ष पूर्व ही महाप्रयाण कर चुके थे। मैं नहीं समझ सकता कि किस आधार पर डा० सिंह ऐसा लिखते हैं। वे रामानन्द की मृत्यु, श्री गणेशसिंह लिखित अत्यंत आधुनिक पंजाबी पुस्तक 'भारत-मत दर्पण' के अनुसार सन् १३५४ में लिखते हैं और कबीर का जन्म सन् १३९८ में। उपर्युक्त सन् निर्णय के अनुसार रामानंद कबीर के जन्म लेने के ४४ वर्ष पूर्व ही अपना जीवन समाप्त कर चुके होंगे बीस वर्ष पूर्व नहीं, जैसा कि वे लिखते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि कबीर ने अपने काव्य में अपने मनुष्य-गुरु का नाम कहीं लिखा भी नहीं इसलिए कबीर का गुरु

हि० सा० मा० इ०—४४

मनुष्य-गुरु नहीं था वह केवल ब्रह्म, विवेक या शब्द था।[1] औ इसके प्रमाण में वे 'गुरु ग्रंथ' में आए हुए निम्नलिखित पद उद्धृत करते हैं :—

१ माधव जल की पिआस न जाइ।

... ...

तू सतिगुरु हउ नउ तनु चेला

कहि कबीर मिलु अंत की वेला।

(रागु गउड़ी २)

२ संता कउ मति कोई निंदहु संत राम है एकु रे।

कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिवेकु रे।

(रागु सूही ५)

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कबीर ने अपने गुरु का नाम अपने काव्य में नहीं लिया है किंतु इसका कारण उनके हृदय में गुरु के प्रति अपार श्रद्धा का होना कहा जा सकता है। कबीर ने ईश्वर तथा विवेक को भी अपना गुरु कहा[2] किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कबीर का कोई मनुष्य-गुरु था ही नहीं।

हमें कबीर की रचना में ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें कबीर ने अपने गुरु से संसार की उत्पत्ति और विनाश समझा कर कहने की विनय की है।

गुरु चरण लागि हम बिनवता पूछत कहु जीउ पाइआ।

कवन काजि जगु उपजै बिनसै कहु मोहि समझाइआ॥

(रागु आसा १)

(श्री गुरु के चरणों का स्पर्श करके मैं विनय करता हूँ और पूछता हूँ कि मैंने यह प्राण क्यों पाए हैं? यह जीव संसार

---

१ कबीर—हिज़ बायोग्रेफ़ी, पृष्ठ ११, १४

२ कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे। (रागु सूही ५)

में क्यों उत्पन्न और नष्ट होता है? कृपा कर मुझे समझा कर कहिए।)

एक स्थान पर कबीर ने अपने गुरु का सङ्केत भी किया है:—

सतिगुर मिलेश्रा मारगु दिखाइश्रा।
जगत पिता मेरै मनि भाइश्रा॥

रागु आसा ३

(जब मुझे सतगुरु मिले तब उन्होंने मुझे मार्ग दिखलाया जिससे जगत-पिता मेरे मन को भाये—अच्छे लगे)।

और 'गुर प्रसादि मैं सभु कछु सूझिश्रा, (रागु आसा ३) में वे अपने ही अनुभव की बात कहते हैं। आगे चल कर वे इसी बात को दुहराते हैं:—

गुर परसादि हरि धन पाइश्रो।
श्रंते चल दिश्रा नालि चलिश्रो॥

रागु आसा १५

(मैंने गुरु के प्रसाद से ही यह हरि (रूपी) धन पाया है अंत में नाड़ी चली जाने पर हम भी यहाँ से चल सकते हैं।)

इन पदों को ध्यान में रखते हुए हम कबीर के 'मनुष्य गुरु' की कल्पना भली भाँति कर सकते हैं। फिर कबीर की रचना में कुछ ऐसे अवतरण भी हैं जहाँ गुरु और हरि के व्यक्तित्व में भेद जान पड़ता है, दोनों एक ही ज्ञात नहीं होते। उदाहरणार्थ:—

सिमरि सिमरि हरि हरि मनि गाईऐ।
इहु सिमरनु सतिगुर ते पाईऐ॥

रागु रामकली ६

(इस स्मरण से तू बार-बार हरि का गुण गान मन में कर और यह स्मरण तुझे सतगुर से ही प्राप्त होगा।) दूसरा उदाहरण लीजिए:—

बार बार हरि के गुन गावउ।
गुर गमि भेदु सु हरि का पावउ ॥

राग गउड़ी ७७

(रोज-रोज या बारबार हरि गुण गाओ और गुरु से प्राप्त किए गए रहस्य से हरि को प्राप्त करो।) अथवा

अगम अगोचरु रहै निरतरि गुर किरपा ते लहीऐ।
कहु कबीर बलि जाउ गुर अपने सत सगति मिलि रहीऐ॥

रागु गउड़ी, ४८

(वह अगम है, इद्रियों से परे है, केवल गुरु की कृपा से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। कबीर कहता है कि मैं अपने गुरु की बलि जाता हूँ। उन्हीं की अच्छी सङ्गति में मिल कर रहना चाहिए।)

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें कबीर के 'मनुष्य-गुरु' होने का प्रमाण है। अब यह निश्चित करना है कि जब कबीर के 'मनुष्य-गुरु' होने का प्रमाण हमें मिलता है तो क्या रामानन्द उनके गुरु थे?

भक्तमाल में यह स्पष्टतः लिखा है कि रामानद के शिष्यों में कबीर भी एक थे।[१] यह कहा जा सकता है कि कबीर रामानन्द के 'प्रशिष्य' हो सकते हैं और उनका काल रामानन्द के काल के बाद हो सकता

---

१ स्री रामानद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।
अनन्तानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानन्द रैदास धना सेन सुरसर की घरहरि॥
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्वमगल आधार सर्वानद दशधा के आगर॥
बहुत काल बपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियौ।
श्री रामानद रघुनाथ ज्यौं दुतिय सेतु जग तरन कियौ॥

भक्तमाल, छप्पय ३१

है किंतु भक्तमाल में दी हुई नामावली में कबीर के नाम को जो प्रधानता दी गई है उससे यह स्पष्ट होता है कि कबीर रामानन्द के शिष्यों में ही होंगे। हम पीछे देख चुके हैं कि दबिस्तान का लेखक मोहसिन फ़ानी (हिजरी १०८२, सन् १६७०) और नाभादास के भक्तमाल की टीका लिखने वाले प्रियादास (सन् १६५५) कबीर को रामानन्द का शिष्य लिख चुके हैं। प्रियादास की टीका से प्रभावित होकर अन्य ग्रंथकारों ने भी कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। दूसरी बात जो भक्तमाल से ज्ञात होती है वह यह है कि रामानन्द को बहुत लम्बी आयु मिली। 'बहुत काल बपु धारि कै' से यह बात स्पष्ट होती है। अन्य भक्तों के सम्बन्ध मे नाभादास ने लम्बी आयु की बात नहीं लिखी। इससे ज्ञात होता है कि रामानन्द को 'असाधारण' आयु मिली होगी, तभी तो उसका सङ्केत विशेष रूप से किया गया। अब हमे यहाँ रामानन्द का समय निर्धारित करने की आवश्यकता है।

रामानन्द ने वेदान्त सूत्र का जो भाष्य लिखा है उसमें उन्होंने अमलानंद रचित वेदांत कल्पतरु का उल्लेख (१, ४, ११) किया है।

रामानंद का समय

डा० भंडारकार ने अमलानंद रचित वेदांत कल्पतरु का समय निरूपण करते हुए उनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना है। अपने आधार के लिए उन्होंने यह ऐतिहासिक तथ्य निर्धारित किया कि 'अमलानन्द राजा कृष्ण के राज्यकाल (सन् १२४७ से १२६०) में थे और उसी समय उन्होंने अपना ग्रंथ वेदान्त कल्पतरु लिखा।'[1] यदि अमलानंद तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में थे तो रामानन्द अधिक से अधिक उनके समकालीन हो सकते हैं अन्यथा वे कुछ वर्षों के बाद हुए होंगे। इस प्रकार रामानन्द का आविर्भाव काल सन्

---

१. दि नाइंथ इंटरनेशनल कांग्रेस आफ ओरिएंटलिस्ट्स-भाग १, पृष्ठ ४१३ (फुटनोट) लंदन, १८९१

१२६० के बाद या सन् १३०० के लगभग होगा। अगस्त्य संहिता के आधार पर भी रामानन्द का आविर्भाव काल सन् १२९९ या १३०० ठहरता है।

यदि हम रामानन्द का जन्म-समय सन् १३०० (संवत् १३५७) निश्चित करते हैं तो वे कबीर के जन्म-समय पर ९८ वर्ष के रहे होंगे क्योंकि हमने कबीर का जन्म सन् १३९८ (संवत् १४५५) निर्धारित किया है। कबीर ने कम से कम २० वर्ष में गुरु से दीक्षा पाई होगी अतः कबीर का गुरु होने के लिए रामानन्द का आयु ११८ वर्ष की होनी चाहिए। यदि 'बहुत काल वपु धारि' का अर्थ हम ११८ या इससे अधिक लगावें तो रामानन्द निश्चय रूप से कबीर के गुरु हो सकते हैं। सन् १३०० के जितने वर्षों बाद रामानन्द का जन्म होगा उतने ही वर्ष कबीर के शिष्यत्व के दृष्टिकोण से रामानन्द की आयु से निकल सकते हैं। यहाँ एक नवीन ग्रंथ का उल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा। उस ग्रन्थ का नाम 'प्रसङ्ग पारिजात' है[1] और उसके रचयिता श्री चेतनदास नाम के कोई साधु-कवि हैं। इस ग्रन्थ की रचना संवत् १५१७ में कही जाती है। प्रसङ्ग पारिजात में उल्लेख है कि ग्रथ प्रणेता 'श्री रामानन्द जी की वर्षी के अवसर पर उपस्थित थे और उस समय स्वामी जी की शिष्य मण्डली ने उनसे यह प्रार्थना की कि हमारे गुरु की चरितावली तथा उपदेशों को—जिनका आपने चयन किया है, ग्रंथ रूप में लिपि-बद्ध कर दीजिए।' इससे ज्ञात होता है कि श्री चेतनदास रामानद जी के सपर्क मे अवश्य आए होंगे।

यह ग्रथ पैशाची भाषा के शब्दों से युक्त देशवाड़ी प्राकृत में लिखा गया है। इसमे 'अदणा' छंद में लिखी हुई १०८ अष्टपदियाँ हैं। सन् १८९० के लगभग यह ग्रथ गोरखपुर के एक मौनी बाबा ने,

---

१ स्वामी रामानद और प्रसंग पारिजात—श्रीशकरदयालु श्रीवास्तव एम० ए० (हिन्दुस्तानी—अक्टूबर १९३२)

मौखिक रूप से अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायक जी को उनके बचपन में लिखवाया था।

इस ग्रंथ के अनुसार रामानद का जन्म प्रयाग में हुआ था। वे दक्षिण से प्रयाग में नहीं आए थे जैसा कि आजकल विद्वानों ने निश्चित किया है। इसके अनुसार भक्तमाल' में उल्लिखित रामानंद के शिष्यों की सूची भी ठीक है और कबीर निश्चित रूप से रामानंद के शिष्य कहे गए हैं। इस ग्रथ का ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि इसमें कबीर का जन्म सवत् १४५५ और रामानंद का अवसान-सवत् १५०५ दिया गया है। यदि यह ग्रंथ प्रामाणिक है तो कबीर अवश्य ही रामानद के शिष्य होंगे।

मैंने ऊपर एक हस्तलिखित प्रति का निर्देश किया है जिसमे 'बाणी हजार नौ' संग्रहीत हैं। इसका नाम 'सरब गुटिका' है। यह प्रति प्राचीन मूल प्रतियों की प्रतिलिपि है। इसमें मुझे अनतदास रचित श्रीकबीर-साहिब जी की परचई' के अतिरिक्त एक और ग्रंथ ऐसा मिला है जिसमें रामानद से कबीर का सबन्ध इंगित है।

सरब गुटिका

यह ग्रंथ है—प्रसिद्ध भक्त सैन जी रचित 'कबीर अरु रैदास संवाद'। यह ६९ छंदों में लिखा गया है और इसमें कबीर और रैदास का विवाद वर्णित है। ये सैन वेही हैं जिनका निर्देश श्री नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' मे रामानन्द के शिष्यों मे किया है। प्रोफेसर रानाडे के अनुसार सैन सन् १४४८ (सवत् १५०५) में हुए[1]। इस प्रकार वे कबीर और रैदास के समकालीन रहे होंगे। सैन नाई थे किंतु थे बहुत बड़े भक्त। ये बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे और उनके बाल बनाया करते थे। एक बार इन्होंने अपनी भक्ति-साधना में राजा की सेवा में जाने से भी इनकार कर दिया था। इनकी भक्ति में यह शक्ति थी कि ये दर्पण के प्रतिबिंब में

१. 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र—प्रो० रानाडे। पृष्ठ १६०

ईश्वर को दिखला सकते थे। इनके 'कबीर अरु रैदास सम्वाद' में रैदास और कबीर में सगुण और निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में वाद-विवाद हुआ है। अन्त में रैदास ने कबीर को भी अपना गुरु माना है और उनके सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। उसी प्रसङ्ग में रैदास का कथन है :—

रैदास कहै जी !

तुम साची कहा सही सतवादी। सबलाँ सज्या लगाई ।।
सबल सिघारया निबला तारया। सुनौ कबीर गुरभाई ।।३७।।

कबीर ने भी कहा :—

कबीर कहै जी !

भरम ही डारि दे करम ही डारि दे। डारि दे जीव की दुबध्याई।
आतमराँग करो बिस्रामाँ। हम तुम दोन्यू गुर भाई ।।६४।।

कबीर कहै जी !

नृगुण ब्रह्म सकल को दाता। सो सुमरौ चित लाई।
को है लुघ दीरघ को नाँही। हम तुम दोन्यूं गुरभाई ।।६६।।

इन अवतरणों से ज्ञात होता है कि कबीर और रैदास एक ही गुरु के शिष्य थे और ये गुरु रामानन्द ही थे जिनकी शिष्य-परम्परा में अन्य शिष्यों के साथ कबीर और रैदास का नाम भी है। सैन द्वारा यह निर्देश अधिक प्रामाणिक है।

यदि हम उपर्युक्त समस्त सामग्री पर विचार करें तो नाभादास के 'बहुत काल वपु धारि कै' का अवतरण, 'भक्तमाल' में उल्लिखित रामानन्द की शिष्य-परम्परा, अनन्तदास और सैन का कबीर सम्बन्धी विवरण, 'प्रसङ्ग पारिजात' फानी का 'दबिस्तान' और प्रियादास की टीका, ये सभी कबीर को रामानन्द के शिष्य होने का प्रमाण देते हैं। इनके विरुद्ध हमे कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अतः कबीर को रामानन्द का शिष्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

कबीर का निधन कब हुआ, यह कहीं भी प्रामाणिक रूप से हमें नहीं मिलता। यदि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे तो वे सिकंदर लोदी के राज्यारोहण काल सन् १४८८ या १४८९ (संवत् १५४५ या १५४६) तक अवश्य ही जीवित रहे। इस काल के कितने समय बाद कबीर का निधन हुआ यह नहीं कहा जा सकता।

कबीर की मृत्यु

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में अभी तक हमें तीन अवतरण मिलते हैं:—

(१) सुमंत पंद्रा सौ उनहत्तरा हाई।
सतगुर चले उठ हंसा ज्याई॥

(धर्मदास—द्वादश पंथ)

यह संवत् है १५६९

(२) पंद्रह सै उनचास में मगहर कीन्हो गौन।
अगहन सुदि एकादशी, मिले पौन सों पौन॥

(भक्तमाल की टीका)

यह संवत् है १५४९

(३) संवत् पंद्रह सै पचहत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी रलो पौन में पौन॥

(कबीर जनश्रुति)

यह संवत् है १५७५

जान ब्रिग्स के अनुसार सिकंदर काशी हिजरी ९००. सन् १४९४ (संवत् १५५१) में आया था। तभी कबीर उसके सामने उपस्थित किए गए थे। अतः उपर्युक्त भक्तमाल की टीका का उद्धरण (२) अशुद्ध ज्ञात होता है। उद्धरण (१) में तिथि और दिन दोनों नहीं हैं: उद्धरण (३) में तिथि तो है किंतु दिन नहीं है। अतः इन दोनों की प्रामाणिकता गणना के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती। अनन्तदास की 'परचई' के अनुसार कबीर ने एक सौ बीस

हि० सा० आ० इ०—४५

वर्ष की आयु पाई। उनके जन्म-सवत् में एक सौ बीस वर्ष जोड़ने से सवत् १५७५ होता है जो जनश्रुति से मान्य है। किंतु जनश्रुति इतिहास-सम्मत नहीं हुआ करती। अत: हम कबीर को सिकदर लोदी का समकालीन निश्चित करते हुए भी जनश्रुति के आधार पर अपने निर्णय की पुष्टि नहीं कर सकते। अनतदास की परचई भक्ति-भावना के कारण लिखी जाने के कारण सम्भवतः आयु-निर्देश में कुछ अतिशयोक्ति की पुट दे दे क्योंकि अनन्तदास ने अपनी 'परचई' में सवत् का उल्लेख न कर आयु का परिमाण ही दिया है। सवत् के अभाव में हम इस आयु-निर्देश पर विशेष श्रद्धा नहीं रख सकते।

अत मे अधिक से अधिक हम यही स्थिर कर सकते हैं कि सन्त कबीर का जन्म सवत् १४५५ (सन् १३९८) में और निधन सवत् १५५१ (सन् १४९४ के लगभग) हुआ था जब सिकदर लोदी काशी आया। इस प्रकार सन्त कबीर ने ९६ वर्ष या उससे कुछ ही अधिक आयु पाई। मांसाहार को घृणा की दृष्टि से देखने वाले सात्विक जीवन के अधिकारी सन्त के लिए यह आयु अधिक नहीं कही जा सकती।[1]

कबीर के ग्रन्थ

कबीर के निर्गुणवाद ने हिन्दी साहित्य के एक विशेष अग की पूर्ति की है। धार्मिक काल के प्रारम्भ में जब दक्षिण के आचार्यों के सिद्धान्त उत्तर भारत में फैल रहे थे और हिन्दी साहित्य के रूप मे अपना मार्ग खोज रहे थे, उस समय धार्मिक विचारों के उस निर्माण-काल मे कबीर का निर्गुणवाद अपना विशेष महत्त्व रखता है। एक तो मुसलमानी धर्म का व्यापक किन्तु अदृष्ट प्रभाव दूसरे हिन्दू धर्म की अनिश्चित परिस्थिति उस समय के हिन्दी साहित्य मे निर्गुणवाद के रूप मे ही प्रकट हो सकती थी, जिसके लिये

---

१ सत कबीर—(प्रस्तावना), पृष्ठ २९—५३

कबीर की वाणी सहायक हुई।' इसमे कोई सन्देह नही कि धार्मिक काल की महान अभिव्यक्ति राम और कृष्ण की भक्ति के रूप मे हो रही थी, पर उसके लिये अभी वातावरण अनुकूल नहीं था। चारणकाल की प्रशस्ति एक बार ही धर्म की अनुभूति नहीं बन सकती थी। ऐहिक भावना पारलौकिक भावना मे एक बार ही परिवर्तित नही हो सकती थी और नरेशों की वीरता की कहानी सगुण ब्रह्म-वर्णन में अपना आत्म समर्पण नहीं कर सकती थी। इसके लिए एक मध्य शृङ्खला की आवश्यकता थी और वह कबीर की भावना में मिली। यद्यपि कबीर ने किसी नरेश अथवा अधिपति की प्रशंसा मे ईश्वरीय बोध की भावना नहीं रक्खी तथापि सगुणवाद को हृदयंगम करने तथा तत्कालीन परिस्थितियों के बीच भक्ति को जागृत करने के साधन अवश्य उपस्थित किए। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि निर्गुणवाद ने सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया यद्यपि होना चाहिए इसके विपरीत. किन्तु कबीर की निर्गुण धारा अधिकांश मे परिस्थिति की आशा थी और भक्ति तथा साकारवाद की असंदिग्ध प्रारम्भिक स्थिति। अतः भक्ति-काल के प्रभात मे कबीर का निर्गुणवाद साहित्य के विकास की एक आवश्यक और प्रधान परिस्थिति ही माना जाना चाहिए।

कबीर की रचनाओं मे सिद्धान्त का प्राधान्य है, काव्य का नहीं। उनमे हमे साहित्य का सौन्दर्य नहीं मिलता, हमें मिलता है एक महान संदेश। केवल कबीर की रचनाओं में ही नहीं, उनके द्वारा प्रवर्तित निर्गुणवाद के कवियों की रचनाओं मे भी हमें साहित्य-सौन्दर्य खोजने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। उनमें अलंकार, गुण और रस के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे रचनाएँ इस

---

१. ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृष्ठ २४७ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

दृष्टिकोण से लिखी ही नहीं गई। उन रचनाओं में भाव है, सिद्धान्त है और हमें उन्हीं का मूल्य निर्धारित करना चाहिए। कबीर के सिद्धान्त यद्यपि कहीं-कहीं सुन्दर काव्य का रूप धारण किए हुए हैं, पर वह रूप केवल गौण ही है। कहीं-कहीं तो कबीर की रचनाएं काव्य का परिधान पहने हुए हैं, कहीं वे नितान्त नग्न हैं। अत: कबीर में सन्देश अधिक है, काव्य सौन्दर्य कम। उसका कारण यह है कि कबीर का शास्त्र-ज्ञान बहुत थोड़ा था। वे पढ़े-लिखे भी नहीं थे, उनका ज्ञान केवल सत्सग का फल था। कबीर की कविता में हिन्दू धर्म के सिद्धान्त हमें टूटे फूटे रूप में ही मिलते हैं, पर वे कबीर की मौलिकता के कारण चिकने और गोल हो गए हैं। हिन्दू धर्म के सहारे उन्होंने अपने व्यावहारिक ज्ञान को बहुत सुन्दर रूप दे दिया है, साथ ही साथ उन्होंने सूफी मत के प्रभाव से भी[1] अपने विचारों को स्पष्ट किया है, यही कबीर की विशेषता है। सगुण-वादी रामानन्द से दीक्षित होकर भी उन्होंने हिन्दू धर्म के निर्गुणवाद मे अपनी मौलिकता प्रदर्शित की। यह निर्गुणवाद सिद्धान्त के रूप में बहुत परिमित है। उसमें कुछ ही भावनाएँ हैं और उनका आवर्तन बार-बार हुआ है। यह कबीर के ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है किन्तु जो संदेश हैं वे कवि के द्वारा विश्वास और शक्ति के साथ उनमे लिखे गए हैं। उनमें जीवन है और हृदय को ईश्वरोन्मुख करने की महान् शक्ति है।

कबीर ने कितनी रचनाएँ की हैं, यह संदिग्ध है। यदि उन्होंने 'मसि कागद' नहीं छुआ था और अपने हाथों में क़लम नहीं पकड़ा था, तो वे स्वय अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध तो कर ही नहीं सकते थे, उनके शिष्य ही उन्हें लिख सकते थे। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में जितने ग्रंथों का पता चलता है उनमें एक भी ग्रथ ऐसा नहीं है, जो कबीर के हाथों से लिपिबद्ध हुआ हो। शिष्यों के द्वारा

---

१ इनफ्लूएंस अव् इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृष्ठ १५० १५१
डा० तारा चन्द

लिखे जाने से उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें हो सकती हैं। यदि वे ग्रंथ कबीर के सामने या उन्हीं के आदेश से लिखे गए होंगे तब तो भूलों की कम सभावना है, किन्तु यदि वे पंथ के संतों द्वारा कबीर के परोक्ष में अथवा उनके जीवन-काल के बाद लिखे गए हैं तो उनमें भूलों की मात्रा बहुत अधिक होगी। यही कारण है कि कबीर का शुद्ध पाठ अभी तक अज्ञात है और सम्भवतः परिस्थिति भी यही रहेगी। कबीर ने पर्यटन भी खूब किया था अतः जहाँ-जहाँ उन्होंने अपने भ्रमण-काल में लिखा होगा, वहाँ की भाषा का प्रभाव कबीर की रचनाओं पर पड़ा होगा। दूसरे कबीर भाषा के पंडित भी नहीं थे, अतः वे भाषा को माँज भी न सके होंगे। जैसे उनके भाव होंगे वैसी ही भाषा स्वाभाविक रूप से कवि की वाणी में आती जाती होगी। इसके साथ ही एक कठिनाई और है। एक ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं। उन प्रतियों की भाषा और पाठ ही भिन्न नहीं हैं, वरन् उनका विस्तार भी असीम है। कबीर के अनुराग-सागर की दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार हमें उनका यह परिचय मिलता है :—

खोज रिपोर्ट सन् १६०६, १६०७, १६०८

अनुराग सागर

लिपिकाल सन् १८६३

पद्य सख्या १५६०

संरक्षण स्थान

महन्त जगन्नाथदास, मऊ, छतरपुर

खोज रिपोर्ट सन् १६०६, १६१०, १६११.

अनुसाराग सागर

लिपि काल सन १८७७

पद्य संख्या १५०४

संरक्षण स्थान

पण्डित भानुप्रताप तिवारी, चुनार

सन् १६०६, १६१०, १६११ की खोज रिपोर्ट के अनुसार चुनार की प्रति पहले की है और वह छतरपूर की प्रति से १६ वर्ष पहले लिखी गई है। इसी छोटे से काल में ८२ पद्यों की और वृद्धि हो गई। बहुत सम्भव है कि आजकल की लिखी हुई प्रति में पद्य सख्या और भी अधिक मिले। इस प्रकार कबीर के नाम से सन्तों की अनेक रचनाएँ मूल पुस्तक में जुड़ती चली जाती हैं और कबीर की रचनाओं का मूल रूप विकृत होता चला जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन से प्राचीन प्रति प्राप्त कर उसके आधार पर ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन हो। जितनी हस्त-लिखित प्रतियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं, उनके आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे किसी सम्माननीय संस्था को हाथ मे ले लेना चाहिये।

अभी तक कबीर के जितने ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं, उनका विवरण इस प्रकार है :—

१ अगाध मङ्गल

पद्य सख्या	३४
विषय	योगाभ्यास का वर्णन

२ अठपहरा

पद्य सख्या	२०
विषय	एक भक्त की दिनचर्या

३ अनुराग सागर

पद्य संख्या	१५०४
विषय	ज्ञानोपदेश और आध्यात्मिक सत्य-वचन
विशेष	इस पुस्तक की एक प्रति और भी है जिसमें पद्यसंख्या १५६० है

४ अमर मूल

पद्य सख्या	११५५
विषय	आध्यात्मिक ज्ञान

५ अर्जनामा कबीर का

पद्य संख्या २०

विषय विनय और प्रार्थना

६. अलिफनामा

पद्य सख्या ३५

विषय ज्ञानोपदेश

विशेष इस पुस्तक की एक प्रति और भी है जिसका शीर्षक है, 'अलिफ़नामा कबीर का' उसमे सख्या ३४ के बदले ४१ है।

७ अक्षरखड की रमैनी

पद्य सख्या ६१

विषय ज्ञानोपदेश

८ अक्षर भेद की रमैनी

पद्य संख्या ६०

विषय ज्ञानवार्ता

९ आरती कबीर कृत

पद्य सख्या १०

विषय गुरु की आरती उतारने की रीति

१० उग्र गीता

पद्य संख्या १०२५

विषय आध्यात्मिक विचार पर कबीर और उनके शिष्य धर्मदास में वार्तालाप

११. उग्र ज्ञान मूल सिद्धान्त दश मात्रा

पद्य संख्या २३०

विषय आध्यात्मिक ज्ञान

१२ कबीर और धर्मदास की गोष्ठी

पद्य संख्या २६

विषय आध्यात्मिक विषय पर कबीर और धर्मदास में वार्तालाप

१३ कबीर की बानी

पद्य संख्या १६५

विषय ज्ञान और भक्ति

विशेष इस नाम की दो पुस्तकें और भी प्राप्त हैं। उसके नाम हैं 'कबीर बानी' और 'कबीर साहब की बानी'। प्रथम की पद्य संख्या ८०० है और दूसरी की ३८३०। प्रथम का निर्देश स्थल है ना० प्र० सभा की खोज रिपोर्ट सन् १९०६, १९०७, १९०८ और दूसरी का खोज रिपोर्ट सन् १९०९, १९१०, १९११। 'कबीर बानी' संग्रहीत की गई थी सन् १५१२ में और 'कबीर साहब की बानी' सन् १७९८ में। दो सौ वर्षों में पद्यों की संख्या का बढ़ना स्वाभाविक है। 'कबीर की बानी' का लिपिकाल नहीं दिया गया। सम्भवतः यह 'कबीर बानी' से पहले की संग्रहीत हो।

१४. कबीर अष्टक

पद्य संख्या २३

विषय ईश्वर की वंदना

१५ कबीर गोरख की गोष्ठी

पद्य संख्या १६०

विषय कबीर और गोरख का ज्ञान-सम्वाद।

विशेष — इस नाम की एक प्रति और है किन्तु शीर्षक है 'गोष्ठी गोरख कबीर की' उसकी पद्य संख्या केवल १५ है।

१६. कबीर जी की साखी

पद्य संख्या — ६२४

विषय — ज्ञान और उपदेश

विशेष — इस नाम की एक प्रति और भी है। इसकी पद्य संख्या १६०० है। उसका निर्देश स्थल है खो० रि० १६०६, १०, ११। सम्भव है, यह प्रति बहुत पीछे लिखी गई हो, क्योंकि प्रथम प्रति का लेखन-काल सन् १७६४ है और पद्य केवल ६२४ हैं।

१७. कबीर परिचय की साखी

पद्य संख्या — ३३५

विषय — ज्ञानोपदेश

१८. कर्मकाण्ड की रमैनी

पद्य संख्या — ८८

विषय — उपदेश

१९. कायापञ्जी

पद्य संख्या — ८८

विषय — योग वर्णन

२० चौका पर की रमैनी

पद्य संख्या — ४१

विषय — ज्ञानोपदेश

२१. चौंतीसा कबीर का

पद्य संख्या — ७५

विषय ज्ञानोपदेश

२२ छप्पय कबीर का

पद्य संख्या २६

विषय सन्तों का वर्णन

२३ जन्म बोध

पद्य संख्या २५०

विषय ज्ञान

२४ तीसा जन्त्र

पद्य संख्या ४८

विषय ज्ञान और उपदेश

२५ नाम महातम की साखी

पद्य संख्या ३२

विषय ईश्वर के नाम की बड़ाई।

विशेष इसी नाम की एक प्रति और भी है, किन्तु उसका नाम है केवल 'नाम माहात्म्य' विषय भी वही है, पर पद्य-संख्या ३६५ है।

२६ निर्भय ज्ञान

पद्य संख्या ७००

विषय कबीर का धर्मदास को अपना जीवन-चरित्र बतलाना तथा ज्ञानोपदेश।

विशेष इस नाम की एक प्रति और भी है, उसकी पद्य-संख्या ६५० है और उसका निर्देश-स्थल है खो० रि० १६०६, १६१०, १६११। यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी प्रतिलिपि

सन् १५७९ की है और इससे कबीर के जीवन के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है।

२७. पिय पहचानवे को अंग

पद्य संख्या	४०
विषय	ज्ञान और भक्ति

२८. पुकार कबीर कृत

पद्य संख्या	२५
विषय	ईश्वर की विनय

२९. बलख की पैज

पद्य संख्या	११५
विषय	कबीर साहब और शाह बलख के प्रश्नोत्तर

३०. बारामासी

पद्य संख्या	५०
विषय	ज्ञान

३१. बीजक

पद्य संख्या	५७०
विषय	ज्ञान और भक्ति का उपदेश।
विशेष	इस ग्रंथ की एक प्रति खो० रि० १९२०-२१-२२ से भी ज्ञात होती है। इसका लेखन-काल है सन १८४९। इसमें पद्य संख्या भी बढ़ कर १५८० तक पहुँच गई है। इसमें बहुत कुछ सन्तों द्वारा लिखा गया है, जो इसमें पीछे से जोड़ दिया गया है।

३२ ब्रह्म निरूपण

पद्य संख्या	३००
विषय	सत्पुरुष-निरूपण

३३ भक्ति का अग

पद्य सख्या	३४
विषय	भक्ति और उसका प्रभाव
विशेष	नाम आधुनिक ज्ञात होता है।

३४. मार्षों षंड चौंतीसा

पद्य संख्या	५५५
विषय	ज्ञान, भक्ति और नीति का वर्णन

३५ मुहम्मद बोध

पद्य संख्या	४४०
विषय	कबीर और मुहम्मद साहब के प्रश्नोत्तर

३६. मगल शब्द

पद्य सख्या	१०३
विषय	वन्दना और ज्ञान

३७ रमैनी

पद्य संख्या	४८
विषय	माया विषयक सिद्धान्त और तर्क

३८. राम-रक्षा

पद्य संख्या	६३
विषय	राम नाम से रक्षा करने की विधि

३६ राम सार

पद्य सख्या	१२०
विषय	राम नाम की महिमा

४०. रेखता

पद्य संख्या १६३०
विषय ज्ञान और गुप्त महिमा का वर्णन

४१. विचार माला

पद्य संख्या ६००
विषय ज्ञानोपदेश

४२ विवेक सागर

पद्य संख्या ३२५
विषय पदों में ज्ञानोपदेश

४३. शब्द अलह टुक

पद्य संख्या १६५
विषय ज्ञानोपदेश

४४ शब्द राग काफी और राग फगुआ

पद्य संख्या २३०
विषय रागों में ज्ञान और उपदेश

४५. शब्द राग गौरी और राग भैरव

पद्य संख्या १०४
विषय रागों में ज्ञान और उपदेश

४६. शब्द वंशावली

पद्य संख्या ८७
विषय आध्यात्मिक सत्य

४७ शब्दावली

पद्य संख्या १११५
विषय पन्थ का रहस्य और कबीर-पन्थी की दिनचर्या।

विशेष इस ग्रन्थ की एक और प्रति मिलती है. उसमें पद्य-संख्या १८५० है।

४८ सत कबीर बंदी छोर

पद्य संख्या ८५

विषय आध्यात्मिक सिद्धान्त

४९ सतनामा

पद्य संख्या ७२

विषय ज्ञान और वैराग्य-वर्णन

५० सत्संग को अंग

पद्य संख्या ३०

विषय सन्त संगति और माहात्म्य

५१. साधो को अंग

पद्य संख्या ४७

विषय साधु और साधुता का वर्णन

५२. सुरति सम्वाद

पद्य संख्या ३००

विषय ब्रह्म प्रशंसा, गुरु-वर्णन, आत्म-महिमा, नाम-महिमा

५३ स्वांस गुञ्जार

पद्य संख्या १५६७

विषय स्वांस के जानने की रीति

५४ हिंडोरा या रेखता

पद्य संख्या २१

विषय सत्यवचन पर गीत

५५ हंस मुक्तावली

पद्य संख्या ३४०

विषय ज्ञान वचन

५६. ज्ञान गुदड़ी

पद्य संख्या	३०
विषय	ज्ञान और उपदेश

५७. ज्ञान चौंतीसी

पद्य संख्या	११५
विषय	ज्ञान
विशेष	इस ग्रन्थ की एक प्रति खो० रि० १९१७, १८,१९ से प्राप्त हुई है। इसमें १३० पद्य हैं।

५८ ज्ञान सरोदय

पद्य संख्या	२२०
विषय	स्वरों का विचाराविचार और ज्ञान

५९. ज्ञान सागर

पद्य संख्या	१६८०
विषय	ज्ञान और उपदेश

६० ज्ञान सम्बोध

पद्य संख्या	७७०
विषय	सन्तों की महिमा का वर्णन

६१. ज्ञान स्तोत्र

पद्य संख्या	२५
विषय	सत्य वचन और सत्पुरुष का निरूपण

कबीर के ग्रन्थों को देख कर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

१—ग्रन्थ-संख्या

खोज से अभी तक कबीर कृत ६१ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। ये सभी कबीर रचित कही जाती हैं; इसमें कितना सत्य है, यह कहना कठिन

है। पर पुस्तकों के नाम से इस विषय में कुछ अवश्य कहा जा सकता है। न० १५ 'कबीर गोरख की गोष्ठी' नं० १६ 'कबीर जी की साखी' न० ३३ 'भक्ति का अंग' नं० ३५ 'मुहम्मद बोध' ये चार ग्रन्थ कबीर कृत कहने में सन्देह है। कबीर न तो गोरख के समकालीन थे और न मुहम्मद ही के। अतः कबीर का उक्त दोनों महात्माओं से वार्तालाप होना असम्भव है। इसी प्रकार नं० १६ ग्रन्थ में कोई भी कवि अपने नाम को 'जी' से अन्वित कर ग्रन्थ नहीं लिख सकता। नाम को इस प्रकार आदर देने वाले कवि के अनुयायी ही हुआ करते हैं। न० ३३ का ग्रन्थ अपने शीर्षक से ही संदिग्ध जान पड़ता है। कबीर 'भक्ति कौ अंग' कहते हैं 'भक्ति का अंग' नहीं, अतएव ये चार ग्रन्थ कबीर कृत होने में सन्देह है। सम्भव है और ग्रन्थ भी कबीर कृत न हों, पर उस सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। ६१ में से ४ निकालने पर ५७ संख्या रह जाती है। अतः हम अभी तक ५७ ग्रन्थ पा सके हैं, जो कबीर कृत कहे जाते हैं। इस सूची के अनुसार कबीर के ७ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक की पद्य संख्या १००० से ऊपर है। इन ५७ ग्रन्थों में कबीर ने कुल १७८३० पद्य लिखे हैं। इस प्रकार कबीर ने हिन्दी-जगत को लगभग बीस हज़ार पद्य दिये हैं।

२. वर्ण्य विषय

इन ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय प्रायः एक ही है। वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परिवर्तन कर यही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यही हैं :—

योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य-वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उतारने की रीति, नाम महिमा, संतों का वर्णन, सत्पुरुष-निरूपण, माया विषयक सिद्धान्त, गुरु-महिमा, रागों में उपदेश, सत्संगति, स्वर-ज्ञान आदि। यह सब या तो उपदेशक की भाँति

प्रतिपादित किया गया है या धर्मदास से सम्वाद के रूप में। विषय घूम-फिर कर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थानों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है। यह सब ज्ञान सरल और व्यावहारिक ढंग से वर्णित है, काव्य के सौन्दर्य से नहीं। सरल और व्यावहारिक होने के कारण यह ज्ञान जनता के हृदय में सरलता से पैठ जाता है। पाठ के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

३. भाषा, ग्रथों का स्वरूप और उनका सम्पादन

कबीर ने अपनी भाषा पूरबी लिखी है, पर नागरी प्रचारिणी सभा ने कबीर ग्रन्थावली का जो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें पूरबीपन किसी प्रकार भी नहीं है। इसके पर्याय उसमें पंजाबीपन बहुत है। इसे ग्रन्थ के सम्पादक जी शिष्यों या लिपिकारों की 'कृपा' ही समझते हैं। यह बहुत अशों में सत्य भी है।

४. संरक्षण स्थान और खोज

कबीर के ग्रन्थों की खोज उत्तर भारत और राजस्थान में हुई है। कबीर के ग्रंथ अभी तक निम्नलिखित सज्जनों और संस्थाओं से मिले हैं।

अ सज्जनों की सूची

१. पं० भानुप्रताप तिवारी, चुनार
२. महन्त जगन्नाथदास, मऊ, छतरपूर
३. महन्त जानकीदास मऊ, छतरपूर
४. लाला रामनारायन, बिजावर
५. महन्त ब्रजलाल, जमीदार, सिराथू, इलाहाबाद
६ पं० छेदालाल तिवारी, ओरई
७ श्री लक्ष्मनप्रसाद सुनार, मौजा हल्दी बलिया
८. बाबा रामवल्लभ शर्मा श्री सतगुरुशरण अयोध्या

९. बाबा सुदर्शनदास आचार्य, गोंडा
१० पं० महादेवप्रसाद चतुर्वेदी, पो० आ० असनी, फतेहपुर
११. पं० जयमङ्गलप्रसाद वाजपेयी, फतेहपुर
१२ प० शिवदुलारे दुबे, हुसेनागञ्ज, फतेहपुर

आ संस्थाओं की सूची :—

१ एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल, कलकत्ता
२. राज्य पुस्तकालय, दतिया
३ राज्य पुस्तकालय, टीकमगढ़
४ राज्य पुस्तकालय, चरखारी
५. सरस्वती भंडार, लक्ष्मण कोट, अयोध्या
६ आर्य भाषा पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
७ गोपाल जी का मन्दिर, सीतली, जोधपुर
८ कबीर साहब का स्थान, मौजा मगहर, बस्ती

दक्षिण में कबीर के ग्रंथों की खोज अभी तक नहीं हुई। मध्य प्रदेशान्तर्गत छत्तीसगढ विशेषकर दामा खेड़ा, खरसिया, कवर्धा आदि महत्व-पूर्ण स्थानों मे कबीर के ग्रंथों की खोज होनी चाहिए। छत्तीसगढ़ में तो धर्मदास की गद्दी ही थी। उस स्थान में सैकड़ों ग्रंथ मिल सकते हैं। उन यन्त्रालयों में भी खोज होनी चाहिए, जहाँ से कबीर साहित्य प्रकाशित हुआ है। ऐसे यन्त्रालयों में चार प्रधान हैं :—

१ श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
२ वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद
३ कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, सीयाबाग, बड़ोदा
४ सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर सी० पी०

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने परिश्रम और अध्यवसाय से उत्तर भारत के अनेक स्थानों मे कबीर के ग्रन्थों की खोज की है।

अच्छा हो, यदि वह मध्यप्रदेश में भी इसी प्रकार खोज कर कबीर साहित्य को प्रकाश में लाने का अभिनन्दनीय प्रयास करे।

कबीर की भाषा

कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन डा० श्यामसुन्दरदास ने किया है। यह नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) की ओर से प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थावली का सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है जिनकी अनुलिपि की तिथियाँ क्रमशः संवत् १५६१ तथा १८८१ हैं।

कबीर ग्रन्थावली की भाषा में पंजाबीपन अत्यधिक है। कबीर दास जी बनारस के निवासी थे। उनकी मातृ भाषा 'बनारसी बोली' थी जिसकी गणना पश्चिमी भोजपुरी के अन्तर्गत है। अब प्रश्न यह उठता है कि उनकी भाषा में पंजाबीपन कहाँ से आया? इसके दो कारण हो सकते हैं—प्रथम यह कि अनुलिपि कर्ता ने भोजपुरी शब्दों तथा मुहावरों को अनुलिपि करते समय पंजाबी में परिवर्तित कर दिया हो अथवा सन्तों के सत्संग के कारण कबीर को पंजाबी का पर्याप्त ज्ञान हो गया हो और उन्होंने स्वयं इसी रूप में इन पदों की रचना की हो। डाक्टर दास के मतानुसार दूसरी सम्भावना ही ठीक है किन्तु मैं समझता हूँ कि पहली सम्भावना में ही तथ्य का अंश अधिक है।

जो दशा कबीर के भाषा की हुई ठीक वही बुद्ध की भाषा की भी हुई थी जो कबीर से दो सहस्र वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय सिल्वाँ लेवी तथा जर्मनी के संस्कृत के पंडित लुडर्स ने अपने दो लेखों में यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किस प्रकार दाक्षिणात्य बौद्धों (स्थविरवादियों) के 'बुद्धवचन' की भाषा में ऐसे रूप भी वर्तमान हैं जो वस्तुतः 'प्राचीन मागधी' के हैं। स्थविर वादियों (सिंहल निवासियों) के त्रिपिटक की भाषा पालि है जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रीति से मध्यदेश की भाषा से है। इस

पालि त्रिपिटक में ही 'प्राचीन मागधी' के रूप मिलते हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान पालि त्रिपिटक की रचना के पूर्व त्रिपिटक की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी प्रचलित थीं जिनकी भाषा 'प्राचीन मागधी' थी। जब मध्य देश की भाषा पालि में आधुनिक त्रिपिटक को परिवर्तित किया गया, तो भी 'प्राचीन मागधी' भाषा के कुछ शब्द तथा मुहावरे आदि यत्र तत्र रह ही गये।

ठीक ऊपर की दशा कबीर की भाषा की भी हुई। यह बात प्रसिद्ध है कि कबीर शिक्षित न थे, अतएव 'बनारसी बोली' के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक भाषा में रचना करना उनके लिए सम्भव न था। यह 'बनारसी बोली' अथवा उस समय की भोजपुरी केवल प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। इसे न तो ब्रज भाषा' की भाँति शौरसेनी अपभ्रंश की परम्परागत प्रतिष्ठा ही प्राप्त थी और न नवीन विकसित 'खड़ी बोली' की भाँति मुसलमान शासकों की संरक्षिता ही मिली थी। भोजपुरी क्षेत्र के पश्चिम में कबीर की वाणी के प्रसार के लिये यह आवश्यक था कि उनके 'पदों' तथा 'साखियों' का अनुवाद 'ब्रजभाषा' खड़ी बोली अथवा दोनों के सम्मिश्रण में हो। ऐसा करने ही से इनके सिद्धान्तों का प्रचार पश्चिम पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक हो सका था। ब्रज तथा खड़ी बोली में अनुवाद का यह कार्य केवल मूल भोजपुरी के कतिपय शब्दों के रूप बदल देने से ही सम्पन्न हो सकता था।

कबीर का ज्ञान विस्तृत था, उन्होंने देश-भ्रमण भी खूब किया था। ऐसी अवस्था में इस बात की भी सम्भावना है कि उन्हें ब्रज, खड़ी बोली तथा कोसली (अवधी) का पर्याप्त ज्ञान हो और उन्होंने स्वयं इन भाषाओं मे रचना की हो, किन्तु संवत् १५६१ की प्राचीन प्रति के आधार पर सम्पादित कबीर ग्रन्थावली के पदों में भोजपुरी रूपों को देखकर यही धारणा पुष्ट होती है कि बुद्ध-वचन

की भाँति ही कबीर की वाणी पर भी उनके भक्तों द्वारा पछाहीं रंग चढ़ाया गया।

ऊपर के कथन के प्रमाण-स्वरूप नीचे कतिपय उदाहरण कबीर-'ग्रंथावली' से दिये जाते हैं :—

(क) भोजपुरी संज्ञा पदों के प्राय. दो रूप—

लघ्वन्त तथा दीर्घान्त—मिलते हैं। इस ग्रन्थावली मे भी ये रूप मिलते हैं :—

खंभवा (पृ० ६४, पंक्ति १३)

पऊवा (पृ० ६५, १४)

पहरवा (पृ० ६६, १३)

मनवा (पृ० १०८, २३)

खटोलवा (पृ० ११२, १५)

रहटवा (पृ० १६५, १२)

(ख) भोजपुरी मे अतीत काल की क्रिया में 'अल', 'अले' प्रत्यय लगते हैं। 'कबीर ग्रन्थावली' में ये रूप उपलब्ध हैं :—

(१) जुलहै तनि बुनि पांन न पावल (पृ० १०४-१४)

(२) त्रिगुंण रहित फल रमि हम राखल (पृ० १०४-१५)

(३) नां हम जीवत न मूँवाले (मुँवले ?) माहॉ (पृ० १०८-१९)

(४) पापी परलै जाहि अभागे (पृ०-१७-१३२)

(ग) भोजपरी में भविष्यत् काल की अन्य पुरुष एक वचन की क्रियाओं में 'इहें' प्रत्यय लगता है। 'कबीर-ग्रंथावली' में भी ये रूप मिलते हैं :—

(१) हरि मरि हैं (मरिहैं ?) तौ हमहूँ मरिहैं (**मरिहैं ?** (पृ० १०२-२१)

(२) इद्री स्वादि बिषै रसि बहि है (बहिहैं?), नरकि पड़ै
    पुनि रांम न कहि है (कहिहैं?)

(पृ० १३-१३४)

कबीर-ग्रन्थावली के पदों के केवल कतिपय शब्दों के रूप परिवर्तित कर देने से ही अत्यन्त सरलता से मूल भोजपुरी के रूप प्राप्त हो जाते हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि कबीर के ये पद मूलरूप में सम्भवतः भोजपुरी में ही उपलब्ध थे। बाद में उन्हें पछाहीं भाषा मे परिवर्तित किया गया। नीचे के उदाहरण में पहले 'कबीर-ग्रन्थावली' का एक पद ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है। इसके पश्चात् उसका भोजपुरी रूप दिया गया है। इन भोजपुरी रूपों को कोष्ठकों में दिया गया है। ये रूप भी प्राचीन भोजपुरी के हैं।

मैं बुनि करि सिराना हो राम,
    नालि करम नहीं ऊबरे ॥ टेक ॥
दखिन कूट जब सुनहा भूंका,
    तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं,
    हम घरि चोर पसारा हो राम ॥
तांना लीन्हां बाना लीन्हा,
    लीन्हें गोड के पऊवा।
इत उत चितवत कठवन लीन्हा,
    माड चलवना डऊवा हो राम ॥

(कबीर-ग्रन्थावली पृ० ६५)

ऊपर के पद का भोजपुरी रूप इस प्रकार होगाः—

[में] बुनि करि [सिरइलों] हो राम,
    नालि करम नहिं ऊबरे ॥ टेक ॥
दखिन कूट जब सुनहा [भूँकल],
    तब हम सुगुन [बिचरलों]।

लरके [फरके] सब [जागतारे],
हम घरि चोर [पसरलों] हो राम।
ताना [लिहलों] बाना [लिहलों],
[लिहलों] गोड़ के पऊवा।
इत उत चितवन कठवन [लिहलों],
माइ चलवना डऊवा हो राम॥

नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रन्थावली' के ऊपर के संस्करण के अतिरिक्त कबीर के ग्रंथों के कई ऐसे संस्करण भी उपलब्ध हैं जिनमें भोजपुरी रूपों की ही बहुलता है। ऐसे संस्करणों मे शान्तिनिकेतन के आचार्य क्षितिमोहन सेन का संस्करण प्रसिद्ध है। भोजपुरी क्षेत्र में तो कबीर के पद इतने अधिक प्रचलित हैं कि अशिक्षित व्यक्तियों तक को दो चार कंठाग्र हैं।

कबीर का महत्त्व और उनका काव्य

हर्ष का मृत्युकाल (सन् ६४७ ई०) भारतीय समाज के इतिहास में एक बड़ी विभाजक-रेखा का कार्य करता है। शंकराचार्य के अभ्युदय से ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान तो हुआ, पर कुछ बाह्य और अंतरंग कारणों से वह अधिक काल तक स्थित न रह सका। वह धीरे धीरे बहुत कुछ रूपान्तरित-सा हो गया। मुसलमानों के आक्रमण के प्रथम भारतवर्ष पर शक हूण आदि कितने ही विदेशियों के आक्रमण हुए थे। इन विदेशियों के धार्मिक एवं सामाजिक सिद्धान्त व्यापक न होने के कारण ये शीघ्र ही हिन्दूधर्म के साथ एक हो गये और कुछ काल मे इनका अपना भिन्न अस्तित्व भी न रह गया। किन्तु मुसलमानी सभ्यता का जन्म अपनी एक विशेष शक्ति के आधार पर हुआ था। इसका प्रवेश विजेता के रूप में हुआ। मुस्लिम सत्ता और हिन्दू जनता कुछ विरोधशील प्रवृत्ति के कारण एक न हो सकी। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि १४ वीं शताब्दी मे कुछ प्रलोभन तथा भय के कारण उत्तरी भारत की अधिकांश

जनता मुसलमान हो गई थी। मुस्लिम शासक की विनाशकारी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं में समाज-सस्कार को अधिक नियमित करने की आवश्यकता बढ़ी। इसके परिणाम-स्वरूप वर्णाश्रम धर्म की रक्षा, छुआछूत की जटिलता तथा परदे की प्रथा है। १४ वीं शताब्दी में भारतीय समाज की अशान्ति के इन वाह्य कारणों के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी थे। प्राचीन भाषा अब नवीन रूप धारण कर चुकी थी। धार्मिक साहित्य की समस्त रचना संस्कृत में ही हुई थी। इस दृष्टि से धार्मिक अध्ययन ब्राह्मण-पडितों तक ही सीमित हो गया था और साधारण जनता धार्मिक ज्ञान से बहुत दूर हो गई थी। जिस प्रकार यूरोप में लूथर के पूर्व १५ वीं शताब्दी में पोप ही धर्म के स्तम्भ समझे जाते थे, उसी प्रकार कबीर के पूर्व धार्मिक ज्ञान पूर्णरूप से ब्राह्मणों के आश्रित था। साधारण जन की शान्ति के लिये कोई आश्रय न था। साथ ही शासकों की निरंकुश नीति के कारण राजनीतिक असन्तोष की मात्रा भी बहुत बढ़ी थी। मोहम्मद तुग़लक के शासन काल से ही व्यवस्था अनियमित हो गई थी और सन् १३९८ ई० का तैमूर का आक्रमण तो उत्तरी भारत के लिये अराजकता और हिंसक प्रवृत्ति का सीमान्त उदाहरण था।

ऐसी ही अव्यवस्थित स्थिति में रामानन्द और कबीर का उदय हुआ था। प्रसिद्ध इतिहासकार 'बकले' का कहना है कि युग की बड़ी विभूतियाँ काल-प्रसूत होती हैं। कबीर के विषय में तो यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट है। जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्मकाल के समय में हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूल कर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित होकर दोनों जातियाँ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति मे सच्चे मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं, तथापि भारतीय नवयुग के समाज-सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम

है; क्योंकि भारतीय धर्म के अंतर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एव कर्मकाण्ड तीनों का समावेश है।

कबीर के पहिले भी हिन्दू समाज में कितने ही धार्मिक सुधारक हुए थे, पर उनमें अप्रिय सत्य कहने का बल अथवा साहस नहीं था। हिन्दू जन्म से ही अधिक धर्मभीरु होता है। यह उसकी जातीय दुर्बलता है। दूसरों की धार्मिक नीति का स्पष्ट विरोध करना मुस्लिम धर्म का एक विशेष अग है। इन्हीं दोनों परस्पर प्रतिकूल सभ्यता के योग से कबीर का उदय हुआ था जिनका प्रधान उद्देश्य इन दो सरिताओं को एक-मुख करना था। कबीर की शिक्षा में हमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की सीमा तोड़ने का यत्न दृष्टिगत होता है। यही उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी।

कबीर की विशेषता इन्हीं धार्मिक पाखण्डों का स्पष्ट शब्दों में विरोध कर, सत्यानुमोदन करने की है। कबीर ने निश्चय किया कि हिन्दू मुस्लिम विरोध का मूल कारण उनका अधविश्वास है। धर्म का मार्ग ससार के कृत्रिम भेद-भावों से बिल्कुल रहित है। 'कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना। आपस मे दोउ लरि लरि मूये मरमन काहू जाना'[1]। वास्तव मे भारतीय समाज मे बन्धुत्व के ये भाव कबीर द्वारा ही सर्वप्रथम व्यक्त किए गए थे। भक्ति-भाव के आन्दोलन द्वारा भगवान के सामने सम-भाव का आदेश तो रामानन्द ने भी दिया था, पर जाति विभाग और ऊँच-नीच भाव के एकीकरण का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था। सच्चा सुधारक समाज मे नये मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अध-विश्वास मे पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जागृत करना अधिक आवश्यक समझता है। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे। काशी मे—हिन्दू धर्म के प्रधान केन्द्र में कबीर के सिवा और कौन साहस कर पूछ सकता था कि 'जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये, और राह तुम काहे न आये?' यदि काली और सफेद

१. कबीर वचनावली, द्वितीय खण्ड १८२.

गाय के दूध में कोई अंतर नहीं होता तो फिर उस विश्व वंद्य की सृष्टि में जाति-कृत भेद कैसा ! "कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावै एक जमीं पर रहिये" । सत्य तो यह है कि सभी परमेश्वर की सन्तान हैं । "को ब्राह्मण को शूद्रा !"

कबीर की यही समदृष्टि उन्हें सार्वभौमिक बना देती है । स्मरण रखना चाहिए कि भक्तियोग के उत्थान के साथ कितने अन्य महात्माओं ने भी शूद्रों को स्वीकार किया था, परन्तु 'जाति-विभाग हेय और हानिप्रद है' ऐसी घोषणा करने का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था ।

इसी जाति-विभाग के नियम-पालन में छुआछूत का प्रश्न और भी जटिल हो गया था । हिन्दू मुसलमान दोनों ने अपने विशेष सामाजिक संस्कार बना लिए थे । साथ ही धर्म का दार्शनिक तत्वो की अवहेलना भी खूब हो रही थी। धर्म का रूप केवल बाह्य-कृत्यों तक ही सीमित था । कारण यह था कि पंडितों और मुल्लाओं की प्रधानता एव उनकी संकुचित विचार धारा के कारण आडम्बर की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। विशेषता तो यह थी कि इन सभी आचारों का अनुमोदन कुरान, पुराण आदि धार्मिक पुस्तकों के नाम से किया जाता था। कबीर ने देखा कि शास्त्र-पुराण आदि की कथाओं से लोग धर्म के सच्चे तत्व को भूल गए हैं । यह सब "भूठे का बाना" है ! मनुष्य भूल कर आडम्बर के फेर मे पड़ गया है । 'सुर नर मुनी निरजन देवा, सब मिलि कीन्ह एक बंधाना, आप बँधे औरन को बाँधे भवसागर को कीन्ह पयाना' बात सत्य थी, पर रूखे तौर पर कही गई थी । थोड़े से शब्दों मे यह अप्रिय सत्य था जिसके वक्ता और श्रोता दोनों दुर्लभ होते हैं । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने वास्तविक ज्ञान राशि वेद, क़ुरान आदि को हेय समझा था, परन्तु उनका कहना तो यह था कि विना समझे इनका आश्रय लेना अज्ञानता है । उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है कि 'वेद कितेब कहो मत भूठे, भूठा जो न विचारै' ।

काशी, गया द्वारका आदि की यात्रा से कोई भी तात्पर्य नही है। मनुष्य को पहले निष्कपट होना चाहिए। उसका परिधान रँगा हुआ है, हृदय नहीं। कबीर के समय में हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक विरोध के कारण धर्म के वाह्याडम्बरों की वहुत वृद्धि हो गई थी। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार परमात्मा विश्वव्यापी है। सूफी सिद्धान्त भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। पर जनता मूल सिद्धान्त को भूल गौण को मुख्य मान कर विरोध कर रही थी। विश्वव्यापी का निवास कोई पूर्व और कोई पश्चिम में वताता था। मुसलमान वाँग देकर अपने ईश्वर को स्मरण करने में ही अपना महत्व समझता है। पुराणों के अनुसार कितने ही मार्ग प्रतिपादित हैं। धर्म-ग्रन्थ अनन्त हैं, फिर उनके द्वारा प्रतिपादित मार्गो की सीमा नहीं। सभी अपना राग अलापते हैं। कबीर ने देखा कि इस एकात्मता के पीछे अनेकरूपता का रूपक देकर अकारण ही विरोध वढ़ाया गया है। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महादेव और मोहम्मद में कोई भेद नहीं है। राम और रहीम पर्य्यायवाची हैं। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी उस परवरदिगार के वन्दे हैं। "हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुरु इहै वताई। कहै कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खोदाई।"

इस प्रकार कबीर ने अपने समय में धार्मिक पाखंड एवं कुरीतियों को दूर कर पारस्परिक विरोध को हटाने का सफल परिश्रम किया। सरल जीवन, सत्यता, स्पष्ट व्यवहार आदि उनके उपदेश हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों धार्मिक वनते हैं। कबीर का कहना है "इन दोउन राह न पाई।" एक वकरी काटता है, दूसरा गाय। यह पाखंड नहीं तो और क्या है? कबीर ने समसामयिक प्रवाह देखकर हिन्दू मुसलमान दोनों के आडम्बर-मूलक व्यवहार का घोर विरोध किया। उन्होंने अपने विचार की पुष्टि के लिए किसी विशेष ग्रन्थ का आश्रय नहीं लिया। यह हो सकता है कि इसके मूल में उनके पुस्तक-ज्ञान का अभाव रहा हो पर उन्होंने इतना तो स्पष्ट देखा कि इन्हीं धर्म

ग्रन्थों का आश्रय लेकर हिन्दू मुसलमान अन्याय कर रहे हैं। फिर जो बात सत्य है उसकी वास्तविकता ही प्रधान आधार है। उनका तो कहना था कि :—

"मै कहता हूँ आँखिन देखी।
तू कहता कागद की लेखी।"

प्रश्न हो सकता है कि कबीर अपने कार्य में कितने सफल हो सके हैं। सच तो यह है कि ससार की महान विभूतियों को जनता अपने अज्ञानवश ठुकरा देती है। युग-प्रवर्त्तक महात्माओं को अपनी शिक्षा के अनुमोदित न होने का सदा दुःख रहा है। सुकरात, क्राइस्ट सभी इस अज्ञान जनता के शिकार हुए हैं। कबीर का सन्देश कृत्रिम भेद-भाव रहित विश्व-प्रेम-मूलक था यद्यपि वह विश्वव्यापी न हो सका।

भारतीय शिक्षित समाज पर प्रत्यक्ष रूप से कबीर का प्रभाव वहुत कम पड़ा, परन्तु एक बात हिन्दुओं और मुसलमानों में समान रूप से व्याप्त हो गई। सबका भगवान एक है और सब भगवान के बन्दे हैं। जो हरि की वन्दना करता है वह हरि का दास है। परम पद की प्राप्ति के लिए प्रेम ही वाञ्छनीय है; कोई विशेष सम्प्रदाय, जाति अथवा शिक्षा नहीं। इस विषय की कितनी ही सूक्तियाँ आज उत्तरी भारत के गाँवों में कबीर के नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों कबीर का महत् पद स्वीकार करते हैं। भारतीय समाज के इतिहास में भी कबीर के इस भाव का प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। कबीर की मृत्यु के पश्चात् मुस्लिम शासन-काल में भी प्राय तीन शताब्दी तक हिन्दू-मुस्लिम धर्म सम्बन्धी अनाचार की कोई घटना नहीं मिलती। प्रत्युत अकबर-कालीन मुग़ल शासन मे हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्कता-सम्बन्धी कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इतिहासकार इसके वहुत से कारण वताते हैं, परन्तु उन सभी कारणों में हिन्दू मुस्लिम-विरोध के मूल-स्वरूप अंधविश्वास

को मिटा कर समता का उपदेश देने वाले कबीर का प्रादुर्भाव विशेष विचारणीय है। इतिहास लेखक प्रायः इस विषय की अवहेलना कर देते हैं परन्तु इसका प्रभाव हम गाँवों में देख सकते हैं, जहाँ आज भी हिन्दू मुस्लिम भेद-भाव का कोई स्पष्ट रूप नहीं दिखलाई पड़ता। छुआछूत का तो बहुत कुछ अभाव ही है और साथ ही दोनों एकरूप से समता, सरल जीवन, ज्ञान तथा सन्तुष्टि के कितने ही पद प्रेम से गाया करते हैं। कबीर ने शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति को परिमार्जित कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिक उदार बना दिया है। यही उनकी विशेषता है। उन्होंने समाज में क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी थी। धर्म के नाम पर किए गए अनाचार का विरोध कर जन-साधारण की भाषा द्वारा समाज को जागृत करने में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है।

कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलकार के आधार पर काव्य-रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं. संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है। उस संदेश के प्रकट करने का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुए भी काव्यमय है। कई समालोचक कबीर को कवि ही नहीं मानते क्योंकि वे कभी-कभी सही दोहा नहीं लिखते और अनुप्रास जैसे अलंकारों की चकाचौंध पैदा नहीं कर सकते। ऐसे समालोचकों को कबीर की समस्त रचना पढ़ कर कवि के कवित्व की थाह लेनी चाहिए मीरां में भी काव्य-साधना है. पर पिंगल नहीं। फिर क्या मीरां को कवि के पद से बहिष्कृत कर देना चाहिए? कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में है। यह विवेचना कबीर में पर्याप्त है। अत वे एक महान् कवि हैं। वे भावना की अनुभूति से युक्त हैं. उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं और जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

यह बात अवश्य है कि कबीर की कविता में कला का अभाव है। उनकी रचना में पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उल्टवासियों' में क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है, पर उन्होंने काव्य के इन उपकरणों को जुटाने की चेष्टा भी तो नहीं की। वे एक भावुक और स्पष्टवादी व्यक्ति थे और उन्होंने प्रतिभा के प्रयोग से अपने संदेश को भावनात्मक रूप देकर हृदयग्राही बना दिया था। वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए 'उलटवासियाँ' लिखते थे और संकीर्णता हटाने के लिए रेखते। उनकी कला उनकी स्पष्टवादिता में थी, उनकी स्वाभाविकता में थी। यही स्वाभाविकता उनकी सब से बड़ी निधि है। कबीर के विरह के पद साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदों से हीन नहीं हैं। उनकी विरहणी-आत्मा की पुकार काव्य-जगत में अद्वितीय है। रहस्यवाद के दृष्टिकोण से यदि उनकी "पतिव्रता कौ अंग" पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि उनका कवित्व संसार के किसी भी साहित्य का शृङ्गार हो सकता है।

उत्तरी भारत मे कबीर का महत्त्व बहुत अधिक था। वे रामानन्द के प्रधान शिष्य थे। उनका निर्भीक विषय प्रतिपादन उनके समकालीन भक्तों और कवियों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर देता है। यही कारण है कि वे अपने गुरु का अनुकरण न करते हुए भी स्वय अनेक भक्तों और कवियों के आदर्श हो गए[१]।

कबीर के बाद संत-परम्परा में जितने प्रधान भक्त और कवि हुए उनका विवरण इस प्रकार है:—

धरमदास (सं० १४७५)

ये कबीर के सबसे प्रधान शिष्य थे और उनके बाद इन्हें ही कबीर पंथ की गद्दी मिली। इनके जन्म की तिथि निश्चित नहीं है। कहा जाता है कि ये कबीर से कुछ वर्ष छोटे थे। कबीर की

१ सलेक्शंस फ्राम हिंदी लिटरेचर, बुक ४, पृष्ठ १—
(लाला सीताराम बी० ए०)

जन्म-तिथि संवत् १४५५ मानी गई है, अतः इनका जन्म १४५५ के बाद ही होगा। सन्त सीरीज के सम्पादक महोदय धरमदास जी की जन्म तिथि संवत् १४७५ और १५०० के बीच में मानते हैं।[1] धरमदास जी की मृत्यु कबीर की मृत्यु के लगभग बीस-पचीस वर्ष बाद हुई। अतः कबीर की मृत्यु-तिथि १५७५ मानने पर इनकी मृत्यु लगभग संवत् १६०० माननी होगी।

धरमदास का प्रारम्भिक जीवन साकारोपासना में ही व्यतीत हुआ। ये बाँधोगढ़ के निवासी थे और बड़े धनी थे। अतः तीर्थ-यात्रा और पूजन आदि में बहुत धन खर्च करते थे। अमर सुख निधान में धरमदास ने स्वय अपना जीवन-चरित्र लिखा है। उस ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

> धरमदास बन्धो के बानी। प्रेम प्रीति भक्ति में जानी ॥
> सालिगराम की सेवा करई। दया धरम बहुतै चित धरई ॥
> साधु भक्त के चरन पखारै। भोजन कराइ अस्तुति अनुसारै ॥
> भागवत गीता बहुत कहाई। प्रेम भक्ति रस पियै अघाई ॥
> मनसा वाचा भजै गुपाला। तिलक देइ तुलसी की माला ॥
> द्वारिका जगन्नाथ होइ आए। गया बनारस गङ्ग नहाए ॥

मथुरा और काशी के पर्यटन मे इनसे कबीर की भेंट हुई और ये कबीर से बहुत प्रभावित हुए। अन्त मे इन्होंने अपना सब धन लुटा कर कबीर-पंथ में प्रवेश किया। तुलसी साहब ने अपने ग्रन्थ 'घट रामायण' में धरमदास जी के विचार-परिवर्तन का बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया है। ये सपरिवार कबीर पंथी होकर काशी में रहने लगे। इन्होंने ही कबीर की रचना का संग्रह संवत् १५२१ (सन् १४६४) मे किया।[2] इनकी मृत्यु के बाद कबीर पंथ की गद्दी इनके पुत्र चूड़ामणि को मिली।

---

१. धनी धरमदास जी की शब्दावली (जीवन चरित्र) पृष्ठ १

२. दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ १४१ (एम० ए० मेकालिफ)

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमे इनकी और कबीर की गोष्ठी और धर्म-निरूपण ही अधिक है। इनकी बहुत सी रचना कबीर की रचना में इतनी मिल गई है कि दोनों को अलग करना बहुत कठिन हो गया है। इनके प्रधान ग्रन्थों मे 'सुखनिधान' का बहुत ऊँचा स्थान है। कबीर के समान इन्होंने भी 'विरह' पर बहुत लिखा है।

इनके शब्दों में कबीर की भाँति ही आध्यात्मिक सन्देश और रहस्यवाद है, यद्यपि उसकी उत्कृष्टता कबीर के पदों से हीन है। कबीर के भक्त होने के कारण इनके बहुत से पद आचारात्मक हैं जिनमे आरती विनती, मगल और प्रश्नोत्तर हैं। साथ ही इन्होंने बारहमासा, बसन्त और होली, सोहर आदि पर बहुत से शब्द लिखे हैं। इनकी भाषा प्रवाह युक्त और स्वाभाविक है। उस पर पूर्वी हिन्दी की पूर्ण छाप है। मगल का एक शब्द इस बात को बहुत स्पष्ट कर रहा है :—

सूतल रहलौं मैं सखियाँ, तो विष कर आगर हो।
सतगुर दिहलैं जगाइ, पायौं सुख सागर हो॥
जब रहली जननी के ओदर, परन सम्हारल हो।
तब लौं तन में प्रान, न तोहि बिसराइब हो॥
एक बुंद से साहेब, मँदिल बनावल हो॥
बिना नेव कै मँदिल, बहु कल लागल हो॥ आदि।

धर्मदास की एक गद्दी मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ में है। कबीर पथ में धर्मदास का स्थान कबीर साहब के बाद ही माना गया है।

श्री गुरु नानक (सं० १५२६)

सिख संप्रदाय के संस्थापक श्री नानकदेव के सम्बन्ध में अनेक विवरण और जन्म-साखियाँ हैं जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है। पर उन विवरणों की अनेक बातें

इतनी कपोल-कल्पित और अन्ध-विश्वास से भरी पड़ी हैं, कि किसी भी इतिहास प्रेमी को वे ग्राह्य नहीं हो सकतीं। प्रत्येक धर्म-संस्थापक के पीछे इसी प्रकार की कल्पित कथाओं की शृंखला लगी रहती है, अतः नानक के सम्बन्ध मे भी यह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जिन जन्म-साखियों के आधार पर नानक का जीवन-विवरण मिलता है वे अधिकतर पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि में हैं। जे० डब्ल्यू यङ्गसन को अमृतसर मे लिखी गई एक जन्म-साखी[1] मिली है, जिसके अनुसार गुरु नानक महाराज जनक के अवतार थे। प्रारम्भ में कथा है कि राजा जनक ने एक बार नर्क की यात्रा की थी और अपने पुण्य से सतयुग, त्रेता और द्वापर के पापियों का उद्धार कर दिया था। वे उस समय कलियुग के पापियों का उद्धार नहीं कर पाये। अतः कलियुग में पापियों का उद्धार करने के लिये वे गुरु नानक के रूप में अवतरित हुए।

एक और जन्मसाखी प्राप्त है जिसका अनुवाद ई० ट्रम्प ने किया है। इसका रचनाकाल अनुवादक के द्वारा १६ वी शताब्दी का अंत या १७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है। इस जन्मसाखी पर पाँचवें गुरु श्री अर्जुन देव के हस्ताक्षर हैं और यह उन अक्षरों में लिखी गई है जिनमें ग्रन्थ साहिब की सबसे प्राचीन लिपि है। इस जन्मसाखी में कपोल-कल्पना नहीं है, अतः यह अधिक विश्वस्त है।

एम ए० मेकालिफ ने भी एक जन्मसाखी का परिचय दिया है[2] जिसकी लेखनतिथि सन् १५८८ मानी गई है। इसमें भी अनेक प्रकार की कथाएँ हैं जिनसे गुरु नानक का महत्त्व प्रकट होता है।

---

१ एन्साइक्लोपीडिया आव् रेलीजन ऐण्ड एथिक्स, भाग ६. पृष्ठ १८१

२ दि सिख रेलीजन (मेकालिफ, भूमिका, पृष्ठ ७६)

इन जन्मसाखियों में से अस्पष्ट और अतिशयोक्तिपूर्ण बातों को निकाल कर गुरु नानक का जीवन-वृत्त इस प्रकार होगा:—

श्री नानक का जन्म बैसाख[1] (बाबा छज्जूसिंह के अनुसार कार्तिक) सं० १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर दक्षिण पश्चिम में तलवंडी नामक गाँव में हुआ। इनकी माता का नाम तृप्ता और पिता का नाम कालू था, जो जाति के खत्री थे। वे किसान और पटवारी थे और साथ ही कुछ महाजनी भी करते थे। अतः नानक का बचपन प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में व्यतीत हुआ। छुटपन से ही नानक मौन रहते थे और विचारों मे डूबे रहते थे। कभी-कभी तो ये साधू और फ़क़ीरों का संग भी करते थे जिससे इनके पिता इनसे बहुत रुष्ट रहते थे। जो काम इनसे करने के लिए कहा जाता था वही इनसे बिगड़ जाता था, क्योंकि ये अपने ध्यान में ही डूबे रहते थे। एक बार इनके पिता ने इन्हें बीस रुपये रोजगार करने के लिए दिए, पर इन्होंने वे सब साधू और फ़क़ीरों पर खर्च कर दिए। इनके पिता को इस उच्छृङ्खलता पर बहुत क्रोध आया और उन्होंने इन्हें सुलतानपुर (जालन्धर) नौकरी करने के लिए भेजा, जहाँ इनकी बहन जानकी के पति जयराम रहते थे। इस बीच में इनका विवाह भी हो चुका था जिससे इनके दो पुत्र हुए, श्रीचन्द और लखमीदास। जब तक इन्होंने नौकरी की ये बड़े सतर्क और आज्ञाकारी रहे। कमाये हुए धन का बहुत सा भाग इस समय भी साधुओं की सेवा में समाप्त होता था। ये दिन भर काम करते थे और रात को गीत बनाकर गाया करते थे। इनका एक गायक मित्र था, जो तलवंडी से आया था। उसका नाम था मरदाना। जब नानक गाया करते थे तो मरदाना रबाब बजाया करता था।

एक बार बेन नदी में स्नान करते समय इन्हें आत्म-ज्ञान

---

१ दि टेन गुरू ऐन्ड देयर टीचिंग्स (बाबा छज्जूसिंह, पृष्ठ १)

हुआ और इन्होंने ईश्वर की दिव्य विभूति देखी। उसी समय से इन्होंने नौकरी छोड़कर पर्यटन प्रारम्भ किया। चारों दिशाओं में इन्होंने मरदाना के साथ बड़ी-बड़ी यात्राएँ कीं और अपने सिद्धान्तों का गा-गाकर प्रचार किया।

अन्त में स० १५९५ में करतारपुर आकर इन्होंने अपने परिजनों के बीच में महाप्रस्थान किया।

नानक के दार्शनिक सिद्धान्त अधिकांश में कबीर से मिलते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है:—

१ एकेश्वरवाद

२ हिन्दू मुसलमानों में अभिन्नता

३ मूर्तिपूजा-विरोध

इनकी रचना सिक्खों के गुरु ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं।

शेख फ़रीद (सं० १२३०) शेख फ़रीदसानी (सं० १५१०)

ये एक बड़े भारी मुसलमान सन्त थे जिनकी रचनाएँ अनेक भाषाओं में हुईं। ये कोठीवाल में स० १२३० (सन् ११७३) में हुए। इनका दूसरा नाम शकरगंज था। इनके नाम के पीछे एक कथा है। इनकी माता ने इनसे ईश्वर की प्रार्थना करने के लिए कहा। इन्होंने कहा, प्रार्थना करने से क्या मिलेगा? माता ने उत्तर दिया, शकर! प्रार्थना के बाद माता ने आसन के नीचे से थोड़ी शकर निकाल कर फ़रीद को दे दी। एक दिन माँ कहीं बाहर गई थी, इन्होंने प्रार्थना के बाद अपने आसन को उलटा तो बहुत सी शकर रखी थी। माता के आने पर फरीद ने शकर का हाल बतलाया। माता ने आश्चर्य से इस समाचार को सुना और फरीद का नाम शकरगंज (शकर की निधि) रक्खा।

चार वर्ष की अवस्था में ही फ़रीद ने क़ुरान याद कर ली थी। बड़े होने पर इन्होंने मक्के-मदीने की यात्रा भी की थी।

वहाँ से लौटने पर फरीद ने कुछ दिन दिल्ली में व्यतीत किये, बाद में अजोधान (पाक पट्टन) चले आए।

नानक संवत् १५२६ (सन् १४६९) में पैदा हुए थे। अतः उनकी भेंट तो किसी प्रकार शेख फ़रीद से हो ही नहीं सकती थी। फ़रीद के बाद उनकी वंश-परम्परा के अन्तर्गत शेख इब्राहीम से अवश्य उन्होंने भेंट की थी। शेख इब्राहीम कविता लिखा करते थे और उसमें शेख फ़रीद का ही नाम डाला करते थे, क्योंकि शेख इब्राहीम को शेख फरीद द्वितीय की उपाधि थी। यह निश्चित है कि जो पद 'ग्रन्थ साहब' में शेख फ़रीद के मिलते हैं वे सब शेख इब्राहीम के लिखे हुए हैं। इन्हें फ़रीद सानी भी कहा गया है। शेख इब्राहीम की मृत्यु सं० १६०९ में हुई।

इनकी कविता में ईश्वर से मिलने की आकांक्षा बहुत अधिक है।

मलूकदास (स० १६३१)

इनका जन्म संवत् १६३१ में कड़ा (इलाहाबाद) नामक स्थान में हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दरदास खत्री था। बचपन से ही मलूकदास में प्रतिभा के चिह्न थे। ये सन्तों को भोजन और कम्बल दे दिया करते थे, जो इनके पिता इन्हें बेचने के लिए देते थे। इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं जिनमें इनकी भक्ति और शक्ति का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। इनकी मृत्यु सं० १७३९ में हुई। इस प्रकार इनकी आयु मृत्यु के समय १०८ वर्ष की थी। इनके एक शिष्य सुथरादास थे जिन्होंने 'मलूक परिचय' के नाम से एक जीवनी लिखी है। इसके अनुसार भी मलूकदास के जन्म और मृत्यु के सवत् यही है।[1]

मलूकदास के बारह चेले थे जिनके नाम अज्ञात हैं। इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, इसफहाबाद, मुल्तान, पटना (बिहार),

---

१ खोज रिपोर्ट, सन् १९२० २१-२२

सीताकोयल (दक्षिण), कलापुर नैपाल और काबुल में हैं[1] मलूक-दास के बाद गद्दी पर रामसनेही बैठे।

इनकी कविता सरस और भावपूर्ण है। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'ज्ञानबोध' और 'रामावतार लीला' (रामायण)। 'ज्ञानबोध' में इन्होंने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया है। अष्टांग योग एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति का भी विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण है। 'रामावतार लीला' में रामचरित्र वर्णित है। उसमें 'रामायण' की कथा विस्तार से दी गई है। भाषा में पूर्ण स्वाभाविकता है। इनके उपदेश और चेतावनी बड़ी तेजस्वी भाषा में वर्णित हैं। उनमें स्थान-स्थान पर अरबी, फ़ारसी के शब्द भी हैं, पर उनसे कविता के प्रवाह में कोई व्याघात उपस्थित नहीं हुआ। इन्होंने शब्दों के अतिरिक्त कवित्त भी लिखे हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य तो नहीं है, पर भाव-सौन्दर्य अवश्य है। कहा जाता है कि एक और मलूकदास थे जिनका निवास-स्थान कालपी था और जो जाति के खत्री थे। कड़ा के मलूकदास बहुत पर्यटनशील थे। संभव है, ये कालपी में रहे हों। इस प्रकार दो मलूकदास होने से काव्य की प्रामाणिकता में भ्रम हो गया है। दोनों की रचनाओं में भिन्नता का कोई दृष्टिकोण नहीं है।

सुथरादास (सं० १६४०)

ये कायस्थ साधू थे और इलाहाबाद के निवासी थे। ये बाबा मलूकदास के शिष्य हो गए थे और उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। इन्होंने बाबा मलूकदास की जीवनी 'मलूक-परिचय' के नाम से लिखी। इसके अनुसार मलूकदास का जन्म सन् १५७४ में हुआ था और मृत्यु १६८२ में।

दादूदयाल (सं० १६५८)

सन्तमत में दादू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके सिद्धान्त कबीर

---

१. मलूकदास की बानी (जीवन चरित्र), पृष्ठ ८

के सिद्धान्तों से मिलते हुए भी अपनी विशेषता रखते हैं। इनके पदों और साखियों में चेतावनी का अंश बहुत अधिक है।

इनका जन्म सं० १६५८ में हुआ था।

इस प्रकार ये अकबर के समकालीन थे। दादू के शिष्य जनगोपाल ने लिखा है कि अकबर और दादू में धार्मिक वार्तालाप भी हुआ करता था।[1] गार्सां द तासी के अनुसार दादू रामानन्द की शिष्य-परम्परा में छठे शिष्य थे।[2] शिष्यों का क्रम इस प्रकार है :—

रामानन्द
|
कबीर
|
कमाल
|
जमाल
|
विमल
|
बुड्ढन
|
दादू

दादू पंथियों के अनुसार ये गुजराती ब्राह्मण थे, पर जनश्रुति

---

१. दादूर शिष्य भक्त जनगोपाल लिखियाछेन जे फतेपूर सिक्री ते सम्रा आकबर प्रायई दादूर संगे वसिया धर्म विषये गभीर आलाप करितेन।

दादू (उपक्रमणिका, पृष्ठ १

श्री क्षितिमोहन सेन (विश्व भारती, कलकत्त

२ इस्त्वार द लों लितरात्यूर ऐन्दूई ए ऐन्दूस्तानी,

भाग १, पृष्ठ ४०१।

इन्हें धुनियाँ मानती है। मोहसिन फ़ानी भी इन्हें धुनियाँ ही मानते हैं। विल्सन ने भी मोहसिन फ़ानी के मत का अनुकरण किया है। फ़र्क़्हार और ट्रेल इन्हें ब्राह्मण मानते हैं पर सुधाकर द्विवेदी का क़थन है कि दादू मोची जाति के थे और मोट बनाया करते थे। पहली स्त्री की मृत्यु होने पर ये वैरागी हो गए। इनका पहला नाम महाबली था।[1] इनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ था पर इन्होंने अपने जीवन का विशेष समय राजस्थान के नराना और भराना नामक स्थानों में व्यतीत किया। दादू इतने अधिक दयालु थे कि लोग इन्हें दादूदयाल के नाम से पुकारने लगे। इन्होंने एक अलग पंथ का निर्माण किया जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादू पंथ दो भागों में विभाजित हुआ। एक भाग में तो वे साधू हैं जो संसार से विरक्त हैं और गेरुए वस्त्र धारण करते हैं, दूसरे भाग में वे हैं जो सफेद कपड़े पहनते और व्यापार करते हैं। दादूदयाल स्वयं गृहस्थ थे। इन दोनों भागों में ५२ सिद्ध-पीठ हैं जो अखाड़ो के नाम से 'पथ' में प्रसिद्ध हैं।[2] हिन्दू मुसलमान का ऐक्य इन्होंने कबीर की भाँति ही करना चाहा। कबीर के दृष्टिकोण के अनुसार ही इनकी रचना के अंग हैं। इनकी कविता बड़ी प्रभावोत्पादिनी है। वह सरलता से हृदयंगम हो जाती है और एक आध्यात्मिक वातावरण छोड़ जाती है।

दादू ने लगभग ५,००० पद्य लिखे हैं जिनमें से बहुत से ग्रंथों मे नहीं पाये जाते। वे केवल साधु-संतों की स्मृति में हैं। दादू ने धर्म के प्रायः सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला है। मूर्ति पूजा, जाति, आचार, तीर्थव्रत, अवतार, आदि पर दादू कबीर के पूर्णतः अनुयायी हैं। डॉ० ताराचंद के अनुसार दादू ने सूफ़ीमत की व्याख्या अधिक सफलता के साथ की है। संभवतः उसका कारण यह हो कि वे कमाल के

---

१. दादूदयाल की बानी (प्रस्तावना), श्री सुधाकर द्विवेदी

२. सतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७६

शिष्य थे।[1] दादू ने गुरु का महत्त्व बहुत उत्कृष्ट बतलाया है। वे कहते हैं कि बिना गुरु के आत्मा वश में नहीं आ सकती। यदि ठीक गुरु न मिले तो पशु-पक्षी और वृक्ष ही गुरु हो सकते हैं क्योंकि इनमें भी ईश्वर की व्याप्ति है और ये मनुष्य से अधिक पवित्र और सच्चे हैं। दादूदयाल के शिष्य जनगोपाल ने दादू की एक जीवनी "जीवन परची" के नाम से लिखी है।[2] उसमें दादू ने किस वर्ष में क्या किया यह क्रमानुसार वर्णित है :—

बारह बरस बालपन खोये।
गुरु भेटैं थैं सन्मुख होये॥
साभर आये समये तीसा।
गरीब दास जनमें बत्तीसा॥
मिले बयाला अकबर साही।
कल्यानपुर पचासा जाही॥
समै गुनसठा नगर नराने।
साधे स्वामी राम समाने॥

(ग्रंथ जनगोपाल कृत, २६ विश्राम, २१-२७ चौपाई)

जनगोपाल के अतिरिक्त दादू के अन्य शिष्य रज्जब ने भी दादू के जीवन पर प्रकाश डाला है।

दादू के ५२ शिष्य थे। प्रत्येक शिष्य ने 'दादू-द्वार' की स्थापना की। इस प्रकार इस पन्थ के ५२ 'दादू द्वार' (पूजन स्थान) हैं। दादूपन्थी जब गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं तो वे 'दादूपन्थी' न कहला कर 'सेवक' कहलाते हैं। 'दादूपंथी' नाम केवल वैरागियों के लिए है। 'दादूपथ' के अतर्गत इन वैरागियों के पाँच भेद हैं :—

(१) खालसा (२) नागा (३) उत्तरादी (४) विरक्त और

---

१ इन्फ्लुएंस अव् इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, (डा० ताराचन्द)

२. दादू (श्री क्षितिमोहन सेन), उपक्रमणिका, पृष्ठ २३-२४
(विश्वभारती, कलकत्ता)

(५) खाकी। 'दादू द्वार' में दादू की 'बानी' की पूजा ठीक उसी प्रकार की जाती है जैसे किसी मन्दिर में मूर्ति की। 'दादू पंथियों' का केन्द्र प्रधानतः राजस्थान है।

वीरभान (आविर्भाव संवत् १६६०)

ये दादू के समकालीन थे। इन्होंने 'साध' या 'सतनामी' पंथ की स्थापना की। इनका जन्म संवत् १६०० में बिजेसर (नारनौल, पंजाब) में हुआ था। ये रैदास की परम्परा मे ऊधोदास के शिष्य थे। इसीलिए ये अपने को "ऊधो का दास" लिखते थे। इन्होंने गुरु का महत्त्व बहुत माना है। उसे ये ईश्वर की इच्छा का अवतार समझते थे, इसीलिए ऊधोदास को ये "मालिक का हुक्म" लिखते थे। इनके अनुसार ईश्वर का नाम 'सत्यनाम' है। इसीलिए इनके पंथ का नाम 'सतनामी' है। इस पंथ मे जाति का कोई बंधन नहीं है। सब समान रूप से साथ खा सकते और विवाह कर सकते हैं। मांसाहार वर्ज्य है और मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस पंथ का पूज्य ग्रन्थ 'पोथी' है। यह पंथ मे 'गुरु ग्रंथ साहिब' की भाँति ही पूज्य है। यह 'जुमलाघर' या 'चौकी' मे सुरक्षित रहता है और वहीं से पढ़ा जाता है। इस 'पोथी' की अनेक शिक्षाओं में १२ हुक्म प्रधान हैं, जो 'आदि उपदेश' में लिखे गए हैं।

'सतनामी पंथ' का नाम राजनीति के इतिहास में भी स्मरणीय है। औरंगजेब के शासन-काल में 'सतनामी पंथ' ने सन् १६७२ मे एक बलवे का रूप लिया था।[1] अंत में औरंगजेब की सेना ने २००० सतनामियों को रणक्षेत्र में मार कर इस पंथ को बहुत निर्बल कर दिया था। ऐतिहासिक खाफ़ी खाँ ने सतनामियों की बड़ी तारीफ़ की है :—

"ये भक्त की वेषभूषा में रहते हैं, पर कृषि और व्यापार करते हैं

१. हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ६२६-६२७ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

(यद्यपि अल्प मात्रा ही में)। धर्म के सम्बन्ध में इन्होंने अपने को 'सतनाम' से विभूषित कर रक्खा है। ये सात्विक रूप से ही धन प्राप्त करने के पक्ष में हैं। यदि कोई अन्याय या अत्याचार करता है तो ये उसे सहन नहीं कर सकते। बहुत से शस्त्र भी धारण करते हैं।[1]

ये मुण्डिया' भी कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने सिर पर एक बाल भी नहीं रखते। ये हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद भाव नहीं मानते।

इस पथ के केन्द्र दिल्ली, रोहतक (पजाब), आगरा, फर्रुखाबाद, जयपुर (राजपूताना) और मिर्जापुर में हैं।

धरणीदास (सं० १६७२)

श्री बाबू राजवल्लभ सहाय की कृपा से धरणीदास जी कृत 'प्रेम प्रगास की एक हस्तलिखित प्रति डा० उदयनारायण तिवारी को मांझी (सारन) के पुस्तकालय में मिली थी। इसमें अनुलिपि की तिथि भाद्र शुक्ल ६ नवमी सन् १२८१ फसली दी गई है। यह प्रति मॉंझी की श्रीमती जानकी दासी उर्फ बर्ता कुँवरि के लिये महत रामदास द्वारा तैयार गई की थी।

धरणीदास की मातृभाषा भोजपुरी थी। इसी कारण 'प्रेम प्रगास' मे भोजपुरी के कतिपय पद्य मिलते हैं। इसमें कहीं भी इनकी जन्म तिथि नहीं दी गई है किंतु सन्यास लेने की निम्नलिखित तिथि अवश्य उपलब्ध है :—

सवत् सत्रह से चलि गैऊ,
तेरह अधिक ताहि पर भैऊ।
शाहजहाँ छोड़ी दुनियाई,
पसरी औरंगजेब दोहाई।
सोच विचार आत्मा जागी,
धरनी धरेउ भेष वैरागी।

ऊपर के पद में "शाहजहाँ छोड़ी दुनियाई" से उसकी मृत्यु से तात्पर्य नहीं है। वस्तुतः शाहजहाँ की मृत्यु सन् १६६६ (संवत् १७२३) में हुई थी, किंतु सन् १६५७ के सितम्बर (संवत् १७१४) में वह बीमार पड़ा और इसके पश्चात् ही उसके पुत्रों मे राज्य के लिये युद्ध प्रारम्भ हो गया था, इस युद्ध में औरंगजेब विजयी हुआ और उसने अपने पिता को कैद कर लिया था। वास्तव में बीमारी के पश्चात् ही शाहजहाँ एक प्रकार से अधिकार-च्युत हो गया था। ऊपर के पद में इसी ओर धरणीदास जी का संकेत है।

इसी प्रकार जब हम सन्यास लेने इस तिथि को स्वीकार कर लेते हैं तो निश्चित रूप से धरणीदास जी की जन्म तिथि इसके पहले होगी। यदि उन्होंने चालीस वर्ष की अवस्था में संन्यास लिया हो तो उनकी जन्म तिथि सवत् १६७३ के लगभग होगी।

इनका जन्म माँझी गाँव (जिला छपरा) में हुआ। ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे। धरणीदास के पिता परसराम दास थे, जो खेती का काम करते थे। धरणीदास माँझी के बाबू के दीवान थे। अपने काम में सतर्क रहते हुए भी ये संत थे। एक बार इन्होंने अपने काम के कागजों पर पानी से भरा लोटा लुढ़का दिया और पूछने पर उत्तर दिया कि जगन्नाथ जी के वस्त्रों में आरती के समय आग लग गई थी उसी को मैंने इस प्रकार बुझा दिया। बाबू ने इसे असत्य समझ कर इन्हें निकाल दिया। बाद में पता लगाने पर जब यह घटना सत्य बतलाई गई तो उन्होंने धरणीदास जी को फिर से नौकर रखना चाहा जिसे इन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस घटना के बाद धरणीदास जी साधू हो गए।

गृहस्थाश्रम मे इनके गुरु चंद्रदास थे और सन्यास मे सेवानन्द। धरणीदास के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे इनका महत्त्व प्रकट होता है। यहाँ उन कथाओं को लिखने की आवश्यकता नहीं। ये सर्व-मान्य सुन्दर कवि और सच्चे भक्त थे। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं, 'प्रेम-प्रकाश' और 'सत्य

प्रकाश'। इनसे प्रेम में विरह का विशेष स्थान है। रागों में इन्होंने बहुत सुन्दर शब्द कहे हैं। इनकी 'चेतावनी-गर्भ लीला' में कबीर का 'रेख़ता' प्रयुक्त है। इन्होंने कवित्त-सवैया भी लिखे हैं। कबीर की भाँति इनका 'ककहरा' भी प्रसिद्ध है। इनकी भाषा पर पूर्वी प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। ये फ़ारसी भी ख़ूब जानते थे। 'अलिफ़नामा' में इनके फारसी का ज्ञान देखा जा सकता है। इनका 'बारहमासा' दोहों मे कहा हुआ है।

लालदास (संवत् १७००)

ये विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में हुए। ये अलवर के निवासी थे। इनके उपदेश कबीर के सिद्धान्तों के आधार पर ही हैं। इन्होंने 'लालदासी पथ' की स्थापना की जिसके अनुयायी गृहस्थाश्रम का पालन कर सकते हैं। कीर्तन का स्थान लालदासी पंथ' में बहुत ऊँचा माना गया है। इनके उपदेश इनकी बानी में संग्रहीत हैं।

बाबालाल (संवत् १७००)

बाबालाल लालदास के समकालीन थे। ये क्षत्रिय थे और मालवा में उत्पन्न हुए थे। इनके समय में जहाँगीर राज्य सिंहासन पर था। दाराशिकोह इनका शिष्य था, जिसने इनसे अनेक धार्मिक समस्याओं पर परामर्श लिया। इसका निर्देश फ़ारसी ग्रंथ 'नादिर-उन नुकात' में है। यह निर्देश दाराशिकोह और बाबालाल के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में है।

बाबालाल ने अन्त में देहनपुर (सिरहिन्द) में अपने जीवन का अंतिम भाग व्यतीत किया।

हरिदास (संवत् १७००)

ये 'नारायणी पथ' के प्रवर्त्तक थे। यद्यपि इस पंथ के ईश्वर का नाम नारायण है, तथापि इसमे ईश्वर की साकार भावना नहीं है। न तो इस पंथ में मूर्तिपूजा है और न किसी प्रकार का पूजनाचार ही।

नारायणी वैरागियों का संसार से कोई सम्पर्क नहीं है—एकान्त निवास ही उनका नियम है।[1]

संवत् १७०० के लगभग और भी संत हुए जिनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :—

शिवरीना शिदायी, हरिराम पुरी, जदु, प्रतापमल, बिनावली (हीरामन कायस्थ के पुत्र), आज़ादह (ब्राह्मण) और मिहिरचन्द (सुनार)।[2]

स्वामी प्राणनाथ (आविर्भाव संवत् १७१०)

ये बुन्देलखंड के सब से बड़े और प्रभावशाली सन्त थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ था। इनके पिता खेमजी थे जो जामनगर (काठियावाड़) के निवासी थे। इन्होंने अधिकतर बुन्देल-खंड ही में पर्यटन किया और धर्म की अन्धपरम्पराओं के विरुद्ध निर्भीक प्रचार किया। ये बाद में मथुरा चले गए और वहाँ धनी देवचंद के शिष्य हो गए। इनकी मृत्यु संवत् १७७१ में हुई।

प्राणनाथ जी ने स्थान स्थान में घूम कर धार्मिक मतभेद और जाति-पाँति का निराकरण किया। इस दृष्टि से ये निर्गुणवाद के बहुत समीप थे। इनके मत के दो सम्प्रदाय हैं, 'प्रनामी' और 'धामी'। जो स्वयं प्राणनाथ जी से दीक्षित हुए थे और जाति-पाँति का भेद न मान कर अंतर्जातीय विवाह करते थे, वे 'प्रनामी' सम्प्रदाय के अंतर्गत थे। जो उनके मतानुयायी होते हुए भी जाति-पाँति की व्यवस्था मानते थे वे 'धामी' कहलाते थे। स्वामी प्राणनाथ के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम "कुलजम स्वरूप" है जो 'गुरु ग्रन्थ साहब' के समान सम्प्रदाय में पूज्य है। अन्य मतावलम्बियों के लिये यह ग्रंथ अलभ्य

---

१ दबिस्तान ए-मज़ाहिब, पृष्ठ २१२

२. इन्फ्लुएंस ऑव् इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृष्ठ १६७

(डा॰ ताराचन्द)

अदृश्य है। इसमें स्वामी प्राणनाथ के सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन है।

ये इस्लाम के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थे और हिन्दू और मुसलमान का भेद हटा देना चाहते थे। अपने 'कुलजम स्वरूप' में इन्होंने वेद और क़ुरान का निर्देश देकर सिद्ध करना चाहा है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ये मूर्तिपूजा, जाति-भेद और ब्राह्मण कुल-पूज्यता को हटा देना चाहते थे।

ये पन्ना के महाराज छत्रसाल के विशेष कृपा-पात्र थे, क्योंकि इन्हीं की कृपा से महाराज छत्रसाल को एक हीरे की खान का पता मिला था।

रज्जब (आविर्भाव संवत् १७१०)

ये दादूपंथी थे। इनका 'छप्पय' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। यह छप्पय छंद में लिखा गया है। इनका आविर्भाव काल संवत् १७१० है। छप्पय ग्रंथ में दादूपंथ के सिद्धान्तों का सरलता से वर्णन किया गया है।

सुन्दरदास (सं० १७१०)

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे। इनका जन्म सं १७१० में जयपुर की पहली राजधानी द्यौसा नगर में हुआ था। ये जाति के खंडेलवाल बनिया थे। बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। हिन्दी, पंजाबी, गुजराती मारवाड़ी, संस्कृत और फ़ारसी पर समान अधिकार रखते थे। संस्कृत के पंडित होते हुए भी ये हिन्दी में कविता लिखते थे, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना ही था। ये बहुत सुन्दर थे, इसी कारण शायद दादू ने इनका नाम 'सुन्दर' रख दिया था। ये छः वर्ष की अवस्था से ही दादू के साथ हो गए थे। जब नारायणा में दादू का देहावसान संवत् १६६० में हुआ तो ये वहाँ से चल कर डीडवाणे में रहे और वहाँ से काशी चले आए। काशी में इन्होंने बहुत विद्याध्ययन किया और साधु-महात्माओं का

साहचर्य प्राप्त किया। इसके बाद ये फतहपुर शेखावाटी चले आए, यहाँ इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की और बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी मृत्यु साँगनेर (जयपुर) में संवत १६४६ में हुई। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह पद्य प्रसिद्ध है :—

संवत् सत्रह से छीयाला, कातिक सुदि अष्टमी उजाला।
तीजे पहर भरस्पति वार, सुन्दर मिलिया सुन्दर सार।

सुन्दरदास बहुत बड़े पंडित थे। ये सन्तमत के अन्य कवियों की भाँति साधारण और सरल कविता करने वाले नहीं थे। इनकी रचनाओं में काव्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान है। इंदव, मनहरण, हंसाल, दुमिल छंद बहुत ललित और प्रवाहयुक्त हैं। अनेक प्रकार का काव्य-कौशल इनकी कविता में रत्नराशि के समान सजा हुआ है। कहीं रस-निरूपण है तो कहीं अलंकारों की सृष्टि। ये शृङ्गार रस के बहुत विरुद्ध थे और उसे छोड़ अन्य रसों के वर्णन में इनकी प्रतिभा ख़ूब प्रस्फुटित हुई है। इनके पर्यटन ने इनके अनुभव को और बढ़ा दिया था और इन्होंने सभी स्थानों के विषय में रचनाएँ की। इनके "दशों दिशा के सवैया" इसके प्रमाणस्वरूप दिये जा सकते हैं।

इनके ग्रंथों में 'ज्ञान समुद्र' (पाँच उल्लासों में), सुन्दरविलास' (३४ अंगों में) और 'पद' (२७ राग-रागिनियों में) विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पूर्वी भाषा बरवै में भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य ख़ूब प्रदर्शित किया है। संत होते हुए भी ये हास्य रस के विशेष प्रेमी थे, जिससे इनकी वेदांत की गंभीरता मनोरंजन में परिणत हो जाती है। इन्होंने शृंगार रस के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है! नारी की निन्दा इन्होंने जी खोल कर की है। इसके विपरीत सांख्य ज्ञान और अद्वैत वाद ज्ञान का निरूपण इन्होंने बड़े विशद रूप में किया है। आत्म-अनुभव तो इनकी निज की सम्पत्ति है।

सुन्दरदास दादूदयाल से आयु में सब से छोटे शिष्य थे पर

प्रसिद्धि में सब से बड़े। इनके शिष्यों की पाँच गद्दियाँ कही जाती हैं जो फतेहपुर और राजस्थान में हैं।[1] इनके पाँच शिष्य प्रसिद्ध हैं :—
१—टिकैतदास, २—श्यामदास, ३—दामोदरदास, ४—निमलदास और ५—नारायणदास।

यारी साहब (सं० १७२५)

यारी साहब बीरू साहब के शिष्य थे। ये जाति के मुसलमान थे और दिल्ली में निवास करते थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १७२५ से १७८० तक माना गया है। इनके शिष्य का नाम बुल्ला साहब था, जो भुरकुड़ा निवासी थे। इनके नाम से कोई विशेष पथ नही चला। इनका प्रभाव अधिकतर दिल्ली, गाजीपुर और बलिया आदि जिलों में है।

इनकी रचना सरल और सरस है। उसमे भाषा का बहुत चलता हुआ रूप है। इनके शब्द बहुत लोकप्रिय हैं जिनमें निर्गुण ब्रह्म का निरूपण है। 'सत्गुरु' और 'सुन्न' पर इनकी रचनायें बहुत विस्तार-पर्वक हैं। इन्होंने 'अलिफ़नामा' में फारसी का ककहरा लिखा है और प्रत्येक अक्षर से ज्ञान निरूपण किया है। इनके कवित्त और झूलने भी अपनी सरसता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने झूलनों में सूफ़ीमत के 'मलकूत' आदि शब्दों की व्याख्या की है। इनकी साखियों मे अधिकतर "जोति सरूपा आतमा" का वर्णन है।

दरिया साहब (बिहार वाले सं० १७३१)

अपने पथ मे दरिया साहब कबीर के अवतार माने जाते हैं। इनकी जन्म तिथि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में 'दरियासागर' में दो दोहे हैं :—

भादों बदी चौथि बार सुक्र, गवन कियो छप लोक।
जो जन सब्द विवेकिया, मेटेउ सकल सब सोक॥

---

१ संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १०६

संवत अठारह सै सैंतीस, भादौं चौथि अँधार ।
सवा जाम जब रैन गो, दरिया गौन विचार ॥

इसके अनुसार इनका मृत्यु संवत् १८३७ निकलता है । दरिया पंथियों का कथन है कि दरिया साहब ने १०६ वर्ष की आयु पाई ।[१] यदि यह कथन सत्य माना जावे तो इनका जन्म संवत् १७३१ निश्चित होगा। इनका जन्म धरकंधा (आरा) में हुआ था और इनके पिता का नाम पीरन शाह था ।

दरिया साहब ने अपने जीवन का अधिकांश धरकंधा में ही व्यतीत किया। काशी और विहार में इन्होंने कुछ पर्यटन अवश्य किया, पर ये फिर धरकंधा चले आए। बाल्यावस्था से ही ये भक्ति और वैराग्य में लीन थे। विवाह होने पर भी इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नही किया। ये सदैव विरक्त ही रहे ।

इनके ग्रथों की सख्या काफी बडी है। इनमें दो ग्रथ प्रधान हैं, 'दरिया-सागर' और 'ज्ञान दीपक'। 'ज्ञान दीपक' मे तो इन्होंने अपना जीवन वृत्तान्त ही लिखा है। 'दरिया सागर' की शैली बहुत कुछ 'मानस' की शैली के समान है। उसमे दोहे, चौपाई और स्थान स्थान पर हरिगीतिका छंद हैं। समस्त ग्रंथ मे निर्गुण ब्रह्म ही का निरूपण किया गया है। अपने स्फुट शब्दो मे इन्होंने बसत, होली और आरती इत्यादि का वर्णन ख़ूब किया है। इन्होंने अष्टपदी—रेख़तों की भी रचना की है। इनकी भाषा बहुत साधारण है। शब्दों के रूप भी विकृत किये गए हैं, जैसे घोड़ा का घोड़ला[२], विवेक का बीवेक[३] आदि।

दरिया साहब ने अपना पंथ अलग चलाया जो 'दरिया पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस पंथ मे प्रवेश करने का विशेष

---

१. दरियासागर (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद), पृष्ठ ७५

२ दरिया साहब के चुने हुए पद और साखी, पृष्ठ ११

३. वही, पृष्ठ १५

नाम 'तख्त पर बैठना' है। इस पंथ की चार गद्दियाँ प्रसिद्ध हैं जो तेलपा, दैसी, मिर्ज़ापुर (छपरा) और मनुवाँ चौकी (मुज़फ्फरपुर) में हैं। दरियासाहब के ३६ शिष्य थे जिनमें प्रधान थे दलदास जी। दरियापंथी अधिकतर बिहार, गोरखपुर और कटक में पाये जाते हैं।

दरिया साहब (मारवाड़ वाले संवत् १७३३)

ये जैतारन (मारवाड़) के निवासी और जाति के धुनियाँ थे।[1] इनका जन्म संवत् १७३३ में हुआ था। इनके गुरु का नाम प्रेम जी था। सात वर्ष की अवस्था में इनके पिता की मृत्यु होने पर ये रैन नामक गाँव में चले आए। इनके समकालीन मारवाड़ के राजा बख्तसिंह थे जो एक असाध्य रोग से पीड़ित थे। दरिया साहब की कृपा से वे शीघ्र ही अच्छे हो गए। उस समय से दरिया साहब की बहुत प्रसिद्धि हो गई।

मारवाड़ में दरियापंथी बहुत संख्या में हैं। ये दरियापंथी बिहार के दरिया साहब के पंथ के अनुयायियों से बहुत भिन्न हैं। मारवाड़ वाले दरिया साहब ने अधिकतर साखियाँ लिखी हैं। इन्होंने अपने शब्दों में कबीर की उल्टबाँसियों का अनुकरण किया है। इन्होंने अपने अराध्य को 'राम' के नाम से पुकारा है, यद्यपि वह 'राम' आदि और निराकार ब्रह्म है। इनकी बानी में विरह का भी यथेष्ट अंग है। इनके शब्द रागों से सम्बद्ध हैं। ज्ञात होता है, कविता के क्षेत्र में ये कबीर को ही अपना गुरु मानते थे।

बुल्लासाहब (आविर्भाव सं० १७५०)

ये यारी साहब के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १७५०

---

१ जो धुनियाँ तो भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मति हीना,
तुम भी हो सिरताज हमारा॥

दरिया साहब की बानी, पृष्ठ ५७

और १८२५ के बीच में माना गया है। इनका वास्तविक नाम बुलाकीराम था और ये जाति के कुनबी थे। पहले गुलाल साहब के यहाँ नौकर थे, पर इनकी भगवद्भक्ति देख कर गुलाल साहब स्वयं इनके शिष्य हो गए। ये भुरकुड़ा (गाजीपुर) के निवासी थे और अन्त समय तक वहीं रहे। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है :—

बावरी साहब
|
बीरू साहब
|
यारी साहब
|
बुल्ला साहब
|
गुलाल साहब
|
भीखा साहब[1]

इनकी भाषा पूरबी है। आजु भयल अवधूता, गगन-मंडल में हरिरस चाखन्ह, आदि प्रयोग इनकी रचना में बहुत पाये जाते हैं। इन्होंने बसन्त, होली, आरती, हिंडोला आदि बहुत लिखे हैं। रेखता और झूलना भी इन्हें विशेष प्रिय हैं। इनके अधिकांश शब्दों में 'सुरत' और 'दसम द्वार' का वर्णन है। हठयोग में इनकी विशेष आस्था है। प्राणायाम के सहारे ये ध्यान के पक्ष में हैं। इनके शेष पदों में चेतावनी और उपदेश हैं। इन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती भक्त-कवियों का निर्देश किया है :—

---

१. बुल्ला साहब का शब्दसार (जीवन-चरित्र), पृष्ठ १

खेले नाभा और कबीर, खेले नानक बड़े धीर ।
दसम द्वार पर दरस होय, जन बुल्ला देखे आयु सोय ॥[1]

गुलाल साहब (आविर्भाव सं० १७५०)

गुलाल साहब का वास्तविक नाम गोविन्द साहब था। ये बुल्ला साहब के शिष्य थे। बुल्ला साहब पहले गुलाल साहब के नौकर थे। बाद में अपने नौकर की भगवद्भक्ति देख कर गुलाल साहब उनके शिष्य हो गए। गुलाल साहब क्षत्रिय थे और इनका आविर्भाव काल सं० १७५० से १८०० तक माना जाता है। गुलाल साहब बसहरि (गाजीपुर) में जमींदार थे। इन्होंने गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनकी गद्दी भुरकुड़ा गाँव में ही थी, जो बसहरि के अन्तर्गत है। शिष्य परम्परा में भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य माने गए हैं। गुलाल साहब के शब्द प्रसिद्ध हैं। इन्होंने प्रेम पर बड़ी सरस रचनाएँ की हैं। यह प्रेम कबीर के रहस्यवाद का ही प्रेम है। इनकी भाषा पर पूर्वीपन की छाप है :—

सुन सिखर चढि जाइब हो,[2]
करल लिलआ पपवा भागल हो सजनी[3]
अविगत जागल हो सजनी[4]

इन्होंने 'बारहमासा' और 'हिंडोला' भी लिखे हैं, जिनमें निराकार ब्रह्म का वर्णन है। इनके 'होली' और 'बसंत' में आध्यात्मिक शृङ्गार की बड़ी मनोहर छटा है। इनके 'रेखते', 'मगल' और 'आरती' में कबीर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

---

१ वही, पृष्ठ १८
२ गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ ४१
३ वही, पृष्ठ २६
४ वही, पृष्ठ २६

केशवदास (आविर्भाव संवत् १७५०)

इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवरण नहीं मिलता। ये जाति के बनिये और यारी साहब के शिष्य और बुल्ला साहब के गुरुभाई थे। यारी साहब का काल संवत् १७२५ से १७८० तक[1] माना गया है और बुल्लासाहब का सं० १७५० से १८२५ तक।[2] इन तिथियों के अनुसार केशवदास का समय संवत् १७५० के आस-पास ही मानना चाहिए। इनका एक ही ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, उसका नाम है 'अमीघूँट'। 'अमीघूँट' की भाषा कहीं मारवाड़ी और कहीं पूर्वी हिन्दी के प्रभाव से प्रभावित है।

> पिय थारे रूप लुभानी हो।
>
> म्हारे हरि जू सूँ जुरलि लगाई हो। आदि

इनके फुटकर शब्द बड़े प्रभावशाली हैं। उनके रेख़ते फारसी शब्दों से पूर्ण हैं। ज्ञात होता है, केशवदास अपनी भाषा के प्रयोग में बड़े स्वतन्त्र थे। भावों में 'सुन्न' 'गगन' और 'पाँच-पचीस' ही का उल्लेख अधिक है।

चरनदास (सं० १७६०)

ये संत देहरा (अलवर) के निवासी थे। इनके पिता का नाम मुरली था जो धूसर बनिया थे। ये गृहस्थ थे और इनके शिष्यों में दयाबाई और सहजोबाई का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म संवत् १७६० में हुआ। सहजोबाई ने भी इनका यही जन्म संवत् माना है। इनके चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं —'अमरलोक', 'अखंड धाम' 'भक्ति पदारथ', 'ज्ञान सरोदय' और 'शब्द'। इनकी रचना साधारण है, पर योग सिद्धान्त उत्तम प्रकार के वर्णित हैं। इन्होंने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्य, शील आदि सद्गुणों का विशेष वर्णन किया है तथा विविध विषयों पर भक्तिपूर्ण उपदेश दिए हैं। इनकी विचार-धारा

---

१. यारी साहब की रत्नावली (जीवन-चरित्र), पृष्ठ १

२. बुल्लासाहब का शब्द सागर (जीवन चरित्र), पृष्ठ १

कबीर के सिद्धान्तों के आधार पर ही है। गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा माना गया है। चरणदास ने मूर्तिपूजा का भी तिरस्कार किया है। इनका वास्तविक नाम रणजीत था। बाल्यावस्था ही में इन्होंने सुखदेव नामक साधु से दीक्षा लेकर अपना नाम चरणदास रख लिया था। संत-साहित्य में चरणदास जी का विशेष स्थान है।

बालकृष्ण नायक (आविर्भाव सं० १७६५)

इनका आविर्भाव-काल सं० १७६५ माना जाता है। ये चरणदास के शिष्य थे। इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 'ध्यान मंजरी' और 'नेह प्रकाशिका' मुख्य हैं। रचना सरस और प्रौढ़ है। 'ध्यानमंजरी' में श्री सीताराम की युगल मूर्ति की शोभा और ध्यान संक्षेप में है और 'नेह प्रकाशिका' मे श्री सीता जी का अपनी सखियों के साथ विहार करना वर्णित है। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि निर्गुण पंथ की परम्परा में होकर बालकृष्ण ने विष्णु के साकार रूप की उपासना की।

श्री अक्षर अनन्य (सवत् १७६७)

ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे और दतिया के निवासी थे। ये महाराज छत्रपाल के समकालीन दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। एक बार ये रुष्ट हो गए और दरबार से चले गए। राजा साहब उन्हें मनाने के लिए गए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि अक्षर जी पैर पसारे पड़े हुए हैं। राजा साहब ने कहा—'पाँव पसारा कब से ?' अक्षर जी ने उत्तर दिया "हाथ समेटा जब से" अर्थात् जब से संसार से वैराग्य लिया। महाराज पन्ना ने भी इन्हें आमंत्रित किया, पर ये नहीं गए।

ये वेदान्त के ज्ञाता थे और इन्होंने 'दुर्गा सप्तशती' का अनुवाद हिन्दी कविता में किया। इनके निम्न लिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं :—

'राज योग' 'विज्ञान योग' 'ध्यान योग' 'सिद्धान्त बोध' 'विवेक दीपिका' 'ब्रह्मज्ञान' और 'अनन्य प्रकाश'। इन्होंने पद्धरि छंद का

विशेष प्रयोग किया है और साधन के दृष्टिकोण से राजयोग का विशद वर्णन किया है।

भीखा साहब (सं० १७७०)

भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य थे। जाति के ब्राह्मण थे। इनका वास्तविक नाम भीखानंद था। इनका जन्म लगभग सं० १७५० में माना जाता है। ये आज़मगढ़ के खानपुर बोहना नामक स्थान में हुए।

बाल्यावस्था से ही ये सरल और धार्मिक प्रवृत्ति के थे। फलतः ये बारह वर्ष की अवस्था ही में गुरु की खोज में निकल पड़े और इन्होंने गुलाल साहब को गुरु मान कर भुरकुड़ा में उनसे दीक्षा प्राप्त की। अपने गुरु सम्बन्ध में ये स्वयं लिखते हैं :—

> इक मुरद बहुत विचित्र सुनत भोग रूछेउ है कहां।
> नियरे भुरकुडा ग्राम जाके सब्द आये है तहा॥
> चोप लागी बहुत जायके चरन पर सिर नाइया।
> पूछेउ कहः कहि दियो आदर सहित मोहि बैठाइया॥
> गुरु भाव बूझि मगन भयो मानो जन्म को फल पाइया।
> लखि प्रीति दरद दयाल दरवें आपनो अपनाइया॥[१]

भीखा साहब बारह वर्ष तक अपने गुरु गुलाल साहब के पास रहे। उनकी मृत्यु के बाद ये स्वयं गद्दी के उत्तराधिकारी हुए और उपदेश देते रहे। इनके अनेक ग्रंथों में 'राम जहाज' नामक ग्रंथ बहुत बड़ा है और उसमें इनके सभी सिद्धान्तों का निरूपण है। इनके विषय में अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनसे भीखा साहब के महत्त्व की ही घोषणा होती है।

भीखा साहब के पंथ के अनुयायी अधिकतर बलिया ज़िले में हैं। इनका उपदेश-स्थान भुरकुड़ा तो भीखा-पंथियों का तीर्थ ही

---

१. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १७

है। इनकी मृत्यु लगभग पचास वर्ष की अवस्था (संवत् १८२०) में हुई।

इन्होंने ईश्वर को 'राम' और 'हरि' नाम से अधिकतर पुकारा है। पर 'अनहद नाद गगन घहरानों' की ध्वनि ही इनकी रचना में गूँजती है। गुरु और नाम महिमा पर भी इन्होंने बहुत लिखा है। इन्होंने भी होली, बसन्त आदि पर रचना की है। इनके कवित्त और रेख़तों मे पाप और पुण्य की अच्छी विवेचना की गई है। इन्होंने कुछ कुंडलियाँ भी लिखी हैं और अलिफनामा और ककहरा दोनों ही में अपना ज्ञान निरूपित किया है। इनकी रचनाओं में उपदेश का स्थान अधिक है।

गरीबदास (संवत् १७७४)

इन्होंने छुड़ानी (रोहतक) में संवत् १७७४ में जन्म लिया। ये जाति के जाट थे और प्रारम्भ से ही भक्त थे। आगे चल कर ये एक नवीन पथ के प्रवर्त्तक हुए और जीवन भर गृहस्थ रह कर अपने सिद्धान्तों का उपदेश करते रहे। ये चरनदास के समकालीन थे। इनकी रचना सत्तरह हजार पद्यों में कही जाती है जिसमे से केवल एक चतुर्थांश ही मिली है। ये कबीर के बड़े भक्त थे। इन्होंने अपनी 'बानी' में कबीर के जीवन पर भी प्रकाश डाला है। इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं।

गरीबदास ने अपने पूर्ववर्ती भक्तों का परिचय इस प्रकार दिया है —

दो कौड़ी का जीव था सेना जात गुलाम।
भगति हेत गृह आइया धरा सरूप हजाम॥
पीपा का परचा हुआ मिले भक्त भगवान।
सीता सग जोवत रही द्वारावती निधान॥
धना भगत की धुन लगी बीज दिया जिन्ह आन।
सूखा खेत हरा हुआ ककर बोये जान॥

रैदास रंगीला रंग है दिये जनेऊ तोड़ ।
जग्य ज्योनार चोले धरे इक रैदास इक गौड़ ॥
माँझी मरद कबीर है जगत करै उपहास ।
केसो बनजारा भया, भगत बड़ाई दास ॥[१]
निश्चय ही से देवल फेरा पूजो क्यों न पहारा ।
नामदेव दरवाजे बैठा पडित के पिछवारा ॥[२]
नरसी की तो हुंडी झाली कागज सीस चढ़ाया ।
ध्योती का तो व्याह भया जब भात भरन कूँ आया ॥
तिरलोचन के भये बिरतिया ऐसी भक्ति कमाई ।
संतों के तो नाल फिरे अरु तीन लोक ठकुराई ॥[३]

गरीबदास ने अनेक प्रकार की रचनाएँ कीं जिनमें साखी, सवैया, रेखता, झूलना, अरिल, बैंत, रमैनी, आरती, और अनेक प्रकार के राग हैं। कबीर की रचना की भाँति गरीबदास की रचना भी बहुमुखी है। भाषा के सम्बन्ध में इन्होंने बड़ी स्वतंत्रता ली है। फ़ारसी और अरबी के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। अध्यात्मवाद की दृष्टि से गरीबदास की कविता कबीर की कविता से बहुत साम्य रखती है। स्मरण और गुरुदेव के लिए गरीबदास की कविता मे बहुत ज़ोर दिया गया है।

गरीबदासी पंथ के बहुत से अनुयायी हैं जो पंजाब में रहते हैं। आज भी छुड़ानी (रोहतक) मे फाल्गुन मास में गरीबदासियों का मेला लगता है ।[४]

---

१. गरीबदास जी की बानी, पृष्ठ १२

२. वही, पृष्ठ ७८

३. वही, पृष्ठ ८०-८१

४. वही, जीवन-चरित, पृष्ठ २

है । इनकी मृत्यु लगभग पचास वर्ष की अवस्था (संवत् १८२०) में हुई ।

इन्होंने ईश्वर को 'राम' और 'हरि' नाम से अधिकतर पुकारा है । पर अनहद नाद गगन घहरानों' की ध्वनि ही इनकी रचना में गूँजती है । गुरु और नाम महिमा पर भी इन्होंने बहुत लिखा है । इन्होंने भी होली, बसन्त आदि पर रचना की है । इनके कवित्त और रेख़्तों में पाप और पुण्य की अच्छी विवेचना की गई है । इन्होंने कुछ कुंडलियाँ भी लिखी हैं और अलिफनामा और ककहरा दोनों ही में अपना ज्ञान निरूपित किया है । इनकी रचनाओं में उपदेश का स्थान अधिक है ।

गरीबदास (संवत् १७७४)

इन्होंने छुड़ानी (रोहतक) में संवत् १७७४ मे जन्म लिया । ये जाति के जाट थे और प्रारम्भ से ही भक्त थे । आगे चल कर ये एक नवीन पथ के प्रवर्त्तक हुए और जीवन भर गृहस्थ रह कर अपने सिद्धान्तों का उपदेश करते रहे । ये चरनदास के समकालीन थे । इनकी रचना सत्तरह हजार पद्यों में कही जाती है जिसमे से केवल एक चतुर्थांश ही मिली है । ये कबीर के बड़े भक्त थे । इन्होंने अपनी 'बानी' में कबीर के जीवन पर भी प्रकाश डाला है । इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं ।

गरीबदास ने अपने पूर्ववर्ती भक्तों का परिचय इस प्रकार दिया है —

दो कौड़ी का जीव था सेना जात गुलाम ।
भगति हेत गह आइया धरा सरूप हजाम ॥
पीपा का परचा हुआ मिले भक्त भगवान ।
सीता संग जोवत रही द्वारावती निधान ॥
धना भगत की धुन लगी बीज दिया जिन्ह दान ।
सूखा खेत हरा हुआ कंकर बोये जान ॥

रैदास रंगीला रंग है दिये जनेऊ तोड़ ।
जग्य ज्योनार चोले धरे इक रैदास इक गौड़ ॥
मांझी मरद कबीर है जगत करै उपहास ।
केसो बनजारा भया, भगत बड़ाई दास ॥[१]
निश्चय ही से देवल फेरा पूजो क्यों न पहारा ।
नामदेव दरवाजे बैठा पंडित के पिछवारा ॥[२]
नरसी की तो हुंडी झाली कागज सीस चढ़ाया ।
ध्योती का तो ब्याह भया जब भात भरन कूँ आया ॥
तिरलोचन के भये बिरतिया ऐसी भक्ति कमाई ।
संतों के तो नाल फिरे अरु तीन लोक ठकुराई ॥[३]

गरीबदास ने अनेक प्रकार की रचनाएँ कीं जिनमें साखी, सवैया, रेखता, झूलना, अरिल, बैत, रमैनी, आरती, और अनेक प्रकार के राग हैं। कबीर की रचना की भाँति गरीबदास की रचना भी बहुमुखी है। भाषा के सम्बन्ध में इन्होंने बड़ी स्वतंत्रता ली है। फ़ारसी और अरबी के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। अध्यात्मवाद की दृष्टि से गरीबदास की कविता कबीर की कविता से बहुत साम्य रखती है। स्मरण और गुरुदेव के लिए गरीबदास की कविता में बहुत जोर दिया गया है।

गरीबदासी पंथ के बहुत से अनुयायी हैं जो पंजाब में रहते हैं। आज भी छुड़ानी (रोहतक) मे फाल्गुन मास में गरीबदासियों का मेला लगता है ।[४]

---

१. गरीबदास जी की बानी, पृष्ठ १२

२. वही, पृष्ठ ७८

३. वही, पृष्ठ ८०-८१

४. वही, जीवन-चरित, पृष्ठ २

जगजीवनदास (आविर्भाव सं० १७७५)

इनका जन्म संवत् १७२१ में सारदाह (बाराबंकी) में हुआ था। ये जाति के चंदेल ठाकुर थे। इन्होंने अपने जीवन का विशेष भाग कोटवा (बाराबंकी और लखनऊ के मध्य में) व्यतीत किया था। ये कबीर से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। इन्होंने जाति-बन्धन को दूर करने के लिए भी भिन्न-भिन्न जातियों से शिष्य चुने थे। इनके शिष्यों में दो मुसलमान भी कहे जाते हैं। इन्होंने सतनामियों में पुनः जागृति उत्पन्न की। जो सतनामी पथ के अनुयायी औरंगजेब के भय से तितर-बितर हो गए थे उनका संगठन पुनः जगजीवनदास ने किया।[1] इनका आविर्भाव काल सं० १७७५ माना जा सकता है।

जगजीवनदास के तीन प्रधान ग्रंथ हैं—'ज्ञानप्रकाश', 'महाप्रलय' और 'प्रथम ग्रंथ'। इनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही एकमात्र धर्म है। गुरु की सहायता से मुक्ति प्राप्त करना जीव की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अहिंसा और सत्य साधु की पहली विशेषता है। आत्म-समर्पण और वैराग्य से ही ससार के बधन तोड़े जा सकते हैं।

मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका आविर्भाव काल सं० १८१८ है। जान टामस भी इसी तिथि का अनुमोदन करते हैं। सतनामी पंथ वालों के अनुसार इनका जन्म संवत् १७२७ में और मृत्यु संवत् १८१७ में मानी जाती है।

भीखा पंथ वाले इन्हें गुलाल साहब का शिष्य मानते हैं, पर सतनामी पंथ वाले इनके गुरु का नाम विश्वेश्वरपुरी कहते हैं,

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑव् रेलीजन एंड एथिक्स, भाग ११ (सतनामी—ग्रियर्सन)

जिनका सम्बन्ध किसी प्रकार भी गुलाल साहिब की शिष्य-परम्परा से नहीं है। जगजीवनदास के शिष्यो में जलालीदास, दूलनदास और देवीदास मुख्य हैं। जगजीवन दास के अनुयायी बायें हाथ में काला और दाहिने हाथ में सफ़ेद धागा पहनते हैं। कहा जाता है कि बुल्ला साहब और गोविन्द साहब ने इन्हें काले और सफ़ेद धागों से दीक्षा दी थी।

कोटवा में अब भी जगजीवनदास की समाधि है, जहाँ प्रतिवर्ष बहुत बड़ा मेला लगा करता है।

रामचरण (आविर्भाव सं० १७७५)

रामचरण रामसनेही मत के संस्थापक थे। इनका जन्म सं० १७१८ में सूरसेन (जयपुर) में हुआ था। ये पहले रामोपासक थे, बाद में मूर्तिपूजा के घोर विरोधी हो गए।

रामसनेही मत मुसलमानी मत से बहुत कुछ मिलता है। उसमें मूर्तिपूजा के लिए स्थान नही है। दिन में नमाज़ की तरह पाँच बार निराकार ईश्वर की आराधना होती है। उसमें जाति-बन्धन भी नहीं है। रामसनेही मत में सदाचार उच्च कोटि का है।

दूलनदास (आविर्भाव लगभग सं० १७८०)

इनकी जन्म तिथि के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमानतः ये विक्रम की अट्ठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में थे। इनका जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था। ये ज़मींदार के पुत्र थे और इन्होंने विरक्त होते हुए भी जीवन पर्यन्त अपने काम को सँभाला। इनके जीवन का अधिक भाग कोटवा और धर्मे गाँव (रायबरेली) में व्यतीत हुआ। धर्मे गाँव तो इन्हीं का बसाया हुआ था।

दूलनदास की चौदह गद्दियाँ प्रसिद्ध हैं।[1] ये बड़े भारी सन्त थे। इनके विषय में भी अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जो इतिहास की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। दूलनदास गृहस्थ थे और इनकी गद्दी में भी गृहस्थों के लिये स्थान है। ये संत मत के होते हुए भी श्रीकृष्ण में विश्वास रखते थे। ये स्वयं लिखते हैं :—

दीनदयाल सरन की लज्या छत्र गोवर्धन ताना।

इनके प्रेम का अग विशेष भावपूर्ण है।

स्वामी नारायणसिंह (आविर्भाव सं० १७८१)

स्वामी नारायणसिंह ने शिवनारायणी मत की स्थापना की। ये चन्द्रवर (रसरा, बलिया) के निवासी और जाति के नरौनी राजपूत थे। मुग़ल शासक मुहम्मद शाह ने इन्हीं की शिष्यता ग्रहण की थी और शाह की संरक्षिता के कारण, शिवनारायणी मत का बहुत प्रचार हो गया था।[2]

शिवनारायणी मत में परब्रह्म की उपासना है, जो निराकार है। उसमें कोई जाति-बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का भक्त शिवनारायणी मत का अनुयायी हो सकता है।

दयाबाई और सहजोबाई (आविर्भाव सं० १८००)

इन दोनों का आविर्भाव काल सं० १८०० है। ये चरनदास की शिष्याएँ और मेवात (राजस्थान) की निवासिनी थीं। ये जाति की वैश्य थीं और गृहस्थाश्रम ही में जीवन की मुक्ति मानती थीं। इन्होंने अधिकतर साखियाँ ही लिखी हैं जिनमें गुरुदेव की बहुत प्रार्थना है। दोनों आपस में "ससारी और परमार्थी थीं।[3] मिश्रबन्धु के

---

१. दूलनदास जी की बानी, पृष्ठ १

२ शिवनारायणी (ग्रियर्सन) जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१८, पृष्ठ ११४।

३. संतबानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १५४.

अनुसार सहजो वाई हरप्रसाद धूसर की दूसरी पुत्री थीं और सन् १७६० (संवत् १८१७) में हुईं। सहजोबाई ने अपने गुरु चरणदास का जन्म सवत् १७६० माना है। अतः अपने गुरु से छोटी अवस्था होने के कारण इनका जन्म संवत् १७६० के वाद ही मानना उचित होगा। इन दोनों की भाषा ब्रजभाषा ही थी।[1] सहजोवाई की कविता में प्रेम और भक्ति की बड़ी सरस भावनाएँ हैं। इन्होंने गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा माना है। बिना गुरु के जीव का इस संसार से निस्तार नहीं हो सकता। इनकी रचनाएँ हृदय-स्पर्शी हैं।

दयाबाई उसी गाँव डेरा (मेवात) में पैदा हुई थीं जिसमें चरणदास ने जन्म लिया था। इन्होंने सहजोवाई के साथ चरणदास की वहुत सेवा की। संवत् १८१८ में इन्होंने अपने ग्रथ 'दयाबोध' की रचना की। इनका एक ग्रंथ और कहा जाता है। उसका नाम है 'विनय मालिका'। पर ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ चरणदास के पंथ के अनुयायी किन्हीं दयादास का बनाया हुआ है। वेलवेडियर प्रेस ने तो उसे दयाबाई कृत ही मान कर प्रकाशित किया है। 'दयाबोध' की रचना वहुत सरस है। उसमें गुरु के प्रति अगाध प्रेम छलकता है।

रामरूप (आविर्भाव सं० १८०७)

ये प्रसिद्ध चरणदास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८०७ है। इनका एक ही ग्रंथ प्रसिद्ध है। वह है 'बारहमासा' जिसमें इन्होंने भक्ति और ईश्वर प्रेम का निरूपण किया है। रचना साधारण है।

---

१. सेलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर, भाग चार, पृष्ठ ११०

(लाला सीताराम बी. ए.)

दूलनदास की चौदह गद्दियाँ प्रसिद्ध हैं।[1] ये बड़े भारी सन्त थे। इनके विषय में भी अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जो इतिहास की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। दूलनदास गृहस्थ थे और इनकी गद्दी में भी गृहस्थों के लिये स्थान है। ये संत मत के होते हुए भी श्रीकृष्ण में विश्वास रखते थे। ये स्वयं लिखते हैं :—

दीनदयाल सरन की लज्या छत्र गोवर्धन ताना।

इनके प्रेम का अग विशेष भावपूर्ण है।

स्वामी नारायणसिंह (आविर्भाव सं० १७८१)

स्वामी नारायणसिंह ने शिवनारायणी मत की स्थापना की। ये चन्द्रवर (रसरा, बलिया) के निवासी और जाति के नरौनी राजपूत थे। मुगल शासक मुहम्मद शाह ने इन्हीं की शिष्यता ग्रहण की थी और शाह की संरक्षिता के कारण, शिवनारायणी मत का बहुत प्रचार हो गया था।[2]

शिवनारायणी मत में परब्रह्म की उपासना है, जो निराकार है। उसमें कोई जाति-बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का भक्त शिवनारायणी मत का अनुयायी हो सकता है।

दयाबाई और सहजोबाई (आविर्भाव सं० १८००)

इन दोनों का आविर्भाव काल सं० १८०० है। ये चरनदास की शिष्याएँ और मेवात (राजस्थान) की निवासिनी थीं। ये जाति की वैश्य थीं और गृहस्थाश्रम ही में जीवन की मुक्ति मानती थीं। इन्होंने अधिकतर साखियाँ ही लिखी हैं जिनमें गुरुदेव की बहुत प्रार्थना है। दोनों आपस में "ससारी और परमार्थी थीं।[3] मिश्रबन्धु के

---

१. दूलनदास जी की बानी, पृष्ठ १

२ शिवनारायणी (ग्रियर्सन) जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १६१८, पृष्ठ ११४।

३. सतबानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १५४.

अनुसार सहजो बाई हरप्रसाद धूसर की दूसरी पुत्री थीं और सन् १७६० (संवत् १८१७) में हुईं। सहजोबाई ने अपने गुरु चरणदास का जन्म सवत् १७६० माना है। अतः अपने गुरु से छोटी अवस्था होने के कारण इनका जन्म संवत् १७६० के बाद ही मानना उचित होगा। इन दोनों की भाषा व्रजभाषा ही थी।[1] सहजोबाई की कविता में प्रेम और भक्ति की बड़ी सरस भावनाएँ हैं। इन्होंने गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा माना है। बिना गुरु के जीव का इस ससार से निस्तार नहीं हो सकता। इनकी रचनाएँ हृदय-स्पर्शी हैं।

दयाबाई उसी गाँव डेरा (मेवात) में पैदा हुई थीं जिसमें चरणदास ने जन्म लिया था। इन्होंने सहजोबाई के साथ चरणदास की बहुत सेवा की। संवत् १८१८ में इन्होंने अपने ग्रथ 'दयाबोध' की रचना की। इनका एक ग्रंथ और कहा जाता है। उसका नाम है 'विनय मालिका'। पर ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ चरणदास के पंथ के अनुयायी किन्हीं दयादास का बनाया हुआ है। वेलवेडियर प्रेस ने तो उसे दयाबाई कृत ही मान कर प्रकाशित किया है। 'दयाबोध' की रचना बहुत सरस है। उसमें गुरु के प्रति अगाध प्रेम छलकता है।

रामरूप (आविर्भाव सं० १८०७)

ये प्रसिद्ध चरणदास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८०७ है। इनका एक ही ग्रंथ प्रसिद्ध है। वह है 'बारहमासा' जिसमें इन्होंने भक्ति और ईश्वर प्रेम का निरूपण किया है। रचना साधारण है।

---

१. सेलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर, भाग चार, पृष्ठ ३१०

(लाला सीताराम बी. ए.)

दूलनदास की चौदह गद्दियाँ प्रसिद्ध हैं।[1] ये बड़े भारी सन्त थे। इनके विषय में भी अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जो इतिहास की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। दूलनदास गृहस्थ थे और इनकी गद्दी में भी गृहस्थों के लिये स्थान है। ये संत मत के होते हुए भी श्रीकृष्ण में विश्वास रखते थे। ये स्वयं लिखते हैं :—

दीनदयाल सरन की लज्या छत्र गोवर्धन ताना।

इनके प्रेम का अंग विशेष भावपूर्ण है।

स्वामी नारायणसिंह (आविर्भाव सं० १७८१)

स्वामी नारायणसिंह ने शिवनारायणी मत की स्थापना की। ये चन्द्रवर (रसरा, बलिया) के निवासी और जाति के नरौनी राजपूत थे। मुग़ल शासक मुहम्मद शाह ने इन्हीं की शिष्यता ग्रहण की थी और शाह की संरक्षिता के कारण, शिवनारायणी मत का बहुत प्रचार हो गया था।[2]

शिवनारायणी मत में परब्रह्म की उपासना है, जो निराकार है। उसमें कोई जाति-बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का भक्त शिवनारायणी मत का अनुयायी हो सकता है।

दयाबाई और सहजोबाई (आविर्भाव सं० १८००)

इन दोनों का आविर्भाव काल स० १८०० है। ये चरनदास की शिष्याएँ और मेवात (राजस्थान) की निवासिनी थीं। ये जाति की वैश्य थीं और गृहस्थाश्रम ही में जीवन की मुक्ति मानती थीं। इन्होंने अधिकतर साखियाँ ही लिखी हैं जिनमें गुरुदेव की बहुत प्रार्थना है। दोनों आपस में "संसारी और परमार्थी थीं।[3] मिश्रबन्धु के

---

१. दूलनदास जी की बानी, पृष्ठ १

२ शिवनारायणी (ग्रियर्सन) जर्नल ऑब् दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१८, पृष्ठ ११४।

३ संतबानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १५४.

अनुसार सहजो बाई हरप्रसाद धूसर की दूसरी पुत्री थीं और सन् १७६० (संवत् १८१७) में हुईं। सहजोबाई ने अपने गुरु चरणदास का जन्म संवत् १७६० माना है। अतः अपने गुरु से छोटी अवस्था होने के कारण इनका जन्म संवत् १७६० के बाद ही मानना उचित होगा। इन दोनों की भाषा व्रजभाषा ही थी।[1] सहजोबाई की कविता में प्रेम और भक्ति की बड़ी सरस भावनाएँ हैं। इन्होंने गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा माना है। बिना गुरु के जीव का इस संसार से निस्तार नहीं हो सकता। इनकी रचनाएँ हृदय-स्पर्शी हैं।

दयाबाई उसी गाँव डेरा (मेवात) में पैदा हुई थीं जिसमें चरणदास ने जन्म लिया था। इन्होंने सहजोबाई के साथ चरणदास की बहुत सेवा की। संवत् १८१८ में इन्होंने अपने ग्रंथ 'दयाबोध' की रचना की। इनका एक ग्रंथ और कहा जाता है। उसका नाम है 'विनय मालिका'। पर ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ चरणदास के पंथ के अनुयायी किन्हीं दयादास का बनाया हुआ है। वेलवेडियर प्रेस ने तो उसे दयाबाई कृत ही मान कर प्रकाशित किया है। 'दयाबोध' की रचना बहुत सरस है। उसमें गुरु के प्रति अगाध प्रेम छलकता है।

रामरूप (आविर्भाव सं० १८०७)

ये प्रसिद्ध चरणदास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८०७ है। इनका एक ही ग्रंथ प्रसिद्ध है। वह है 'बारहमासा' जिसमें इन्होंने भक्ति और ईश्वर प्रेम का निरूपण किया है। रचना साधारण है।

---

१. सेलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर, भाग चार, पृष्ठ ३१०

(लाला सीताराम बी. ए.)

सहजानन्द (सं० १८३७)

स्वामी सहजानन्द स्वामीनारायणी पथ के प्रवर्त्तक थे। इनका जन्म सं० १८३७ में अयोध्या में हुआ था। इन्होंने एकेश्वर ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। उस ब्रह्म का नाम कृष्ण या नारायण रक्खा। ये अपने को उसी कृष्ण या नारायण का अवतार मानते थे।

ये अहिंसा के बहुत बड़े समर्थक और मांसाहार, निन्दा आदि पापों के घोर विरोधी थे। इन्होंने जाति की व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं मानी। इसी तरह इन्होंने मूर्तिपूजा का भी तिरस्कार किया।

स्वामीनारायणी पथ के अनुयायी आजन्म ब्रह्मचारी रहते हैं। ये अहिंसात्मक असहयोग में विश्वास करते हैं। इसी कारण जब मराठा पेशवाओं ने इन पर सख्ती की तो इन्होंने शान्ति पूर्वक मृत्यु स्वीकार की। फ़रकहार का मत है कि सहजानन्द ने वल्लभ सम्प्रदाय के अनाचार की प्रतिक्रिया के रूप में अपने पंथ की स्थापना की जिसमें राधा और कृष्ण दोनों मान्य हैं।[1] पर सहजानन्द की कविता में जिस ईश्वर का रूप मिलता है वह निर्गुण है, सगुण नहीं। इस पंथ का साहित्य अधिकतर गुजराती में है।

तुलसी साहब (हाथरस वाले सं० १८४५)

इनका जन्म सं० १८४५ में माना जाता है। ये ब्राह्मण थे और बाल्यावस्था से ही भक्ति-भावना में लीन थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ़) में ही व्यतीत किया और वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

ये बड़े विद्वान थे और प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन करते थे। इन्होंने 'घट-रामायण', 'शब्दावली' और 'रत्न सागर' नामक तीन

---

१. ऐन आउटलाइन ऑव् दि रेलिजस हिस्ट्री आव् इण्डिया, पृष्ठ ३१८ (जे० एन० फ़रकहार)

प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। ये अपने को तुलसी (रामचरित मानसकार) का अवतार मानते थे। इन्होंने निर्गुण ईश्वर की व्याख्या बड़े शास्त्रीय ढंग से की। 'रत्नसागर' में तो इनका व्यावहारिक और अनुभवपूर्ण ज्ञान स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। इन्होंने आकाश की उत्पत्ति, रचना का भेद, जन्म-मरण की पीड़ा, कर्म फल आदि की विवेचना बड़े गभीर रूप में की है। इन तथ्यों को समझाने के लिए इन्होंने पौराणिक और काल्पनिक कथाओं को भी बीच-बीच मे सम्बद्ध कर दिया है। इन्होंने दोहा, चौपाई और हरिगीतिका छंद में ही अधिकतर रचना की है। भाषा साधारण है। इन्होंने जिस पंथ का प्रचार किया वह 'आवापथ' के नाम से प्रसिद्ध है।

पलटूदास (आविर्भाव सं० १८५०)

इनके जीवन की तिथि निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला और दिल्ली के शहशाह शाहआलम के समकालीन थे। अतः ये विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में फैजाबाद के मौजा नगपुर-जलालपुर में हुए। ये जाति के बनिया थे और इनके गुरु गोविन्द जी थे, जो भीखासाहब के शिष्य थे। इनके जीवन का अधिक भाग अयोध्या ही में व्यतीत हुआ।

कहा जाता है कि इनके विचारों की स्वतंत्रता ने इनके कई शत्रु पैदा कर दिए थे, जिनमें अयोध्या के वैरागी भी थे। वैरागियों ने इन्हें जीवित ही जला दिया था। कहते हैं कि ये जगन्नाथ में पुनः प्रकट हुए थे। बाद मे सदैव के लिए अन्तर्धान हो गए। इनका भी एक पंथ चला, जिसके अनुयायी अधिकतर अयोध्या में रहते हैं।

इनके विचार अधिकतर कबीर के सिद्धांतों पर ही लिखे गए हैं। हिन्दू और मुसलमान के बीच ये कोई विभाजक रेखा नहीं खींचना चाहते थे। इन्होंने सूफीमत से अपनी पूरी जानकारी प्रकट की है।

नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत आदि का वर्णन इन्होंने अनेक बार किया है।

ग़ाज़ीदास (आविर्भाव सं १८७७)

ये मध्यप्रदेशान्तर्गत छत्तीसगढ़ निवासी चमार थे। इनका आविर्भाव काल सं० १८७७ से स० १८८७ माना जाता है। इन्होंने सतनामी पथ के सिद्धान्तों का ही प्रचार किया, यद्यपि जगजीवनदास के प्रभाव को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इन्होंने निराकार एकेश्वरवाद की प्रधानता मानी और मांसाहार और मूर्तिपूजा का विरोध किया। ग़ाज़ीदास का यह पथ अधिकतर चमारों तक ही सीमित रहा।

संतमत के अनेक कवियों पर विचार करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने यद्यपि मूर्तिपूजा और साकार ब्रह्म की अवहेलना की, तथापि वे हिन्दू जनता के हृदय से पूजन की प्रवृत्ति नहीं छुटा सके। किसी सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा के स्थान पर गुरु पूजा अथवा ग्रंथ-पूजा है। संतमत में यही सबसे बड़ी कमी रही। संत-काव्य साकार ब्रह्म अथवा मूर्ति के स्थान पर कोइ भी ऐसी वस्तु नहीं दे सका जिसका आश्रय लेकर जनता की भक्ति-भावना की संतुष्टि हो सकती। इसीलिए मूर्ति के स्थान पर उन्होंने अपने पथ के ग्रथ को ही मूर्तिवत् मान लिया। दूसरी बात यह थी कि संत काव्य किसी उत्कृष्ट तर्क और न्याय पर निर्भर नहीं था। इसीलिए इसके अनुयायी अधिकतर साधारण कोटि के मनुष्य ही थे। इसका प्रचार प्रधानतः नीच अथवा अछूत जातियों में ही हुआ। जहाँ एक ओर संत काव्य द्वारा धार्मिक भावना की जागृति बनी रही, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा धार्मिक क्षेत्र में विशेष ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई।

सत काव्य के आधार पर जितने प्रधान ंथ धार्मिक क्षेत्र मे प्रगति पा सके, उनका निरूपण इस प्रकार है:—

पंथ	तिथि	केन्द्र	प्रवर्त्तक
१ कबीर पंथ	सं० १५००	बनारस	कबीर
२ सिख	सं० १५५७	पंजाब	नानक
३ मलूकदासी	सं० १६५०	कड़ा मानिकपुर	मलूकदास
४ दादूपथी	सं० १६८०	राजस्थान	दादू
५ सतनामी या साध	सं० १६८०	नरनोल (दिल्ली के दक्षिण मे)	वीरभान जगजीवनदास दूलनदास
६ लालदासी	सं० १७००	अलवर	लालदास
७ बाबालाली	सं० १७००	देहनपुर (सरहिंद)	बाबालाल
८ नारायणीपथ	सं० १७००	...	हरिदास
९ प्रणामी व धामी	स० १७१०	राजस्थान	स्वामी प्राणनाथ
१० दरियापंथी (अ)	स० १७६०	धरकंधा (बिहार)	दरियासाहब (बिहारवाले)
११ दरियापंथी (आ)	सं० १७६०	मारवाड़	दरियासाहब (मारवाड़ वाले)
१२ दूलनदासी	सं० १७८०	धर्मेगॉव (रायबरेली)	दूलनदास
१३ शिवनारायणी	स० १७८१	चंद्रवर (बलिया)	स्वामी नारायण
१४ चरनदासी	सं० १७८७	दिल्ली	चरनदास
१५ भीखापंथी	स० १८००,	भुरकुड़ा बलिया	भीखासाहब
१६ गरीबदासी	स० १८००	रोहतक	गरीबदास
१७ रामसनेही	सं० १८०७	शाहपुर (राजस्थान)	रामचरन

पंथ	तिथि	केन्द्र	प्रवर्त्तक
१८ पलटूदासी	सं० १८५०	अयोध्या	पलटूदास
१९स्वामीनारायणी	सं० १८७७	गुजरात	सहजानन्द
२० आवापंथी	सं० १८७७	हाथरस (अलीगढ़)	तुलसी साहब

संत साहित्य का सिंहावलोकन

उत्तर भारत में मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया के रूप में निराकार और अमूर्त ईश्वर की भक्ति का जो रूप स्थिर हुआ वही साहित्य के क्षेत्र मे 'सन्त काव्य' कहलाया। उसकी विशेषताओं का विवरण इस प्रकार है :—

१ वर्ण्य विषय

संत साहित्य का वर्ण्य विषय मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

अ आध्यात्मिक { क्रियात्मक, ध्वंसात्मक }

आ. सामाजिक { क्रियात्मक, ध्वंसात्मक }

आध्यात्मिक भावना के अन्तर्गत निराकार ईश्वर का गुण गान ही है। ईश्वर की अनुभूति मे और जितने उपकरण हो सकते हैं उनका भी वर्णन है, जैसे गुरु, भक्ति, साधुसंगति, विरह आदि। आध्यात्मिक भावना के दो रूप हैं। पहला तो क्रियात्मक रूप है जिससे आध्यात्मिक जीवन को प्रोत्साहन मिलता है, जिसे हम 'विधि' का रूप दे सकते है जैसे दया, क्षमा, सतोष, भक्ति, विश्वास 'करता निर्णय' मौन, विचार आदि। दूसरा ध्वंसात्मक रूप है जिससे कुरुचिपूर्ण भावनाओं को ध्वस कर उनका अनुसरण न कर

आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया जा सकता है। इसे हम 'निषेध' का रूप दे सकते हैं, जैसे कपट, 'साकट-संग', माया, तृष्णा, कनक और कामिनी, निंदा, मांसाहार, तीर्थ व्रत, आनदेव की पूजा। इसी प्रकार सामाजिक भावना के भी यही दो रूप हैं। क्रियात्मक भावना का सम्बन्ध समदृष्टि, 'सार गहनी' आदि से है और ध्वंसात्मक भावना का सम्बन्ध 'हिन्दू तुरुक' का अंतर आदि से है। संत काव्य में एक तो सामाजिक भावना गौण है और यदि उसका वर्णन भी है तो ध्वंसात्मक रूप में। अधिकतर आध्यात्मिक अंग पर ही सारा काव्य अवलम्बित है। उसी पर यहाँ प्रकाश डालना अभीष्ट है, शेष बातें तो स्पष्ट ही हैं।

कुछ तो मुसलमान सूफियों और राजाओं का असर और कुछ तत्कालीन वायुमण्डल का प्रभाव, और कुछ धार्मिक परंपरा ने संतों के हृदय में निराकार भावना की सृष्टि कर दी; पर वे भक्त थे, इसलिये यह निराकार भावना बहुत कुछ परिष्कृत हो गई। उन्होंने अपनी उपासना का लक्ष्य साकार और निराकार दोनों के परे माना है[1]। इतना सब होने पर भी उन्होंने अपने ईश्वर को उन्हीं नामों से पुकारा है, जिन नामों से साकार उपासना वाले अपने आराध्य को पुकारते हैं। उनके पास भी राम, गोविन्द, हरि आदि नाम हैं, पर एक बात ध्यान में रखने योग्य है। निराकार भगवान से सम्बन्ध जोड़ने में उपासना ही प्रधान साधन है। इसमें प्रेम के स्थान में श्रद्धा और भय अधिक रहता है। यम नियम की बड़ी कठोर साधना है; पर सन्तों में भक्ति का विशेष स्थान है उपासना का कम। वे अपने ईश्वर से प्रेम अधिक करते हैं।[2] वे अपने ईश्वर के लिये उसकी

---

१. निर्गुण की सेवा करो, सगुण को धरो ध्यान।
निर्गुण सगुण के परे, तहाँ हमारो ध्यान॥

२ नैना अन्तर आव तूँ, नैन झाँप तोहि लेउँ।
ना मैं देखो और को ना तोहि देखन देउँ॥

—कबीर

तिव्रता स्त्री बन कर संसार को एक लम्बी विरह की रात्रि समझते । उनका प्रेम "छिनहिं चढै छिन ऊतरै" नहीं, वे 'अघट प्रेम पिंजर सै" के पोषक हैं। इसी प्रेम से उन्होंने कहा था--आ मेरे देव, री आँखों में आ जा, तुझे अपनी आँखों में बन्द कर लूँ। न मैं किसी और को देखूँगा और न तुझे किसी और को देखने ही दूँगा।

ऐसी स्थिति में निराकार भावना का रूप स्पष्टता पाकर कुछ-कुछ साकार का आभास देने लगता है। निराकार तभी शुद्ध रह सकता है, जब तक उसमें उपासना का भाव अविच्छिन्न रूप से वर्तमान रहता है। उसमें श्रद्धा और भय की निस्पृह और नियंत्रण करने वाली शक्तियाँ छिपी रहती हैं। जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है, प्रेम की प्रबल प्रवृत्ति समुद्र की भाँति विस्तृत रूप रख कर उठ खड़ी होती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है। उस भाव में व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। ईश्वर को हृदय फाड़ कर दिखा देने की इच्छा होती है। उसमें अपनापन आ जाता है। वह ईश्वर प्रेम की प्रतिमूर्ति ही बन कर सामने आ जाता है। ऐसी स्थिति में निराकार ईश्वर अपने को केवल विश्व का नियता न रख कर भक्तों के सुख-दुख में समान भाग लेने वाला दृष्टिगोचर होने लगता है। इस भावना का प्रचार संत मत में बड़े वेग से हुआ। उसका कारण केवल यही था कि कबीर ने इसी भाव का अवलम्ब लिया था। वे निराकार ईश्वर की उपासना न कर सके। उन्होंने अपने तन-मन से उसकी भक्ति की। उनके लिये भक्ति ही मुक्ति की नसेनी थी।[1] कबीर ने यही भूल की थी, जिस भूल का परिणाम संत मत में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुआ। यदि उन्हें निराकार भावना से ईश्वर के प्रति अपना सम्बन्ध प्रकट करना था तो भक्ति और प्रेम से न करते। यदि वे भक्ति और प्रेम को नहीं

---

१ भक्ति नसैनी मुक्ति की, संत चढे सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥ कबीर

छोड़ सकते थे तो उन्हें भगवान की साकार भावना से अपने विचारों का प्रचार करना था। न तो वे निराकार की ठीक उपासना कर सके और न साकार की पूरी भक्ति ही। इस मिश्रण ने यद्यपि उनके विचारों को प्रचार पाने का अवसर दे दिया ; पर ईश्वर-भावना का रूप बहुत अस्पष्ट रह गया। न हम उसे निराकार एकेश्वर की उपासना ही कह सकते हैं और न साकार ईश्वर की भक्ति ही। इसका एक कारण हो सकता है।

संत मत के प्रधान प्रवर्त्तक कबीर थे। वे बड़े ऊँचे रहस्यवादी थे। उन पर मुसलमानी संस्कारों का प्रभाव भी पड़ा था और इसलिये कि वे जुलाहे के घर में पोषित हुए थे, उनका मिलाप भी अनेक सूफियों से हुआ था। उन्होंने सूफी मतों के विषय में अपने बीजक की ४८ वीं रमैनी में भी लिखा है। ऐसी स्थिति में उन्होंने 'अनलहक़' का अवश्य अनुभव किया था। इस सूफीमत में "इश्क हकीक़ी" का प्रधान स्थान है। बिना प्रेम के ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक भक्त के मन में प्रेम का विचार न होगा तब तक वह ईश्वर के मिलने के लिये किस प्रकार अग्रसर होगा ? रहस्यवाद तो आत्मा ही की एक प्रवृत्ति है, जिसमें वह प्रेम के वशीभूत होकर अपनी सारी भावनाओं को अनुराग में रँग कर ईश्वर से मिलने के लिये अग्रसर होती है और अन्त में ईश्वर में मिल जाती है। अतएव कबीर रहस्यवादी होने के कारण प्रेम की प्रधानता को अवश्य मानते। दूसरी बात उनके रामानन्द गुरु से दीक्षित होने की है। इन दोनों परिस्थितियों ने उनके हृदय में प्रेम का अंकुर जमा दिया था। वे मुसलमान के घर में थे, इसलिये बहुत सम्भव है कि ईश्वर की भावना, बचपन ही से उनके मन में निराकार रूप में हुई हो। इन सब बातों ने कबीर के मन में इन्हीं दो भावनाओं को उत्पन्न किया:—

१—निराकार भाव से ईश्वर की उपासना।

२—सूफीमत के प्रभाव से अथवा रामानन्द के सत्संग से प्रेम का अलौकिक स्वरूप।

छाया है, उसका क्या कारण हो सकता है ? कबीर तो पंजाब के निवासी नहीं थे। इसे कुछ तो प्रान्त विशेष के भक्तों और कुछ लिपिकारों की 'कृपा' का फल ही समझना चाहिए। जो हो, सन्त-काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है :—

पूरबी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी।

३. रस

संतकाव्य में प्रधान रूप से शान्त रस है। ईश्वर की भक्ति प्रधान होने के कारण निर्वेद ही स्थायी भाव है और आदि से अत तक शान्त रस की ही सत्ता है। कभी-कभी रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा के विरह वर्णन के कारण वियोग शृंगार भी है। आत्मा जब एक स्त्री के रूप में परमात्मा रूपी पति के लिए व्याकुल होती है तब उसमें वियोग शृंगार की भावना स्वाभाविक रूप से आ जाती है। संयोग शृंगार की भावना बहुत ही न्यून है।

दुलहिनी गावहु मगलचार
हम घर आये हो राजा राम भतार

जैसी मिलन की भावनाएँ बहुत ही कम हैं। संतकाव्य में विरह श्रेष्ठ माना गया है। उसमे परमात्मा से मिलन का साधन ही अधिक है, मिलन की सिद्धि नहीं। अतः शान्त और वियोग शृगार प्रधान रस हैं। शेष रस गौण हैं।

कहीं-कहीं ईश्वर की विशालता के वर्णन में अद्भुत रस भी है 'एक बिन्दु ते विश्व रच्यो है' जैसी भावनाएँ आश्चर्य के स्थायी भाव को उत्पन्न करती हैं। कबीर की उलटबाँसियाँ भी आश्चर्य में डाल देने वाली हैं। सृष्टि और माया की विचित्रता भी अद्भुत रस की उत्पत्ति मे सहायक है।

कुछ स्थानों पर वीभत्स रस भी है। जहाँ सुन्दरदास स्त्री के शरीर का वीभत्स वर्णन करते हैं, वहाँ जुगुप्सा प्रधान हो जाती है।

'कंचन और कामिनी' शीर्षक अंग में भी अनेक स्थानों पर वीभत्सता है। संक्षेप में सन्तकाव्य का रस-निरूपण इस प्रकार है :—

प्रधान रस—शान्त, शृंगार (वियोग)
गौण रस—अद्भुत, वीभत्स

४. छन्द

सन्तकाव्य में सबसे अधिक प्रयोग 'साखियों' और 'शब्दों' का हुआ है। 'साखी' तो दोहा छन्द है और 'शब्द' रागों के अनुसार पद हैं। दोहा छन्द बहुत प्राचीन है। अपभ्रंश के बाद प्राचीन हिन्दी में लिखे हुए जैन ग्रंथों में इस दोहा छंद के ही दर्शन होते हैं। इसके बाद डिंगल साहित्य में भी दोहा छन्द का व्यवहार हुआ। तत्पश्चात् अमीर खुसरो ने अपनी बहुत सी पहेलियाँ इसी दोहे छंद में लिखीं। अत. दोहा छंद तो साहित्य में प्रयोग-सिद्ध हो चुका था। पदों का हिन्दी साहित्य में यह प्रयोग प्रथम बार ही समुचित रूप में किया गया। सन्तों के 'शब्द' अधिकतर गेय थे अतः वे राग-रागिनियों के रूप में गाये जा सकते थे। इस कारण वे पदों का रूप पा सके। दोहा और पद के बाद तीसरा प्रचलित छंद है झूलना। इसका प्रयोग कबीर ने बड़ी सफलतापूर्वक किया, यों कबीर के बाद तो अन्य सन्त कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। इन तीन छन्दों के अतिरिक्त चौपाई, (जिसका प्रयोग अधिकतर 'आरती' में हुआ है) कवित्त, सवैया, हंसपद (जिसका प्रयोग अधिकतर 'ककहरा' में हुआ है) और सार (जिसका प्रयोग 'पहाड़ा' में हुआ है) भी सन्तकाव्य में प्रयुक्त हुए हैं। संतकाव्य में पदों और दोहों का प्राधान्य है जिनका विशिष्ट नाम 'शब्द' और 'साखी' है।

५. विशेष

नाथपंथ का विकसित रूप सन्तकाव्य में पल्लवित हुआ जिसका आदि इतिहास सिद्धों के साहित्य में है। गोरखनाथ ने अपने 'पंथ' के प्रचार में जिस हठयोग का आश्रय ग्रहण किया था,

वही हठयोग संतकाव्य में साधना का प्रधान रूप हो गया। अतः सिद्ध स ़्य, नाथपंथ और संतमत एक ही विचार-धारा की तीन परिस्थितियाँ हैं।

संतकाव्य में मुसलमानी प्रभाव यथेष्ट पाया जाता है। कुछ तो राजनीतिक परिस्थितियों के कारण और कुछ मूर्तिपूजा की उपेक्षा के कारण। संतमत अधिकतर मुसलमानी संस्कृति से ही प्रभावित हुआ। हिन्दूधर्म की रूप-रेखा होते हुए भी संतमत के निर्माण में इस्लाम का काफ़ी हाथ रहा। अतः संतमत में दो संस्कृतियाँ और दो भिन्न धर्म की प्रवृत्तियाँ प्रवाहित हैं। यह संतमत की सबसे बड़ी विशेषता है। मूर्तिपूजा की अवहेलना और जाति-बन्धन का बहिष्कार संतमत ने बड़ी उग्रता से किया। हिन्दी साहित्य में यह देन अंशत. इस्लाम की है।

संतकाव्य में जिन सिद्धांतों की चर्चा की गई है, वे अनेक बार दोहराये गए हैं। किसी भी कवि ने अपनी ओर से मौलिकता प्रदर्शित करने का श्रम नहीं उठाया। वही बातें बार-बार एक ही रूप में दृष्टिगत होती हैं।[1] इस प्रकार एक कवि की कविता दूसरे कवि की कविता से शब्दों के अतिरिक्त किसी भी बात में भिन्न नहीं है। संतमत में जो अनेक पंथ चले उनमें जो प्रधान भावनाएँ थीं, वे इस प्रकार हैं :—

१—ईश्वर एक है—वह निराकार और निर्गुण है।

२—मूर्तिपूजा व्यर्थ है—उससे ईश्वर की व्यापकता सीमित हो जाती है।

३—गुरु का महत्त्व ईश्वर से भी अधिक है।

४—जाति-भेद का कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर की भक्ति में सभी समान हैं।

---

[1] इन्फ़्लुएंस ऑव् इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ १०६
(डा० ताराचन्द)

पाँचवाँ प्रकरण

प्रेम-काव्य

प्रेम-काव्य की रचना विशेष कर मुसलमानों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है। जब मुसलमानी शासन भारतवर्ष में स्थापित हो गया, तब हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ परस्पर स्नेह-भाव के जागरण की आकांक्षा करने लगीं। यह सच है कि मुसलमान शासक अपने उद्धत स्वभाव के कारण तलवार की धार में अपने इस्लाम की तेजी देखना चाहते थे, और किसी भी हिन्दू को इस्लाम या मृत्यु—दो में से एक को—चुनने के लिए बाध्य कर सकते थे, पर दूसरी ओर एक शासकवर्ग ऐसा भी था, जो हिन्दुओं को अपने पथ पर चलने की आज्ञा प्रदान करने में सुख का अनुभव करता था। ऐसे शासक-वर्ग में शेरशाह का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसने उलमाओं की शिक्षा की अवहेलना कर हिन्दू धर्म के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित किया।[1] शासकों के साथ ऐसे मुसलमान भी थे, जो हिंदू धर्म के प्रति उदार ही नहीं, वरन् उस पर आस्था भी रखते थे। जहाँ वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफ़ी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास मानते थे वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम-काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है।

---

१. ए शार्ट हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल इन इंडिया। (डा० ईश्वरी प्रसाद इन्डियन प्रेस लिमिटेड, [illegible])

हिन्दी साहित्य के प्रेम काव्य की रचना में मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव भी विशेष रूप से पड़ा है। भारतीय मनोवृत्ति पर मुसलमानों के व्यापारिक, राजनीतिक एवं विद्या-विषयक प्रभावों की अपेक्षा धार्मिक प्रभाव कुछ अधिक है। यों तो मुसलमानों का आगमन सब से पहले भारतभूमि पर अरबों के आक्रमण से होता है जो सन् १५ हिजरी (सन् ६३६ ईस्वी) में बहरैन के शासक की आज्ञा से थाना नामक बन्दर-स्थान पर हुआ था। उसके कुछ बाद भड़ौच, देवल, और ठट्टा भी मुसलमान आक्रमण के लक्ष्य बने थे तथापि उनका वास्तविक संपर्क ईसा की बारहवीं शताब्दी से होता है जब भारत में मुसलमान सूफ़ी संतों का प्रवेश हुआ और उनकी धार्मिक प्रभुता से प्रभावित होकर यहाँ का जनमत उनकी ओर आकर्षित होने लगा। इससे पूर्व भी नवीं शताब्दी के लगभग तनूखी (नवीं शताब्दी ईस्वी) और बैरूनी (दसवीं शताब्दी ईस्वी) के यात्रा-विवरणों से ज्ञात होता है कि बिना लड़ाई-भिड़ाई के बहुत ही शान्ति और चैन के साथ यहाँ इस्लाम के प्रभाव बढ़ते जाते थे और दोनों जातियों को एक दूसरे के संबध की बातें जानने का अवसर मिलता जाता था।[१] किन्तु ये प्रभाव ऐसे नहीं थे कि उनसे भारतीय विचार-धारा में स्थायी परिवर्तन होते। अरबों और हिन्दुओं में (जिनमें बौद्ध भी सम्मिलित थे) धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे और अपने अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए प्रतियोगिताएँ हुआ करती थीं।[२]

---

१. अरब और भारत के संबंध—मौलाना सैयद सुलैमान नदवी। पृष्ठ १९२-१९३

२ सिंध के पास किसी राजा के यहाँ बौद्ध धर्म का एक विद्वान् पण्डित था। उसने राजा को शास्त्रार्थ कराने के लिए तैयार किया था। इस पर राजा ने हारूँ रशीद से कहला भेजा था कि मैंने सुना है कि आपके पास तलवार के सिवा और कोई ऐसी चीज़ या बात नहीं है, जिससे

दो एक उदाहरण हमें ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे कोई हिंदू राजा अपने व्यक्तिगत धार्मिक असंतोष के कारण मुसलमान हो जाता था।[1] किन्तु ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें कोई

आप अपने धर्म की सचाई सिद्ध कर सकें। अगर आपको अपने धर्म की सचाई का विश्वास हो, तो आप अपने यहाँ के किसी विद्वान् को भेजिये जो यहाँ आकर हमारे पंडित से शास्त्रार्थ करे। ख़लीफ़ा ने हदीस जानने वाले एक अच्छे विद्वान् को इस काम के लिए भेज दिया। जब पंडित अपनी बुद्धि के अनुसार आपत्तियाँ करने लगा, तब मुल्ला उसके उत्तर में हदीसें रखने लगे। पंडित ने कहा कि इन हदीसों को तो वही मान सकता है, जो तुम्हारे धर्म को मानता हो, कुछ लोग यह भी कहते हैं कि पंडित ने पूछा कि अगर तुम्हारा ख़ुदा सब चीज़ों पर अधिकार रखता है, तो क्या वह अपने जैसा कोई दूसरा ख़ुदा भी बना सकता है ? उन भोले भाले मुल्ला साहब ने कहा कि इस प्रकार का उत्तर देना हमारा काम नहीं है। यह कलाम वाले पंडितों या उन लोगों का काम है जो धर्म की बातों को तर्क और बुद्धि से सिद्ध करना जानते हैं। राजा ने उन मुल्ला साहब को लौटा दिया, और हारूँ रशीद को कहला भेजा कि पहले तो मैंने बड़े लोगों से सुना था और अब अपनी आँखों से भी देख लिया कि आपके पास अपने धर्म की सचाई का कोई प्रमाण नहीं है। वही पृष्ठ १६४-१६५

१. ख़लीफ़ा मोतसिम बिल्लाह के समय में (हिजरी तीसरी शताब्दी, ईस्वी नवीं शताब्दी) जो इस प्रकार की एक घटना घटी थी, उसका विवरण इतिहास लेखक बिलाज़ुरी (हिजरी तीसरी शताब्दी—ईस्वी नवीं शताब्दी) इस प्रकार देता है :—

काश्मीर, काबुल और मुल्तान के बीच में असीफ़ान (असीवान) नाम का एक नगर था। वहाँ के राजा का लाड़ला लड़का बहुत बीमार हुआ। राजा ने मन्दिर के पुजारियों को बुला कर कहा कि इसके कुशल मंगल के लिए प्रार्थना करो। पुजारियों ने दूसरे दिन आकर कहा कि प्रार्थना की गई थी और देवताओं ने कह दिया है कि यह लड़का जीता रहेगा।

मुसलमान मूर्तिपूजक हो जाता था।[२] वस्तुतः सांप्रदायिक रूप से इस्लाम की प्रतिष्ठा उस समय से होती है जब सूफ़ीसंत अपने सात्विक और निरीह जीवन सिद्धान्तों से जनता की श्रद्धा के पात्र बनने लगे। भारत में सूफ़ी संप्रदाय का स्वागत इसलिये भी विशेष रूप से हुआ कि उसमें वेदान्त की पूरी पृष्ठ-भूमि है और अपने मूल रूप में सूफ़ी सम्प्रदाय वेदान्त का रूपान्तर मात्र है। अरब और भारत के जो संबध प्राचीन काल से चले आते हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेदान्त की विचार-धारा अरबी में अवश्य रूपान्तरित हुई होगी और सूफ़ी धर्म ने अपने निर्माण में वेदान्त की चिन्तन-शैली का आश्रय अवश्य ग्रहण किया होगा। फ़ारसी और अरबी के प्राचीन साहित्य में एक पुस्तक है जिसका

इसके थोड़ी ही देर बाद वह लड़का मर गया। राजा को बहुत अधिक दुःख हुआ। उसने उसी समय जाकर मन्दिर गिरा दिया, पुजारियों को मार डाला और नगर के मुसलमान व्यापारियों को बुलवा कर उनसे उनके धर्म का हाल पूछा। उन्होंने इस्लाम के सिद्धान्त बतलाए। इस पर राजा मुसलमान हो गया।

—फ़ुतूहुल बुल्दान, बिलाज़ुरी, पृष्ठ ४४६

२. जेरूसलम का निवासी एक अरब यात्री (हिजरी चौथी शताब्दी-ईस्वी दसवीं शताब्दी) सिंध के मन्दिरों का हाल लिखता है :—

हबरूआ में पत्थर की दो विलक्षण मूर्तियाँ हैं। वह देखने में सोने और चाँदी की जान पड़ती हैं। कहते हैं कि यहाँ आकर जो प्रार्थना की जाती है, वह पूरी हो जाती है। इसके पास हरे रंग के पानी का एक सोता है, जो बिल्कुल तूतिया सा जान पड़ता है। यह पानी घावों के लिए बहुत लाभदायक है। यहाँ के पुजारियों का ख़र्च देवदासियों से चलता है। बड़े बड़े लोग यहाँ आकर अपनी लड़कियाँ चढ़ाते हैं। मैंने एक मुसलमान को देखा था जो उन दिनों मूर्तियों की पूजा करने लगा था।

अहसनुत् तक़ासीम फ़ी मारफ़ति अक़ालीम : बुशारी : पृष्ठ ४८३

नाम है 'कलेला दमना' जो बैरूनी के अनुसार-संस्कृत पंचतंत्र का अनुवाद है। इस पुस्तक का अनुवाद फ़ारसी में हिजरी दूसरी शताब्दी के पहले ही हो गया था। बाद में इसका अनुवाद अरबी में भी हुआ। इस पुस्तक के लेखक का नाम वेद या पंडित कहा जाता है। प्रो० जखाऊ अपनी पुस्तक 'इंडिया' की भूमिका में इस वेदपा का नाम वेदव्यास के अर्थ में लेते हैं जो वेदान्त के आचार्य हैं। वेदपा चाहे वेदव्यास हों अथवा न हों किन्तु यदि पंचतत्र का (जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी की रचना है) प्रभाव इस्लामी संस्कृति पर पड़ सकता है तो वेदान्त (उत्तर मीमांसा) का (जो ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी की रचना है) प्रभाव तो बहुत पहले से ही इस्लामी संस्कृति पर पड़ा होगा। इस बात के स्वीकार करने में मुसलमानी लेखकों को आपत्ति है कि वेदान्त का प्रभाव सूफ़ी धर्म पर पड़ा। मौलाना सैयद सुलैमान नदवी अपनी पुस्तक 'अरब और भारत के संबंध' में लिखते हैं : जहाँ तक हमसे जाँच हो सकी है, हमारे पास कोई ऐसा तर्क नहीं है जिससे यह बात प्रमाणित हो सके कि हिन्दू वेदान्त का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ है, यद्यपि इस्लाम में इस विचार का आरम्भ ईसवी तीसरी शताब्दी के अन्त अर्थात् हुसैन बिन मंसूर हल्लाज के समय से है। वास्तविक बात यह है कि मुसलमानों में मुहीउद्दीन बिन अरबी ही सब से पहले आदमी हैं, जिन्होंने इस सिद्धान्त का बहुत ज़ोरों से समर्थन किया है। वे स्पेन देश के रहने वाले थे और उन्हें हिन्दू दर्शनों से परिचित होने का कभी अवसर नहीं मिला था। इसलिए यह समझा जाता है कि उन पर भारतीय वेदान्त का नहीं, बल्कि नव-अफ्लातूनी दर्शन का प्रभाव पड़ा था।[1] यदि यह बात सही भी हो कि हिन्दू-वेदान्त का अनुवाद अरबी भाषा में न हुआ हो, फिर भी यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वेदान्त का प्रभाव

---

१. अरब और भारत के संबंध—पृष्ठ २०२

परोक्ष रूप से नव-अफ्लातूनी दर्शन के द्वारा इस्लामी संस्कृति पर पड़ा हो। अफ्लातूनी दर्शन भी तो वेदान्त से ही प्रभावित था। इस प्रश्न पर कि हिन्दू दर्शन यूनानी दर्शन से प्रभावित है अथवा इसके विपरीत यूनानी दर्शन हिन्दू दर्शन से, वेदान्त के माने हुए सर्व श्रेष्ठ विद्वान् मिस्टर कोल ब्रुक कहते हैं :—'इस प्रसंग में हिन्दू गुरु थे, शिष्य नहीं।'[1] अतः यह स्पष्ट है कि सूफीमत पर वेदान्त का प्रभाव अवश्य पड़ा था, वह चाहे सीधे ढग से पड़ा हो अथवा परोक्ष ढग से। वेदान्त के प्रभाव को लेकर सूफ़ीमत ने अपना स्वतंत्र विकास किया जिसमें क़ुरान के सात्विक सिद्धान्तों का विशेष रूप से समिश्रण किया गया। जब सूफ़ीमत भारतभूमि पर आया तब वह फिर यहाँ की वेदान्त सम्बन्धी विचार-धारा से प्रभावित हुआ। इस प्रभाव को सूफ़ी धर्म के सभी समर्थक स्वीकार करते हैं। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी भी लिखते हैं कि "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफ़ियों पर, भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा है।[2] भारत में सूफ़ी धर्म किस प्रकार से आया इस विषय पर भी प्रकाश डालना अयुक्तिसंगत न होगा।

भारत में सूफ़ी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ। यह धर्म चार सम्प्रदायों के रूप में आया जो समय समय पर देश में प्रचारित हुए। उनका नाम और समय निम्न-लिखित है :—

१. चिश्ती संप्रदाय—सन् बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध
२. सुहरावर्दी संप्रदाय—सन् तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध
३. क़ादरी संप्रदाय—सन् पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
४. नक़शबंदी संप्रदाय—सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध

---

१. ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑव् हिंदू माइथालोजी एण्ड रिलीजन—जान डॉसन, पृष्ठ ८२

२ अरब और भारत के सबन्ध, पृष्ठ २०३

ये संप्रदाय अधिकतर तुर्किस्तान, इराक़, ईरान और अफ़गानिस्तान से विविध संतों के द्वारा भारत में प्रचारित हुए। इन संप्रदायों का न तो कोई विशेष संगठन था और न इन्हें विशेष राज्याश्रय ही प्राप्त था। सूफ़ी संत अपनी व्यक्तिगत महत्ता और और साधना के अनुसार ही जनता और राज्य में श्रद्धा और आदर की संपत्ति प्राप्त करते थे और अपने आचरण की सात्विकता और पवित्रता से वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार अपने पर्यटन-क्षेत्र में किया करते थे। ये सूफ़ी संत अपने धार्मिक जीवन में अत्यंत सरल और सहिष्णु थे और निष्ठावान धार्मिक संतों का सत्संग कर जीवन में उदारता और विशालता का दृष्टिकोण उपस्थित करते थे। धार्मिक स्थानों में परिभ्रमण करके अनुभवजन्य ज्ञान और उपदेश का अपरिमित कोष प्राप्त कर वे प्रकाश-स्तंभ की भाँति अपने सिद्धान्तों का आलोक बहुत दूर तक विरोधियों की श्रेणी तक पहुँचा देते थे। इस प्रकार इस सूफ़ी धर्म ने अपने शान्त और अहिंसापूर्ण प्रभाव से इस्लाम की संस्कृति को जितनी दूर पहुँचा दिया, उतनी दूर मुसलमान शासकों की तलवार भी नहीं पहुँचा सकी। अन्य मतावलम्बियों को अपने व्यक्तिगत सात्विक प्रभाव में लाकर इन सूफी संतों ने इस्लाम के अनुयायियों की संख्या में अपरिमित वृद्धि की। यह प्रेम की विजय थी, जिसमें आत्मीयता और विश्वास की अपरिमित शक्ति थी।

ये चारों सम्प्रदाय अपने मूल सिद्धान्तों में समान थे। धार्मिक और सामाजिक पक्षों में ये सभी सम्प्रदाय अत्यंत उदार थे। अनेक देववाद के विपरीत ईश्वर की एकता (Unity of God) और सर्वोपरिता (Transcendental Godhood) सर्वमान्य है। केवल आचारात्मक दृष्टिकोण से इन सम्प्रदायों में नाम मात्र का भेद है। कहीं ईश्वर के गुण ज़ोर से कहे जाते हैं कहीं मौन रूप से स्मरण किए जाते हैं, कहीं गाकर कहे जाते हैं, इत्यादि। चिश्ती और कादरी सम्प्रदाय में संगीत का जो महत्त्व है वह सुहरावर्दी

और नक्शबंदी सम्प्रदाय में नहीं है। पिछले सम्प्रदायों में नृत्य और सगीत धार्मिक भावना की दृष्टि से अनुचित समझे गए हैं, अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मुख्य है। इसीलिए सूफ़ी धर्म में एक सम्प्रदाय के ...त सरलता से किसी दूसरे सम्प्रदाय के सदस्य बन सकते थे।

इन सभी सम्प्रदायों मे सामाजिक समता और एकता विशेष महत्त्व रखती है। अस्पृश्य जाति के व्यक्ति भी यदि धर्म परिवर्तन कर इस्लाम धर्म में दीक्षित हो जावें तो वे भी बड़े सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। पूर्व सस्कारों के प्रति सहिष्णु भाव के साथ उन्हें अन्तर्जातीय विवाह में पूर्ण स्वतन्त्रता और सुविधा दी जाती थी। अपने नवीन स्वीकृत धर्म के पूर्ण अधिकार भी उन्हें दिए जाते थे। वर्ण-भेद और वर्ग भेद के समस्त भावों के पर्याय उनके सात्विक जीवन की श्रेष्ठता ही उनके महान व्यक्तित्व का माप-दंड थी। यहाँ तक कि इस्लाम के न्यायाधीश भी उन्हें शेख़, मलिक, मोमिन, ख़लीफ़ा आदि की उपाधियों से अलकृत करते थे। सात्विक जीवन की समस्त सुविधाओं से भरपूर क्या सूफ़ी मत में दीक्षित हो जाने का यह प्रलोभन अस्पृश्य और घृणा से देखी जाने वाली जातियों के लिए कम था? फल भी यही हुआ कि हज़ारों और लाखों की सख्या में हिन्दू धर्म के विविध वर्णों के असन्तुष्ट सदस्य सूफ़ी संतों के चमत्कारों से प्रभावित होकर और उनकी सात्विकता और सहिष्णुता से आकर्षित होकर इस्लाम धर्म के अतर्गत सूफ़ी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और भारत में मुसलमानों की संख्या बरसात की चढी हुई नदी की भाँति बढ़ती ही गई। केवल तीन शताब्दियों में—अर्थात् बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक—सूफ़ी धर्म के अंतर्गत चौदह सम्प्रदायों तक वृद्धि हुई जिनका सकेत आईन अकबरी में स्पष्ट रूप से किया गया है। इन सम्प्रदायों के प्रारंभिक इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना चाहिए :—

१. चिश्ती संप्रदाय :—इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक ख्वाजा आबू अब्दुल्लाह चिश्ती (मृत्यु सन् ६६६) थे। इस सम्प्रदाय को भारत में लाने का श्रेय सीस्तान के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२—१२३६) को है जिन्होंने सन् ११९२ में इस भूमि पर इसका प्रचार किया। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती बड़े पर्यटनशील थे। उन्होंने खुरासान, नैशापुर आदि स्थानों में परिभ्रमण कर बड़े-बड़े संतों का सत्संग प्राप्त किया और बहुत काल तक ख्वाजा उसमान चिश्ती हारूनी के समीप भी शिष्य की भाँति रहे और उनके सिद्धान्तों की अनुभूति निकट संपर्क में आकर प्राप्त की। ये मक्का और मदीना की धर्म-यात्रा करते हुए, शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी और शेख अब्दुल कादिर जीलानी के संपर्क में भी आए और उनसे धर्म-शिक्षा प्राप्त कर अपने धर्म के सिद्धान्तों में पारंगत हुए। जब सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया तो ये भी उसकी सेना के साथ यहाँ आए और सन् ११९५ ई० में अजमेर गए, जहाँ इन्होंने अपना प्रधान केन्द्र स्थापित किया। इसी स्थान पर सन् १२३६ ईस्वी में, ९३ वर्ष की अवस्था में इनका शरीरान्त हुआ। इन्हीं के वंश में वर्तमान सूफ़ी विद्वान् ख्वाजा हसन निज़ामी हैं जिन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है और क़ुरान का हिन्दी में अनुवाद कराया है। यह चिश्ती संप्रदाय भारत में पनपने वाले सूफी संप्रदायों के अंतर्गत सब से पुराना है और इसके अनुयायियों की संख्या अन्य सभी संप्रदाय के अनुयायियों से अधिक है। यह वही संप्रदाय है जिसका प्रभाव मुगल सम्राटों पर विशेष

रूप से रहा। इसी संप्रदाय के शेख सलीम चिश्ती के प्रभाव से अकबर को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ जिसका नाम संत के नाम पर सलीम रक्खा गया।

२ सुहरावर्दी संप्रदाय—सूफ़ी सिद्धान्तों के प्रचार करने और प्रतिभा-सपन्न सूफ़ी सन्तों को उत्पन्न करने की दृष्टि से सुहरावर्दी सप्रदाय विशेष रूप से प्रसिद्ध है। भारत में सर्वप्रथम इस संप्रदाय को प्रचारित करने का श्रेय सैयद जलालुद्दीन सुर्ख़-पोश (सन् ११६६-१२६१ ई०) को है जो बुख़ारा में उत्पन्न हुए और स्थायी रूप से ऊच (सिंध) में रहे। इन्होंने भारत के अनेक स्थानों में अपने सप्रदाय का प्रचार किया विशेष कर सिंध, गुजरात और पजाब में इनके केन्द्र विशेष रूप से स्थापित हुए। इनकी परंपरा में अनेक यशस्वी सन्त हुए। इनके पौत्र जलाल-इब्न अहमद कबीर मख़दूम इ जहानिया के नाम से प्रसिद्ध हुए जिन्होंने छत्तीस बार मक्का की यात्रा की। मख़दूम इ जहानिया के पौत्र आबू मुहम्मद अब्दुल्ला ने समस्त गुजरात में अपने धर्म का प्रचार किया। इनके पुत्र सैयद मुहम्मद शाह आलम (मृत्यु सन् १४७५ ई०) इनसे भी अधिक प्रसिद्ध हुए जिनकी समाधि अहमदाबाद के समीप रसूलाबाद में है।

सुदूर पूर्व में बिहार और बंगाल में भी इस सम्प्रदाय ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस संप्रदाय के संतों की यशोगाथा पूर्ववर्ती स्थानों के समाधि-लेखों में बड़ी श्रद्धा के साथ लिखी गई है। इस सप्रदाय ने राजाओं तक को अपने धर्म में दीक्षित किया। बंगाल के राजा कस के पुत्र जटमल का नाम धर्म-परिवर्तन करने वालों में लिया जाता है जो 'जादू जलालुद्दीन' के नाम से प्रसिद्ध हुए। हैदराबाद का वर्तमान राजवंश भी इसी सन्त सम्प्रदाय की परम्परा में है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का सम्मान जन-साधारण

से लेकर बड़े बड़े राजाओं तक बड़े गौरव के साथ चलता रहा है। प्राचीन और आधुनिक राजवशों ने इस सम्प्रदाय को बड़ी श्रद्धा-दृष्टि से देखा है। इस परंपरा में होने वाले संत राजगुरु के सम्मान से सम्मानित हुए हैं।

३. क़ादरी सम्प्रदाय—इस संप्रदाय के आदि प्रवर्त्तक बग़दाद के शेख़ अब्दुल क़ादिर जीलानी (सन् १०७८-११६६ ई०) थे। इनके अप्रतिम व्यक्तित्व, तेजस्वी स्वर और सात्विक जीवन चर्या ने इनके संप्रदाय को विशेष लोकप्रियता प्रदान की। इन्होंने अपने सम्प्रदाय में उत्कट प्रेमावेश और भावुकता की सृष्टि की जिससे इस्लाम के मरु विचारों में भी सरसता का प्रवाह होने लगा। सूफी संतों में अब्दुल क़ादिर जीलानी अपने भावोन्मेष के लिए प्रसिद्ध हैं।

भारत में इस संप्रदाय का प्रवेश सन् १४८२ ई० मे अब्दुल कादिर जीलानी के वंशज सैयद वंदगी मुहम्मद गौस द्वारा सिंध से प्रारंभ हुआ। गौस ने ऊच (सिंध) में ही अपना निवास-स्थान बनाया। वहीं इनकी मृत्यु सन् १५१७ ईस्वी मे हुई। इस सम्प्रदाय में होने वाले संतों का समस्त भारत में स्वागत हुआ क्योंकि उनकी भावुकता ने देश की भक्ति-परंपरा के समीप पहुँच कर लोक-रुचि को अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। इस संप्रदाय के संतों के चमत्कार की कथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। समस्त उत्तरी भारत, विशेष कर काश्मीर सैयद वंदगी मुहम्मद गौस की प्रभुता के सामने श्रद्धापूर्वक नत-मस्तक रहा। इसी सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध सूफी कवि रा़जाली हुए।

४. नक़्शबंदी संप्रदाय—इस अंतिम सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक तुर्किस्तान के ख़्वाजा बहा अल दीन नक्शबंद थे जिनकी मृत्यु सन् १३८९ में हुई। भारतवर्ष में

इस सम्प्रदाय का प्रचार ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह बैरंग द्वारा हुआ। इनकी मृत्यु सन् १६०३ ई० में हुई। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस सम्प्रदाय को भारत में प्रचारित करने का श्रेय शेख़ अहमद, फ़ारूक़ी सरहिन्दी को है जिनकी मृत्यु सन् १६२५ ई० में हुई। इस सम्प्रदाय को भारत में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसका विशेष कारण यह है कि इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण इतना जटिल और बुद्धिवादी रहा कि वह जनसाधारण के सरल मनोविज्ञान को स्पर्श नहीं कर सका। अपने कठिन तर्कजाल में वह केवल वर्ग-विशेष में ही सीमित होकर रह गया। भारत में आने वाले सम्प्रदायों में सबसे अंतिम सम्प्रदाय होने के कारण भी जन साधारण की लोकरुचि जो पहले आए हुए सम्प्रदायों को स्वीकार कर चुकी थी, इस सम्प्रदाय की ओर अधिक आकर्षित नहीं हो सकी। इस प्रकार सूफ़ी सम्प्रदायों के अंतर्गत नक्शबंदी सम्प्रदाय सब से अधिक निर्बल और प्रभावहीन रहा।

इन चारों सम्प्रदायों का प्रभाव अपनी सरल ईश्वरोन्मुखी भावना के कारण जन समुदाय में विशेष रूप से पड़ता रहा और समाज के निम्न धरातल के व्यक्ति जिन्हें हिन्दू-समाज मे विशेष सुविधाएँ नहीं थीं, इन सम्प्रदायों में दीक्षित होते रहे।

इन सम्प्रदायों से प्रभावित प्रेम काव्य का परिचय चारण-काल ही से मिलना प्रारम्भ हो जाता है, जब मुल्ला दाऊद ने 'चन्दावन' की रचना की थी। यह समय अलाउद्दीन खिलजी के राजत्व काल का था, जिसमें हिन्दुओं पर काफ़ी सख्ती की जा रही थी। वे घोड़े पर नहीं चढ़ सकते थे और किसी प्रकार की विलास सामग्री का उपभोग

भी नहीं कर सकते थे।[1] हिन्दू धर्म के प्रति अश्रद्धा होते हुए भी कुछ मुसलमानी हृदयों में हिन्दू प्रेम-कथा के भाव मौजूद थे। 'चन्दावन' या 'चन्दावत' की प्रति अप्राप्त है, पर इस प्रेम-कथा का नाम ही सम्वत् १३७५ की साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचय देने में पर्याप्त है।

धार्मिक काल के प्रेम काव्य का आदि 'चन्दावन' या 'चन्दावत' से ही मानना चाहिए। यद्यपि इस प्रेम-कथा की परम्परा बहुत बाद मे प्रारम्भ हुई, पर उसका श्रीगणेश मुल्ला दाऊद ने कर दिया था। 'चन्दावन' या 'चन्दावत' के बाद सम्भव है, कुछ और प्रेम-कथाएँ लिखी गई हों, पर वे साहित्य के इतिहास में अभी तक नही दीख पड़ी। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पदुमावती' में इस प्रेम की परम्परा का निर्देश अवश्य किया है, पर उसके विषय मे कोई विशेष परिचय नहीं दिया। उन्होंने 'पदुमावती' में लिखा है:—

> विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
> मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
> राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
> साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
> प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥[2]

इस उद्धरण के अनुसार सम्भवतः जायसी के पूर्व प्रेम-काव्य पर कुछ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे—'स्वप्नावती' 'मुग्धावती' 'मृगावती' 'खंडरावती' 'मधुमालती' और 'प्रेमावती'। इनमें से 'मृगावती' और 'मधुमालती' तो प्राप्त हैं, शेष के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं हैं। इनके

---

१ ए शार्ट हिस्ट्री ऑव् दि मुस्लिम रूल, पृष्ठ ११९ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

२ जायसी ग्रन्थावली—सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० सभा) पृष्ठ १०७—१०८

साथ एक ग्रन्थ का और परिचय मिलता है। उसका नाम है "लक्ष्मणसेन पद्मावती।" यह ग्रन्थ संवत् १५१६ में लिखा गया। ग्रन्थकर्ता का नाम दामो है। इसमें अधिकतर वीर-रस है। "वीर कथा रस करूँ बषान।" अपभ्रंश काल के ग्रन्थों के समान इसमें बीच-बीच में संस्कृत में श्लोक और प्राकृत में गाथा है। संक्षेप में मृगावती और मधुमालती का परिचय इस प्रकार है :—

मृगावती—इसके रचयिता कुतुबन थे, जो शेख बुरहान के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल सं० १५५० माना जाता है, क्योंकि ये शेरशाह के पिता हुसेनशाह के समकालीन थे। 'मृगावती' की कथा लौकिक प्रेम की कथा है जिसमें अलौकिक प्रेम का सम्पूर्ण संकेत है। कंचनपुर के राजा की राजकुमारी मृगावती पर चन्द्रगिरि के राजा का पुत्र मोहित हो जाता है। वह प्रेम के मार्ग में योगी बन कर निकल जाता है। अनेक कष्ट झेलने के उपरान्त वह राजकुमारी को प्राप्त करता है। काव्य में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है, किन्तु ईश्वर विषयक संकेत यथेष्ट है। भाषा अवधी और छन्द दोहा-चौपाई है। इसकी प्रति हरिश्चन्द्र पुस्तकालय मे पहले मिली थी, किंतु फिर खो गई।

मधुमालती—इसकी केवल एक प्रति रामपुर स्टेट लायब्रेरी में प्राप्त हो सकी है। इसके लेखक मझन थे, इन्होंने १५४५ ई० में इसकी रचना की। यह कहानी 'मृगावती' से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है। कल्पना भी इसमें यथेष्ट है। इसके द्वारा निस्वार्थ प्रेम की अभिव्यंजना सुन्दर रूप से होती है। इसमें कनेसर के राजा के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। कथा में वर्णनात्मकता का अंश अधिक है। प्रेम के

चित्रण में विरह को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विरह ही मनुष्य के लिये ईश्वर को समझने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

इन दो कवियों के बाद मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है, जिन्होंने 'पदमावत' (या 'पदुमावती') की रचना की।

पदमावत (पदुमावती)—'पदमावत' के लेखक मलिक मुहम्मद जायसी के जीवनवृत्त के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। ये जायस के रहने वाले थे[1] और अपने समय के सूफ़ी संतों में विशेष आदर के पात्र थे। ये सैयद मुहीउद्दीन के शिष्य थे[2] और चिश्तिया निज़ामिया की शिष्य-परम्परा में ग्यारहवें शिष्य थे। मुहीउद्दीन के गुरु शेख़ बुरहान थे, जो बुंदेलखंडी थे और शतायु होकर सन् १५६२ में मरे। जायसी सूफ़ी सिद्धान्तों को तो जानते ही थे, साथ ही साथ हिन्दूधर्म के लोक-प्रसिद्ध वृत्तान्तों से भी परिचित थे और इस प्रकार जनता की धार्मिक मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने मे विशेष सफल हुए। शेरशाह का आश्रय भी इन्होंने प्राप्त किया था। ये शारीरिक सौन्दर्य से विहीन थे। एक आँख से अन्धे थे और देखने मे कुरूप। 'एक आँख कवि महमद गुनी' कहकर इन्होंने स्वयं अपना परिचय 'पदुमावती' में दिया है। इनके दो प्रधान मित्र थे - यूसुफ़ मलिक और सलोनेसिंह, जिन्हें जायसी ने 'मियाँ' के नाम से भी लिखा है। यूसुफ़ मलिक और सलोने मियाँ विषमय आम खाते हुये मर गये। जायसी भी उनके साथ थे पर ये बच गये। वे आम किसी विषैले

---

१. जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥
पदुमावती पृष्ठ १०

२. गुरु मेंहदी सेवक मैं सेवा।
चलै उताइल जेहि कर खेवा॥
वही, पृष्ठ ८

जन्तु के खाये हुए थे। ये गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगतदेव (आविर्भाव संवत् १५८५) के आश्रित भी रहे। बाद में ये अमेठी नरेश के विशेष कृपा-पात्र हुए, क्योंकि इन्हीं के आशीर्वाद से उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी। इनकी क़ब्र भी अमेठी राज्य में है। इस प्रकार मरने पर भी इन्होंने अपना संबध अमेठी से नहीं तोड़ा।

इन्होंने राम कृष्ण की उपासना जो तत्कालीन समाज में अधिक लोकप्रिय थी, अपने काव्य की सामग्री नहीं बनाई, किन्तु तत्कालीन प्रचलित सूफ़ी सिद्धान्तों को सरल और मनोरजक रूप में रख कर जनता की रुचि अपनी ओर आकर्षित की। सूफ़ी सिद्धान्तों को हिन्दू-धर्म के प्रचलित विवरणों से सम्बद्ध कर इन्होंने नवीन प्रकार से हिन्दू-हृदय को वशीभूत किया। इनकी एक विशेषता और भी थी। अभी तक के सूफ़ी कवियों ने केवल कल्पना के आधार पर प्रेम-कथा लिख कर अपने सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था, पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं की शृंखला सजा कर अपनी कथा को सजीव कर दिया। यह ऐतिहासिक कथावस्तु चित्तौरगढ़ के हिन्दू आदर्शों के साथ थी जिससे हिन्दू जनता को विशेष आकर्षण था। यही कारण था कि जायसी की कथा विशेष लोकप्रिय हो सकी। साथ ही साथ प्रेम कहानी का आकर्षक रूप भी रचना के प्रचार में सहायक हुआ। इन्होंने 'पदुमावती' की रचना हिजरी ६४७ में की।[1] इसके अनुसार जायसी का कविताकाल सं० १५९७ ठहरता है।

'पदुमावती' (पदमावत) की अनेक प्रतियाँ पाई जाती हैं। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

---

१. सन नव सै सैतालिस अहा।
कथा अरंभ बैन कवि कहा॥ पदुमावती, पृष्ठ १०

अ. फ़ारसी लिपि में

१. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति

(फ़ारसी केटलाग) सन् १६६५

२.	"	"	सन् १६६७
३.	"	"	सन् १७०२
५.	"	(उर्दू केटलाग)	तिथि अज्ञात

ये सभी प्रतियाँ शुद्ध और साफ लिखी गई हैं।

आ. देवनागरी लिपि में

१. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति

(संस्कृत केटलाग) तिथि अज्ञात

२. महाराजा उदयपुर पुस्तकालय की प्रति सन् १८३८

इ. कैथी लिपि में

१. प्रति नं० १	सन् १७५५
२. बैताल गढ़ प्रति (अपूर्ण)	सन् १७०१
३. प्रति नं० २	सन् १८२२

कैथी लिपि की प्रतियाँ बहुत अशुद्ध हैं और उनमें पाठान्तर भी अनेक हैं।

पद्मावत का महत्त्व उसके सुरक्षित रूप में है। फ़ारसी लिपि में लिखे जाने के कारण यह ग्रन्थ पंडितों के हाथों से बचा रह गया, नहीं तो उसकी शुद्धि न जाने रब की हो गई होती। उस समय अवधी का जो रूप था वही फारसी लिपि में सुरक्षित रह गया। अतः जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सका है। हिन्दी साहित्य के केवल जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं जिनकी कृति का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने है। 'पृथ्वीराजरासो' महान ग्रन्थ होते हुए भी संदिग्ध है. विद्यापति और मीरां के गेय गीत गायकों के कंठों से बहुत कुछ बदल गए हैं, कबीर के पद कबीर

पथियों ने तोड मरोड़ डाले हैं तथा अन्य कवियों के ग्रन्थ पंडितों ने शुद्ध कर डाले हैं।

जायसी ने तत्कालीन बोलचाल की अवधी में अपनी रचना की। उसमें फारसी और अरबी के स्वाभाविक और प्रचलित शब्द तथा मुहावरे भी मिलते हैं। संस्कृत के पण्डित न होने के कारण इनकी कृति स्वाभाविक बोलचाल के शब्दों के यथातथ्य शब्दों से पूर्ण है। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो संस्कृत का ज्ञान होने के कारण ये संस्कृत शब्दों को बोलचाल के रूप में न लिख कर शुद्ध रूप में ही लिखते। इनका संस्कृत न जानना भाषा के वास्तविक स्वरूप को सुरक्षित रखने में सहायक हुआ। मुसलमान होने के कारण इन्होंने अपनी कृति फारसी लिपि और बोलचाल की भाषा ही में लिखी। हाँ, एक कठिनाई अवश्य सामने आती है। उर्दू में स्वर के चिह्न विशेष रूप से नहीं लगाये जाते, इसलिये कहीं कहीं पाठ-निर्धारित करने में कठिनाई अवश्य आ जाती है। यों, इन्होंने प्रत्येक शब्द वैसा ही लिखा जैसा वह बोला जाता था। ठेठ हिन्दी को फ़ारसी लिपि में पढ़ना ज़रा कठिन है, इसलिये कहीं-कहीं पाठ-भेद है। बनारस के पण्डित रामलखन ने हिन्दी लिपि में 'पद्मावत' को रूपान्तरित करने का सफल प्रयास किया है, पर उसमें बहुत सी अशुद्धियाँ हैं। सन् १६११ में डा० ए० ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने एशियाटिक सोसायटी की ओर से 'पद्मावत' का प्रथम खण्ड प्रकाशित किया जिसमें सभी प्राप्त प्रतियों से सहायता ली गई है और सर्वोत्तम और शुद्ध पाठ निर्धारित किया है। वास्तव में यह संस्करण महत्त्वपूर्ण है।

जायसी कबीर से बहुत अधिक प्रभावित हुए।[1] हठयोग की सारी प्रवृत्ति तो इन्होंने कबीर से ही ली थी। साथ ही साथ ये हिन्दू

---

१ माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव् हिन्दोस्तान, पृष्ठ १५ (जी० ए० ग्रियर्सन)

धर्म के लोकप्रिय सिद्धान्तों से भी साधारणतः परिचित थे। इन सब ज्ञान के साथ ये बड़े भारी सूफी थे और इसीलिए अपने समय में बहुत बड़े सन्त माने गये और इनकी रचनाएँ सुरक्षित रक्खी गईं। 'पदमावत' की अनेक विशेषताएँ भी हैं। प्रथम तो यह कि ग्रन्थ सूफी सिद्धान्तों का सरल और मनोरंजक निरूपण है। दूसरे राम और कृष्ण की धार्मिक विचार-धारा से हट कर यह एक प्रेम-कहानी के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। तीसरे इसमें धार्मिक सहिष्णुता उच्चकोटि की है। मुसलमान होते हुए भी जायसी ने हिन्दू धर्म की प्रधान बातों पर अपनी कथा का आरोप किया है और उनकी हँसी न उड़ाकर उन्हें गम्भीर रूप से सामने रक्खा है। चौथे यह काव्यकला का उत्कृष्ट नमूना है। भाषा और भाव सरल होते हुए भी सच्ची कविता का नमूना हिन्दी साहित्य के सामने प्रस्तुत है।

इस स्थान पर जायसी के साहित्यिक दृष्टिकोण पर विस्तारपूर्वक विचार करना समीचीन होगा।

जायसी ने अपने 'पदमावत' की कथा में आध्यात्मिक अभिव्यंजना रक्खी है। सारी कथा के पीछे सूफ़ी सिद्धान्तों की रूप-रेखा है, पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत को पूर्ण रूप से नहीं निवाह सके। उसका मुख्य कारण यह है कि जायसी ने मसनवी की शैली का आधार लेते हुए अपने काव्य में प्रत्येक छोटी से छोटी बात का इतना विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है कि विषय के विश्लेषण में सारी आध्यात्मिकता खो गई है। जायसी का अत्यधिक विलास-वर्णन भी आध्यात्मिकता के चित्र को अस्पष्ट कर देता है। इतना तो ठीक है कि रत्नसेन और पदमावती का मिलन होता है जहाँ तक कि ख़ुदा और बन्दे का एकीकरण है, पर जहां रत्नसेन और पदमावती का अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता हुआ शृंगार वर्णन है वहाँ आध्यात्मिकता को किस प्रकार घटित किया जा सकता है? अतः जायसी का संकेत (Allegory) विशेष विशेष स्थानों पर ही

सारी कथा का घटना-पक्ष अध्यात्मवाद से नहीं मिल सका है। इसका एक कारण और भी हो सकता है। वह यह कि जायसी एक प्रेम-कहानी कहना चाहते हैं। ये अपनी प्रेम कहानी के प्रवाह में सभी घटनाओं को कहते चलते हैं और आध्यात्मिकता भूल जाते हैं। जब मुख्य घटनाओं की समाप्ति पर इन्हें अपने अध्यात्मवाद की याद आती है तो उसका निर्देश कर देते हैं। पर कथा की व्यापकता में अध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाता, क्योंकि कथा घटना-प्रसग से प्रेरित होकर कही गई है।

जायसी कबीर से विशेष प्रभावित हुए थे। जिस प्रकार कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच भिन्नता की भावना हटानी चाही उसी प्रकार जायसी ने भी दोनों सम्प्रदायों में प्रेम का बीज बोने का प्रयत्न किया। दोनों में सूफीमत के सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है और इसी के फल-स्वरूप दोनों रहस्यवादी हैं। ये ससार के प्रत्येक कार्य में एक परोक्ष सत्ता का अनुभव करते हैं और उसी को प्रधान मान कर ईश्वर की महानता का प्रचार करते हैं। अंतर केवल इतना है कि कबीर अन्य धर्मों के लिए लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं रखते—वे उद्दण्डता के साथ विपक्षी मत का खडन करते हैं, उनमें सहिष्णुता का एकान्त अभाव है, पर जायसी प्रेम-पूर्वक प्रत्येक धर्म की विशेषता स्वीकार करते हैं और ईश्वर के अनेक रूपों में भी एक ही सत्ता देखने का विनयशील प्रयत्न करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार अपने स्वतत्र और निर्भीक विचारों के आधार पर अपने पथ की 'कल्पना' की उस प्रकार जायसी ने नहीं की, क्योंकि जायसी के लिए जैसा तीर्थव्रत था वैसा ही नमाज-रोजा। ये प्रत्येक धर्म के लिए सहिष्णु थे, पर कबीर अपने ही विचारों का प्रचार देखना चाहते थे।

कबीर विधि-विरोधी और लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे, पर जायसी ने कभी किसी मत के खण्डन करने की चेष्टा नहीं की। इसका एक कारण था। जायसी का ज्ञान-क्षेत्र अधिक

विस्तृत था। इन पर इस्लाम की संस्कृति के साथ-साथ हिन्दू-धर्म की संस्कृति भी पूर्ण रूप से पड़ी थी—वे कबीर की भाँति केवल सत्संगी जीव नहीं थे—पर गम्भीर रूप से शास्त्रीय ज्ञान से पूर्ण मनुष्य थे। यह बात दूसरी है कि इन्होंने जन-साधारण की अवधी भाषा का प्रयोग किया, इस प्रकार का प्रयोग तो तुलसीदास ने भी किया था। ये भाषा के व्यवहार में कबीर के समकक्ष होते हुए भी ज्ञान-निरूपण मे अधिक मननशील और सयत थे। ये मसनवी की शैली में प्रेम-कहानी कहते हुए भी अपनी गम्भीरता नहीं खोते। यही इनकी विशेषता है। जायसी अपने ज्ञान में उत्कृष्ट होते हुए भी कबीर की महत्ता स्वीकार करते हैं :—

> ना—नारद तब रोइ पुकारा।
> एक जुलाहे सौं मैं हारा॥[1]

जायसी ने अपनी सम दृष्टि से दोनों धर्मों को अपनी प्रेम कहानी के सूत्र से एक कर दिया है। हिन्दू पात्रों के जीवन से इन्होंने सूफी सिद्धान्त निकाले हैं। 'अखरावट' में भी उन्होंने एक ओर सूफ़ी मत का वर्णन किया है, दूसरी ओर वेदान्त का।

सूफ़ीमत

> साईं केरा बार, जो थिर देखै औ सुनै।
> नई-नई करै जुहार, मुहम्मद निति उठि पाँच बेर॥
> ना-नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी॥
> कही सरीअत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू॥
> तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई॥
> जेहि के ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला॥
> राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़की॥

---

1. अखरावट (जायसी ग्रंथावली) पृष्ठ ३६५
ना० प्र० सभा, काशी (१६२४)

बूढ़ि उठै लेइ मानिक मोती । जाइ समाइ जोति महँ जोती ॥
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढावा । कर गहि तीर खेइ लेइ आवा ॥
साची राह सरीअत, जेहि विसवास न होइ ।
पाँव राखि तेहि सीढी, निभरम पहुँचै सोइ ॥[1]

वेदान्त

माया जरि अस आपुहि खोई । रहे न पाप, मैलि गइ धोई ॥
गौ दूसर भा सुन्नहि सुन्नू । कहँ कर पाप, कहाँ कर पुन्नू ॥
आपुहि गुरू, आपु भा चेला । आपुहि सब औ आपु अकेला ॥
अहै सो जोगी, अहै सो भोगी । अहै सो निरमल अहै सो रोगी ॥
अहै सो कड़ुवा अहै सो मीठा । अहै सो आमिल अहै सो सीठा ॥
वै आपुहि कहँ सब महँ मेला । रहै सो सब महँ, खेलै खेला ॥
उहै दोउ मिलि एकै भयऊ । बात करत दूसर होइ गयऊ ॥
जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोइ ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ ॥[2]

इस प्रकार जायसी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की सस्कृति का चित्र अपनी रचनाओं में प्रदर्शित किया है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि जायसी के साहित्यिक दृष्टिकोण को निर्मित करने में प्रत्येक संस्कृति का कितना हाथ है।

(क) मुसलमान संस्कृति

(१) मुसलमान सस्कृति का स्पष्टतः प्रभाव तो पहले जायसी की रचना-शैली पर ही पड़ा है। 'पदमावत' की रचना-शैली मसनवी के ढंग की है। समस्त रचना में अध्याय और सर्ग न होकर घटनाओं के शीर्षकों के आधार पर 'खड' हैं। कथा ५७ 'खडों' में समाप्त हुई है। कथा-प्रारंभ के पूर्व स्तुति खंड में ईश्वर स्तुति, मुहम्मद और उनके

१ वही, पृष्ठ १५३ २५४
२ ,, पृष्ठ १९८

चार मित्रों की वंदना, फिर तत्कालीन राजा (शेरशाह) की वंदना है। उसके बाद आत्म-परिचय देकर कथारम्भ किया गया है। आदि से अंत तक प्रबन्धात्मकता की रक्षा की गई है। यह सब मसनवी के ढंग पर किया गया है।

ईश्वर स्तुति

सुमरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥[१]

मुहम्मद स्तुति

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मोहम्मद पूनो करा ॥

चारि मीत जो मुहम्मद ठाऊँ। जिन्हहिं दीन्ह जग निरमल नाऊँ ॥[२]

सुल्तान स्तुति

सेरसाहि देहली सुल्तानू। चारिउ खंड तपै जस भानू ॥[३]

आत्म-परिचय

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी ॥[४]

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू ॥[५]

हौं पंडितन केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देई डगा ॥[६]

(२) समस्त कथा में सूफ़ी सिद्धान्त बादल मे पानी के बूँद की भाँति छिपे हुए हैं। 'सिंहलद्वीप वर्णन' खंड में सिंहलगढ़ का वर्णन आध्यात्मिक पद-प्राप्ति के रूप में किया गया है।

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र किवार।
चार बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार ॥

---

१. 'पदमावत' पृष्ठ १
२. ,, पृष्ठ ५
३. ,, पृष्ठ ५
४. ,, पृष्ठ ६
५. ,, पृष्ठ १०
६. ,, पृष्ठ १०

नव पौरी पर दसवँ दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा ॥[१]

इसमें साधकों की चार अवस्थाओं शरियत, तरीक़त, हक़ी[…] और मारिफ़त का संकेत बड़े चातुर्य से किया गया है। अन्त[…] समस्त कथा को सूफ़ी मत का रूपक दिया गया है।

मैं एहि अर्थ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माँही ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा[…]
गुरू सुवा जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाचा सोइ न एहि चित बंधा ॥[२]

(३) जायसी की इस्लाम धर्म में पूरी आस्था थी। उ[…] अनुसार इन्होंने मसनवियों की प्रेम-पद्धति का ही अधिक अनुस[…] किया है, यद्यपि बीच-बीच में हिन्दू लोक-व्यवहार के भाव अव[…] आ गए हैं। पद्मावती का केवल रूप वर्णन सुन राजा रत्नसेन[…] विरह में व्याकुल हो जाना बहुत हास्यास्पद है। मसनवियों की [...] पद्धति इसी प्रकार की है। रत्नसेन की व्याकुलता का चित्र जा[…] ने इस प्रकार खींचा है :—

सुनतहिं राजा गा मुरछाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई ॥
प्रेम-घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥
परा सो प्रेम समुद्र अपारा। लहरहि लहर होइ बिसभारा ॥
बिरह भौंर होइ भांवरि देई। खिन-खिन जीउ हिलोरा लेई ॥
खिनहि उसास बूड़ि जिउ जाई। खिनहि उठै निसरै बौराई ॥
खिनहिं पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहिं चेत खिन होइ अचेता।
कठिन मरन तें प्रेम बेवस्था। ना जिउ जियें न दसवँ अवस्था ॥
जनु लेनिहार न लेहि जिउ, हरहिं तराहहि ताहि ॥

---

१. वही, पृष्ठ १८
२ " पृष्ठ ३३२

एतनै बोल आव मुख करै, तराहि तराहि ॥[1]

(४) जायसी के विरह-वर्णन में वीभत्सता आ गई है। शृंगार रस के अंतर्गत विरह में रति की भावना प्रधान रहनी चाहिए, तभी रस की पुष्टि होगी। जायसी ने विरह में इतनी वीभत्सता ला दी है कि उससे रति के भाव को बहुत बड़ा आघात लगता है। यह वीभत्सता भी मसनवी की शैली से उद्भूत है।

विरह के दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ कीन्ह जस काठी॥
नैन नीर सों पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया॥
विरह सरागन्हि भूंजै मासू। गिरि-गिरि परै रकत कै आँसू॥[2]

इस विरह-वर्णन से सहानुभूति उत्पन्न न होकर जुगुप्सा उत्पन्न होती है। हिन्दी कविता के दृष्टिकोण से यह विरह-वर्णन शृंगार रस का अंग नहीं हो सकता।

(५) मसनवी की वर्णनात्मकता भी जायसी को विशेष प्रिय थी। इन्होंने छोटी-छोटी बातों का बड़ा विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इससे चाहे कथा का कलेवर कितना ही बढ़ जावे पर सजीवता को आघात लगता है। पाठक वर्णन-विस्तार में प्रधान भाव को भूलने लगता है और कथा की साधारण बातों में उलझ जाता है। 'पद्मावत' में इस वर्णन-विस्तार की बहुत अधिकता आ गई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वर्णन बहुत बड़े हो गए हैं :—

(अ) सिंहल द्वीप वर्णन

अमराई की अलौकिकता, पनघट का दृश्य, हिन्दू-हाट, गढ़ और राजद्वार, जलक्रीड़ा।

(आ) सिंहल द्वीप यात्रा वर्णन

प्राकृतिक वर्णन, मानसिक भावों के अनुकूल और प्रतिकूल दृश्य वर्णन।

---

१ वही, पृष्ठ ५३

२ वही, पृष्ठ ७०

(इ) समुद्र वर्णन

जल-जीवों का वर्णन, सात समुद्रों का वर्णन।

(ई) विवाह वर्णन

व्यवहारों की अधिकता, समारोह।

(उ) युद्ध वर्णन

शौर्य, शस्त्रों की चमक, झनकार, हाथियों की रेलपेल, सिर और धड़ का गिरना, वीभत्स व्यापार।

(ऊ) बादशाह का भोज वर्णन

भोजनों की लम्बी सूची।

(ए) चित्तौर गढ़ वर्णन

सिंहलगढ़ की भाँति वर्णन-विस्तार।

(ऐ) षट् ऋतु, बारह मासा वर्णन

उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक दृश्यों का विस्तारपूर्वक।

(ख) हिन्दू संस्कृति

(१) डिंगल साहित्य के बाद हिन्दी कविता का जो प्रवाह मध्यदेश में हुआ उसमें व्रजभाषा और अवधी का विशेष हाथ रहा। यों तो अमीर ख़ुसरो ने खड़ी बोली, व्रजभाषा और अवधी तीनों पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला था, पर यह रचना केवल प्रयोगात्मक थी। मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का सफल प्रयत्न किया। जायसी के बाद तुलसीदास ने तो अवधी को 'मानस' के कोमल कलेवर में अमर कर दिया। जायसी का अवधी प्रयोग यद्यपि असंस्कृत था, उसमें साहित्यिक सौन्दर्य की मात्रा तुलसी से अपेक्षाकृत कम थी, तथापि भाषा की स्वाभाविकता, सरसता और मनोगत भावों की प्रकाशन-सामग्री के रूप में जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र में मान्य बना दिया। इस अवधी प्रयोग के साथ जायसी ने हिन्दी छन्दों का भी

सरस प्रयोग किया। दोहा और चौपाई यद्यपि कुतुबन द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे, पर प्रेमाख्यानक काव्य में इन छन्दों का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग जायसी के द्वारा हुआ। इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थ 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोहा-चौपाई छन्दों में लिखे। सात चौपाई की पंक्तियों के बाद एक दोहा छन्द है। चौपाई की एक पंक्ति ही पूरा छन्द मान ली गई है। यदि दो पंक्तियों को छन्द माना जाता तो जायसी को आठ पंक्तियाँ लिखनी पड़तीं।

(२) जायसी ने हिन्दू-संस्कृति के अंतर्गत अनेक दार्शनिक और धार्मिक बातों की चर्चा की है। यद्यपि यह चर्चा अनेक प्रकार से अपूर्ण है, पर इससे हिन्दू प्रवृत्ति की ओर कवि की रुचि स्पष्ट लक्षित हो जाती है। हिन्दू संस्कृति की निम्नलिखित बातों की ओर कवि का विशेष लक्ष्य है :—

(अ) वेदान्त

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै ।
सूरज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए ॥[१]

(आ) हठयोग

नौ पौरी तेहि गढ मझियारा । और तहँ फिरहिं पाँच कुटवारा ।
दसवें दुवार गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥[२]

(इ) रसायन

होइ अबरक ईंगुर भया, फेरि अगिनि महँ दीन ।
काया पीतर होइ कनक, जो तुम चाहहु कीन ॥[३]

(३) सयोग और वियोग शृंगार-वर्णन यद्यपि कहीं-कहीं मसनवी की प्रेम-पद्धति से प्रभावित हो गए हैं पर वे अन्ततः हिन्दू संस्कृति के आधार पर ही लिखे गए हैं। हिन्दू पात्रों के होने के

---

१. 'अखरावट' पृष्ठ ३६७
२ 'पदमावत' पृष्ठ १००
३ वही, पृष्ठ १४०

कारण उनका दृष्टिकोण भी हिन्दू आदर्शों से पूर्ण है। विरह में षट्ऋतु और बारहमासा तो हिन्दी कविता की विशेष वस्तु है। अलंकारों के वर्णन में हिन्दी काव्य-परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों का भाव और चित्र आधार एक मात्र हिन्दू संस्कृति और साहित्य से ओतप्रोत है।

(४) पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू जीवन के आदर्श से पूर्ण सामञ्जस्य रखता है। पात्र स्वभावत. दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। एक का दृष्टिकोण सतोगुणी और दूसरे का तमोगुणी होता है। दोनों में संघर्ष होता है। अन्त मे पाप पर पुण्य की विजय हो जाती है और सम्पूर्ण कथा सुखान्त होकर एक शिक्षा और उपदेश सम्मुख रखने में समर्थ होती है। यही बात 'पदमावत' के प्रत्येक पात्र के सम्बन्ध में है। रत्नसेन में प्रेम का आदर्श है। वह सम्पूर्ण रूप से धीरोदात्त दक्षिण नायक है। धीरोदात्त नायक में जितने गुण होने चाहिए वे सभी गुण रत्नसेन में है। पद्मावती स्त्री-धर्म की मर्यादा में दृढ और प्रेम करने वाली है। नागमती भी प्रेम के आदर्श में दृढ़ है "मोहिं भोग सों काज न बारी। सौंह दीठि की चाहन हारी॥" में उसका उत्कृष्ट नारीत्व निहित है। वह रूपगर्विता भले ही हो, पर अपने पति के साथ सती होने की क्षमता रखती है। गोरा-बादल तो अपने वीरत्व के कारण अमर हैं। राजपूती स्वाभिमान और स्वामि-भक्ति का आदर्श उनके प्रत्येक कार्य में है। दूसरी ओर अलाउद्दीन राघव चेतन और देवपाल की दूती तामसी प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। अलाउद्दीन लोभी, अभिमानी और इन्द्रिय-लोलुप है राघवचेतन अहंकारी, कृतघ्नी, निर्लज्ज, नीच और वाममार्गी है। देवपाल की दूती धूर्त, प्रगल्भ और आडम्बरपूर्ण है। इन दोनों वर्गों के पात्रों में युद्ध होता है और अन्त में सतोगुण की विजय होती है। सूफ़ी मत के सिद्धान्तों से कथावस्तु का विकास होने तथा ऐतिहासिक घटना का आधार लेने के कारण घटनाओं में कहीं-कहीं व्याघात आ गया है और वे दु:खान्त हो गई हैं। पर सूफ़ीमत के दृष्टिकोण से

मरण दुःखान्त न होकर सुखान्त का साधन रूप है। रत्नसेन की मृत्यु के बाद पदमावती और नागमती का सती होना जहाँ एक ओर हिन्दू स्त्री के आदर्श की पूर्ति करता है, वहाँ दूसरी ओर सूफीमत के मिलन का उपक्रम भी करता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में हिन्दू संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रीति से है।

'पदमावत' की कथा

'पदमावत' की कथा अन्य प्रेम-कथाओं की भाँति प्रेम की अनुभूतियों से पूर्ण है। सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा हीरामन तोता से सुन कर चित्तौड़ का राजा रत्नसेन उससे विवाह करने के लिए सिंहलद्वीप की ओर प्रस्थान करता है। मार्ग में अनेक विस्तृत सागरों को पार कर वह सिंहल द्वीप पहुँचता है। वहाँ शिवजी की सहायता से भीषण युद्ध के बाद रत्नसेन पद्मावती से विवाह करता है। कुछ दिनों बाद वह चित्तौड़ लौट आता है। ज्योतिष सम्बन्धी अनाचार पर रत्नसेन राघवचेतन को देश-निकाला दे देता है जो अलाउद्दीन से मिलकर पद्मावती के सौन्दर्य की कहानी कह कर चित्तौड़ पर चढ़ाई करवा देता है। गोरा-बादल की सहायता के कारण अलाउद्दीन विजय प्राप्त नहीं कर सका। परंतु वह छलपूर्वक राजा को बांध ले जाता है। यहाँ पद्मावती गोरा-बादल की सहायता से राजा को चतुराई पूर्वक छुड़ा लेती है। रत्नसेन की अनुपस्थिति में देवपाल अपनी दूती भेज कर पद्मावती से प्रेम-याचना करता है। रत्नसेन जब यह सुनता है तो वह द्वन्द्व युद्ध में देवपाल का सिर काट लेता है पर देवपाल की सॉग से ख़ुद भी मर जाता है। पद्मावती और नागमती सती हो जाती हैं। स्वयं कवि इस कथा का सारांश स्तुति-खण्ड में इस प्रकार देता है :—

सिंहल द्वीप पदमिनी रानी।
रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥

अलउद्दीन देहली सुलतानू ।
राघो चेतन कीन्ह बखानू ॥
सुना साहि गढ छेंका आई ।
हिंदू तुरकन भई लराई ॥
आदि अंत जस गाथा अहै ।
लिखि भाखा चौपाई कहै ॥[1]

प्रेम-काव्य की कथाएँ अधिकतर काल्पनिक ही हैं पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ इतिहास की सहायता से अपने 'पदमावत' की कथा का निर्माण किया। रत्नसेन की सिंहल-यात्रा काल्पनिक है और अलाउद्दीन का पद्मावती के आकर्षण में चित्तौड़ पर चढ़ाई करना ऐतिहासिक। टाड ने पद्मिनी (या पद्मावती) के पति का नाम भीमसी लिखा है, पर आईन अकबरीकार ने रत्नसिंह ही लिखा है। जायसी ने यही नाम अपनी प्रेम-कथा के लिए चुना है। जायसी ने देवपाल का चित्रण भी कल्पना से ही किया है। रत्नसेन का मृत्यु सुल्तान के द्वारा न होकर देवपाल के हाथ से होना भी कवि की अपनी कल्पना है।

कवि ने अपनी कथा का विस्तार बड़े मनोरंजक ढंग से किया है। जहाँ घटनाओं की वास्तविकता का चित्रण किया है वहाँ तो कवि भाव-जगत में बहुत ऊँचा उठ गया है। घटनाओं की शृंखला पूर्ण स्वाभाविक है। यदि कहीं उसमें दोष है तो वह आदर्श और अतिशयोक्ति के कारण। हिन्दू-धर्म के आदर्शों ने कवि को एक सात्विक पथ पर चलने के लिए बाध्य किया है। कथा में कवि की मनोवृत्ति ऐसी ज्ञात होती है कि वह संसार को उसके वास्तविक नग्न स्वरूप में चित्रित करना चाहता है। पर उसका आध्यात्मिक संदेश और आदर्श के प्रति प्रेम उसे ऐसा करने से रोकते हैं। रत्नसेन के प्रेमावेश में अस्वाभाविकता है और यह अस्वाभाविकता

---

१. 'पदमावत' स्तुति, खंड, पृष्ठ १०

इसीलिए आ गई है कि कवि इस प्रेमावेश को आत्मा या साधक के प्रेमावेश में घटित करना चाहता है। वस्तुस्थिति के वर्णन में जो अस्वाभाविकता है उसमे भी साहित्य के आदर्श बाधा डाल देते हैं। कहीं-कहीं उनमें आध्यात्मिक तत्व खोजने के प्रयत्न में भी स्वाभाविकता का नाश हो जाता है। पदमावती के रूप-वर्णन में नखशिख खंड के अन्तर्गत कवि लंक-(कमर) चित्रण में लिखता है :—

बसा लंक बरनै जग झीनी ।
तेहि तें अधिक लंक वह खीनी ॥
परिहँस पियर भए तेहि बसा ।
लिए डंक लोगन्ह कहँ डसा ॥
मानहुँ नाल खंड दुइ भये ।
दुहुँ बिच लंक तार रहि गए ॥[१]

(संसार बर्रे की कमर की कृशता का प्रशंसा करता है पर पद्मावती की कमर उसकी कमर से भी पतली है। बर्रे लज्जित हो इसीलिए पीली पड़ गई है और ईर्ष्या वश डंक लेकर लोगों को काटती फिरती है। उसकी कमर मृणाल के दो खंड हो जाने पर बीच में लगे हुए तारों के समान क्षीण है।)

यहाँ यह वर्णन कितना अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसमे चाहे साहित्यिक चमत्कार भले ही हो, पर स्वाभाविकता नहीं है। आध्यात्मिक चित्रण की भावना मे भी वर्णन की स्वाभाविकता मे दोष आ गया है। पद्मावती के 'बरुनी-वर्णन' मे आध्यात्मिकता इस प्रकार प्रदर्शित की गई है :—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी ॥
जुरी राम रावन कै सैना। बीच समुद्र भये दुइ नैना ॥
वारहि पार बनावरि साधा। जा सहुँ हेर लाग बिष बाधा ॥

---

१. 'पदमावत' पृष्ठ ५१

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। वेधि रहा सगरी संसारा ॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओही के हने ॥
धरती बान वेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥
रोवँ-रोवँ मानुस तन ठाढे। सूतहि सूत वेध अस गाढ़े ॥
बरुनि बान अस ओ पहँ वेधे रन बन ढाँख ॥
सौजहि तन सब रोवाँ पखिहि तन सब पाँख ॥[१]

बरुनी को बाणों का रूप देकर संसार के रोम-रोम में उनका अस्तित्व घोषित करना वास्तव में उच्चकोटि का संकेत है। ऐसे ही स्थलों पर कहीं-कहीं वर्णन में अस्वाभाविकता आ जाती है, पर ऐसे वर्णन किसी प्रकार भी शिथिल नहीं होते, यह कवि की प्रतिभा की महानता है।

'पद्मावत' की कथा इतिवृत्तात्मक होते हुए भी रसात्मक है। बिना इतिवृत्त के कौतूहल की सृष्टि नहीं होती और बिना वर्णन-विस्तार के रसात्मकता नहीं आती। जहाँ जायसी ने कौतूहल की सृष्टि की है वहाँ इन्होंने वर्णन-विस्तार में भी मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री रक्खी है। कथावस्तु के पाँच भाग होते हैं। प्रारम्भ, आरोह, चरम सीमा, अवरोह और अंत। रसात्मकता के साथ कथावस्तु का रूप इस प्रकार है :—

१ पदमावत, पृष्ठ ४६
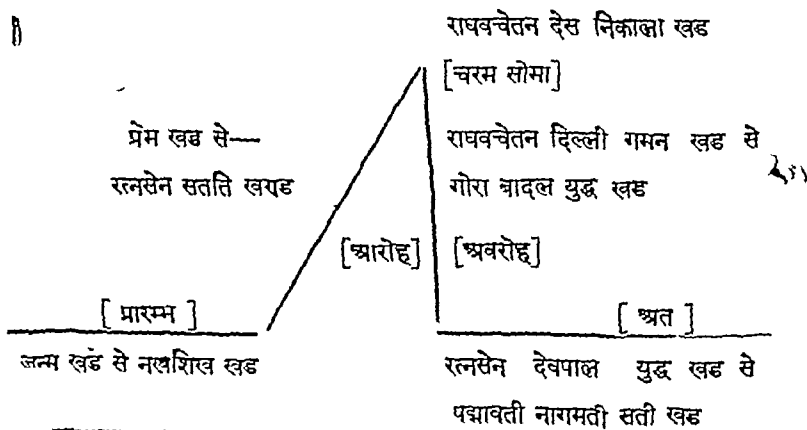
राघवचेतन देस निकाला खंड ही कथा के प्रवाह को बदल देता है, अतः वही कथा की चरम सीमा है। जन्मखंड से नखशिख खंड तक वातावरण की सृष्टि होती है। प्रेम खंड से संघर्ष प्रारम्भ होता है जो राघवचेतन देस निकाला खंड मे उत्कर्ष को प्राप्त होकर चरम सीमा का निर्माण करता है। राघवचेतन दिल्ली गमन खंड से अवरोह प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति गोरा बादल के युद्ध में होती है। अंत मे रत्नसेन देवपाल युद्ध से पद्मावती और नागमती के सती होने में कथा की समाप्ति है।

प्रधान कथा रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम-की ही है। यदि इसे आधिकारिक कथा-वस्तु मान लिया जावे तो इसकी सहायता के लिए इस आख्यान में प्रासगिक कथा वस्तु निम्नलिखित पात्रों की होगी :—

१. राघवचेतन—चित्तौड़ की चढ़ाई के पश्चात् इसका निर्देश भी नहीं है। यह केवल अवसर-विशेष पर काम कर कथावस्तु से निकल जाता है।

२. हीरामन तोता—इसका भी विवाह के बाद निर्देश नहीं है। यह सिंहलद्वीप का पथ-प्रदर्शन कर अपना कार्य समाप्त कर देता है।

३ तूफ़ान—यह अलाउद्दीन और रत्नसेन के बीच सन्धि कराने में प्रयुक्त पाँच रत्न उपस्थित करने में ही कथावस्तु मे स्थान पाता है।

४. देवपाल दूती—यह रत्नसेन और देवपाल में युद्ध कराने की अनुक्रमणिका प्रस्तुत करती है।

इनके द्वारा प्रासंगिक कथावस्तु का निर्माण होता है जिससे प्रधान या आधिकारिक कथावस्तु का विकास होता है। पदमावत' में कथा-वस्तु की ही प्रधानता है, क्योंकि कवि ने उन्हीं घटनाओं की सृष्टि की है जिनसे पात्रों के आदर्श की पूर्ति होते हुए भी कौतूहल उत्पादन

करने वाली प्रेम-कथा की रूप-रेखा निर्मित हो जावे। अत 'पदमावत' घटना-प्रधान कहा जा सकता है, पात्र प्रधान नहीं। घटना-प्रधान में वर्णनात्मकता का बहुत बडा स्थान है जिस पर पीछे विचार हो चुका है। कवि जिस चीज़ को हाथ में लेता है उसी का वर्णन-विस्तार कर देता है। उदाहरणार्थ सिंहलद्वीप में फूलों, फलों और घोड़ों के नाम, भोजन में पकवानों के नाम, पदमावती-रत्नसेन की प्रथम भेंट के समय सोलह शृंगार का वर्णन, रत्नसेन का रसायन और हठयोग सम्बन्धी ज्ञान आदि आवश्यकता से अधिक वर्णित हैं।

'पदमावत' का सबसे बडा सौन्दर्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में है। नागमती का विरह-वर्णन, उसकी उन्माद दशा, पशु-पक्षियों का उससे सहानुभूति प्रकट करना, पक्षी द्वारा सदेश आदि सभी स्वाभाविकता के साथ विदग्धतापूर्ण भाषा में वर्णित हैं। बारहमासा में वेदना का कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का मर्मस्पर्शी माधुर्य, प्रकृति की सजीव अभिव्यक्ति से हृदय की मनोहर अनुभूति है। इसी मनोवैज्ञानिक चित्रण में रसों का सफल प्रदर्शन हुआ है। जहाँ रत्नसेन पद्मावती मिलन में संयोग और नागमती के विरह-वर्णन मे वियोग शृंगार की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वहाँ गोरा-बादल के उत्साह में वीर रस जैसे साकार हो गया है। रत्नसेन के योगी होने और कथा के अन्तिम भाग में मारे जाने पर करुण रस की बड़ी सरस अभिव्यक्ति है। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी 'पदमावत' प्रेम-काव्य का एक चिरस्मरणीय रत्न रहेगा।

मलिक मुहम्मद जायसी के बाद प्रेम-काव्य में उसमान का नाम आता है जिन्होंने 'चित्रावली' नाम का ग्रंथ लिखा।

चित्रावली

'चित्रावली' को हम 'पदमावत' की छाया कह सकते हैं। 'पदमावत' में जिन-जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है, उन्हीं विषयों पर

चित्रावली' में भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। किन्तु यह कथा 'पदमावत' की भाँति ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध नहीं है। यह कल्पना-प्रसूत है। इसके सम्बन्ध में स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं :—

"कवि ने इस ग्रन्थ में ठौर-ठौर पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखलाने में कमी नहीं की है। कथा ऐतिहासिक घटना से नहीं ली गई जान पड़ती बल्कि कल्पना-प्रसूत है। नैपाल के राजसिंहासन पर एक भी पँवार राजा नहीं हुआ है। कथा विचारने से आध्यात्मिक प्रतीत होती है और इसीलिए ग्रन्थ में सुजान को शिव का अवतार लिखा है।"[1]

स्वयं कवि ने अपनी कथा को कल्पित बतला कर लिखा है:—

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ और सुनत सुहाई॥
कहौं बनाय जैस मोहिं सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा।[2]

'चित्रावली' की कथा में घटनाओं की शृंखला बहुत लम्बी और बहुत कौतूहलपूर्ण है। उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत रूप देने के लिये जबर्दस्ती विपत्तियों की कल्पना की गई है। संक्षेप मे नैपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र सुजान कुमार अनेक कठिनाइयों के बाद कँवलावती और चित्रावली से विवाह करने मे समर्थ होते हैं। दो राजकुमारियों से विवाह करने के पूर्व जितनी कठिनाइयाँ सामने आती हैं उनका विस्तृत वर्णन 'चित्रावली' में है।

इस ग्रन्थ मे जहाँ कल्पना का प्राधान्य है वहाँ ग्रन्थ मे आध्यात्मिकता रखने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। सरोवर खंड मे चित्रावली का जल में छिप जाना ईश्वर के गुप्त होने से साम्य रखता है। सखियाँ खोजती हैं और नहीं पातीं जिस प्रकार मनुष्य ईश्वर की खोज नहीं कर पाता।

१. चित्रावली (जगन्मोहन वर्मा द्वारा सम्पादित) भूमिका पृष्ठ. १६
नागरी प्रचारिणी सभा १६१२

२. वही, पृष्ठ १४

गुपुत तोहि पावहि का जानी, परगट महँ जो रहहि छपानी।
चतुरानन पढ़ि चारौं वेदू, रहा खोजि पै नाव न भेदू।
संकर पुनि हारे कै सेवा, ताहि न मिलिउ और को देवा।
हम अन्धी जेहि आपुन सूझा, भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा।
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं, हम चषु जोति न देखहिं काहीं।
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पन्थ।
कहा होइ जोगी भये, औ पुनि पढ़े गरंथ॥[1]

आध्यात्मिकता के साथ 'चित्रावली' में नीति के भी दर्शन होते हैं। इस नीति का आधार उसमान की लोकोक्तियाँ हैं, जो समस्त ग्रन्थ में भरी पड़ी हैं।

'चित्रावली' में भूगोल भी यथेष्ट वर्णित है। रचना के समय में अँग्रेजों का वर्णन उसमान की बहुज्ञता का सूचक है। उस समय अंग्रेजों को भारत में आये कठिनता से एक वर्ष ही व्यतीत हुआ था। इतने थोड़े समय में उसमान का अंग्रेजों के सम्बन्ध में उल्लेख उनकी ज्ञान-राशि का सूचक है:—

बलदीप देखा अँग्रेजा, तहाँ जाइ नहिं कठिन करेजा।
ऊँच नीच धन सपति हेरा, मद बराह भोजन जेहि केरा।

श्री जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं:—

'उस समय अंग्रेजों को आये इस देश में बहुत थोड़े दिन हुए थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी सन १६०० में लंडन में बनी थी और १६१२ में सूरत में कम्पनी ने अपना गोदाम बनाया था। उसके एक वर्ष बाद १६१३ का रचा हुआ यह ग्रंथ है। उस समय कवि का एक साधारण गाजीपुर ऐसे छोटे नगर में रह कर अंगरेज के विषय में इतनी जानकारी रखना कोई साधारण बात नहीं है।'[2]

उसमान जहाँगीर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम शेख

---

१. 'चित्रावली' (ना० प्र० सभा), पृष्ठ ४७-४८

२ वही (ना० प्र० सभा, पृष्ठ १७

हुसेन था। इनके चार भाई थे। ये गाज़ीपुर के निवासी थे और निज़ामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने 'चित्रावली' में हाजी बाबा की प्रशंसा जी खोल कर की है। ये समान कविता में अपना नाम 'मान' रखते थे।

इन प्रेमकथाओं के अतिरिक्त अनेक प्रेमकथाएँ ऐसी भी लिखी गईं जो सपूर्णतः आख्यानक थीं और उनमें प्रेम के मनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यञ्जना नहीं है। ये प्रेमकथायें गद्य और पद्य दोनों ही में लिखी गई हैं:—

ऐसी प्रेमकथाओं में निम्नलिखित प्रमुख हैं:—

[पद्य में]

१ माधवानल कामकन्दला—माधवानल और कामकन्दला की प्रेम-कथा प्रमुख रूप से तीन कवियों द्वारा रची गई है। पहले कवि हैं जैसलमेर के वाचक कुशल लाभ। इन्होंने संवत् १६१६ में रावल मालदे के राज्यकाल में कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ ५५३ पद्यों मे (चौपाई, दोहा और गाहा) मे लिखी। इस रचना का नाम 'माधवानल कामकन्दला चरित्र' है। दूसरे कवि हैं आलम। इन्होंने हिजरी ९९१ (संवत् १६४०) मे शाहंशाह जलालुद्दीन अकबर के राज्यकाल में दोहा चौपाई मे यह रचना लिखी। इसका नाम 'माधवानल भाषा बन्ध कवि आलमकृत' है। तीसरे कवि हैं गणपति जो नरसा के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १५८४ में राणा नाग के राज्य-काल में दोहों मे यह रचना लिखी। इसका नाम 'माधवानल प्रबन्ध दोग्धबन्ध कवि गणपति कृत' है। इसका निर्देश चारणकालीन साहित्य में हो चुका है।

२ कुतुब सतक—यह सम्पूर्ण रूप से एक प्रेम-कथा है जिसमें दिल्ली के सुलतान फ़ीरोज़शाह के शाहज़ादे कुतुब दी और एक मुसलमान किशोरी साहिबा का प्रेम वृत्तान्त है। डाकिनी देवर के प्रयत्नों से साहिबा फन्दे में आ जाती है और दोनों का विवाह हो

जाता है। यह कथा (वचनिका) तुकान्त गद्य में है और बीच बीच में दोहे हैं। इस प्रेमकथा का लिपिकाल संवत् १६३३ है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

३ रस रतन—इस ग्रन्थ में सूरसैन की बड़ी लम्बी कथा वर्णित है। इसमें स्थान स्थान पर नीति, शृंगार और काव्य के अनेक अगों का वर्णन है। इसमें प्रेमाख्यानक शैली का सम्पूर्णतः अनुसरण किया गया है और प्रत्येक बात का वर्णन विस्तारपूर्वक है। इस ग्रथ के लेखक मोहनदास के पुत्र पुहकर कवि थे, जो जाति के कायस्थ थे। ये प्रताप-पुर (मैनपुरी) के निवासी थे और जहाँगीर के समकालीन थे। इनका आविर्भाव काल सवत् १६७५ माना गया है।

४ ज्ञानद्वीप—इस ग्रन्थ में राजा ज्ञानद्वीप और रानी देवजानी की प्रेम-कथा है। इसके लेखक मऊ (दोसपुर, जौनपुर) निवासी शेख नबी थे। इनका समय सं० १६७६ माना गया है।

५ पंच सहेली कवि छीहल री कही—इस रचना मे पाँच तरुणी स्त्रियों—मालिन, तबोलिन, छीपन, कलालिन, सोनारिन ने प्रोषितपतिका नायिका के रूप में अपने प्रियतमों के विरह में अपने हृदय के करुण आवेगों का वर्णन सरोवर के किनारे जल भरते समय कवि छीहल से किया। प्रत्येक तरुणी ने अपने विरह का वर्णन अपने पति के व्यवसाय से सबध रखने वाली वस्तुओं के उल्लेख और तत्सम्बन्धी उपमाओं और रूपकों के सहारे किया है। कुछ दिनों बाद जब कवि छीहल की फिर उनसे भेट हुई तो वे अपने पतियों के आगमन से प्रसन्न थीं। इस रचना में केवल ६५ दोहे हैं। इसका लिपिकाल सवत् १६६९ है।

६ सदैवछ सावलिंगा रा दूहा—इसमें मूगी पटण (अमरावती) के राजा सालिवाहन के पुत्र सदैवछ और मन्त्री पुत्री सावलिंगा की प्रेम-कथा है। प्रारम्भ की वार्ता के बाद इसमें ३१ दोहे हैं। जिस

'फुटकर कविता' में यह रचना है, इसका लिपिकाल संवत् १७१० है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

७ सोरठ रा दूहा—यह रचना भी 'फुटकर कविता' (लिपि-काल संवत् १७१०) में है। इसमें बीजो और राव रूड़ो की स्त्री सोरठ के प्रेम के दोहे हैं। इसकी एक प्रति 'बीजा सोरठ री वात' भी है जिसका लिपिकाल सं० १८२२ है। उसमें गद्य-पद्य दोनों ही हैं। रचयिता अज्ञात है।

८ कनक मंजरी—इस ग्रंथ में रत्नपुर के व्यापारी धनधीर साह की स्त्री कनक मंजरी से वहाँ के राजकुमार ने पति-प्रवास में प्रेम-याचना की, पर वह सफल न हो सका। इस ग्रन्थ के लेखक औरंगजेब के सूबेदार निजामत खाँ के आश्रित कवि काशीराम थे। काशीराम ने यह कथा राजकुमार लक्ष्मीचन्द के लिए लिखी थी। सम्भव है, इसके पीछे लेखक का कोई उद्देश्य हो। काशीराम का आविर्भाव काल संवत् १७२० माना गया है।

९ मैनासत—यह एक नीति सम्बन्धी कथा है जो साधन कवि द्वारा दोहा-चौपाई में लिखी गई है। इसमे मालन रतना ने रानी मैना के पातिव्रत की परीक्षा ली है। जिस 'फुटकर कविता रो समह' मे यह कथा है, उसका लिपिकाल सवत् १७२४ और १७२७ के बीच में है।

१० मदन सतक—यह भी नीति संबंधी ११३ दोहों में लिखी गई एक प्रेम-कथा है जिसमे मदन कुमार और चंपकमाल का प्रेम वर्णित है। इसके रचयिता का नाम दाम है। दोहों के बीच-बीच में वार्ता (गद्य) भी है। यह कथा भी 'फुटकर कविता रो संग्रह' में है जिसका लिपिकाल संवत् १७२४ और १७२७ के बीच में है।

११ ढोला मारू रा दूहा—यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है और इसके रचयिता कुशललाभ कहे जाते हैं। इसमें ढोला और

मारव या मारू की प्रेम-कहानी है। इसका निर्देश चारण कालीन साहित्य में हो चुका है। कुशल लाभ के 'दूहों' में हरराज ने चौपाइयाँ जोड़ कर 'ढोला मारू री चौपही' की रचना की। 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' भाग १, में 'ढोला-मारू री चौपई' की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई जिनका लिपिकाल क्रमशः संवत् १७२६, १८१६ और १७६४ है। सवत् १७६४ वाली प्रति का नाम 'ढोला मारवणी री वात' है। बीकानेर में प्राप्त हुए एक संग्रह ग्रंथ में जो 'ढोलै मारू रा दूहा' सग्रहीत है, उसका लिपिकाल सवत् १७५२ है।

१२ विनोद रस—इसमे उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के पुत्र जयसेन और वहाँ के सेठ श्रीदत्त की पुत्री लीलावती की प्रेम-कथा है। इसके रचयिता का नाम सुमति हंस है। इसमें पद्य संख्या १६७ है। ग्रंथ दोहा-चौपाई छंद में लिखा गया है। बीच-बीच में सस्कृत श्लोक भी हैं। इसका लिपिकाल सवत् १७२७ है।

१३ पुहुपावती—इस रचना में राजकुँवर एवं पुहुपावती की प्रेम कहानी है। रचयिता का नाम दु.ख हरनदास कायस्थ है। इसका रचना काल संवत् १७३० के लगभग है। यह रचना औरंगजेब के समय में लिखी गई थी। इसका विवरण अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है।

१४ नल दमन—इसमें सुप्रसिद्ध आख्यान नल-दमयती का इतिवृत्त है। इसके रचयिता सूरदास हैं जो पुष्टि-मार्गी महाकवि सूरदास से भिन्न हैं। इसका रचना काल भी औरंगजेब के समकालीन सवत् १७३० है।

१५ जलाल गहाणी री वात—इसमें गजनीपुर के पातिशाह कुल्हनसीव के लड़के जलाल और थट्टोभाखर के पातिशाह मृग तमायची की वहिन गहाणी की प्रेम वार्ता मृग तमायची की स्त्री

चूँवना के साथ है। यह गद्य-पद्य मय है। इसका लिपि-काल संवत् १७७३ है।

१६ हंस जवाहर—इस ग्रन्थ में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम-कथा है। इसके लेखक दरियावाद (बाराबंकी) के निवासी कासिमशाह थे। इनका काल संवत् १७८८ माना गया है।

१७ चंदन मळयागिरि री वात—इसमें २०२ दोहों में चंदन और मलयागिरि की प्रेम-कथा वर्णित है। इसके रचयिता का नाम भद्रसेन है। इसका लिपि-काल संवत् १७६७ है। इसकी एक दूसरी प्रति भी है जिसका लिपिकाल सं० १८२२ है। इसमें दोहों की सख्या केवल १८६ है।

१८ मधुमालती—इसमें मधुमालती की प्रेम-कथा है। रचयिता निगम कायस्थ हैं। इसकी रचना ७६६ दोहा चौपाई छंदों में हुई है। इसका लिपिकाल संवत् १७६८ है।

१९ त्रिया विनोद—इस काल्पनिक कथा में मदनपुरी के श्रीपाल नामक सेठ की व्यभिचारिणी स्त्री की प्रेम लीला है। रचना दोहा-चौपाई छंदों में है जिनकी सख्या १७८१ है। इसके रचयिता का नाम मुरली है। लिपि-काल सवत् १८०० है।

२० इंद्रावती—इस ग्रन्थ मे कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आजमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कथा है।

इसके लेखक मुगल बादशाह मुहम्मद शाह के समकालीन (सं० १८०१) नूरमुहम्मद थे।

२१ कामरूप की कथा—इस ग्रन्थ मे राजकुमार कामरूप और राजकुमारी की प्रेम-कथा है। इस ग्रन्थ के लेखक हर सेवक मिश्र थे जो ओरछा दरबार के कवि थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८०१ माना गया है।

२२ चंद कुँवर री वात—इसमें अमरावती के राजकुमार और वहां के सेठ की पुत्री चंद कुँवरि की प्रेम-कथा है। रचयिता

प्रतापसिंह हैं। इसमें पद्य-सख्या ६५ है, बीच बीच में गद्य भी है। इसका लिपि-काल संवत् १८२२ है।

२३ प्रेमरतन—इस ग्रन्थ में नूरशाह और माहे मुनीर की प्रेम-कथा है। इसके लेखक फाजिल शाह थे, जो स० १६०५ में छतरपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह के दरबार में थे।

२४ पना वीरमदे री वात—'इसमें ईडर के राव राई भाण के कुँवर वीरमदे और पूंगल के सेठ शाहरतन की कन्या पन्ना की प्रेम-कहानी का वर्णन है।' रचना गद्य और पद्य दोनों में है। इसका लिपि-काल संवत् १६१४ है। रचयिता अज्ञात है।

गद्य

१ वात संग्रह—इस सग्रह में राजस्थान की प्रचलित १०५ कहानियाँ संग्रहीत हैं जिनमें अनेक प्रेम कहानियाँ भी हैं। इसका लिपि-काल संवत १८२३ है।

२ वीजळ विजोगण री कथा—इसमें गुजरात नरेश विजय-साल के पुत्र वीजल और सेठ कन्या विजोगण की प्रेम-कथा है। इसका लिपि-काल सवत् १८२६ है।

३ पेपल री वात—इसमें गुजरात के सोलंकी राजा साल्ह और एक दासी कन्या मोमल की प्रेम कथा है। यह रचना 'फुटकर वार्ता रौ संग्रह' में है, जिसका लिपिकाल संवत् १८५७ है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

४ रावळ लखणसेन री बात—इसमें रावल लखणसेन का विवाह जालोर के अधिपति कान्ह दे की पुत्री से हुआ किन्तु वह नीवो सेमालोत के साथ चोरी से छिपकर चली गई। बाद में रावल लषणसेन ने नीवो से इसका बदला लिया। यह रचना भी फुटकर वार्ताँ रौ संग्रह' में है जिसका लिपि काल संवत् १८४७ है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

५ राणै खेतै री वात—इसमें चित्तौड़ के राणा खेतों का एक बढ़ई की लड़की से प्रेम का वर्णन है। ('फुटकर वार्ता री संग्रह', लिपि-काल संवत् १८४७)

६ देवरै नायक दे री वात—इसमे देवली के अधिपति देवरो और सोरठ के अहीर राजा मूँढो की पुत्री नायकदे की प्रेम कथा है। यह रचना भी 'फुटकर वार्ताँ री संग्रह' के अंतर्गत है जिसका लिपि-काल संवत् १८४७ है।

७ वींझरै अहीर री वात—इसमें वीझरो अहीर और उसकी बहिन की नँनद के साथ प्रेम-कथा है। कथा तो गद्य में है किंतु बीच बीच में शृंगार रस के चुभते हुए दोहे हैं। यह भी 'फुटकर वार्ता री संग्रह' में है। अत: लिपि-काल संवत् १८४७ है।

८ ऊमादे भटियाणी री वात—इसमे जोधपुर के राव मालदे की भटियाणी रानी ऊमादे को एक दासी कन्या के प्रति इसलिए ईर्ष्या हुई कि राव मालदे उसे प्यार करते थे। रानी ने प्रतिज्ञा की कि वह जीवन भर अपने पति से नहीं बोलेगी। उसने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति की और जब राव मालदे की मृत्यु हुई तो वह उनके साथ सती हुई। यह रचना भी उपर्युक्त संग्रह ग्रन्थ मे है जिसका लिपि-काल संवत् १८४७ है।

९ सोहणी री वात—इसमें जटमल अरोड़ा की स्त्री सोहणी की, उसके प्रेमी मलियार से प्रेम-कथा है। यह रचना भी उपर्युक्त संग्रह ग्रंथ मे है। लिपि-काल १८४७ है।

१० पंमै धोरान्धार री वात—इसमे पूगल के अधिपति बुध पँमों (उर्फ धोरान्धर) की प्रेम गाथा कंठोई की अत्यंत रूपवती कन्या के साथ है। यह रचना भी उपर्युक्त संग्रह ग्रन्थ में है। लिपि-काल १८४७ है।

प्रेम-काव्य का सिंहावलोकन

हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का प्रेम-पूर्ण सम्मिलन ही प्रेम-काव्य की अभिव्यक्ति है। हिन्दू धर्म के प्रधान आदर्शों को मानते हुए भी सूफ़ी सिद्धान्तों के निरूपण मे मुसलमान लेखकों की कुशलता है। इन दोनों भिन्न सिद्धान्तों के एकीकरण ने प्रेम-काव्य को सजीवता के साथ ही साथ लोकप्रियता भी प्रदान की। फल स्वरूप जिस प्रकार सत-काव्य की परम्परा धार्मिक काल के बाद भी चलती रही उसी प्रकार प्रेम-काव्य की परम्परा भी धार्मिक काल के बाद भी साहित्य में दृष्टिगोचर होती रही।

वर्ण्य विषय—प्रम-काव्य की समस्त कथा हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती है जिसमें स्थान-स्थान पर हिन्दू देवी और देवताओं के लिए सम्मान की शब्दावलियाँ प्रयुक्त हैं। यद्यपि ऐसी प्रेम-कथाओं का निष्कर्ष एकमात्र सूफ़ी मत का प्रतिपादन ही है, पर उसमें हिन्दू धर्म के लिए न तो अश्रद्धा है और न अपमान ही। हिन्दू धर्म और देवताओं का निर्देश अलौकिक घटनाओं और चमत्कार उत्पन्न करने में पाया जाता है। सारी कथावस्तु प्रेमाख्यान में ही विस्तार पाती है और उसमें किसी प्रकार की उपदेश देने की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। कथा-समाप्ति पर सक्षेप में कथा के अंगों और पात्रों को सूफीमत पर घटित कर दिया जाता है और समस्त कथा में एक आध्यात्मिक अभिव्यजना (Allegory) आ जाती है। उदाहरण के लिए जायसी का 'पदमावत' ही लिया जा सकता है। समस्त कथा रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम और उसके विकास में समाप्त हो जाती है, अन्त में जायसी इस कथा में सूफ़ी सिद्धान्तों की रूप-रेखा निर्धारित करते हैं। अतः हिन्दू धर्म के वातावरण में सूफी सिद्धान्तों के प्रचार करने में इस प्रेम काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। सभी प्रेम-कथाएँ मुसलमानों के द्वारा नहीं लिखी गईं। बहुत से हिन्दू लेखकों ने भी

प्रेम-कथाएँ लिखी हैं जिनमें प्रेम-काव्य की परम्परा का अनुसरण किया गया है। कथावस्तु भी हिन्दू पात्रों के जीवन को स्पर्श करती है, पर उसमें किसी सूफ़ी सिद्धान्त के निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया गया। उसमें केवल आख्यायिका और उससे उत्पन्न मनोरंजन की भावना ही प्रधान है। यह आख्यायिका कहीं-कहीं ऐतिहासिक हो जाती है, कहीं कहीं काल्पनिक। हरराज की ढोला मारवणी चउपही, काशीराम की कनक मंजरी, हरसेवक की कामरूप की कथा आदि ऐसी प्रेम कथाएँ हैं जिनमें केवल कथा का कौतूहल है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं।

अत निष्कर्ष यह निकलता है कि जब प्रेम-कथा किसी मुसलमान के द्वारा लिखी गई है तो उसमे कथा की गति मे सूफी मत के सिद्धान्तों की गति भी चलती रहती है, जब प्रेम-कथा किसी हिन्दू के द्वारा लिखी गई है तो उसमें केवल प्रेम की रसमयी कहानी रहती है, किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन की चेष्टा नहीं।

छन्द

इस प्रेम-काव्य की समस्त परम्परा में दोहा और चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं; वर्णनात्मकता में ये छन्द इतने उपयुक्त साबित हुए कि आगे चल कर तुलसीदास ने अपने 'मानस' के लिए भी ये छन्द ही उपयुक्त समझे। अवधी भाषा के साहचर्य से दोहा और चौपाई छंद इतने सफल हुए जितने वे व्रजभाषा के सम्पर्क मे आकर नहीं। श्री जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं :—

"व्रजभाषा में दोहा रचने मे विहारी सिद्धहस्त थे और उनके दोहों में बड़े गूढ़ भाव पाये जाते हैं जिसके विषय में 'सतसय्या के दोहरे अरु नावक के तीर' की जनश्रुति प्रख्यात है। पर पद-लालित्य में उनके दोहे भी पूर्वी भाषा के दोहों को कभी नहीं पहुँच सकते।'[१]

---

१ चित्रावली (श्री जगन्मोहन वर्मा) भूमिका, पृष्ठ ७
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१६१२,

वर्मा जी के इस कथन में बहुत सत्य है।

'मधुमालती' और 'मृगावती' में चौपाई की पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है। जायसी ने पाँच के बदले सात पंक्तियाँ अपने पदमावत में रक्खीं। तुलसीदास ने सात के बदले आठ पंक्तियाँ रक्खीं। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि मुसलमानों ने चौपाई के दो चरणों को ही चौपाई का पूर्ण छन्द मान लिया। इस प्रकार वास्तव में 'मृगावती' और 'मधुमालती में ढाई चौपाई के बाद और 'पदमावत' में साढ़े तीन चौपाई के बाद एक दोहा है। तुलसीदास संस्कृत के विद्वान और पिंगल के आचार्य थे, अत. उन्होंने आठ पंक्तियाँ लिख कर वास्तव में चार चौपाई के बाद एक दोहा रक्खा, जो काव्य की दृष्टि से युक्तिसगत था।

भाषा

प्रेम-काव्य की भाषा अवधी है। अवधी भाषा के प्रथम कवि खुसरो थे। उन्होंने सबसे पहले ब्रजभाषा के साथ ही साथ अवधी में में भी काव्य-रचना की, यद्यपि उनका दृष्टिकोण पहेलियों तक ही सीमित था। खुसरो के समय में काव्य की दो ही प्रधान भाषाएँ थीं, ब्रजभाषा और अवधी। दोनों के आदर्श भिन्न भिन्न थे। काल क्रमानुसार अवधी कविता में ब्रजभाषा से पहले प्रयुक्त हुई। अवधी ने अपभ्रश का लोकप्रिय 'विअक्खरी' या 'दोहया' छन्द ही प्रयोग के लिये स्वीकार किया। खुशरो ने एक सुन्दर दोहा लिखा है :—

> गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
> चल खुसरो घर आपने, साँझ भई चहुं देस॥

दोहा छन्द अवधी में ऐसा 'फ़िट' हुआ कि अन्य किसी भाषा में 'दोहे' के साथ इतना न्याय नहीं हुआ। यही हाल चौपाई का रहा। अवधी में चौपाई का जो रूप निखरा वह ब्रजभाषा में भी नहीं। ब्रज-भाषा का सौन्दर्य तो पद, सवैया और कवित्त में उद्भासित हुआ। यही कारण है कि तुलसी ने 'मानस' को अवधी में लिख कर दोहे और

चौपाइयों का प्रयोग किया और 'कवितावली' व्रजभाषा में लिख कर सवैयों और कवित्तों का प्रयोग किया। 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' में भी व्रजभाषा की छटा पदों में प्रदर्शित की। अवधी भाषा ही चौपाई में सौन्दर्य ला सकी। सूरदास और बिहारी की व्रजभाषा भी दोहों की रचना में अपेक्षाकृत असफल ही रही। बिहारी में पद-लालित्य अवश्य है।

जो अवधी इस प्रेम-काव्य में प्रयुक्त है, वह अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। वह जन-समाज की बोली के रूप में है। उसमें संस्कृत के कठिन समास या दुरूह शब्दावलियाँ नहीं हैं। तुलसीदास ने अपनी अवधी को संस्कृतमय कर अपने शब्द भाण्डार का अपरिमित परिचय दिया है पर प्रेम-काव्य के कवियों ने भाषा का यथातथ्य स्वरूप कविता में सुरक्षित रक्खा। तुलसीदास ने लिखा—

> जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
> सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

जायसी ने लिखा—

> काल आय दिखलाई साँटी। तब जिउ चला छाँड़ि कै माटी।

पहले उद्धरण में यदि पांडित्य और सरसता है तो दूसरे में स्वाभाविकता और सरलता। प्रेम-काव्य के कवियों ने अवधी का अत्यन्त स्वाभाविक और यथातथ्य स्वरूप सुरक्षित रक्खा। साहित्य को प्रेम काव्य की यह सबसे बड़ी देन है।

रस

प्रेम-काव्य में प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दो पक्ष हैं, संयोग और वियोग। प्रेम-काव्य में जहाँ सूफ़ीमत का प्राधान्य है, वहाँ वियोग शृंगार का आधिक्य है, क्योंकि साधक का विरह ईश्वर से बहुत दिनों तक रहता है। अन्त में अनेक प्रकार की कठिनाइयों को

पार कर सयोग की अवस्था आती है। इसलिए वियोग का अनुभव यथेष्ट समय तक रहता है। यह वियोग प्रेम-काव्य मे प्रायः किसी राजकुमारी के सौन्दर्य की कहानी सुनकर अथवा चित्र देख कर जागृत हुआ करता है। 'पदमावत' मे रत्नसेन को हीरामन तोते द्वारा कही हुई पद्मावती की प्रेम-कहानी सुन कर विरह का अनुभव होता है। 'चित्रावली' में राजकुमार सुजान चित्रावली की चित्रसारी में उसका चित्र देख कर वियोग में दुःखी होता है। मान भी प्रेम-काव्य में मध्यम और गुरु हो जाता है। अधिकतर गुरु मान ही हुआ करता है, क्योंकि साधना में बड़ी कठिनाई से ईश्वर से सामीप्य प्राप्त होता है। प्रवास भूत और भविष्य दोनों प्रकार का होता है। नागमती का विलाप प्रवास के दृष्टिकोण से वियोग शृंगार का अच्छा उदाहरण है। प्रेमकाव्य में शृंगार रस की सम्पूर्ण विवेचना है। स्पष्टता के लिए प्रेमकाव्यान्तर्गत शृंगार रस के अंगों का निरूपण करना अयुक्तिसगत न होगा :—
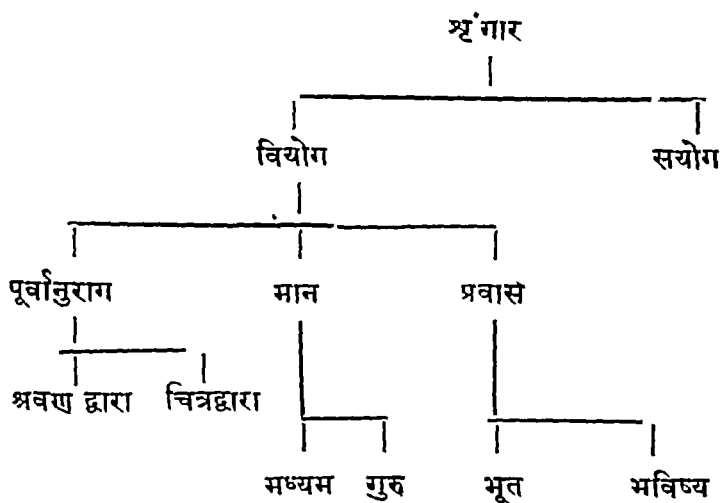
शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस कथावस्तु की मनोरंजकता बढ़ाने के लिये प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, हास्य रस और रौद्र रस का अभाव अवश्य है। सभव है, प्रेमकाव्य में इनकी आवश्यकता न

मानी गई हो। एक बात द्रष्टव्य है। प्रेम-काव्य के वियोग शृंगार में कहीं-कहीं वीभत्स चित्रावली के भी दर्शन हो जाते हैं। इसका कारण संभवतः यह हो कि मसनवी की प्रेम-पद्धति में विरह-वर्णन कोमल न होकर भीषण हुआ करता है। मांस और रक्त का वर्णन तो विरह-वर्णन में अवश्य ही रहता है। हिन्दू दृष्टिकोण में शृंगार रस के स्थायी भाव रति से मांस और रक्त की भावना का सामंजस्य हो ही नहीं सकता। अत शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रेम-काव्य में रस-दोष आ जाता है। शत्रु और मित्र रस समान रूप से साथ प्रस्तुत किये जाते हैं।

विशेष

प्रेम-काव्य की परम्परा में आख्यायिका-साहित्य का यथेष्ट विकास हुआ। इस साहित्य का पोषण हिन्दू और मुसलमान जाति की दो भिन्न संस्कृतियों में हुआ। हिन्दू संस्कृति ने आचारगत आदर्शवाद और मुसलमान संस्कृति ने सूफ़ीमत के सिद्धान्तों से प्रेम काव्य को पुष्ट किया। प्रेम-काव्य मसनवियों की शैली पर है और मसनवी सम्भवतः "अल्फ़ लैला" के घटना-वैचित्र्य से निर्मित हुई। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी का कथन है—"कहानियों की प्रसिद्ध 'अल्फ़ लैला' नाम की पुस्तक में सिन्दबाद के नाम की दो कहानियाँ हैं, जिनमें से एक में सिन्दबाद नाम के व्यापारी की जल-यात्रा की और दूसरे मे स्थल-यात्रा की विलक्षण और अद्भुत घटनाएँ बतलाई गई हैं।[1]" 'अल्फ़ लैला' की वर्णनात्मकता और विलक्षण घटना-कौतूहल ने ही संभवतः मसनवियों को जन्म दिया। अतः हमारे साहित्य का प्रेम-काव्य मुसलमानों के माध्यम से 'अल्फ़ लैला' का रूपान्तर ज्ञात होता है।

---

१. अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ ११४
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३९)

जहाँ तक धर्म से सम्बन्ध है, हिन्दुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफ़ीमत में बहुत साम्य है। नदवी साहब सूफ़ीमत को वेदान्त से प्रभावित मानते हैं। वे कहते हैं:—"इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर, भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा।[1]" इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों ने प्रेम-काव्य की रूप-रेखा का निर्माण किया। जो प्रेमकथाएँ मुसलमान लेखकों द्वारा लिखी गई हैं, उनमें धार्मिक सकेत अवश्य है, पर जो प्रेम-कथाएँ हिन्दू लेखकों द्वारा लिखी गई हैं उनमें काव्यत्व और घटना वैचित्र्य ही प्रधान है। इतना अवश्य है कि हिन्दू प्रेम-कथाकारों ने मुसलमानों द्वारा चलाई गई प्रेम-कथा के आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन किया है। दोनों प्रकार के लेखकों में भाषा का भी थोड़ा अन्तर है। मुसलमान लेखकों ने भाषा का सरल और स्वाभाविक रूप रक्खा है, क्योंकि वे साहित्यिक भाषा से पूर्ण परिचित नहीं थे। किन्तु हिन्दू लेखकों ने अपनी भाषा में काव्यत्व लाने की भरपूर चेष्टा की है। इससे भाषा पूर्ण स्वाभाविक नहीं रह गई। उसमें सस्कृत की बहुत सी पदावलियाँ स्थान पा गई हैं। इतना होने पर भी मुसलमान लेखक हिन्दू लेखकों से प्रेम-कथा लिखने मे आगे माने जायँगे। साधारण भाषा में उत्कृष्ट भावों का प्रदर्शन करना कवित्व की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। इस कसौटी पर मुसलमान लेखकों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। प० रामचंद्र शुक्ल इन आख्यानकों के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"हिन्दी में चरित-काव्य बहुत थोड़े हैं। ब्रजभाषा में तो कोई ऐसा चरित-काव्य नहीं, जिसने जनता के बीच प्रसिद्धि प्राप्त की हो। पुरानी हिन्दी के 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हम्मीर रासो' आदि वीर-गाथाओं के पीछे चरित-काव्य की परम्परा हमें

---

१ वही, पृ २०३

अवधी भाषा में ही मिलती है। व्रजभाषा में केवल व्रजवासीद कुछ 'व्रजविलास' का कुछ प्रचार कृष्ण-भक्तों में हुआ, शेष 'राम रसायन' आदि जो दो-एक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए वे जनता को कुछ भी आकर्षित नहीं कर सके। केशव की 'रामचद्रिका' का काव्य-प्रेमियों में आदर रहा, पर उसमें प्रबन्ध काव्य के वे गुण नहीं हैं, जो होने चाहिए। चरित-काव्य में अवधी भाषा को ही सफलता हुई और अवधी भाषा के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत'। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में हम जायसी के उच्च स्थान का अनुमान कर सकते हैं।[1]"

छठा प्रकरण

राम-काव्य

उत्तरी भारत में राम-भक्ति का जो प्रचार हुआ, उसका एकमात्र श्रेय रामानन्द ही को है। रामानन्द के पूर्व यद्यपि अनेक वैष्णव भक्त हो चुके थे तथापि राम भक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही समझे गए। रामानन्द ने संस्कृत के साथ जन-समाज की बोली में ही वैष्णव धर्म का प्रचार किया। रामानन्द के शिष्य कबीर ने यद्यपि राम नाम का आश्रय लेकर ही संतमत की रूप-रेखा निर्धारित की, तथापि राम-भक्ति का पूर्ण विकास तुलसीदास की रचनाओं में ही हुआ। राम काव्य के कवियों पर विचार करने से पूर्व राम-भक्ति के विकास पर दृष्टि डालना उचित होगा।

राम का महत्त्व प्रथम हमें 'वाल्मीकि रामायण' में मिलता है। इसकी तिथि ईसा के ६०० या ४०० वर्ष पूर्व मानी जाती है।[१] वाल्मीकि के प्रथम और सप्तम काण्ड तो प्रक्षिप्त माने गए हैं, पर द्वितीय से षष्ठ काण्ड तो मौलिक और प्रामाणिक हैं। यद्यपि उनकी वास्तविकता में भी कहीं-कहीं संदेह है, पर अधिकतर उनका रूप विकृत नहीं हो पाया है। 'वाल्मीकि रामायण' का दृष्टिकोण लौकिक है। इसकी यह सबसे बड़ी विशेषता है, क्योंकि इसके द्वारा ही हम धर्म के यथार्थ रूप का परिचय पा सकते हैं। ग्रंथ धार्मिक न होने के कारण अन्धविश्वास और भावोन्मेष से रहित है, अत: इसमें हम लौकिक दृष्टिकोण से धर्म का रूप पा सकते हैं। राम प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य ही हैं, उनमें देवत्व की छाया भी नहीं है। वे एक महापुरुष अवश्य हैं, पर अवतार नहीं। 'वाल्मीकि रामायण'

---

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिटरेचर ऑव् इंडिया, पृष्ठ ४ [जे. एन फरकुहार]

में वैदिक देवता ही मान्य हैं, जिनमें इन्द्र का स्थान अवश्य कुछ ऊँचा है। इनके सिवाय कुछ अन्य देवी और देवता भी हैं, जिनमें कार्तिकेय और कुवेर तथा लक्ष्मी और उमा मुख्य हैं। विष्णु और शिव का भी स्थान महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उतना ही जितना ऋग्वेद में है। अतः 'वाल्मीकि रामायण' में विष्णु और राम का कोई सम्बन्ध नहीं है और न राम अवतार रूप में ही हैं। वे केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं, धीरोदात्त नायक हैं।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व राम अवतार के रूप में माने जाते हैं। इस समय मौर्यवंश का विनाश हो गया था। उसके स्थान पर सुंग वंश की स्थापना हो गई थी। बौद्ध धर्म विकास पर था। इसी समय बुद्ध ईश्वरत्व के गुणों से विभूषित होने लगे थे। बौद्धमत में वे नवीन शक्तियों से संयुक्त भगवान के पद पर आरूढ़ होने जा रहे थे। सम्भव है, बौद्ध धर्म की इस नवीन प्रगति ने राम को भी देवत्व के स्थान पर आरूढ़ कर दिया हो। इस समय 'वायु पुराण' में राम की भावना विष्णु के अवतारों में मानी गई। उसमें राम ईश्वरत्व के पद पर अधिष्ठित होते हैं। 'वायुपुराण' का रचना-काल संदिग्ध है। उसकी रचना कुछ इतिहासज्ञों द्वारा ईसा के ५०० वर्ष पूर्व भी मानी गई है।[१] जो हो, 'वायुपुराण' अधिक अंशों में बौद्धमत की भावना से अवश्य प्रभावित हुआ।

'वाल्मीकि रामायण' के प्रक्षिप्त अंशों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवों के रूप में समान प्रकार से मान्य हैं और राम अंशतः विष्णु के अवतार हैं। इन्द्र के अनेक गुण विष्णु में स्थापित हो गये हैं और वे अब अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे हैं। राम के रूप में विष्णु की उपासना का क्षेत्र विस्तृत हो गया, क्योंकि देव-पूजा के साथ-साथ वीर-पूजा की भावना भी हिन्दू धर्म में अंतर्गत आ गई।

---

१ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स, भाग १२, पृष्ठ ५७१

ईसा के २०० वर्ष बाद 'महाभारत' में 'अनुगीता' के अंतर्गत विष्णु के अवतारों की मीमांसा की गई है। उसमें विष्णु के छः अवतार माने गए हैं:—वाराह, नृसिंह, वामन, मत्स्य, राम और कृष्ण। 'मानव धर्म शास्त्र' के अंतर्गत मोक्षधर्म के एक विशेष भाग का नाम 'नारायणीय' है। उसमें वैष्णव धर्म का विकास और भी हुआ है। उसमें विष्णु का विकास 'व्यूह' के रूप में हुआ है। इस प्रकार विष्णु स्रष्टा के रूप में चतुर्व्यूहियों का वेश धारण करते हैं। इसमें वासुदेव के साथ साथ सात्वत और पंचरात्र नाम भी इस वैष्णव मत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'नारायणीय' में विष्णु के अवतारों की संख्या छः से बढ़ कर दस हो गई है। 'नारायणीय' के बाद 'संहिता में शक्ति का सम्बन्ध भी विष्णु से हो गया[1]। राम-भक्ति में इस शक्ति ने सीता का रूप धारण किया। राम का पूर्ण रूप गुप्त काल में ही निर्मित हुआ जब 'विष्णु पुराण' (ईस्वी सन् ४००) की रचना हुई। ईसा की छठी शताब्दी के बाद राम की भक्ति का विकास 'राम पूर्व तापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तर तापनीय उपनिषद्' में हुआ जहाँ राम ब्रह्म के अवतार माने गए हैं। जिस ब्रह्म के वे अवतार हैं, उसका नाम विष्णु है। इसके बाद ही 'अगस्त सुतीक्ष्ण सम्वाद संहिता' में राम का महत्त्व अलौकिक रूप में घोषित किया गया है। आगे चल कर 'अध्यात्म रामायण' में राम देवत्व के सबसे ऊँचे शिखर पर आ गए हैं। उनकी महिमा का विस्तृत विवरण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'भागवत पुराण' द्वारा प्रचारित हुआ। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक राम के रूप में परिवर्द्धन होता रहा। इसी समय रामभक्ति ने एक सम्प्रदाय का रूप धारण किया।[2] रामानन्द ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में

---

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिटरेचर, पृष्ठ १८४
(जे० एन० फ़ार्कुहार)

२ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्, पृष्ठ ४७ (सर आर० जी० भंडारकर)

इसी राम मत का प्रचार उत्तर-भारत में जाति-बन्धन को ढीला कर सर्व साधारण में किया। इस राम-भक्ति का प्रचार तुलसीदास की रचनाओं द्वारा चिरस्थायी जीवन और साहित्य का एक अंग बन गया। रामानन्द ने दास्य भाव से उपासना की। उसी का अनुसरण तुलसीदास ने किया। अपने विचारों का प्रतिपादन रामानन्द ने अनेक ग्रन्थों मे किया जिनमे मुख्य ग्रन्थ 'वैष्णव मतांतर भास्कर' और 'श्री रामार्चन पद्धति माने गए हैं। सम्भव है, प्रचारक और सुधारक होने के कारण रामानन्द ने अन्य ग्रन्थों की रचना भी की हो, पर वे ग्रन्थ अब अप्राप्य हैं। सम्प्रदाय सम्बन्धी एक ग्रन्थ का पता चलता है। वह है 'राम रक्षा स्तोत्र' या 'सञ्जीवनी मत्र,' पर उस ग्रन्थ की रचना इतनी निम्न कोटि की है कि वह रामानन्द के द्वारा लिखा गया ज्ञात नहीं होता। यह भी सम्भव हो सकता है कि मंत्र या स्तोत्र लिखने में प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं हो पाता। नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०० की खोज-रिपोर्ट में इस ग्रथ के लेखक को अज्ञात माना गया है। खोज रिपोर्ट १९०६-७-८ मे इस ग्रन्थ के लेखक कबीर माने गए हैं। सम्भव है, प्रारम्भिक 'राम रक्षा स्तोत्र' रामानन्द ने लिखा हो, बाद मे उसका रूप विकृत हो गया हो। यह भी सम्भव है कि रामानन्द के शिष्यों मे से किसी ने रामानन्द के नाम से ही यह स्तोत्र लिख दिया हो। जो हो यह रचना अत्यन्त साधारण है। रामानन्द ने संस्कृत के अतिरिक्त भाषा में भी काव्य-रचना की। यद्यपि उनका कोई महान ग्रन्थ प्राप्त नहीं है, तथापि उनके कुछ स्फुट पद अवश्य पाये जाते हैं। रामानन्द की हिन्दी साहित्य सम्बन्धी सेवा यही क्या कम है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कबीर और अपने आदर्शों से तुलसी जैसे महाकवि उत्पन्न किये। रामानन्द के आदर्शों से प्रभावित होकर राम-काव्य की जो धारा हिन्दी साहित्य मे प्रवाहित हुई, उस पर यहाँ विचार करना आवश्यक है।

राम-साहित्य की प्रगति

तुलसी ने रामानन्द के सिद्धान्तों को लेकर अपनी प्रतिभा से जो रामभक्ति सम्बन्धी कविता की, उसका महत्त्व स्थायी सिद्ध हुआ। न केवल उनके काल में ही, वरन् परवर्ती काल में भी राम-भक्ति की धारा अबाध रूप से प्रवाहित होती रही। तुलसी की प्रतिभा और काव्य-कला इतनी उत्कृष्ट प्रमाणित हुई कि उनके बाद किसी भी कवि की रामचरित सम्बन्धी रचना उनके मानस की समानता में प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकी। कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता किसी अंश तक राम-साहित्य के लिए बाधक मानी जा सकती है, पर तुलसी की काव्य-रचना की उत्कृष्टता आने वाले कवियों को प्रसिद्धि प्राप्ति का अवसर न दे सकी। मानस के सामने कोई भी प्रबन्ध-काव्य आदर की दृष्टि से न देखा गया। इतना अवश्य है कि राम-साहित्य में तुलसी की रचना कवियों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य अवश्य करती रही। संक्षेप में राम-साहित्य की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) राम साहित्य ने वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रखकर सेवक-सेव्य भाव पर ज़ोर दिया।

(२) ज्ञान और कर्म से भक्ति श्रेष्ठ समझी गई।

(३) इस साहित्य मे सभी प्रकार की रचना-शैलियों का प्रयोग किया गया। इसमें श्रव्य के साथ-साथ दृश्य काव्य भी पाया जाता है और मुक्तक रचनाओं के साथ साथ प्रबन्ध काव्य भी।

रामकाव्य के सबसे प्रधान कवि तुलसीदास हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से राम-काव्य को ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दी साहित्य को आलोकित कर दिया है। अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसीदास ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने दोहा और चौपाई मे राम-कथा को पहली बार प्रस्तुत किया।

तुलसीदास का समकालीन मुनिलाल भी एक ऐसा कवि था जिसने संवत् १६४२ में 'रामप्रकाश' नामक एक ग्रन्थ की रचना राम-कथा पर की थी। उस ग्रंथ की विशेषता यह थी कि राम-कथा का चित्रण रीतिशास्त्र के अनुसार किया गया था। अतः केशवदास के पूर्व भी रीतिशास्त्र की सम्यक् विवेचना की ओर हिन्दी साहित्य के कवियों का ध्यान आकर्षित हो चला था।

तुलसीदास के पूर्व साहित्य में दो कवियों का नाम और मिल है, जो किसी प्रकार तुलसीदास की काव्य-परम्परा से सम्बद्ध कि जा सकते हैं। प्रथम कवि थे भगवतदास। ये श्रीनिवास के शिष्य और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के पोषक थे। इन्होंने अद्वैतवाद के खण्डन के लिए 'भेद भास्कर' नामक ग्रंथ लिखा। इनका आविर्भाव काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अंत माना जाता है।

द्वितीय कवि थे चन्द। इन्होंने दोहा-चौपाई मे 'हितोपदेश' का अनुवाद इसी नाम से किया। इनका आविर्भावकाल संवत् १५३२ मानना चाहिए। 'हितोपदेश' का अनुवाद संवत् १५६३ मे हुआ। तुलसीदास क पूर्व दोहा-चौपाई मे रचना करने मे सफलता प्रा— करना कवि की प्रतिभा का द्योतक है। रचना सरल औ— इनका परिचय अभी हाल ही में मिला है।[1]

इन कवियों के बाद तुलसीदास पर विचार करना आवश्यक है।

तुलसीदास

तुलसीदास ही राम-साहित्य के सम्राट् हैं। इन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव-जीवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है, उतनी हिन्दी साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इस समीक्षा के साथ ही इन्होंने लोक-शिक्षा का भी ध्यान रखा और मानव-जीवन मे ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो चिरन्तन हैं

१. खोज रिपोर्ट १९२०-२१-२२

(ऋ) नौमी भौमबार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥[1]

(लृ) बासर ढासनि के ढका, रजनी चहुँदिस चोर ।
सकर निजपुर राखिए चितै सुलोचन कोर ॥[2]

(लॄ) भागीरथी जलपान करौं
अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं ।[3]

(ए) देवसरि सेवौं वामदेव गाउँ रावरे ही
नाम राम ही के मागि, उदर भरत हौं ।[4]

९. वृद्धावस्था

(अ) चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर,
पाइ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं ।[5]

(आ) राम की सपथ सरबस मेरे राम नाम
कामधेनु काम तरु मोसे छीन छाम को ॥[6]

(इ) जरठाइ दिसा रविकाल उग्यो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे

१० रोग

(अ) अविभूत, वेदन विषम होत भूतनाथ,
तुलसी विकल पाहि पचत कुपीर हौं ।

---

१ 'तुलसी ग्रन्थावली,' पहला खड (मानस') पृष्ठ २०
२ ,, दूसरा खड ('दोहावली') पृष्ठ १२४
३ ,, ,, (कवितावली') पृष्ठ २२७
४ ,, ,, ,, पृष्ठ २४३
५ ,, ,, ,, पृष्ठ २४३
६ ,, ,, ,, पृष्ठ २४८
७ ,, ,, ,, पृष्ठ २१०

मारिये तो अनायास काशीवास खास फल,
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं ।[1]

(आ) रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं ।[2]

(इ) साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जू के,
बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये ।।[3]

(ई) महाबीर बाँकुरे बराकी बाहु पीर क्यों न,
लंकिनी ज्यों लात घात ही मरोरि मारिए ।।[4]

(उ) पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की,
बाहुपीर, महाबीर तेरे मारे मरैगी ।।[5]

(ऊ) आपने ही पाप तें, त्रिताप तें कि साप तें,
बढ़ी है बाहु बेदन कही न सहि जात है ।[6]

(ऋ) घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुजोगनि ज्यों,
बासर जलद घनघटा धुकि धाई है ।[7]

(ॠ) पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर मुँह पीर,
जरजर सकल सरीर पीर मई है ।[8]

१	'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली')			पृष्ठ २४४
२	"	"	"	पृष्ठ २४४
३	"	"	"	पृष्ठ २५७
४	"	"	"	पृष्ठ २५८
५	"	"	"	पृष्ठ २५८
६	"	"	"	पृष्ठ २६०
७	"	"	"	पृष्ठ २६१-२६२
८	"	"	"	पृष्ठ २६२

(लृ) तातें तनु पेषियत, घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ॥[१]

(लॄ) भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को ?[२]

(ए) तुलसी तनु-सर सुख-जलज भुज रुज गज बरजोर ।
दलत दयानिधि देखिए, कपि केसरी किसोर ॥
भुज तरु-कोटर रोग-अहि बरबस कियो प्रवेस
बिहँगराज-बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ॥[३]

यश-प्राप्ति

(अ) हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढायो ।

(आ) छार ते सँवारि कै पहार हूँ तें भारी कियो,
गारो भयो पञ्च में पुनीत पच्छ पाइ कै ।[४]

(इ) पतित पावन राम नाम सो न दूसरो ।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो ॥[५]

(ई) नाम सो प्रतीत प्रीति हृदय सुथिर थपत ।
पावन किय रावन रिपु तुलसिहु से अपत ॥[७]

(उ) केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास ।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास ॥[८]

१	'तुलसी ग्रंथावली'	दूसरा खंड	('कवितावली')	पृष्ठ २६४
२	,,	,,	,,	,, २६४
३	,,	,,	('दोहावली')	,, १२४
४	,,	,,	('कवितावली')	,, २१५
५	,,	,,	,,	,, २१५
६	,,	,,	('विनय पत्रिका')	,, ५०१
७	,,	,,	,,	,, ५२१
८	,,	,,	('बरवै रामायण')	,, २४

(ऊ) घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय ।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय ॥[1]

तत्कालीन परिस्थिति

(अ) ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ।[2]

(आ) खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सौं 'कहाँ जाई का करी' ।[3]

(इ) गारी देत नीच हरिचंद हू दधीच हूँ को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियत हैं ।[4]

(ई) बीसी विस्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की ।[5]

(उ) दारिदी दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरु,
लोभ मोह काम कोह कलिमल घेरे हैं ॥[6]

(ऊ) संकर-सहर सर नरनारि बारिचर,
बिकल सकल महामारी माँजा भई है ।[7]

१	'तुलसी ग्रंथावली'	दूसरा खंड	('दोहावली')	पृष्ठ ११४
२	,,	,,	('कवितावली')	,, २२५
३	,,	,,	,,	,, २२५
४	,,	,,	,,	,, २२६
५	,,	,,	,,	,, २४५
६	,,	,,	,,	,, २४६
७	,,	,,	,,	,, २४७

(ऋ) एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें,
कोढ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की ।
वेद धर्म दूरि गए भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ॥[1]

(ॠ) पाहि हनुमान करुना निधान राम पाहि,
कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है ॥[2]

(ऌ) हाहा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी,
कासी की कदर्थना कराल कलिकाल की ॥[3]

(ॡ) राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है ।
नीति प्रतीति प्रीति परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥
आस्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद मरजाद गई है ।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत अपने अपने रंग रई है ॥
साति सत्य सुभ रीति गई घटि बढी कुरीति कपट कलई है ।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसति खलई है ॥
परमारथ स्वारथ साधन भए अफल सकल, नहिं सिद्धि सई है ।
कामधेनु घरनी कलि गोमर बिबस बिकल जामति न बई है ॥[4]

(ए) अपनी बीसी आपु ही पुरिहि लगाये हाथ ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥[5]

(ऐ) तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन ।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन ॥[6]

१	'तुलसी ग्रंथावली'	'दूसरा खंड'	('कवितावली')	पृष्ठ २४७
२	,,	,,	,,	,, २४६
३	,,	,,	,,	,, २४६
४	,,	,,	('विनयपत्रिका')	,, ५३३
५	,,	,,	('दोहावली')	,, १२४
६	,,	,,	,,	,, १५३

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि ।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाँटि ॥

(ओ) सखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान ॥
स्रुति संमति हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिवेक ।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पथ अनेक ॥
गोंड़ गँवार नृपाल महि यमन महा-महिपाल ।
साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल ॥[1]

आत्मग्लानि

(अ) नाम तुलसी पै भोंडे भाग, सो कहायो दास,
किए अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को ।[2]

(आ) राय दसरत्थ के समर्थ तेरे नाम लिए,
तुलसी से कूर को कहत जग राम को ।[3]

(इ) केवट पषान जातुधान कपि भालु तारे,
अपनायो तुलसी सो धींग धमधूसरो ।[4]

(ई) राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत,
मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली ॥[5]

(उ) रावरो कहावौं गुन गावौं राम रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावौं राम रावरी ही कानि हौं ।[6]

---

१ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खड ('दोहावली') पृष्ठ १५२-१५३
२ " " ('कवितावली') " २०५
३ " " " " २०५
४ " " " " २०६
५ " " " " २०८
६ " " " " २११

(ऊ) स्वारथ को साज न समाज परमारथ को,
मोसों दगाबाज दूसरो न जग जाल है ।[1]

(ऋ) तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तौ,
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को ॥[2]

(ॠ) अपत, उतार, अपकार को अगार जग,
जाकी छाँह छुए सहमत व्याध बाधको ।[3]

(लृ) राम सों बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो,
राम सों खरो है कौन मोसो कौन खोटो ॥[4]

आत्म-विश्वास

(अ) तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहु तें डरि है ।[5]

(आ) कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखि है राम तौ मारिहै को रे।[6]

(इ) राखि हैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे ।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥[7]

(ई) प्रीति राम नाम सौं प्रतीति रामनाम की,
प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूति हौं ॥[8]

(उ) राम ही के नाम तें जो होइ सोई नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछु तुलसी के मन को ।[9]

---

१ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१६
२ " " " " २१७
३ " " " " २१७
४ " " ('विनय पत्रिका') " ५०२
५ " " ('कवितावली') " २१३
६ " " " " २१३
७ " " " " २१२
८ " " " " २१८
९ " " " " २११

(ऊ) नीके कै ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ो उर आखर दू की ।[1]

(ऋ) साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो ॥
रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि को ॥[2]

(ॠ) जानकीनाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहौं न हहा है ॥[3]

(लृ) तुलसी सरनाम गुलाम है रामको जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ ॥[4]

(लॄ) साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को ॥[5]

(ए) तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि, मेरी मति दूब है ॥[6]

(ऐ) जागैं भोगी भोग ही, वियोगी रोगी सोग बस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के ॥[7]

(ओ) राखे रीति अपनी जो होइ सोई कीजे बलि,
तुलसी तिहारो घरजायउ है घर को ॥[8]

(औ) तुलसी तोहि विशेष बूझिए एक प्रतीत प्रीति एकै बलु ॥[9]

१	'तुलसी ग्रंथावली'	दूसरा खंड	('कवितावली')	पृष्ठ २२४
२	"	"	"	" २२६-२२७
३	"	"	"	" २२७
४	"	"	"	" २२८
५	"	"	"	" २२८
६	"	"	"	" २२८
७	"	"	"	" २२६
८	"	"	"	" २३२
६	"	"	('विनयपत्रिका')	" ४७१

(अ) समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढाउ।
तुलसीदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ। [1]

(आ) विश्वास एक राम नाम को।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाइ मन बाम को॥ [2]

(क) परिहरि देह जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

(ख) ईं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।
तुलसिदास रघुवीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै॥ [4]

(ग) एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥ [5]

नम्रता

(अ) सत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु॥ [6]

(आ) भाषा भनति मोर मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥ [7]

(इ) कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥ [8]

(ई) कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥ [9]

१	'तुलसी ग्रन्थावली'	दूसरा खंड	('विनयपत्रिका')	पृष्ठ	५५१
२	"	"	"	"	५४१
३	"	"	"	"	५५०
४	"	"	"	"	५३२
५	"	"	('दोहावली')	"	१२७
६	"	पहला खंड	('मानस')	"	४
७	"	"	"	"	७
८	"	"	"	"	७
९	"	"	"	"	८

(उ) वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धंधक धोरी ॥[1]

(ऊ) कवि कोविद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बाल विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल ॥[2]

रचनाएँ

(अ) संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा ॥[3]

(आ) जय संवत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु ॥[4]

मरण-संकेत

(अ) पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेम करी है।[5]

(आ) राम नाम जस बरनि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अबहीं तुलसी सौन ॥[6]

इन प्रमाणों के आधार पर तुलसी के आत्म चरित का यह रूप है :—

तुलसीदास हुलसी के पुत्र थे। इनका जन्म उच्चकुल में हुआ था, यद्यपि ये उसे अपनी आत्म-ग्लानि से 'मगन' कुल में भी कह देते थे। इनका नाम 'रामबोला' था जो आगे चल कर तुलसी और तुलसीदास मे परिणत हो गया। ये बालकपन से ही अपने माता-पिता के संरक्षण का लाभ नहीं उठा सके, फलतः इनकी बाल्यावस्था

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ १
२ ,, ,, ,, ,, २१
३ ,, ,, ,, ,, २०
४ ,, दूसरा खंड ('पार्वतीमंगल') ,, २६
५ ,, ,, ('हनुमानबाहुक') ,, २४८
६ 'तुलसी सतसई'

बहुत दुःख से व्यतीत हुई। इन्हें रोटियों तक के लिए तरसना पड़ा। द्वार-द्वार जाकर इन्होंने भिक्षा माँगी और चार चनों को अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष (चार फलों) के समान समझा। भिक्षा माँग कर अपना बाल-जीवन व्यतीत करने के कारण ही सम्भवतः तुलसीदास ने अपने को 'मंगन' कहा है। अन्त में ये गुरु (नरहरि ?) के संरक्षण में आ गए, जिन्होंने शूकरक्षेत्र में राम-कथा सुनाई। उस समय तुलसीदास बालक ही थे और गंभीर बातें नहीं समझ सकते थे। बड़े होने पर इनका विवाह भी हुआ। 'मेरे ब्याह न बरेखी' और 'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब' के आधार पर कुछ समालोचकों का कथन है कि इनका विवाह नहीं हुआ। जब विवाह ही नहीं हुआ तो इन्हें किसी की लड़की से अपने लड़कों का ब्याह तो करना नहीं था, इसीलिये ये निर्द्वन्द्व थे। 'मेरे ब्याह न बरेखी' का अर्थ यह नहीं है कि 'मेरा ब्याह या बरेखो नहीं हुई' पर अर्थ है "मेरे यहाँ न तो ब्याह ही होना है और न बरेखी ही, क्योंकि किसी की बेटी से अपना बेटा तो ब्याहना नहीं है।" "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब" का अर्थ इतना तो निकल सकता है कि संभवतः उनके कोई सन्तान न हो, पर यह नहीं निकल सकता कि ये अविवाहित थे। निस्सन्तान होने पर इनका यह कथन सत्य हो सकता है कि "मेरे ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हों' और "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ"। फिर विनय-पत्रिका का यह पद—

> लरिकाई बीती अचेत चित चचलता चौगुनी चाय।
> जोबन जर जुवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥

तो यह स्पष्ट घोषित करता है कि तुलसीदास का विवाह हुआ था। बाह्य साक्ष्य तथा जनश्रुति के भी सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि इनका विवाह हुआ था। 'मानस', 'पार्वती मगल', 'जानकी मगल', और 'गीतावली' मे तुलसी ने विवाह का वर्णन और लोकाचार इतने

विस्तार और सूक्ष्म-दृष्टि से वर्णन किया है कि ज्ञात होता है कि इन्होंने विवाह की विधि बहुत निकट से देखी थी।

इन्होंने अपने वैराग्य के पूर्व की कथा नहीं लिखी, पर वैराग्य-दशा और पर्यटन का यथेष्ट वर्णन किया है। राम की कथा जो इन्होंने शूकर-क्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी, वही अब जाकर पल्लवित हुई और इन्होंने अनेक स्थानों में पर्यटन किया। ये अपनी वैराग्य-यात्रा में चित्रकूट, काशी, वारिपुर, दिगपुर, अयोध्या, आदि स्थानों में बहुत घूमे। इनकी वृद्धावस्था शान्ति से व्यतीत नहीं हुई। इन्हें बाहुपीर उठ खड़ी हुई, जिसके शमन के लिए इन्हें शिव, पार्वती, राम और हनुमान की स्तुति करनी पड़ी। इन्हें अपने जीवन मे तत्कालीन परिस्थितियों से असन्तुष्टि थी। लोगों में धर्म के लिए कोई आस्था नहीं रह गई थी। राजनीतिक वातावरण अस्त-व्यस्त था। जीविका बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती थी। किसान खेती नहीं कर सकता था, भिखारी को भीख नहीं मिलती थी। वितण्डावाद की सृष्टि हो रही थी। अनेक प्रकार के पथ' निकल रहे थे। पाखंड फैल रहा था। दंड की अधिकता हो रही थी। काशी में उस समय महामारी का भी प्रकोप था।

तुलसीदास ने संवत् १६३१ में 'मानस' की रचना की तथा संवत् (सं० १६४३) में पार्वती मंगल' और रुद्रबीसी (सं० १६६९—१६८५) के बीच 'कवितावली' के कुछ कवित्तों की रचना की। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की रचना-तिथि का निर्देश तुलसी-दास ने नहीं किया।

इस समय तक इनका यश सभी स्थानों में व्याप्त हो गया था। यहाँ तक कि इनका आदर राजाओं और तत्कालीन शासक द्वारा भी हुआ। ये लोगों में वाल्मीक के समान पूज्य हो गये।

ये बहुत ही नम्र थे। इतने विद्वान होने पर भी अपने को मूर्ख, भक्त होने पर भी अपने को पापी और महान होने पर भी अपने को

दीन कहने में ही इन्होंने अपना गौरव समझा। सम्भवतः अपने पूर्ववर्त्ती जीवन की कलुष-स्मृति इन्हें इतना अशान्त बनाए हुए थी। इन्होंने अपने को न जाने कितनी गालियाँ दी हैं। कूर, काहली, दगाबाज, 'धोबी कैसो कूकर', अपत, उतार, अपकार को अगार', ढे-धींग, धूमधूसर आदि न जाने कितने अपशब्द इन्होंने अपने ऊपर प्रयुक्त किए हैं। पर इसके साथ ही इन्हें राम की उदारता में विश्वास था और उसके सहारे इन्होंने अपने जीवन में भय की लेशमात्र भी मात्रा नहीं रक्खी। यही इनका आत्म-विश्वास था। ये निर्द्वन्द्वता से राम-नाम का भजन, चाहे वह आलस या क्रोध ही में किया गया हो, जीवन की सबसे बड़ी विभूति समझते थे।

इनकी मृत्यु-तिथि अनिश्चित्त है। अपने महा प्रयाण के अवसर पर इन्होंने क्षेमकरी पक्षी के दर्शन किए थे, ऐसा कहा जाता है। पर "पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेमकरी है" यह तो साधारणतः किसी समय भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्रस्थान के समय क्षेमकरी पक्षो को देखना शुभ समझा गया है। यह आवश्यक नहीं है कि मृत्यु (महा प्रयाण) के समय ही यह तुलसी के द्वारा कहा गया हो। राम-नाम का वर्णन कर तुलसीदास ने मौन होने के पूर्व अपने मुख मे तुलसी और सोना डालने की इच्छा प्रकट की थी, इसे भी जनश्रुति समझना चाहिए, क्योंकि यह दोहा किसी प्रामाणिक प्रति में नहीं मिलता।

वाह्य साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास का जीवन वृत्त

तुलसीदास के समकालीन और परवर्ती लेखकों ने तुलसीदास के जीवन पर प्रकाश अवश्य डाला है, पर वह यथेष्ट नहीं है। ऐसे लेखकों ने या तो तुलसीदास के काव्य की प्रशंसा कर दी है या उनकी भक्ति की। कवि के व्यक्तित्व और जीवन पर सम्यक् विचार किसी के द्वारा नहीं हुआ। जो थोड़ा-बहुत विवेचन हुआ है, वह भक्ति के

दृष्टिकोण से ही हुआ है। निम्नलिखित ग्रन्थों में तुलसीदास का निर्देश किया गया है :—

(१) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—
(ले० गोकुलनाथ, सं० १६२५)
(२) 'भक्तमाल' (ले० नाभादास, सं० १६४२)
(३) 'गोसांई चरित' (ले० बाबा वेणीमाधवदास, सं० १६८७)
(४) 'तुलसीचरित' (ले० बाबा रघुबरदास, समय अज्ञात)
(५) 'भक्तमाल की टीका (ले० प्रियादास सं० १७६९)

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नन्ददास की वार्ता के सम्बन्ध मे तुलसीदास का उल्लेख किया गया है। तुलसीदास से सम्बन्ध रखने वाले अवतरण इस प्रकार हैं :—

१. नन्ददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते ॥ सो विनकूं नाच तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शौक बहुत हतो ॥ सो वा देश मे सूं एक सङ्ग द्वारका जात हतो ॥ सो नन्ददास जी ऐसे विचारे कें मे श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूं जाऊं तो अच्छौ है ॥ जब विनने तुलसीदास जी सूं पूंछी तब तुलसीदास जी श्री रामचद्र जी के अनन्य भक्त हते जासूं विनने द्वारका जायबे की नाहीं कही .... ॥[1]

२. सो वे नन्ददास जी ब्रज छोड़ के कहूँ जाते नाहीं हुते ॥ सो नन्ददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी काशी मे रहते हुते ॥ सो विनने सुन्यो नन्ददास जी श्री गुसांई जी के सेवक भये हैं ॥ जब तुलसीदास जी के मन में ये आई के नन्ददास जी ने पतिव्रता धर्म छोड़ दियो है आपने तो श्री रामचद्र जी पति हुते । सो तुलसीदास जी ने ये विचार कें नन्ददास जी कूं

---

१ दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता पृष्ठ २८
[वैष्णव रामदास जी गुरु श्री गोकुलदास जी (डाकोर), सं० १९९०]

पत्र लिख्यो ॥ जो तुम पतिव्रता धर्म छोड़ कें क्यों तुमने कृष्ण उपासना करी ॥ ये पत्र जब नन्ददास जी कु पहुँचो तब नन्ददास जी ने बाँच के ये उत्तर लिख्यो ॥ जो श्री रामचन्द्र जी तो एक पत्नीव्रत हैं सो दूसरी पत्नीन कु कैसे सम्भार सकेंगे एक पत्नी हुँ बरोबर सभार न सके ॥ सो रावण हर ले गयो और श्री कृष्ण तो अनन्त अबलान के स्वामी हैं और जिनकी पत्नी भये पीछे कोई प्रकार को भय रहे नहीं है एक कालावच्छिन्न अनंत पत्नीन कु सुख देत हैं ॥ जासू मैंने श्रीकृष्ण पती कीने हैं ॥ सो जानोगे ॥[1]

३ सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई ॥ जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है ॥ सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें ॥[2]

४ सो नन्ददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी हते ॥ सो कासी जी तें नन्ददास जी कु मिलवे के लिये ब्रज में आये। सो मथुरा में आय के श्री यमुना जी के दर्शन करें पाछे नन्ददास जी की खबर काढ़के श्री गिरिराजजी गये उहाँ तुलसीदास जी नन्ददास जी कु मिले ॥ जब तुलसीदास ने नन्ददास जी सुं कही के तुम हमारे सग चलो ॥ गाम रुचे तो अयोध्या में रहो ॥ पुरी रुचे तो काशी में रहो ॥ पर्वत रुचै तो चित्रकूट में रहो ॥ वन रुचे तो दण्डकारण्य में रहो। ऐसे बड़े बड़े धाम श्रीरामचन्द्र जी ने पवित्र करे हैं ॥[3]

५ जब नन्ददास जी श्रीनाथ जी के दर्शन करने कू गये ॥ तब तुलसीदास जी हुँ उनके पीछे पीछे गये। जब श्रीगोवर्धननाथ जी के दर्शन करे तब तुलसीदास जी ने माथो नमायो नहीं ॥

---

१. वही, पृष्ठ ३२

२ वही, पृष्ठ ३२

३ वही, पृष्ठ ३३

तब नन्ददास जी जान गये। जो ये श्रीरामचन्द्र जी बिना और दूसरे कूं नहीं नमे हैं ॥[1]

तब नन्ददास जी श्री गोकुल चले तब तुलसीदास जी हू संग सग आये तब आयके नन्ददास जी ने श्रीगुसाईं जी के दर्शन करे॥ साष्टांग दण्डवत् करी और तुलसीदास जी ने दण्डवत करी नही॥ और नन्ददास जी कुं तुलसीदास जी ने कही के जैसे दर्शन तुमने वहाँ कराये वैसे ही यहाँ कराओ। जब नन्ददास जी ने श्रीगुसाँई जी सों बीनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं। श्रीराम-चन्द्र जी बिना और कु नहीं नमे हैं तब श्रीगुसाँई जी ने कही तुलसी-दास जी बैठो ॥[2]

इन उद्धरणों से तुलसीदास के सम्बन्ध में निम्न-लिखित बातें ज्ञात होती है :—

१ तुलसीदास नन्ददास के बड़े भाई थे।

२. तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। वे काशी मे रहते थे और उन्होंने रामायण भाषा मे की थी।

३ तुलसीदास ने काशी से व्रज-यात्रा भी की थी, वहाँ वे नन्ददास से मिले थे।

४ तुलसीदास राम के सिवा किसी को माथा नही नवाते थे। वे अपनी व्रज-यात्रा मे श्रीगुसाँई विट्ठलनाथ से भी मिले थे।

तुलसीदास की अनन्य भक्ति, काशी-निवास और मानस-रचना तो अन्तर्साक्ष्य से भी स्पष्ट है, किन्तु उनका नन्ददास से सम्बन्ध किसी प्रकार से भी अनुमोदित नहीं है। तुलसीदास की व्रज-यात्रा और विट्ठलनाथ से भेंट अन्तर्साक्ष्य से स्पष्ट नही होती। ये बातें बाबा वेणीमाधवदास के 'गुसाईं चरित' से अवश्य पुष्ट होती हैं।

---

१. वही, पृष्ठ ३४

२ वही, पृष्ठ ३५

वेणीमाधवदास ने नन्ददास को तुलसीदास का गुरुभाई माना है।

नन्ददास कनौजिया प्रेम मढे। जिन सेस सनातन तीर पढे॥
सिच्छा गुरु बन्धु भये ते हेते। अति प्रेम सों आय मिले यहिते॥[1]

पर उसमें भी गोसाईं, विट्ठलनाथ से मिलाप की बात नहीं है। तुलसीदास जी का वृन्दावन-गमन भी वेणीमाधवदास ने लिखा है :—

वृन्द्रावन में तँह ते जु गये। सुठि राम सुघाट पै बास लये।
बड धूम मचो सुचि सत घुरे। मुनि दरसन को नर नारि जुरे॥

इस प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में कही हुई बातें अन्तर्साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य से पुष्ट अवश्य हो जाती हैं। विश्वस्त तो उन बातों को मानना चाहिए जो अन्तर्साक्ष्य से प्रमाणित होती हैं।

नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में तुलसीदास पर एक ही छप्पय लिखा है :—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो।
त्रेता काव्य निबन्ध करी शत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म हत्यादि परायन॥
अब भक्तनि सुखदैन वहुरि लीला विस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहनिशि व्रत धारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो॥[2]

इस छप्पय से तुलसीदास के विषय में केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे राम-भक्त थे और उन्होंने ससार के हित के लिए अवतार

---

१ 'मूल गोसाईं चरित' (श्रीवेणीमाधवदास विरचित), पृष्ठ २६
(गीता प्रेस, गोरखपुर, स० १९९१)

२. 'श्रीभक्तमाल' सटीक, पृष्ठ ७३७

की समानता नहीं कर सकते। यह अनुपात-रहित विस्तार ग्रन्थ के स्फुट रूप होने का प्रबल प्रमाण है।

छंद—इसमें निम्नलिखित छंद प्रयुक्त किए गए हैं—सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना।

वर्ण्य-विषय

इसमें राम-कथा का वर्णन है। इस वर्णन में तुलसी ने राम के ऐश्वर्य को प्रधान स्थान दिया है। ऐश्वर्य और शक्ति का चित्रण पदों के कोमल और मधुर वातावरण में नहीं हो सकता था, इसीलिए तुलसीदास ने इस उद्देश्य से प्रेरित होकर कवित्त, छप्पय, झूलना आदि छंदों को चुना। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत श्री कृष्णोपासना का जो रूप उपस्थित किया गया था, उसमे अधिकतर श्री और सौन्दर्य का चित्रण पदों में ही किया गया था। ग्राम्य वातावरण मे उनके मधुर जीवन की सृष्टि सख्य भाव के दृष्टिकोण से पदों में की गई थी। राम के चरित्र में मर्यादा-पुरुषोत्तम का भाव था। अतः तुलसीदास ने अपने दास्य भाव की उपासना करते हुए राम की शक्ति और मर्यादा का चित्रण करना उचित समझा और ओजपूर्ण कवित्त-रचना की आवश्यकता अनुभव की। 'गीतावली' मे केवल राम के कोमल जीवन की अभिव्यक्ति ही हुई है, परुष घटनाएँ एक बार ही छोड़ दी गई हैं। 'गीतावली' की उन छोड़ी हुई परुष घटनाओं का 'कवितावली' में विस्तृत विवरण है। इसमे लङ्का-दहन और युद्ध का बड़ा ओजस्वी वर्णन है। 'गीतावली' मे राम का आकर्षक एवं सौन्दर्यपूर्ण चित्र है; 'कवितावली' मे राम का वीरत्व और शौर्य है। दोनों में राम का चित्र अधूरा है। इन दोनों को मिला देने से राम का चरित्र कोमल और परुष दोनों ही दृष्टिकोणों से पूर्ण हो जाता है। आलोचकों का कथन है कि 'कवितावली' का प्रथम शब्द 'अवधेश' ही कथावस्तु मे ऐश्वर्य की प्रधानता का संकेत करता है। 'कवितावली' स्पष्टतः एक संग्रह ग्रंथ है। उसमे न तो नियमित रूप से कथा का विस्तार ही है और न कथा का

कांडों में नियमित विभाजन हो। 'गीतावली' की भाँति ही 'कवितावली' में भी अरण्य काड और किष्किंधा कांड में एक ही एक छन्द है। अतः कथासूत्र तो सम्पूर्णतः ही छिन्न-भिन्न है, भावनाओं की परुषता का ही यथास्थान वर्णन है। प्रारम्भ में मंगलाचरण भी नहीं है। प्रस्तावना एव पूर्व-कथा का नितान्त अभाव है। उत्तर कांड से कथा का कोई सम्बन्ध भी नहीं है। उसमें व्यक्तिगत घटनाएँ, तत्कालीन परिस्थितियाँ और विविध भावों के छन्द सग्रहीत हैं। प्रधान प्रसंगों की भी अवहेलना की गई है। अतः 'कवितावली' भिन्नकालीन कवित्त तथा अन्य छन्दों का एक सग्रह-ग्रन्थ ही है।

प० सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि तुलसीदास के भक्तों ने बहुत से कवित्त और सवैये जो तुलसीदास ने समय-समय पर लिखे थे, 'कवितावली' में सकलित कर दिए हैं जिनका राम-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे छद अधिकतर उत्तर कांड ही में हैं। सीतावट, काशी, कलियुग की अवस्था, बाहु-पीर, राम-स्तुति, गोपिका-उद्धव-सम्वाद, हनुमान-स्तुति, जानकी स्तुति आदि ऐसे ही स्वतन्त्र सदर्भ हैं।

'कवितावली' का बाल काड राम के बाल-दर्शन से प्रारम्भ होता है। केवल सात दुमिल सवैयों में उनके बाह्य रूप का वर्णन भर कर दिया जाता है, उसमें कोई विशेष मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं है। उसके बाद ही सीता-स्वयम्बर का वर्णन है। विश्वामित्र-आगमन और अहल्या-उद्धार आदि की कथाएं ही नहीं हैं। राम के द्वारा धनुर्भङ्ग और सीता-विवाह सक्षेप में वर्णित है-धनुर्भङ्ग का वर्णन एक छप्पय मे है जिससे परुष नाद की सृष्टि की गई है। २१ वें घनाक्षरी मे कथा का सकेत अवश्य कर दिया गया है :—

> मख राखिबे के काज राजा मेरे सग दये,
> जीते जातुधान जे जितैया बिबुधेश के।

गौतम की तीय तारी, मेटे अघ भूरि भारी,

लोचन अतिथि भये जनक जनेस के ॥

'धनुर्भंग' के अन्त में 'मानस' के समान ही लक्ष्मण-परशुराम संवाद है। इस कांड में तुलसीदास ने अनुप्रास-प्रियता बहुत दिखलाई है :—

छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हें छत्रछाया,

छोनी छोनी छाये छिति आए निमिराज के।

प्रबल प्रचंड बरिबंड बर बेष बपु,

बरिबे को बोले बयदेही बरकाज के ॥[1]

× × ×

छोनी में न छाँड्यो छप्यो छोनिप को छोना छोटो,

छोनिप छपन बाँको बिरुद बहत हौं ।[2]

× × ×

गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको ।[3]

अयोध्या कांड की कथा भी अस्त-व्यस्त है। इसमें सभी घटनाओं का वर्णन नहीं है, पर जिन प्रसंगों और पात्रों से राम की श्रेष्ठता और भक्त के आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति प्रदर्शित की जा सकती है, उन्हीं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रसंगों की एकरूपता और घटनाओं में प्रबन्धात्मकता तथा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। 'मानस' के मनोवैज्ञानिक प्रसंगों का सर्वथा अभाव है। कैकेयी वरदान का संकेत भी नहीं है। कांड का प्रारम्भ राम-वन-गमन से होता है। इसमें प्रधान रूप से केवट, मुनि और ग्राम-वधू के ही चित्र भक्ति-भावना से खींचे गए हैं। सीता की सुकुमारता का वर्णन भी दो सवैयों में किया गया है। राम की शोभा और सौन्दर्य का वर्णन कवि ने विस्तारपूर्वक अवश्य किया है। 'गीतावली' में बालकांड में जो राम के प्रति हास्य है :—

१. कवितावली, छन्द ८
२. वही, छन्द १८
३. वही, छन्द २०

जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी ।[1]

वैसा ही हास्य यहाँ अयोध्याकांड में है :—

ह्वै है सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ।

कीनी भली रघुनायक जू करुणा करि कानना को पगु धारे ॥[2]

अरण्य कांड में केवल एक सवैया है, जिसमें 'हेमकुरंग' के पीछे 'रघुनायक' दौड़े हैं। कांड की अन्य कथाएँ छोड़ दी गई हैं। किष्किंधा कांड में भी केवल हनुमान का सागर के पार जाना लिखा गया है। सुग्रीव-मैत्री और बालि-वध आदि कथाओं की ओर संकेत भी नहीं है।

'कवितावली' का सुन्दर कांड कथानक की दृष्टि से तो महत्वहीन है, पर रस की दृष्टि से सर्वोच्च है। भयानक और रौद्र रसों का जितना सफल चित्रण इस कांड में है, उतना 'मानस' में भी नहीं है। इन रसों के उपयुक्त छंद भी घनाक्षरी है, जो 'मानस' में नहीं लाया गया। लंका दहन का ज्वलन्त वर्णन है। इस कांड में क्रोध और भय की भावना स्थायी रूप से रहने के कारण रौद्र और भयानक रसों के उद्रेक में सहायक है। घटनाओं में केवल अशोक वाटिका, लंका-दहन और हनुमान का लौटना ही वर्णित है। इन तीनों घटनाओं में लंकादहन का वर्णन सर्वोत्कृष्ट है।

लंका कांड में भी नियमित कथा नहीं है। अंगद और मंदोदरी का रावण को उपदेश बहुत विस्तार से दिया गया है। इसके बाद युद्ध वर्णन है। रस की दृष्टि से इस कांड को भी उच्च स्थान दिया जा सकता है। इस कांड में युद्ध के कारण वीर, रौद्र और वीभत्स रस का वर्णन अधिक किया गया है। हनुमान का युद्ध विस्तार में है, पर राम का युद्ध संक्षेप में कर दिया गया है। कवि ने राम को यहाँ भी सौन्दर्य के उपकरणों से सुसज्जित किया है। युद्ध में भी कवि उनका सौन्दर्य नहीं भूल सका :—

१. गीतावली, बालकांड, पद ५६

२. कवितावली, अयोध्याकांड, सवैया २८

सोनित छींटि छटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी।
मानौ मरक्कत सैल बिसाल में फैलि चली वर बीर बहूटी ॥[1]

कवि ने राम की शक्ति को उत्कृष्ट रूप से वर्णन करते हुए भी उसे उनके सौन्दर्य के साथ जोड़ दिया है। वीर और रौद्र की सृष्टि एकमात्र हनुमान के युद्ध से होती है। भयानक और वीभत्स की सृष्टि रण भूमि और श्मशान की दृश्यावली में है। कथा-सूत्र बहुत संक्षिप्त हो गया है. क्योंकि रस के प्राधान्य से कार्यावली-निर्देश अधिक नहीं हो सका। इतने पर भी वर्णनात्मकता का सौन्दर्य कवि ने अपने हाथ से नहीं जाने दिया। इस कांड में तुलसीदास ने अपनी भक्ति-भावना का बड़ा व्यापक रूप रक्खा है, जिससे सामाजिक मर्यादा का भी अतिक्रमण हो गया है। मन्दोदरी के मुख से तुलसीदास ने राम-यश का इतना वर्णन कराया है कि वह अपने पति को 'नीच' भी कह सकती है :—

रे कंत, तृन दंत गहि सरन श्रीराम कहि,
अजहुँ यहि भाँति लै सौंपु सीता।[2]
... ..

रे नीच, मारीच बिचलाइ, हति ताड़का,
भंजि सिवचाप सुख सबहि दीन्ह्यो।[3] आदि

इस कथन से राम की शक्ति-सम्पन्नता अवश्य प्रकट होती है, किन्तु यदि यह प्रसंग मन्दोदरी के मुख से न कहलाया जाकर अंगद द्वारा कहलाया जाता तो सुन्दर होता। राम कथा लंका कांड ही में समाप्त हो जाती है. क्योंकि उत्तर कांड केवल भक्ति' नीति और आत्म-चरित के अवतरणों से ओत-प्रोत है। लंका के युद्ध के पश्चात् राम-राज्याभिषेक और भरत-मिलाप आदि का कोई उल्लेख नहीं।

---

१. कवितावली, लंका कांड, सवैया ५१
२. कवितावली. लंका कांड छंद, १७
३. वही, छंद १८

उत्तरकांड 'कवितावली' का सबसे बड़ा भाग है। इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की महिमा ही अधिक है। इस कांड में तुलसी के आत्म-चरित का काफी निर्देश है। यही एक प्रधान साक्ष्य है, जिससे तुलसी के जीवन की घटनाओं का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। आत्म ग्लानि के वशीभूत होकर कवि ने अज्ञात रूप से अपने जीवन की अनेक बातें लिखी हैं। इसी प्रकार 'मूढ़-मन' को सिखावन देने के लिए, संसार की असारता एव भगवान की भक्त-वत्सलता प्रदर्शित करने के लिए, उन्होंने इस कांड में बहुत सी व्यक्तिगत बातें लिखी हैं। यदि 'कवितावली' का उत्तर कांड इस रूप में न होता और राम कथा का केवल उत्तरार्ध ही होता तो हम कवि के जीवन से बहुत अंशों में अपरिचित रहते। इसलिए 'कवितावली' का यह भाग कथा दृष्टि से भले ही अवांछनीय हो, किन्तु तुलसी के आत्म-चरित की दृष्टि से अवश्य श्लाघ्य है। 'विनयपत्रिका' के समान यह कांड भी स्वतंत्र हो सकता था, क्योंकि यह राम कथा से रहित है और प्रार्थना से परिपूर्ण है। इसमें भावों की विशृंखलता 'विनयपत्रिका' से भी अधिक है, अतः यह कांड कवि की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालने में पूर्ण समर्थ है।

रस—'कवितावली' में परुष रसों का ही यथेष्ट निरूपण हुआ है, क्योंकि इसमें राम के ऐश्वर्य और शौर्य का ही अधिक वर्णन किया गया है।[1] ऐश्वर्य के साथ ही साथ कवि राम के सौन्दर्य को भी नहीं भूला है। अत. जहाँ वीर रस राम के शौर्य का समर्थक है वहाँ शृंगार रस राम के सौन्दर्य का द्योतक है। 'कवितावली' में प्रधानत. वीर और रौद्र एक दृष्टि से और शृंगार और शान्त दूसरी दृष्टि से प्रयुक्त हुए हैं। अन्य रस गौण रूप से हैं।

शृंगार रस

इस रस के निम्नलिखित प्रसंग हैं :—

१ नोट्स ऑन तुलसीदास (ग्रियर्सन)

(१) राम का बाल-वर्णन और विवाह—

बाल कांड, छंद १ ७, १२-१७

(२) राम वनवास— अयोध्या कांड, छंद १२-२७

इन प्रसंगों में अधिकतर राम की शोभा का ही वर्णन है, अतः संयोग शृंगार का ही प्राधान्य है।

करुण रस

इसका 'कवितावली' में वर्णन ही नहीं है।

हास्य रस

अयोध्याकांड के अन्त में इस रस का एक ही उदाहरण है। जहाँ राम के पैदल चलने पर कहा गया है :—

> ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्हीं भली रघुनायक जू करुणा करि कानन को पगु धारे।[1]

एक स्थान पर लंका कांड में वीररस के अन्तर्गत हास्य संचारी भाव होकर आया है :—

> ठहर ठहर परे कहरि कहरि उठैं,
> हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै।[2]

(हनुमान के युद्ध की भयंकरता से बचने के लिए रावण के योद्धा झूठमूठ ही भूमि पर गिर कर कराहने लगते हैं। उन्हें इस अवस्था में देखकर शिव और सिद्ध आदि हँस पड़ते हैं।)

इन प्रसंगों के अतिरिक्त हास्य के लिए 'कवितावली' में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि कवि के दृष्टिकोण से राम के ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र में हास्य की आवश्यकता नहीं थी। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का 'कवितावली' में उत्कृष्ट प्रयोग हुआ है, क्योंकि ये रस राम की 'शक्ति' से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

वीर रस

इस रस के लिए निम्न लिखित प्रसंग देखे जा सकते हैं :

---

१. कवितावली, अयोध्या कांड छंद २८

२. वही, लंका कांड छंद ४२

१ परशुराम-कथन बाल कांड, छंद १८-२०

२ हनुमान का सागर-लंघन किष्किंधा कांड, छंद १

३ अंगद वचन लंका कांड, छंद १६

४ युद्ध " छंद ३३-४६

यह वीर रस अधिकतर कुछ समय बाद रौद्र रस में परिवर्तित हो गया है।

रौद्र रस और भयानक रस

ये रस कवितावली में जितने सुन्दर चित्रित किए गए हैं, उतने ही प्रभावशाली भी हैं। इनके दो प्रसंग बहुत सुन्दर हैं :—

१ लंका दहन सुन्दर कांड छंद ४—२५

२ युद्ध लंका कांड छंद ३०, ३१

रौद्र रस की प्रतिक्रिया ही भयानक रस में हुई है। हनुमान के लंका-दहन का जितना उत्कृष्ट वर्णन भयानक रस में किया गया है उतना साहित्य के किसी भी स्थल पर प्राप्त नहीं होता। 'कवितावली' का सुन्दरकांड साहित्य की अनुपम निधि है। भयानक रस का ऐसा निरूपण हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका :—

लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे, धूम धुन्ध अन्ध,
कहैं बारे बूढे 'बारि, बारि' बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि, रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं॥
लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात तू निबाहि रे॥

प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ तू पराहि, बाप;
बाप ! तू पराहि, पूत पूत तू पराहि रे।
तुलसी विलोक लोग व्याकुल बेहाल कहैं,
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ॥[1]

क्रोध और भय का अलग अलग वर्णन और उनका सम्मिश्रण तुलसीदास ने अभूतपूर्व ढंग से वर्णित किया है।

वीभत्स रस

इस रस का वर्णन युद्ध में ही किया गया है। अतः 'कवितावली' में इसका एक ही स्थल है। वह लंका कांड में ४९ वें और ५० वें छंद में आया है।

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।[2]

आदि पंक्तियाँ इस रस की पुष्टि करती हैं इसके विशेष उद्दीपन विभाव नहीं लिखे गए।

अद्भुत रस

'कवितावली' की राम-कथा में राम के ब्रह्मत्व का निर्देश कम है, अतः अद्भुत रस की अधिक पुष्टि नहीं हो पाई। लंका-दहन में ही अद्भुत रस का संकेत अधिक मिलता है :—

'लघु ह्वै निबुक गिरि मेरु तें बिसाल भो'[3]

आदि पंक्तियों मे इस रस की स्थिति हुई है। इसी तरह हनुमान का युद्ध भी अद्भुत रस की सृष्टि करता है। यहाँ रौद्र रस से अद्भुत रस का सम्मिलन हुआ है, जिस कारण इन आश्चर्य-जनक घटनाओं को देखकर राम लक्ष्मण से कहते हैं :—

देखौ देखौ लखन, लरनि हनुमान की।[4]

---

१. कवितावली, सुंदरकांड छंद १५—१६
२ वही, लंकाकांड छंद ५०
३. वही, सुंदरकांड, छंद ४
४. वही, लंकाकांड छंद ४०

अतः अद्भुत रस का परिपाक लंका कांड के ४० से ४३ छंद तक अधिक हुआ है।

शान्त रस

यह रस 'कवितावली' के समस्त उत्तर कांड में व्याप्त है, जिसमें कवि को राम-कथा से छुटकारा मिल गया है और वह विशेष रूप से अपने व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयाँ और दीनता अपने आराध्य के सामने रख रहा है। इसी दीनता के वशीभूत होकर उसने अपने जीवन का थोड़ा परिचय भी दे दिया है। देवताओं की स्तुतियों में यह रस प्रधान है। राम की स्तुति और वंदना तो जैसे तुलसीदास ने अपने आँसुओं से ही लिखी है। समस्त राम-कथा में तुलसीदास ने भरत का नाम दो ही बार लिया है।[१] फिर उनके चरित्र में अंकित शान्त रस का निर्देश तो बहुत दूर की बात है। अतः शान्त रस का वर्णन कथा के अन्तर्गत न होकर कवि के स्वतन्त्र व्यक्तिगत भावों ही में हुआ है।

विशेष

'कवितावली' की रचना एक विस्तृत काल में हुई थी, अतः उसमें तुलसी की विभिन्न शैलियों के दर्शन होते हैं। यदि बालकांड मे उनका भाषा-सौन्दर्य लक्षित है तो उत्तर कांड में उनकी भाषा में शाब्दिकता के पर्याय अर्थ गाम्भीर्य का स्थान विशेष है। अतएव शैली की दृष्टि से 'कवितावली' तुलसीदास का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। निम्नलिखित दोनों अवतरणों को मिलाने से कथन की स्पष्टता प्रकट होगी :—

---

१ (अ) कहै मोहि मैया, कहौं मैं न मैया भरत की,
बलैया लैहौं, भैया, तेरी मैया कैकेयी है॥

वही, अयोध्या काड, छन्द २

(आ) भरत की कुसल अचल ल्यायो चलि कै।

वही, लंकाकाड, छन्द ५५

(१) बोले बंदी बिरुद, बजाइ बर बाजनेऊ,

बाजे बाजे बीर बाहु धुनत समाज के।[1] (शाब्दिकता)

(२) राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजे बलि,

तुलसी तिहारो घरजायउ है घर को।[2] (अर्थ-गाम्भीर्य)

संक्षेप में 'कवितावली' का निष्कर्ष इस प्रकार है :—

१ इसमें कथा-सूत्र का अभाव है। न तो इसमें धार्मिक और दार्शनिक बातों का प्रतिपादन है और न भक्ति के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण ही।

२. इसमें राम-कथा के सभी उत्कर्ष-पूर्ण स्थलों का निरूपण है और राम की शक्ति और सौन्दर्य का विशेष विवरण है।

३. इसमें भयानक रस का वर्णन अद्वितीय है।

४. इसमें राम-कथा से स्वतन्त्र उत्तर कांड की रचना की गई है, जिसमें निम्नलिखित भावनाओं की अभिव्यक्ति है :—

अ आत्मचरित का निर्देश

आ. तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण

इ. पौराणिक कथाएँ, भ्रमर गीत, कलि से विवाद और देवताओं की स्तुति

'कवितावली' की कवित्त और सवैया-शैली तुलसीदास ने प्रथम बार साहित्य में सफलता के साथ प्रयुक्त की और इसके द्वारा उन्होंने अपने आराध्य की मर्यादा स्पष्ट रीति से घोषित की।

विनयपत्रिका (विनयावली)

रचना-तिथि और विस्तार—वेणीमाधवदास ने विनयपत्रिका' (विनयावली) का रचना-काल स० १६३९ के लगभग दिया है, जब वे मिथिला यात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले थे :—

विदित राम विनयावली मुनि तब निमिन कीन्द।

---

१. वही, बालकांड, छन्द ८

२. वही, उत्तरकांड, छन्द १२२

सुनि तेहि साखीयुत प्रभू, मुनिहिं अभय कर दीन्ह ।
मिथिलापुर हेतु पयान किए, सुकृती जन को सुख सौंति दिए ॥[1]

उसमें यह भी लिखा है कि कलियुग से सताए जाने पर तुलसीदास ने अपने कष्ट के निवारणार्थ इस ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ से यह तो अवश्य ज्ञात होता है कि तुलसी ने अपनी दारुण व्यथा प्रकट करने के लिए यह ग्रन्थ लिखा, पर रचना-काल का निर्णय अन्त-साक्ष्य से नहीं होता। रचना इतनी प्रौढ़ है कि वह हनुमान-बाहुक के समय में लिखी हुई ज्ञात होती है।

यह रचना सम्यक् ग्रन्थ के रूप में ज्ञात होती है क्योंकि इसमें मंगलाचरण और क्रम से अन्य देवताओं की प्रार्थना है। उसके बाद राम की सेवा में 'विनयपत्रिका' पहुँचा कर उसकी स्वीकृति ली गई है। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' के दूसरे खंड में 'विनयपत्रिका' की पद संख्या २७९ दी गई है। बाबू श्यामसुन्दरदास को 'विनयपत्रिका' की एक प्राचीन प्रति प्राप्त हुई है, जो संवत् १६६६ की है अर्थात यह प्रति तुलसीदास की मृत्यु के १४ वर्ष पूर्व की है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह तिथि 'विनय-पत्रिका' की रचना की है या प्रतिलिपि की। बाबू साहब उसके सम्बन्ध में लिखते हैं —

'इसमें केवल १७६ पद हैं जब कि और-और प्रतियों मे २८० पद तक मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि शेष १०४ पदों में से कितने वास्तव में तुलसीदास जी के बनाए हैं और कितने अन्य लोगों ने अपनी ओर से जोड़ दिए हैं। जो कुछ हो, इसमें संदेह नहीं कि इन १०४ पदों में से जितने पद तुलसीदास जी के स्वयं बनाए हुए हैं, वे सब संवत् १६६६ और संवत् १६८० के बीच में बने होंगे।"[2]

---

१ गोसाईं चरित, दोहा ५१

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, संवत् १६७७ पृष्ठ ८४

यदि यह प्रति प्रामाणिक है तो संवत् १६६६ ही विनयपत्रिका (विनयावली) का रचना काल ज्ञात होता है।

वर्ण्य विषय – कुछ आलोचकों का कथन है कि विनयपत्रिका भी कवितावली या गीतावली की भाँति संग्रह-ग्रंथ है और इसके प्रमाण में निम्नलिखित कारण दिए जाते हैं :—

(१) इसमें रचना-काल का निर्देश नहीं है।

(२) इसमें क्रम-हीन पदों का संग्रह है जो इच्छानुसार स्थान्तरित किये जा सकते हैं।

(३) इसमें विचारों की भी विशृंखलना है। एक विचार का नियमित विकास नहीं हुआ है।

मेरे विचार से विनयपत्रिका एक पूर्ण रचना है, जिसकी रूप-रेखा ग्रथ के रूप में हुई। रचना-काल का निर्देश तो रामाज्ञा में भी नहीं किया गया है, किन्तु इसी कारण से उसे स्फुट ग्रंथ के रूप में नहीं कहा जा सकता। साधारण रूप से देखने मे पद क्रम-हीन जान पडते हैं, पर वास्तव मे उनमे एक प्रवाह—एक क्रम है। प्रारम्भ में गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती आदि की स्तुति है। तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे, अतः वे स्मार्त वैष्णवों के अनुसार पाँच देवताओं की पूजा में विश्वास करते थे। वे देवता हैं—विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश।[1] इन्हीं पंच देवों की स्तुति से इन्होंने विनयपत्रिका प्रारम्भ की है। विष्णु रूप राम की स्तुति तो ग्रन्थ भर में है। प्रारम्भ में शेष चारों देवताओं की वन्दना की गई है विचारों की विशृंखलता ग्रन्थ के स्फुट होने का कोई कारण नहीं हो सकती। पदों मे रचना होने के कारण प्रबन्धात्मकता की रक्षा नहीं की जा सकती। फिर इस रचना मे कवि का आत्म-निवेदन है जिसमे भावनाओं का अनियमन कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः इन सभी कारणों से विनयपत्रिका एक सम्यक ग्रन्थ है।

---

१. एन् आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिटरेचर ऑव इंडिया (फर्कुहार) पृष्ठ १७६

विनयपत्रिका की रचना गीतिकाव्य के रूप में है। इसे हम तुलसीदास की समकालीन प्रवृत्ति कह सकते हैं। गीति-काव्य अन्तर्जगत काव्य है। इसमें विचारों की एकरूपता संक्षिप्त होकर व्यक्तित्व को साथ ले संगीत के सहारे प्रकट होती है।

सगीत का आधार होने के कारण राग-रागिनियों का ही प्रयोग किया गया है। हर्ष और करुणा की भावना में जयतश्री, केदारा, सोरठ और आसावरी; वीर की भावना में मारू और कान्हरा; शृंगार की भावना में ललित, गौरी, बिलावल, सूहो और वसन्त; शान्त की भावना में रामकली, वर्णन में विभास, कल्याण, मलार, और टोड़ी का प्रयोग है। भावना विशेष के लिए विशेष रागिनी में रचना की गई है। इस तरह इक्कीस रागों में विनयपत्रिका का आत्म-निवेदन है। उन रागों के नाम हैं—बिलावल, घनाश्री, रामकली, वसन्त, मारू, भैरव, कान्हरा, सारंग, गौरी, दण्डक, केदारा, आसावरी, जयतश्री, विभास, ललित, टोड़ी, नट, मलार, सोरठ, भैरवी और कल्याण। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भावों का अर्थ रस नहीं है। गीतावली में एक ही रस है, वह है शान्त। विविध भाव उसके सचारी बनकर ही आए हैं।

वर्ण्य विषय—विनयपत्रिका में कोई कथा नहीं है। एक भक्त की प्रार्थना है, जो उसने अपने आराध्य से अपने उद्धार के लिए की है। ग्रन्थ का नाम ही विनयपत्रिका है। इस विनयपत्रिका में छः प्रकार के पद हैं :—

१ प्रार्थना या स्तुति (गणेश से राम तक)

(अ) गुण वर्णन—(१) कथाओं द्वारा

(२) रूपकों द्वारा

(आ) रूप वर्णन—अलंकारों द्वारा

(इ) राम-भक्ति याचना—अन्तिम पंक्ति में

२ स्थानों का वर्णन

(अ) चित्रकूट (आ) काशी

३. मन के प्रति उपदेश

४. संसार की असारता

५. ज्ञान-वैराग्य वर्णन

६. आत्म-चरित संकेत

राम की प्रार्थना में निम्नलिखित अंग विशेष रूप से पाये जाते हैं :—

१ मानव चरित्र (लीला)

२ नख-शिख

३ हरिशंकरी रूप

४. दशावतारी महिमा

५ आत्म-निवेदन

विनयपत्रिका में प्रधान रूप से तुलसीदास की मनोवृत्ति का निरूपण है। न घटना की प्रबन्धात्मकता है और न कोई कथा-सूत्र ही; ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सम्बन्धी विभिन्न विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन है। राम-भक्ति ही इस ग्रंथ का आदर्श है। राम-भक्ति-प्राप्ति के सब साधन—चाहे उनका सम्बन्ध देवताओं से हो या स्थानों से—तुलसी द्वारा लिखे गए हैं ज्ञात होता है, काशी का वर्णन एकमात्र शैव धर्म से प्रभावित होकर ही कवि ने किया है, क्योंकि राम-भक्ति से काशी का कोई सम्बन्ध नहीं है। राम-भक्ति के लिए, तुलसी के मतानुसार, शिव-भक्ति आवश्यक है। इसीलिए परोक्ष रूप से राम भक्ति के लिए काशी का वर्णन किया गया है :—

तुलसी वसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी ॥[1]

स्तोत्र और पदों के सहारे तुलसीदास ने तत्कालीन प्रचलित भक्ति-परम्परा की रक्षा की। उन्होंने स्तोत्र का प्रयोग देवताओं के बल, विक्रम, शक्ति आदि प्रदर्शित करने के लिये किया। शील-सौन्दर्य का वर्णन पदों में हुआ है।

विनयपत्रिका की भावनाएँ बहुत स्वतन्त्र हैं। जहाँ एक ओर

१. विनयपत्रिका, पद २२

ससार की असारता का उल्लेख है वहाँ दूसरी ओर मन को उपदेश दिया गया है। कहीं कवि के व्यक्तिगत जीवन की झलक है तो कहीं दशावतारों से सम्बन्ध रखने वाली विष्णु की उदारता एव भक्त-वत्सलता की पौराणिक कहानियों की शृङ्खला। अनेक पदों में तो गणिका, अजामिल, व्याध, अहल्या आदि की कथाएँ इतनी बार दुहराई गई हैं कि उनमें कोई नवीनता नहीं ज्ञात होती। यह आवर्तन प्रधानतः निम्नलिखित दो कारणों से है :—

१ तुलसी का हृदय बहुत ही भक्तिमय है जो आराध्य के गुण-गान से नहीं थकता।

२ विनयपत्रिका गीति काव्य के रूप में है, जिसमें प्रत्येक पद स्वतत्र है।

विनयपत्रिका का दृष्टिकोण बहुमुखी है। यद्यपि राम-भक्ति ही साध्य है; किन्तु साधना के रूप अनेक प्रकार से माने गए है।

रस

विनयपत्रिका में शान्त रस की बड़ी मार्मिक विवेचना है। सूरदास के विनय पद भी अनुभूति मे तुलसी के पदों से गहरे नहीं हैं। तुलसी के स्थायी भाव की प्रौढता सूर मे नही है, क्योंकि तुलसी की उपासना दास्य भाव की है। रस के आलम्बन विभाव को राम-चरित ने बहुत सहायता दी है, क्योंकि राम अवधेश और मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। इस प्रकार की सहायता कृष्ण-चरित से नहीं मिल सकी है। तुलसी की विनयपत्रिका शान्त रस के स्पष्टीकरण में जितनी सफल हो सकी, उतनी मानस को छोड़कर कवि की कोई भी कृति नहीं।

विनयपत्रिका में केवल एक ही रस है। और वह है शान्त। इस रस के प्राधान्य के कारण अन्य किसी रस की सृष्टि नहीं हो सकी। अन्य रसों के भाव चाहे किसी स्थान पर आ गए हों, पर वे सब शान्त रस के सचारी बन गए है। यहाँ विनयपत्रिका की भावना को समझने के लिए शान्त रस का निरूपण करना युक्तिसगत होगा :—

(१) स्थायी भाव—निर्वेद

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं ॥[1]

(२) विभाव

(अ) आलम्बन विभाव :—

(१) हरि-कृपा

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम, जिय भरोस मन माँहीं ॥[2]

(२) गुरु

मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं।[3]

(आ) उद्दीपन विभाव :—

(१) देवता (बिन्दुमाधव, पार्वती)

(बिन्दुमाधव) नखसिख रुचिर बिन्दुमाधव-छवि निरखहिं नयन अघाई।[4]

(पार्वती) देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकंत।
मनो देखन तुमहिं आई ऋतु बसत ॥[5]

(२) स्थान (काशी, चित्रकूट)

(काशी) सेइय सहित सनेह देहभरि कामधेनु कलि कासी।[6]

(चित्रकूट) तुलसी जो राम-पद चहिय प्रेम।
सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम ॥

१.	तुलसी ग्रन्थावली	दूसरा खंड	(विनय पत्रिका)	पद १०५
२.	वही	"	"	पद ११६
३.	"	"	"	पद ७६
४.	"	"	"	पद ६२
५.	"	"	"	पद १४
६.	"	"	"	पद २२
७.	"	"	"	पद २३

(३) नदी (गंगा, यमुना)

(गंगा) तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंश बीर,

विचरत मति देहि मोह महिष-कालिका ॥[1]

(यमुना) जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न ।[2]

(अ) अनुभव—रोमांच, कम्प

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥[3]

(४) संचारी भाव

१ सुबुद्धि—देहि मा ! मोहिप्रण प्रेम, यह नेम निज

राम घनश्याम, तुलसी पपीहा ॥[4]

२ ग्लानि—कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ निज मन की ।[5]

३ गर्व—तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ ।[6]

४ दीनता—तुलसिदास निज भवनद्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो ।[7]

५ हर्ष—पावन किय रावन-रिपु तुलसिहु से अपत ।[8]

६ मोह—तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को ।[9]

७ विषाद—दीनदयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई ।[10]

८ चिन्ता—कलिमल ग्रसित दास तुलसी पर काहे कृपा बिसारी ।[11]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनय पत्रिका) पद १७

२ ,, ,, ,, पद. २१

३. ,, ,, ,, पद १००

४ ,, ,, ,, पद १५

५ ,, ,, ,, पद ६०

६. ,, ,, ,, पद १००

७ ,, ,, ,, पद ६१

८. ,, ,, ,, पद १३०

९. ,, ,, ,, पद १५५

१० ,, ,, ,, पद १६५

११. ,, ,, ,, पद १६६

विशेष

तुलसीदास के पूर्व हिन्दी साहित्य में केवल दो ही कवि थे, जिन्होंने गीति-काव्य में भक्ति की भावना उपस्थित की थी। वे दो कवि थे विद्यापति और कबीर। विद्यापति ने जयदेव का अनुसरण करते हुए 'गीत गोविन्द' की शैली में राधाकृष्ण का वर्णन किया था। उनके सामने नायक नायिका भेद की परम्परा थी और था 'गीत गोविन्द' की रचना का आदर्श। शृंगार रस की वासनामयी प्रवृत्ति एकमात्र उनकी कविता की शासिका थी। उसमें भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था, यद्यपि राधा-कृष्ण का चरित्र-गान उन्होंने पदों में किया था।

कबीर की रचना भक्तिमयी होते हुए भी साकार रूप का निरूपण नहीं कर सकी। उनकी कविता में आत्म-समर्पण की भावना ही स्थिर नहीं हो सकी। रहस्यवाद की अनुभूति और एकेश्वरवाद की भावना दोनों ने मिलकर कबीर की भक्ति को बहुत कुछ उपासना का रूप दे दिया था।

इस प्रकार विद्यापति और कबीर तुलसी के सामने भक्ति का कोई आदर्श स्थापित नहीं कर सके। तुलसी के समकालीन कवियों ने पुष्टि-मार्ग का अवलम्बन कर भक्ति की विवेचना अवश्य की, किन्तु वह भक्ति सख्य भाव का सहारा लिए हुए थी। दोनों में भक्ति-भावना का समावेश होते हुए भी आत्म समर्पण की भावना नहीं थी। अतएव 'विनयपत्रिका' का आदर्श मौलिक रूप से साहित्य में अवतरित हुआ। उन्होंने दास्य-भाव की भक्ति में आत्मा की सभी वृत्तियों को सजीव रूप देकर विनयपत्रिका की रचना की।

रामचरितमानस

हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ 'रामचरितमानस' है।

रचना-तिथि—'मानस' की रचना-तिथि अन्तर्साक्ष्य से संवत् १६३१

कवि ने बालकांड के प्रारम्भ में ही लिखा है :—

संबत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा।[1]

अतः इस तिथि में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। वेणीमाधव-दास ने भी इस ग्रंथ की रचना-तिथि यही लिखी है :—

राम जन्म तिथि बार सब, जस त्रेता महँ भास।
सब इकतीसा महँ जुरे, जोग लग्न ग्रह रास॥

× × × ×

यहि विधि भा आरंभ, रामचरित मानस विमल।
सुनत मिटत मद दंभ, कामादिक संसय सकल॥[2]

रघुराजसिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में भी यही तिथि दी है :—

कछु दिन करि कासी महँ बासा। गए अवधपुर तुलसीदासा॥
तहँ अनेक कीन्हेंउ सतसंगा। निसिदिन रँगे राम रति रंगा॥
सुखद राम नौमी जब आई। चैतमास अति आनन्द पाई॥
संवत सोरह सै इकतीसा। सादर सुमिरि भानुकुल ईसा॥
बासर मौन सुचित चित चायन। किय अरंभ तुलसी रामायन॥

अतः अन्तर्साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य दोनों के द्वारा 'मानस' का रचनाकाल संवत् १६३१ निश्चित है।

विस्तार— रामचरित-मानस' में राम की कथा सात कांडों में लिखी गई है। इन सातकांडों की निश्चित पद्य-संख्या बतलाना कठिन है, क्योंकि ग्रन्थ में बहुत से क्षेपक पाये जाते हैं। किन्तु 'मानस' के समस्त छन्द लगभग दस हजार हैं। स्वर्गीय श्री रामदास गौड़ ने 'रामचरित-मानस' की भूमिका में लिखा है :—

"गोस्वामी जी ने रामचरित-मानस को समाप्त करके अन्त में चौपाइयों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की है :—

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड पृष्ठ २०

२ मूल गोसाईं चरित दोहा ३८, सोरठा ११

सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरैं ।

दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुपति हरैं ॥

"अंकानां वामतो गतिः" की रीति से सत का अर्थ १०० और पंच का ५ लेकर ५१०० श्री रामचरणदास जी ने भी किया है...'मानस मयंक' में इससे मिलती-जुलती हुई व्याख्या यों दी है :—

एकावन सत सिद्ध है, चौपाई तहँ चारु ।

छन्द सोरठा दोहरा, दस रित दस हजारु ॥

अर्थात् चौपाइयों की संख्या ५१०० है और छन्द, सोरठा और दोहा सब मिलाकर दस कम दस हज़ार हैं । अर्थात् समस्त छंद संख्या ९९०० हैं ।"[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार चौपाइयों की संख्या ४६४७ और सम्पूर्ण छंद संख्या ६१६७ है ।[2]

छंद—तुलसीदास ने 'मानस' में प्रधान रूप से दोहा और चौपाई छन्द का ही प्रयोग किया है, पर उनके 'मानस' में इन छन्दों के अतिरिक्त निम्नलिखित छद भी प्रयुक्त हुए हैं :—

मात्रिक—सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, चवपैया, त्रिभंगी ।

वर्णिक—अनुष्टुप्, रथोद्धता, स्रग्धरा, मालिनी, तोटक, वंशस्थ, भुजंग-प्रयात्, नग-स्वरूपिणी, वसंत तिलका, इन्द्रवज्रा, शार्दूल विक्रीडित ।

इस प्रकार तुलसी के 'मानस' में १८ छंदों का प्रयोग हुआ है ।

वर्ण्य-विषय—'रामचरित मानस' में राम की कथा का सांगोपांग वर्णन है । इस कथा के लिखने में तुलसीदास ने निम्नलिखित ग्रन्थों का आधार प्रधान रूप से लिया है :—

---

१ रामचरित मानस की भूमिका, पृष्ठ ६४, ६५

(हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता १९८२)

२. तुलसीदास और उनकी कविता (पं० रामनरेश त्रिपाठी) पृष्ठ १२१

ग्रन्थ	किस रूप में तुलसी ने ग्रहण किया
१. अध्यात्म रामायण	कथा का दृष्टिकोण
२ वाल्मीकि रामायण	कथा का विस्तार
३. हनुमन्नाटक ४. प्रसन्न राघव	नवीन घटनाएँ (लक्ष्मण परशुराम संवाद) (पुष्प-वाटिका-वर्णन)
५. श्रीमद्भागवत	सूक्तियाँ

इन ग्रंथों के अतिरिक्त नीति तथा धर्म की सूक्तियों के लिए तुलसी· दास ने अनेक ग्रथों का आधार लिया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का कथन है कि "संस्कृत के दो सौ ग्रंथों के श्लोकों को भी चुन-चुन कर उन्होंने उनका रूपान्तर करके 'मानस' में भर दिया है"[1] तुलसी दास ने मानस के प्रारम्भ में लिखा है :—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥[2]

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की कथा को एक महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है, जिसमें जीवन के समस्त अग पूर्ण रूप से प्रदर्शित किए गए हैं। इसके साथ राम का मर्यादा-पूर्ण जीवन और लोक शिक्षा का आदर्श तो कथा को बहुत ही मनोरम और भाव पूर्ण बना देता है। तुलसीदास ने अपने ग्रंथ में राम की कथा के साथ ही साथ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों का अत्यन्त स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। 'वाल्मीकि रामायण' में राम महापुरुष हैं और 'अध्यात्म रामायण' में वे सम्पूर्णतः ईश्वर हैं। तुलसी ने अधिकतर

१ तुलसीदास और उनकी कविता, पृष्ठ १३७
२. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, पृष्ठ २

अध्यात्म का आदर्श ही स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने उसमें अपनी मौलिकता को भी स्थान दिया है। यहाँ यह देख लेना उचित है कि 'मानस' किस भाँति 'अध्यात्म-रामायण' और 'वाल्मीकि रामायण' से साम्य रखता है।

इस स्थान पर विस्तार में न जाकर केवल दो स्थलों पर ही विचार करना है, अहल्योद्धार और कैकेयी-वरदान। पहला स्थल अहल्योद्धार ही लीजिए। 'वाल्मीकि रामायण' 'अध्यात्म रामायण' और 'मानस' में इस प्रसग का निरूपण इस प्रकार है :—

वाल्मीकि रामायण

ददर्श च महाभागा तपसा द्योतित प्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्या सुरासुरैः ॥१३॥
साहि गौतम वाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूवह।
त्रयाणामपि लोकाना यावद्रामस्य दर्शनम् ॥१६॥
राघवौ तुतदातस्याः पादौ ज गृहतु मुदा।
स्मरंती गौतम वचः प्रतिजग्राहसाहितौ ॥१८॥[1]

[(राम लक्ष्मण ने) देखा कि अहल्या शिला रूप से तपस्या कर रही है। उसमें इतनी प्रभा है कि मनुष्य, देवता और राक्षस कोई भी समीप नहीं जा सकता। वह गौतम के शाप-वचन से लोगों के लिए अदृश्यमान थी। उनके वाक्यानुसार जब तक राम के दर्शन न होंगे, तब तक त्रिलोक का कोई व्यक्ति भी उसे नहीं देख सकेगा। राम-लक्ष्मण दोनों ने मुनि-स्त्री जानकर अहल्या के चरण छुए। अहल्या गौतम के वचनों का स्मरण कर उन दोनों के चरणों पर गिरी।]

'वाल्मीकि रामायण' में गौतम ने अहल्या को जो शाप दिया था उससे भी अहल्या के शरीर का यही रूप है:—

---

१ वाल्मीकि रामायण—[बालकांडे एकोनपंचाशः सर्गः]

वात भक्ष्या निराहारा तप्यती भस्म शायिनी ।
अदृश्या सर्व भूतानामाश्रमेऽस्मिन्वसिष्यसि ॥३०॥[1]

[तू पवन का भक्षण कर निराहार रह कर भस्म-शायिनी बन सभी प्राणियों से अदृश्य होकर आश्रम में निवास करेगी ।]

अध्यात्म-रामायण

दुष्टे त्वतिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम ।
निराहारा दिवारात्र तपः परमास्थिता ॥ २७ ॥
आतपानिल वर्षादि सहिष्णु परमेश्वरम् ।
ध्यायंती राममेकाग्रमनसाहृदि संस्थितम् ॥ २८ ॥
... ...
रामः पदा शिलास्पृष्ट्वा तां चापश्यततपोधनाम् ।
ननाम राघवोऽहल्या रामोहमिति चाब्रवीत ॥ ३९ ॥[2]

[दुष्टे, दुराचारिणी, तू मेरे आश्रम में निराहार रात्रि-दिन तप करती हुई शिला पर खड़ी रह । धूप, पवन, वर्षा आदि सहकर एकाग्र मन से हृदय में स्थित परमेश्वर राम का ध्यान करती रह । ...

राम ने अपने चरण से स्पर्श करके उस तपस्विनी को देखा और अहल्या को यह कह कर प्रणाम किया कि मेरा नाम राम है ।]

रामचरित-मानस

गौतमनारी श्रापबस उपल-देह धरि धीर ।
चरण-कमल-रज चाहति कृपा करहु रघुवीर ॥
परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही ।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ॥[3]

---

१. वाल्मीकि रामायण [बालकाण्डे, अष्टचत्वारिंशः सर्गः]
२. अध्यात्म रामायण [बालकाण्डे, पचम. सर्गः]
३. तुलसी ग्रंथावली, पहला खड (मानस) पृष्ठ ९२

इस प्रकार इस ग्रंथ में शान्त रस का प्राधान्य है, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और शांति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

विशेष--यह रचना सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में की गई थी क्योंकि अंत में कवि ने कहा है :—

यह विराग संदीपिनी, सुजन सुचित सुनि लेहु।
अनुचित वचन विचारि कै जस सुधारि तस देहु।' ६२॥

इस ग्रन्थ पर संस्कृत का भी कुछ प्रभाव है क्योंकि संस्कृत श्लोक के भावों पर दोहे लिखे गए हैं।[1] सरल छन्दों में तुलसीदास ने कल्पना की उड़ान के बिना शान्त रस का वर्णन तुले हुए शब्दों में किया है। वैराग्य संदीपिनी' की यह विशेषता है।

बरवै रामायण

रचना-तिथि—वेणीमाधवदास ने 'बरवै रामायण' का रचना-काल सं० १६६९ दिया है :—

कवि रहीम बरवै रचे पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुन्दर छंद में रचना किए प्रकास॥

'बरवै रामायण' एक सम्यक् ग्रंथ नहीं है। उसमें समय समय पर लिखे गए छंदों का सकलन है। अतः उसका रचना-काल एक निश्चित संवत् न होकर कुछ वर्षों का काल होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि बरवै का स ग्रह संवत् १६६९ में हुआ हो।

विस्तार—यह एक स्वतंत्र ग्रंथ नहीं प्रतीत होता। क्योंकि इसमें कथा नियमित रूप में न होकर बहुत स्फुट है। वह केवल सूत्र रूप ही में है। इसमें मंगलाचरण भी नहीं है। कांडों का विस्तार भी अनुपात रहित है :—

---

१. महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ॥
—दोहा नं० ३५

बाल कांड ११ छंद (सीताराम के सौन्दर्य-वर्णन के साथ धनुष-यज्ञ की कथा का संकेत मात्र)

अयोध्या कांड ८ छंद (कैकेयी-क्रोध, बन-यात्रा, ग्राम वासी-वार्तालाप)

अरण्य कांड ६ छद (शूर्पणखा-कूट, कंचन मृग, सीता-वियोग)

किष्किंधा काड २ छद (राम-सुग्रीव-मैत्री)

सुन्दर कांड ६ छद (राम-सीता विरह-वर्णन)

लका कांड १ छद (सेना वर्णन)

उत्तर काड २७ छद (चित्रकूट-महिमा, शान्त रस-वर्णन)

कुल ६९ छद हैं जिनमें कथा-विस्तार बहुत अनियमित है। पंडित शिवलाल पाठक का कथन था कि गोसांई जी की 'बरवै रामायण' बहुत विस्तृत रचना है। आजकल की प्राप्त बरवै रामायण तो उस वृहत् रामायण का अवशेषांश है। पर यह कथन सत्य ज्ञात नहीं होता क्योंकि इस ग्रथ में बरवै इतने स्फुट और अप्रबन्धात्मक हैं कि वे किसी कथा भाग का निर्माण नहीं कर सकते। उत्तर कांड में तो कोई कथा है ही नहीं। बरवै का यह कांड और 'कवितावली' का उत्तर कांड एक सा ज्ञात होता है।

छंद—इसमें बरवै छंद प्रयुक्त है। इसमें १२, ७ के विश्राम से १९ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द रहीम को विशेष प्रिय था। कहा जाता है कि रहीम का एक सिपाही अपनी नव-विवाहिता पत्नी के पास अधिक दिनों तक ठहर गया। चलते समय उसकी पत्नी ने एक छन्द लिखकर पुनः आने की प्रार्थना की और रहीम से क्षमा याचना भी की। वह छन्द था—

> प्रेम प्रीति को बिरवा चले लगाय।
> सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय॥

रहीम ने यह छद देख अपने सिपाही का अपराध क्षमा कर दिया

और इसी छंद में अपना 'नायिका-भेद' लिखा। उन्होंने स्वय ही इस छंद में रचना नहीं की, प्रत्युत अपने मित्रों को भी यह छद लिखने के लिए वाध्य किया।

वर्ण्य विषय—इसमें राम-कथा कही गई है, पर यह कथा सकेत रूप में ही है। वालकांड में राम-जन्मादि कुछ नहीं है। सीता राम का सौन्दर्य-वर्णन और जनकपुर में स्वयवर का सकेत मात्र है। इसी प्रकार अन्य कांडों की कथा भी अत्यत संक्षेप में है। लंकाकांड के केवल एक बरवै में सेना-वर्णन ही है।[1] उत्तर कांड में कोई कथा ही नहीं, ज्ञान और भक्ति का वर्णन मात्र है। समस्त ग्रंथ मे भरत का नाम एक बार भी नहीं आया। ग्रथ स्फुट रूप से लिखा गया है, उसमे प्रवन्धात्मकता का ध्यान ही नहीं रक्खा गया।

विशेष—'बरवै रामायण' के प्रारम्भिक छद तो अलंकार-निरूपण के लिए लिखे गए ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार उत्तर कांड में शान्त रस का निरूपण है। यहाँ तुलसीदास प्रथम बार रस और अलंकार-निरूपण का प्रयास करते हैं। भाषा अवधी है जिसमें छन्द की साधना सफलता पूर्वक हुई है। यदि इस ग्रंथ में उत्तर कांड न होता तो यह रीति-कालीन रचना कही जा सकती थी। यहाँ कवि की कला ही अधिक है, भाव-गांभीर्य कम। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'बरवै रामायण' के कुछ छद कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हो गए हैं। ऐसे छंद अधिकतर बालकांड और उत्तर कांड के हैं।

---

१ विविध वाहिनी विलसत, सहित अनन्त।
जलधि सरिस को कहै, राम भगवन्त ॥

पार्वती मंगल

रचना-तिथि—वेणीमाधवदास ने 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि सं० १६६६ की घटनाओं के वर्णन में दी है :—

मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय।
मुनि प्रांचे मन्नित किए, सुख पावें सब कोय ॥[1]

तुलसीदास ने मिथिला की यात्रा सं० १६४० के पूर्व की थी, अतः यह ग्रंथ 'नहछू' और 'जानकी मंगल' के साथ सं० १६४० के पूर्व ही बना और सवत् १६६६ में परिष्कृत हुआ। किंतु इस ग्रंथ के प्रारम्भ में कवि ने ग्रंथ की रचना तिथि दी है :—

जय सवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मगल सुनि सुख छिनु-छिनु ॥[2]

(मैंने जय संवत् में फाल्गुन शुक्ल ५, नक्षत्र अश्विनी में गुरुवार के दिन इस मंगल की रचना की जिसे सुनकर क्षण-क्षण में सुख होता है।) सुधाकर द्विवेदी के अनुसार ग्रियर्सन ने यह जय सवत् सं० १६४३ में माना है।[3] अतः 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि सं० १६४३ ही माननी होगी। सम्भव है, तुलसीदास ने मिथिला-यात्रा सं० १६४३ में भी की हो, जिसका निर्देश वेणीमाधवदास ने न किया हो। अथवा वेणीमाधवदास का मत ग़लत हो।

विस्तार—यह ग्रंथ नियमित रूप से लिखा गया है। प्रारम्भ में मगलाचरण और अन्त में स्वस्ति वचन है। इस ग्रन्थ में १६४ छन्द हैं, जिनमें १४८ अरुण है और १६ हरिगीतिका हैं।

---

१ मूल 'गोसाँई चरित', दोहा ६४

२ 'पार्वती मगल', छंद ५

३. इंडियन एंटीक्वेरी, भाग २२ (१८६३) पृष्ठ १५-१६ (जी० ए० ग्रियर्सन)

छंद—अरुण या मंगल और हरिगीतिका। अरुण छन्द ११+६ के विश्राम से २० मात्रा का और हरिगीतिका १६+१२ के विश्राम से २८ मात्रा का छन्द है।

वर्ण्य विषय—इसमें शिव-पार्वती-विवाह वर्णित है। 'रामचरित मानस' की वर्णन-शैली से साम्य रखते हुए भी यह ग्रन्थ 'मानस' मे वर्णित शिव-पार्वती-विवाह से भिन्न है। 'मानस' में पार्वती के दृढ़ व्रत की परीक्षा सप्तर्षियों द्वारा ली गई है, इसमे पार्वती की परीक्षा वटु वेश में स्वयं शिव लेते हैं। 'मानस' में पार्वती ने स्वयं ऋषियों के साथ वाद-विवाद मे भाग लिया है, 'पार्वती मगल' में पार्वती अपनी सहचरी के द्वारा शिव को उत्तर देती हैं। 'मानस' में 'जस दूलह तस बनी बराता' का रूप है और शिव-विवाह में भी सर्प लपेटे रहते हैं, 'पार्वती मंगल' में शिव के अ-शिव वेश में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रभाव 'कुमार-संभव' के कारण ही जान पड़ता है। 'कुमारसम्भव' के सर्ग ७ श्लोक ३२-३४ में शिव में जो परिवर्तन हुआ है, वही 'पार्वती-मगल' में भी पाया जाता है। इस कथा के साथ प्रचलित परम्परागत प्रथाए भी वर्णित हैं—कुहबर में जुवा, जेवनार, परिछन, शकुन आदि। 'मानस' मे वर्णित शिव-पार्वती के विवाह से यह कथा-भाग कहीं अधिक विदग्धतापूर्ण है, यद्यपि वर्णनात्मकता उतनी अच्छी नहीं है।

विशेष—यह रचना पूर्वी अवधी में हुई है। भाषा की दृष्टि से यह 'मानस' के समकक्ष है, परन्तु शैली की दृष्टि से नहीं।

जानकी मंगल

रचना-काल—वेणीमाधवदास के पूर्वोल्लिखित दोहे के अनुसार इसकी रचना भी मिथिला-यात्रा के समय **अर्थात् संवत**

१६४० के पूर्व हुई। पर 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि अन्तर्साक्ष्य के अनुसार सं० १६४३ निर्धारित की गई है। 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मगल' सम्पूर्ण सादृश्य रखने के कारण एक ही काल की रचनाएँ मानी जानी चाहिए। कथा शैली और वर्णन शैली तथा छन्द-प्रयोग में दोनों समान हैं। अत 'जानकी मगल' की रचना भी सं० १६४३ में माननी चाहिए।

विस्तार—इस ग्रथ का विस्तार २१६ छदों में है, जिनमें १९२ अरुण और २४ हरिगीतिका छन्द हैं। ८ अरुण के पीछे एक हरिगीतिका छन्द है। इस ग्रथ का प्रारम्भ नियमित रूप से मंगलाचरण में होता है और अंत मगल-कामना में।

वर्ण्य-विषय—इसमें सीता-राम का विवाह वर्णित है। राम के साथ उनके अन्य तीन भाइयों का भी विवाह हुआ है। पर कथा-क्षेत्र में 'जानकी मगल' की कथा 'मानस' की कथा से भिन्न है। 'जानकी मगल' में पुष्प-वाटिका वर्णन, जनकपुर-वर्णन और लक्ष्मण का दर्पोत्तर है ही नहीं। परशुराम का गर्वापहरण भी सभा मे न होकर बारात के लौटने पर मार्ग में हुआ है। यह प्रभाव 'वाल्मीकि रामायण' का ज्ञात होता है। वेणीमाधवदास के कथनानुसार तुलसीदास ने सं० १६४१ के लगभग 'वाल्मीकि रामायण' की प्रतिलिपि की थी।[१] यदि वेणीमाधवदास का यह कथन प्रामाणिक मान लिया जावे तो सम्भव है 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव तुलसीदास पर 'जानकी मंगल' की

---

१ लिखे वालमीकी बहुरि इकतालिस के माहि।
मगसर सुदि सतिमी रवौ पाठ करन हित ताहि ॥ गो० च०, दोहा ५५

रचना करते समय पड़ा हो। तुलसीदास ने सोचा हो कि 'मानस' में जानकी-विवाह 'वाल्मीकि रामायण' से भिन्न प्रकार का है, 'जानकी मंगल में उसके अनुकूल ही हो। इसमें भी परम्परागत वैवाहिक प्रथाओं का वर्णन स्वतंत्रता-पूर्वक हुआ है।

विशेष—'जानकी मंगल' की रचना 'पार्वती मंगल' के समान अवधी में ही हुई है। 'पार्वती मंगल' और जानकी मंगल' में निम्न-लिखित बातों में साम्य है, जिससे ज्ञात होता है कि दोनों एक ही काल की रचनाएँ हैं:—

१. दोनों का नाम एक सा ही है और दोनों का आधार संस्कृत ग्रन्थों पर है। 'पार्वती मंगल' का आधार 'कुमारसम्भव' और 'जानकी मंगल' का आधार 'वाल्मीकि रामायण' है।

२. दोनों में एक ही प्रकार के छन्द हैं और उनका क्रम भी एक सा है। ८ अरुण के पीछे १ हरिगीतिका छन्द है।

३. दोनों में एक ही भाषा अवधी और एक ही वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

४. दोनों की कथा 'मानस' से भिन्न है। दोनों में एक ही प्रकार का मंगलाचरण और एक ही प्रकार का अन्त है।

एक बात में अन्तर अवश्य है। 'पार्वती मंगल' में रचना-काल (जय संवत्) दिया गया है, पर 'जानकी मंगल' में नहीं। सम्भव है 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' एक ही ग्रंथ मानकर ('मंगल दोय') लिखे गए हों और एक का रचना-संवत् दोनों के लिए प्रयुक्त हो।

रामाज्ञा प्रश्न

रचना काल—वेणीमाधवदास ने 'रामाज्ञा' की तिथि सं० १६५५ दी है।

बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर ।
पुनि विराग सदीपिनी, रामाज्ञा शकुनीर ॥[१]

सर जार्ज ग्रियर्सन का कथन है कि मिर्जापुर के लाला छक्क लाल ने सन् १८२७ में 'रामाज्ञा' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से व थी । छक्कन लाल के शब्द इस प्रकार हैं :—

"श्री संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक श्र गुसांई जी के हस्त कमल की प्रह्लाद घाट श्री काशी जी में रही उस पुस्तक पर से श्री पंडित राम गुलाम जी के सतसंगी छक्क लाल कायस्थ रामायणी मिरजापुर वासी ने अपने हाथ से सव १८८४ में लिखा था।"[२] यह मूल प्रति तुलसीदास के हाथ की लिख हुई कही जाती है जिस पर स्वयं कवि ने सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १ रविवार तिथि डाली थी। दुर्भाग्य से यह प्रति चोरी चली गई इस प्रमाण के अनुसार रामाज्ञा की रचना-तिथि सं० १६५५ निर्धारि होती है। यह भी संदिग्ध है, क्योंकि मिश्र बन्धुओं के कथनानुसा "छक्कन लाल को 'रामाज्ञा' नहीं, रामशलाका मिली थी"[३] किन्तु यदि 'रामाज्ञा प्रश्न' और रामशलाका' एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं तो फि संदेह के लिए स्थान नहीं है। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि संवत् १६५५ 'रामाज्ञा' की रचना-तिथि न होकर प्रतिलिपि-तिथि मानना उचित है क्योंकि तुलसीदास अपने ग्रन्थ की रचना-तिथि आरम्भ में ही लिख देते हैं । उदाहरण के लिए 'रामचरित मानस और 'पार्वती मंगल' ग्रन्थ हैं जिनके प्रारम्भ ही में रचना-तिथि द गई है।

विस्तार—इस ग्रन्थ में सात सर्ग हैं, प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक और प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। इस प्रकार इ ग्रन्थ की कुल छन्द-संख्या ३४३ है।

१ मूल गोसाईं चरित, दोहा ६५

२ इंडियन एंटिक्वेरी, भाग २२ (१८९३) पृष्ठ ९६

३. हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ८२

वर्ण्य विषय—इसमें राम-कथा का वर्णन है। दोहों में यह वर्णन इस प्रकार है कि प्रत्येक दोहे से शुभ या अशुभ संकेत निकलता है, जिससे प्रश्नकर्ता अपने प्रश्न का उत्तर पा लेता है। इसका दूसरा नाम 'दोहावली रामायण' भी है। समस्त कथा सात सर्गों में विभाजित है। सर्गों के अनुसार कथा इस प्रकार है :—

प्रथम सर्ग—बाल कांड
द्वितीय सर्ग—अयोध्या कांड और अरण्य का॰ (पूर्वार्ध)
तृतीय सर्ग—अरण्य कांड (उत्तरार्ध) और किष्किधा कांड
चतुर्थ सर्ग—बालकांड
पंचम सर्ग—सुन्दर कांड और लङ्काकांड
षष्ठ सर्ग—उत्तर कांड
सप्तम सर्ग—स्फुट

चतुर्थ—सर्ग में पुन. बालकांड लिखने के कारण यद्यपि कथा के क्रम में अवरोध होता है, तथापि कवि को ऐसा करना इसलिए आवश्यक जान पड़ा क्योंकि मध्य में भी शकुन का मंगलमय और आनन्दमय रूप रखना था। इसके लिये उन्हें मंगलमय घटना की आवश्यकता थी। राम की कथा में बालकांड के बाद की कथा दुःखद है। अतः सुखद घटना के लिये उन्हें फिर बालकांड की कथा चतुर्थ सर्ग में लिखनी पड़ी।

प्रथम सर्ग के सप्तम सप्तक के सप्तम दोहे मे गंगाराम नाम आया है।[1] इस नाम के आधार पर एक कथा चल पड़ी है—

गंगाराम राजघाट के राजा के पंडित थे। एक बार वहाँ के राजकुमार शिकार खेलने के लिए जंगल मे गए। उनके साथी को बाघ ने मार डाला। इस पर यह खबर फैल गई कि राजकुमार मारे

१. सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर, गोगन गंगाराम॥ १-७-७

गए। राजा ने घबरा कर प्रह्लाद घाट पर रहने वाले प० गंगाराम ज्योतिषी को सत्य बात के निर्णय करने की आज्ञा दी। शर्त यह थी कि यदि वे ठीक उत्तर दे सके तो एक लाख रुपये से पुरस्कृत होंगे, अन्यथा प्राणदंड पावेंगे। गंगाराम ज्योतिषी तुलसीदास के मित्र थे। उन्होंने अपनी विपत्ति का समाचार तुलसीदास को दिया। तुलसीदास ने छः घंटे में रामाज्ञा की रचना कर गंगाराम को उसकी प्रति दे दी। इसके अनुसार गंगाराम ने राजकुमार के दूसरे दिन सकुशल लौट आने की बात और समय राजा साहब को बतला दिया। वास्तव में यह बात सच निकली। राजा साहब ने गंगाराम ज्योतिषी को एक लाख से पुरस्कृत किया जिसे उसने तुलसीदास की सेवा में समर्पित करना चाहा। तुलसीदास ने उस धन में से सिर्फ बारह हजार लेकर हनुमान जी के बारह मन्दिर बनवा दिये।

इस कथा का आधार केवल प्रथम सर्ग के अन्तिम सप्तक का अन्तिम दोहा है और उसी के आधार पर जनश्रुति। पर यह कथा सत्य ज्ञात नहीं होती क्योंकि इतनी लंबी रचना केवल ६ घंटे में नहीं बन सकती और इससे शकुन का समय भी नहीं निकलता। केवल शुभ या अशुभ लक्षण ज्ञात हो सकता है।[1]

'रामाज्ञा' की राम कथा पर वाल्मीकि रामायण का ही अधिक प्रभाव है। परशुराम का मिलन राज-सभा मे न होकर 'वाल्मीकि रामायण' के समान मार्ग ही में होता है। इसका निर्देश प्रथम सर्ग के बालकांड में है, चतुर्थ सर्ग के बालकांड में नहीं।

> ब्याहि कुंवर बियाहि पुर गवने दसरथ राउ।
> भए मंजु मंगल सगुन गुरु सुर संभु पसाउ॥
> पथ परसुधर आगमन समय सोच सब काहु।
> राज समाज विषाद बड़, भय बस मिटा उछाहु॥[2]

१. इंडियन एंटीकरी, भाग २२, पृष्ठ २०६

२. रामाज्ञा प्रश्न प्रथम सर्ग, सप्तक ६ दोहा ३-४

इसी प्रकार सर्ग षष्ठ में राम राज्याभिषेक के बाद न्याय की कथाएँ भी 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार हैं :—

विप्र एक बालक मृतक राखेउ राज दुवार।
दंपति विलपत सोक अति, आरत करत पुकार ॥[1]
बग उलूक झगरत गये, अवध जहाँ रघुराउ।
नीक सगुन बिवगिहि झगर, होइहि धरम निआउ॥
जती स्वान सवाद सुनि, सगुन कहब जिय जानि।
हंस बस अवतंस पुर बिलग होत पय पानि ॥[2]

इसी प्रकार सीता निर्वासन और लवकुश-जन्म की ओर भी संकेत है :—

असमंजसु बड़ सगुन गत, सीता राम वियोग।
गवन विदेस, कलेस कलि, हानि, पराभव रोग ॥[3]
पुत्र लाभ लवकुस जनम सगुन सुहावन होइ।
समाचार मंगल कुसल, सुखद सुनावइ कोइ ॥[4]

ये कथाएँ 'मानस' में नहीं हैं। अतः इस कथा पर सम्पूर्ण रूप से 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव है।

विशेष—इस ग्रन्थ में काव्योत्कर्ष और प्रबन्धात्मकता का अभाव है। प्रत्येक सगुन को स्पष्ट रूप देने के लिए मुक्तक दोहे हैं। भाषा इसकी अवधी और ब्रजभाषा मिश्रित है, अधिकतर अवधी ही है। इसमें काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा घटना-वर्णन ही अधिक है, क्योंकि इसका उद्देश्य रसोद्रेक करना न होकर शुभ और अशुभ शकुन ही बतलाना है। इसमें अनेक दोहे ऐसे हैं, जो 'दोहावली' में भी पाये जाते हैं। सप्तम सर्ग के

१. रामाज्ञा प्रश्न	षष्ठ सर्ग	सप्तक ५	दोहा १
२. ,,	,,	,, ६	दोहा २-३
३. ,,	,,	,, ७	दोहा १
४. ,,	,,	,, ७	दोहा ३

तृतीय सप्तक का अन्तिम दोहा [1] तो 'वैराग्य सन्दीपिनी' और 'दोहावली' का प्रथम दोहा है।

दोहावली

रचनाकाल—वेणीमाधवदास ने इसकी रचना-तिथि सं० १६४० दी है :—

मिथिला ते कासी गए चालिस संवत् लाग ।
दोहावलि संग्रह किए सहित विमल अनुराग ॥[2]

किन्तु यह तिथि ठीक नहीं मानी जा सकती। 'दोहावली' में अनेक घटनाएँ ऐसी हैं, जो संवत् १६४० के बाद की हैं जैसे :—

अपनी बीसी आपुही पुरिहि लगाए नाथ ।
केहि बिधि बिनती विश्व की, करौं विश्व के नाथ ॥[3]

इस दोहे में रुद्रबीसी का वर्णन है। इस रुद्रबीसी का समय संवत् १६६५ से १६८५ तक माना गया है।[4]

भुज रुज कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस ।
बिहगराज वाहन तुरत काढिय मिटइ कलेस ॥
बाहु विटप सुख विहँग थलु लगी कुपीर कुआगि ।
राम कृपा जल सींचिए वेगि दीन हित लागि ॥ दोहावली, २३६

इन दोहों में तुलसीदास की बाहु-पीड़ा का वर्णन है। तुलसीदास की बाहुपीड़ा उनके जीवन के अन्तिम दिनों में मानी गई है। अतः इन दोहों का समय संवत् १६८० के लगभग मानना चाहिए।

'दोहावली' में यदि संवत् १६६५ से १६८० तक की घटनाओं का वर्णन है तो उसका संग्रह सं० १६४० में किस भाँति हो सकता है?

---

१. राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर ।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी ओर ॥

२. गोसाँई चरित, दोहा नं० ५४

३ दोहावली, दोहा नं० २४०

४. तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृष्ठ २४५

तुलसीदास के जीवन के अन्तिम दिनों की रचना 'दोहावली' में होने के कारण ऐसा अनुमान भी होता है कि इसका संग्रह स्वय तुलसीदास के हाथ से न होकर उनके किसी भक्त के हाथ से हुआ होगा। ऐसी स्थिति में वेणीमाधवदास द्वारा दी गई तिथि अशुद्ध ज्ञात होती है।

विस्तार—'दोहावली' में दोहों की संख्या ५७३ है। इनमें अन्य ग्रंथों के दोहे भी सम्मिलित हैं।

मानस के ८५ दोहे
सतसई के १३१ ,,
रामाज्ञा के ३५ ,,
वैराग्य संदीपिनी के २ ,,

शेष दोहे नवीन हैं। इनमें २२ सोरठे भी हैं।

छंद—'दोहावली' में स्पष्ट ही दोहा छंद है, जिसमें १३, ११ के विश्राम से २४ मात्राएँ होती हैं।

वर्ण्य विषय—'दोहावली' में कोई विशेष कथानक नहीं है। नीति, भक्ति, राम महिमा, नाम-माहात्म्य, तत्कालीन परिस्थितियाँ, राम के प्रति चातक के आदर्श का प्रेम तथा आत्म-विषयक उक्तियाँ ही मिलती हैं। अनेक दोहों में अलंकार-निरूपण का भी प्रयत्न किया गया है। चातक की अन्योक्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। उनके द्वारा कवि ने अपनी अनन्य भक्ति का स्पष्ट और सुन्दर परिचय दिया है। कलिकाल-वर्णन में तत्कालीन परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥

दोहावली में यह ५५६ वाँ दोहा है। 'कलिधर्माधर्म-निरूपण में' यह ८ वाँ दोहा है।[1]

---

1. दोहा रामायण, पृष्ठ २२६ [illegible] बिहारी राय, [illegible] (१६०१)

इसी प्रकार—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निन्दहिं वेद पुरान।

'कलि धर्माधर्म निरूपण' का यह २२ वाँ 'दोहावली' में ५५४ वाँ दोहा है। यदि 'कलि धर्माधर्म निरूपण' को एक विशिष्ट ग्रन्थ मान लिया जाय तो 'दोहावली' में उसके दोहे भी संग्रहीत किए गए हैं। इस प्रकार 'दोहावली' निश्चित रूप से एक संग्रह ग्रन्थ है।

विशेष—यह ग्रन्थ काव्योत्कर्ष के दृष्टिकोण से साधारण है। कुछ दोहे तो वास्तव में उत्कृष्ट हैं, जो मनोवेगों का स्वाभाविक चित्रण करते हैं।

कृष्ण गीतावली

रचना-काल—'कृष्ण गीतावली' का रचना-काल वेणीमाधवदास द्वारा सं० १६२८ माना जाता है। इसकी रचना 'राम गीतावली' के साथ ही हुई :—

जब सोरह सै बसु बीस चढ्यौ। पद जोरि सबै शुचि ग्रन्थ गढ्यौ॥
तेहि राम गीतावलि नाम धर्यौ। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्यौ॥

जिस तरह 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' युग्म हैं, उसी प्रकार 'राम गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली'। दोनों की रचना से यह ज्ञात होता है कि ग्रंथ उस समय लिखे गए होंगे जब कवि पर व्रजभाषा और कृष्ण-काव्य का अत्यधिक प्रभाव होगा।

विस्तार—'कृष्णगीतावली' में स्फुट पदों का संग्रह है। यह रचना ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत नहीं की गई होगी, क्योंकि न तो इसके आदि मे मंगलाचरण है और न अन्त में कोई मंगल-कामना ही। इसमें कोई कांड या स्कन्ध आदि नहीं हैं, राग रागिनियों में घटना विशेष पर पद लिख दिए गए हैं। ऐसे पदों की संख्या ६१ है।

वर्ण्य विषय—इस ग्रन्थ में कृष्ण की कथा गाई गई है। सूरदास के 'सूरसागर' में जिस प्रकार श्रीकृष्ण-चरित्र पर अनेक पद लिखे गए हैं, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'कृष्ण गीतावली' में भी पद-रचना है। 'कृष्ण गीतावली' में निम्नलिखित विषयों पर पद-रचना की गई है :—

बाल-लीला, गोपी उपालम्भ, ऊखल-बन्धन, इन्द्र-कोप, गोवर्द्धन-धारण, छाक-लीला, सौन्दर्य वर्णन, गोपिका-प्रेम, मथुरा-गमन, गोपी-विरह, भ्रमर-गीत और द्रौपदी-चीर। इन सभी घटनाओं का वर्णन बड़े स्वाभाविक ढग से किया गया है। तुलसीदास ने कृष्ण चरित्र वर्णन में भी हृदय तत्व की प्रधानता रक्खी है और ये पद 'सूरसागर' के पदों से किसी प्रकार भी हीन नहीं ज्ञात होते। कृष्ण का बाल-चरित्र वर्णन कर तुलसीदास ने इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैला दिया है और उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने कृष्ण चरित्र को उत्कृष्ट साहित्य का रूप दे दिया है। कृष्ण गीतावली' तुलसीदास की बड़ी सरल रचना है। यह जितनी सरल है उतनी ही मनोवैज्ञानिक भी।

विशेष—कृष्ण-चरित्र के चित्रण ने तुलसीदास को ऐसे वैष्णव का रूप दे दिया है, जिसे विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास है। उसे राम और कृष्ण में अन्तर नहीं ज्ञात होता। उसे अवतारवाद में पूर्ण-विश्वास है। 'कृष्ण गीतावली' के कुछ पद 'सूरसागर' से मिलते हैं। इसका कारण संभवतः यह हो कि "तुलसीदास की रचनाओं में मिलने वाले सूरदास के इन पदों को तुलसीदास जी ने गाने के लिए पसन्द किया होगा और तुलसीदास जी को प्रिय होने के कारण आगे चल कर उनके शिष्यों ने

उचित परिवर्तन के साथ उन्हें उनकी रचनाओं में मिला दिया होगा।"[1]

यह रचना ब्रजभाषा में है तथा कवि की प्रतिभा की पूर्ण परिचायिका है।

बाहुक

रचना-काल—वेणीमाधवदास ने इसकी रचना संवत् १६६६ में मानी है :—

बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर।
पुनि विराग संदीपिनी, रामाज्ञा सकुनीर ॥[2]

कविता की प्रौढ़ता देख कर अनुमान भी यही होता है कि यह रचना तुलसीदास के जीवन के परवर्ती काल की है। यदि इसी बाहुपीड़ा से हम तुलसीदास की मृत्यु मानें तब तो यह तुलसीदास की अंतिम रचना है और इसका रचना काल संवत् १६८० है। यदि उपर्युक्त घटना सही न भी हो तो यह रचना संवत् १६६६ के लगभग की तो माननी ही चाहिए।

विस्तार—'बाहुक' एक सम्यक् ग्रन्थ के रूप में लिखा गया ज्ञात होता है। प्रारम्भ में हनुमान की वंदना छप्पय छन्द में है और अन्त मे भी भावना की शान्ति है। इसका विस्तार ४४ छन्दों में है।

छंद—'बाहुक' की रचना चार छन्दों में हुई है। छप्पय, झूलना, मत्तगयंद और घनाक्षरी।

वर्ण्य विषय—इस रचना में तुलसीदास ने अपनी बाहुपीड़ा और उसके शमन की प्रार्थना बड़े करुण स्वरों में हनुमान से

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ८१
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३१)

२. मूल गोसाईं चरित, दोहा ९५

की है। यह प्रार्थना इतनी करुणापूर्ण और हृदय-द्रावक है कि इसे पढ़ कर तुलसीदास के प्रति करुणा और नियति के प्रति क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। भाषा इतनी मँजी हुई और भावों की अनुगामिनी है कि उससे तुलसीदास के पांडित्य और प्रतिभा का परिचय सरलता से पाया जा सकता है। यह रचना तुलसीदास की बहुत प्रौढ़ रचना है और उनकी अमर कृतियों मे है। इसमें व्रजभाषा का रूप बहुत ही परिमार्जित है।

विशेष—नागरी प्रचारिणी सभा ने जो 'तुलसी ग्रन्थावली' का प्रकाशन किया है, उसमें 'बाहुक' 'कवितावली' के अंतर्गत ही माना गया है। सभव है, इसका कारण यह हो कि 'कवितावली' के उत्तरकांड में प्रार्थनाएँ हैं और वे सब कवित्त, छप्पय और झूलना छन्द आदि में हैं। 'हनुमान बाहुक' की रचना भी उन्हीं छन्दों में हुई है और वर्ण्य विषय भी हनुमान की प्रार्थना है। अतः 'बाहुक' 'कवितावली' ही से सम्बद्ध कर दिया गया है।

सतसई (!)

रचना-काल—'सतसई' का रचना-काल स० १६४२ है। 'सतसई' में लिखा है :—

> अहि रसना थन धेनु रस गनपति द्विज गुरु वार।
> माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार ॥ २१ ॥

अहिरसना = २, थनधेनु = ४ रस = ६ गनपति द्विज = १, = १६४२ (अंकानां वामतो गतिः)

वेणीमाधवदास अपने 'मूल गोसांईचरित मे भी यही तिथि देते हैं :—

> माधौ सित सिय जनम तिथि ब्यालिस सम्वत बीच।
> सतसैया बरनै लगे प्रेम बारि के सींच ॥

विस्तार—इस प्रकार इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १६४२ निश्चित है। इसमे ७४७ दोहे हैं।[1] सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में ११०, द्वितीय सर्ग मे १०३, तृतीय सर्ग में १०१, चतुर्थ सर्ग में १०४, पंचम सर्ग में ६६, षष्ठ सर्ग में १०१ और सप्तम सर्ग मे १२६ दोहे हैं।

वर्ण्य-विषय—प्रथम सर्ग में भक्ति, द्वितीय सर्ग में उपासना, तृतीय सर्ग में राम भजन, चतुर्थ सर्ग में आत्म-बोध, पंचम सर्ग में कर्म मीमांसा, षष्ठ सर्ग मे ज्ञान मीमांसा और सप्तम सर्ग मे राजनीति के सिद्धान्त इसके वर्ण्य-विषय हैं। सतसई का तृतीय सर्ग तो दृष्टि-कूट से भरा हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसी अपने समकालीन काव्य के सभी रूपों में अपनी कुशलता प्रदर्शित करना चाहते थे। अनेक स्थानों पर बड़ी सुन्दर उक्तियाँ हैं जिनमें तुलसीदास का अनुभव और निरीक्षण सन्निहित है। अनेक स्थानों पर हमें उपदेश भी मिलता है। वह केवल उपदेश ही नहीं है वरन् एक सत्य है जिसमें हृदय को छू लेने की शक्ति है।

विशेष—पं० रामगुलाम द्विवेदी और पं० सुधाकर द्विवेदी 'तुलसी सतसई' को तुलसी रचित नहीं मानते। ग्रियर्सन उसे अंशतः तुलसी रचित मानते हैं।[2] प्रधानतः कारण यह दिया जाता है कि इसमें अनेक कूट हैं जो तुलसी के काव्य आदर्श के विरुद्ध हैं। सुधाकर द्विवेदी ने 'सतसई' में गणित का अत्यधिक अंश पाकर उसे किसी तुलसी

१ सतसई सप्तक—श्यामसुन्दर दास

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६३१

२ इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २२ (१८६३) पृष्ठ १२८

(पं० ग्रियर्सन)

कायस्थ की रचना मान ली है। उस तुलसी कायस्थ को उन्होंने गाजीपुर निवासी भी माना है क्योंकि 'तुलसी सतसई' के कुछ शब्द-विशेष गाजीपुर में अधिकतर बोले जाते हैं। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि 'सतसई' की शैली 'दोहावली' की शैली के समान ही है और 'सतसई' में 'दोहावली' के लगभग डेढ़ सौ दोहे भी हैं। यदि 'दोहावली' तुलसी रचित हो तो 'सतसई' को भी तुलसी रचित मानना समीचीन है। 'सतसई' में सीता-भक्ति का प्राधान्य है। वेणीमाधवदास ने स० १६४० में तुलसीदास की मिथिला-यात्रा का वर्णन किया है। सम्भव है, मिथिला के वातावरण का प्रभाव 'सतसई' लिखते समय तुलसीदास के हृदय पर रहा हो। फिर 'सतसई' की रचना भी सीता जी की जन्म-तिथि को हुई। अत सीता की भक्ति का वर्णन 'सतसई' में स्वाभाविक है। चाहे यह ग्रंथ तुलसी रचित हो अथवा न हो, इसमें तुलसी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त सम्यक रूप से दिये गए हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' में 'सतसई' को स्थान नहीं दिया गया। सम्भव है, 'ग्रन्थावली' के सम्पादक-गण पं० रामगुलाम द्विवेदी, पं० सुधाकर द्विवेदी और सर ग्रियर्सन से प्रभावित हुए हों।

कलि धर्माधर्म निरूपण

रचना-तिथि—इस ग्रन्थ का रचना काल किसी प्रकार भी विदित नहीं। वेणीमाधवदास ने भी इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। नागरी प्रचारिणी सभा की 'तुलसी ग्रन्थावली' में भी इसका समावेश नहीं है। किन्तु इसकी रचना-शैली और इसके अनेक दोहे 'दोहावली आदि ग्रन्थों में आने के कारण इसे तुलसीकृत मानना उचित होगा। मिश्र

विस्तार—इस प्रकार इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १६४२ निश्चित है। इसमें ७४७ दोहे हैं।[1] सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में ११०, द्वितीय सर्ग में १०३, तृतीय सर्ग में १०१, चतुर्थ सर्ग में १०४, पंचम सर्ग मे ६६, षष्ठ सर्ग में १०१ और सप्तम सर्ग में १२६ दोहे हैं।

वर्ण्य-विषय—प्रथम सर्ग में भक्ति, द्वितीय सर्ग में उपासना, तृतीय सर्ग में राम भजन, चतुर्थ सर्ग में आत्म-बोध, पंचम सर्ग में कर्म मीमांसा, षष्ठ सर्ग में ज्ञान मीमांसा और सप्तम सर्ग में राजनीति के सिद्धान्त इसके वर्ण्य-विषय हैं। सतसई का तृतीय सर्ग तो दृष्टि-कूट से भरा हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसी अपने समकालीन काव्य के सभी रूपों में अपनी कुशलता प्रदर्शित करना चाहते थे। अनेक स्थानों पर बड़ी सुन्दर उक्तियाँ हैं जिनमें तुलसीदास का अनुभव और निरीक्षण सन्निहित है। अनेक स्थानों पर हमें उपदेश भी मिलता है। वह केवल उपदेश ही नहीं है वरन् एक सत्य है जिसमें हृदय को छू लेने की शक्ति है।

विशेष—पं० रामगुलाम द्विवेदी और पं० सुधाकर द्विवेदी 'तुलसी सतसई' को तुलसी रचित नहीं मानते। ग्रियर्सन उसे अंशत: तुलसी रचित मानते हैं।[2] प्रधानतः कारण यह दिया जाता है कि इसमें अनेक कूट हैं जो तुलसी के काव्य-आदर्श के विरुद्ध हैं। सुधाकर द्विवेदी ने 'सतसई' में गणित का अत्यधिक अंश पाकर उसे किसी तुलसी

---

१ सतसई सप्तक—श्यामसुन्दर दास
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १६३१

२ इंडियन एंटीकरी, भाग २२ (१८९३) पृष्ठ १२८
(ए० ग्रियर्सन)

कायस्थ की रचना मान ली है। उस तुलसी कायस्थ को उन्होंने गाजीपुर निवासी भी माना है क्योंकि 'तुलसी सतसई' के कुछ शब्द-विशेष गाजीपुर में अधिकतर बोले जाते हैं। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि 'सतसई' की शैली 'दोहावली' की शैली के समान ही है और 'सतसई' में 'दोहावली' के लगभग डेढ़ सौ दोहे भी हैं। यदि 'दोहावली' तुलसी रचित हो तो 'सतसई' को भी तुलसी रचित मानना समीचीन है। 'सतसई' में सीता-भक्ति का प्राधान्य है। वेणीमाधवदास ने स० १६४० में तुलसीदास की मिथिला-यात्रा का वर्णन किया है। सम्भव है, मिथिला के वातावरण का प्रभाव 'सतसई' लिखते समय तुलसीदास के हृदय पर रहा हो। फिर 'सतसई' की रचना भी सीता जी की जन्म-तिथि को हुई। अत. सीता की भक्ति का वर्णन 'सतसई' में स्वाभाविक है। चाहे यह ग्रंथ तुलसी रचित हो अथवा न हो, इसमें तुलसी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त सम्यक रूप से दिये गए हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' में 'सतसई' को स्थान नहीं दिया गया। सम्भव है, 'ग्रन्थावली' के सम्पादक-गण पं० रामगुलाम द्विवेदी, प० सुधाकर द्विवेदी और सर ग्रियर्सन से प्रभावित हुए हों।

कलि धर्माधर्म निरूपण

रचना-तिथि—इस ग्रन्थ का रचना काल किसी प्रकार भी विदित नहीं। वेणीमाधवदास ने भी इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। नागरी प्रचारिणी सभा की 'तुलसी ग्रन्थावली' में भी इसका समावेश नहीं है। किन्तु इसकी रचना-शैली और इसके अनेक दोहे 'दोहावली' आदि ग्रन्थों में आने के कारण इसे तुलसीकृत मानना उचित होगा। मिश्र

बन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में इसे तुलसीदासकृत माना है :—

"इसकी रचना और भाषा रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मनोहर प्रशंसनीय ग्रन्थ है। इसके तुलसीकृत होने में कोई संदेह नहीं है।"[1]

इस ग्रन्थ के दोहे 'दोहावली' में संग्रहीत हैं। अतः यह ग्रन्थ 'दोहावली' से पहले बन गया होगा। 'दोहावली' की रचना-तिथि सं० १६६५ के बाद की है क्योंकि 'दोहावली' में 'बीसी विस्वनाथ की' (सम्वत् १६६५) का वर्णन है। अतः 'कलि धर्माधर्म निरूपण' सं० १६६५ के पहले की रचना है।

विस्तार—इसमें चार चौपाइयों (आठ पंक्तियों) के बाद एक दोहा है। ऐसे दोहों की संख्या ग्रन्थ में २५ है। बीच में एक और अन्त में छः सोरठे भी हैं। एक हरिगीतका छन्द भी है। यह ग्यारह पृष्ठों की रचना है।[2]

छन्द—चौपाई, दोहा, सोरठा और हरिगीतिका।

वर्ण्य-विषय—इसमें तुलसीदास ने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। इन तीनों क्षेत्रों में जो अनाचार है, उसे उन्होंने कलि-धर्म का नाम दिया है। यही समस्त रचना में वर्णित है।

विशेष—यद्यपि इस ग्रन्थ मे मंगलाचरण नहीं है तथापि अन्त समुचित रूप से किया गया है। अन्तिम सोरठा इस प्रकार है :—

नर तन धरि करि काज, साज त्यागि मद मान को।
गाइ नाथ रघुराज, माँजि माँजि मन विमल वर।

---

१ हिन्दी नवरत्न, (मिश्र बन्धु) पृष्ठ ६८

२ षोडश रामायण (कलि धर्माधर्म निरूपण) पृष्ठ ३२६ से ३३६ (श्री नुटविहारीराय द्वारा मुद्रित और प्रकाशित, कलकत्ता १६०३)

गीतावली

रचना-काल—अंतर्साक्ष्य से 'गीतावली' के रचना-काल पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें किसी ऐतिहासिक घटना का निर्देश नहीं है। 'कवितावली' की भाँति 'मीन की सनीचरी' या 'बीसी विस्वनाथ की' आदि का भी उल्लेख नहीं है। 'गीतावली' का रचना काल वेणी-माधवदास ने संवत् १६२८ माना है। इस ग्रन्थ की रचना का कारण यह दिया गया है :—

तड़के इन बालक आन लग्यो।
सुठि सुन्दर कंठ सों गान लग्यो॥
तिसु गान पै रीझि गोसाई गए।
लिखि दीन्ह तबै पद चारि नए॥
करि कंठ सुनायउ दूजे दिना।
अड़ि जाय सो नूतन गान बिना॥
मिस याहि बनावन गीत लगे।
उर भीतर सुन्दर भाव जगे॥[1]

यह ग्रंथ 'कृष्ण गीतावली' के साथ ही बना और इसमें सवत् १६१६ से संवत् १६२८ के बीच बने हुए समस्त पदों का संग्रह हुआ :—

जब सोरह से वसु बीस चढ्यो। पद जोरि सबै सुचि ग्रन्थ गढ्यो॥
तेहि राम गीतावलि नाम धर्यो। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्यो॥[2]

'मूलगोसांई चरित' के अनुसार 'गीतावली' तुलसीदास की प्रथम रचना है। किन्त 'गीतावली' की शैली और कथा-वस्तु को देखते हुए यह अनुमान करना पड़ता है कि इसकी रचना 'मानस' के पीछे हुई होगी। 'गीतावली' की कथा उत्तर कांड में अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' से साम्य रखती है। कौशल्या आदि का करुण चरित्र भी

---

१. गोसाँई चरित ३३ वें दोहे की चौपाइयाँ
२. वही " "

अधिक विदग्धतापूर्ण है तथा राम का बाल वर्णन तुलसीदास के ग्रन्थों में सब से उत्कृष्ट है। अतः संभव है, इसकी रचना 'मानस' के आदर्शों से स्वतन्त्र होकर बाद में हुई हो, यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना-तिथि विश्वस्त रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती। 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' जय संवत् की रचनाएँ हैं। ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हैं। 'जानकीमंगल' 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर और 'पार्वतीमंगल' 'कुमार संभव' के आधार पर है। अतः इसी परिस्थिति में कदाचित् 'गीतावली' की रचना हुई हो जो वाल्मीकि की कथा से अधिक साम्य रखती है। ये उस समय की रचनाएँ होंगी जब कवि संस्कृत ग्रन्थों से अधिक प्रभावित हुआ होगा। इस विचार के अनुसार 'गीतावली' की रचना जय संवत् के आसपास ही माननी चाहिए अर्थात् 'गीतावली' की रचना लगभग १६४३ में हुई होगी।

विस्तार—'गीतावली' सम्यक् ग्रन्थ के रूप में न लिखी जाकर स्फुट पदों के रूप में लिखी गई होगी। इसमें कोई मंगलाचरण नहीं है। ग्रन्थ का प्रारम्भ राम के जन्मोत्सव से होता है।

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
रूप सील गुन-धाम राम नृप भवन प्रगट भए आई ॥[1]

इसमें रामावतार के न तो कारण ही दिए गए हैं और न पूर्ण कथाएँ। ग्रन्थ अनियमित रूप से प्रारम्भ होता है। अतः इसमें कथा के अनेक सूत्र छूट गए हैं। फलस्वरूप कांडों का सानुपात विस्तार नहीं है। कुल ग्रन्थ में ३२८ पद हैं और उनका विभाजन सात कांडों मे इस प्रकार हुआ है :—

बालकांड	१०८ पद
अयोध्याकांड	८९ पद
अरण्यकांड	१७ पद

---

१ तुलसीग्रंथावली, दूसरा खंड, गीतावली पद १ पृष्ठ २६९

किष्किंधाकांड २ पद
सुन्दरकांड ५१ पद
लङ्काकांड २३ पद
उत्तरकांड ३८ पद

राम-कथा को देखते हुए किष्किधाकांड के केवल दो पद 'गीतावली' का स्फुट शैली ही निश्चित रूप से निर्धारित करते हैं। कांडों के असमान होने के कारण घटनाओं का स्वरूप भी विशृंखल है। अयोध्याकांड के प्रथम पद में वशिष्ठ से राम-राज्याभिषेक के लिए दशरथ की विनय है और दूसरे ही पद में राम-वनवास के अनन्तर कौशल्या की राम से अयोध्या में ही रह जाने की प्रार्थना है। कैकेयी-वरदान की समस्त विदग्धतापूर्ण कथा का अक्षम्य अभाव है। घटनाओं की विशृंखलता के साथ ही साथ चरित्र-चित्रण भी पूर्ण नहीं हो पाया। 'मानस' में जिस भरत के चित्रण में तुलसी ने अयोध्याकांड का उत्तरार्ध ही समाप्त कर दिया, उसी भरत का चित्रण, गीतावली मे अधूरा है। ये अभाव 'गीतावली' के स्फुट रूप में लिखे जाने के कारण ही हैं।

वर्ण्य विषय (अ) कृष्ण-काव्य का प्रभाव

तुलसीदास ने 'गीतावली' में राम की कथा पदों में लिखी है। संभव है, कृष्ण की कथा का पद रूप मे अत्यधिक प्रचार होते देख कर तुलसीदास ने राम की कथा भी पद-रूप में लिखी हो अथवा साहित्य के क्षेत्र में संभवतः सूरदास के 'सूरसागर' ने तुलसीदास का ध्यान इस ओर आकर्षित किया हो। वेणीमाधवदास ने अपने 'गोसाँई चरित' में तुलसीदास का सूरदास से मिलाप होना संवत् १६१६ में लिखा है :—

> सोरह सै सोरह लगे, कामदगिरि ढिग वास ।
> सुचि एकात प्रदेश महँ, आए सूर सुदास ॥

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नट नागर को॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पद-पंकज पै सिर नाय रहे॥[1]

इसके अनुसार सूरदास का 'सूरसागर' तुलसीदास के समक्ष आ चुका था। यदि वेणीमाधवदास का कथन सत्य भी न माना जावे, तब भी 'गीतावली' में अनेक पद ऐसे हैं जिनका पूर्ण साम्य सूरसागर में लिखे गए पदों से होता है :—

(१) गीतावली—कनक रतन मय पालनो रच्यो मनहु मार सुतहार।
सूरसागर—अति परम सुन्दर पालनो गढ़ि ल्याव रे बढ़ैया।

(२) गीतावली—पालने रघुपति झुलावै।
सूरसागर—यशोदा हरि पालने झुलावै।

(३) गीतावली—आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
सूरसागर—आँगन खेलत घुटुरुवनि धाए।

(४) गीतावली—जागिए कृपानिधान जान राय रामचन्द्र,
जननी कहै बार बार भोर भयो प्यारे।
सूरसागर—जागिए गुपाललाल, आनन्दनिधि नन्दबाल,
यशुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे॥

(५) गीतावली—खेलन चलिये आनन्द कन्द।
सूरसागर—खेलन चलिये बाल गोविन्द।

पद ३ और ५ तो इतना साम्य रखते हैं कि तुलसीदास और सूरदास के नाम के अतिरिक्त राम और श्याम के नाम से समस्त पद अक्षरश: मिलते हैं। या तो तुलसीदास ने ही अपनी भक्ति के आवेश मे सूरदास के पद को राम पर घटित कर दिया हो, या उन्होंने सूरदास का पद प्रिय लगने के कारण अपने ग्रन्थ मे रख लिया हो पर तुलसीदास जैसे महान् कवि से हम इन दोनों बातों की आशा नहीं रखते। सम्भव है, 'गीतावली' के सम्पादकों ने भ्रमवश सूर के पदों को तुलसी के नाम से 'गीतावली' मे रख दिया हो। इतना

१. गोसाँई चरित, दोहा २६ तथा आगे की चौपाई

तो अवश्य कहा जा सकता है कि 'गीतावली' पर 'सूरसागर' की स्पष्ट छाप है। शब्दों और पदों के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रकरणों से भी इस कथन की पुष्टि होती है :—

(१) कृष्ण के समान ही राम का बाल-वर्णन है। राम के बाल-वर्णन का प्रसंग तुलसीदास ने 'गीतावली' को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में बहुत संक्षेप में किया है। 'मानस' में—

धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहँसि गोदि बैठाए ॥

और 'कवितावली' में—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ॥ आदि थोड़ी सी पंक्तियों में राम का बालवर्णन है। 'गीतावली' में यह बाल-वर्णन ४४ पदों में वर्णित है। यह बाल-वर्णन अधिकतर उसी साँचे में ढला हुआ है जिस साँचे में कृष्ण का बाल वर्णन।

(२) कौशल्या की पुत्र वियोग में करुण भावनाभिव्यक्ति। यशोदा के समान कौशल्या भी राम के वियोग में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करती और पूर्व स्मृतियों को जगाती हैं। 'गीतावली' के अतिरिक्त ऐसा वर्णन तुलसी के अन्य किसी ग्रन्थ मे नहीं है।

(३) उत्तर कांड के अंतर्गत रामराज्य में हिंडोला, वसन्त, होली, चाँचर-वर्णन ये घटनाए अधिकतर कृष्ण-काव्य के क्षेत्र की हैं। राम का मर्यादा पूर्ण चरित्र इन घटनाओं के प्रतिकूल है। अतः 'मानस' तथा राम-कथा के अन्य ग्रन्थों मे तुलसी ने इस शृंगार पूर्ण घटनावली का वर्णन नहीं किया है, पर 'गीतावली' में यह वर्णन दो बार आया है। एक बार तो चित्रकूट के प्रकृति-वर्णन मे है :—

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु ॥[1]

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृष्ठ २५२

और दूसरी बार उत्तर कांड मे आया है :—

खेलत बसन्त राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज ॥
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ ॥[1]

मर्यादा पुरुषोत्तम राम ललना-गण के साथ "निपट गई लाज भाजि" के अवसर पर सम्मिलित नहीं हो सकते। पर 'गीतावली' में इस घटना का विस्तृत विवरण है। अतः यह स्पष्ट है कि 'गीतावली' पर कृष्ण-काव्य अर्थात् 'सूरसागर' का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा है।

कृष्ण-काव्य से इतना साम्य होते हुए भी राम और कृष्ण के बाल वर्णन मे कुछ भिन्नता है —

(अ) तुलसीदास के राम इतने उत्कृष्ट व्यक्तित्व से समन्वित हैं कि उनका साधारण और स्वाभाविक परिस्थितियों में चित्रण करना सम्भवत तुलसीदास को रुचिकर न हुआ हो। राम तुलसी के परब्रह्म हैं। अतः आराध्य का इतना ऊँचा आदर्श बाल-वर्णन के समान साधारण कथानक मे शायद केन्द्रीभूत न हो सका हो।

(आ) तुलसीदास की भक्ति दास्य थी। बाल-वर्णन में उन्हें इस बात का ध्यान था कि उनके स्वामी की मर्यादा का अतिक्रमण न हो। इसी के फल-स्वरूप मानस मे बाल-लीला के दो-चार ही पद्य हैं। स्थान-स्थान पर राम के परब्रह्म होने का निर्देश भी है।

जाके सहज श्वास स्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह अचरज भारी ॥ (बालकाढ)

'गीतावली' में भी इसी अलौकिकता का वर्ण सकेत है। इस कारण वात्सल्य के स्थान पर भय, आश्चर्य आदि भावनाओं का प्राबल्य हो जाता है। स्थान-स्थान पर देवतागण फूल बरसाते हैं और बादलों की ओट से बालक राम का सौन्दर्य देखते हैं :—

---

१. वही ५२६

"बिधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिये"

(बालकांड)

(इ) तुलसी का बाल-वर्णन अधिक वर्णनात्मक है। उसमें स्थिति का सांगोपांग निरूपण है। पर यह बाल-वर्णन अभिनयात्मक नहीं हुआ है। समस्त सौन्दर्य एक प्रेक्षक की भाँति ही कवि के मुख से वर्णित है। पात्रों के सम्भाषण का भी अधिकतर अभाव है। यही कारण है कि राम के शृंगार-वर्णन के सामने मनोवेगों का स्थान गौण हो गया है। तुलसीदास राम की छवि ही अधिकतर वर्णन करना चाहते हैं—अनेक बार कामदेव को लज्जित होने का आदेश देते हैं, पर वे बालक राम की मनोवृत्तियों में प्रवेश नहीं करना चाहते। सूरदास के अभिनयात्मक चित्रण के अन्तर्गत—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी

किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥

के समान मनोवैज्ञानिक भावनाओं को पात्रों के अभिनय का रूप देकर वर्णन करने की अपेक्षा तुलसीदास पात्रों का सीधा-सादा वर्णनात्मक चित्र खींचते हैं :—

सुभग सेज सोभित कौशल्या, रुचिर राम सिसु गोद लिए।
बार-बार बिधु बदन बिलोकति, लोचन चारु चकोर किए॥

'गीतावली' के बाल-वर्णन मे अधिकतर ऐसे ही चित्र प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें अभिनयात्मक तत्त्व अथवा सम्भाषण का अभाव है। यदि मनोवैज्ञानिक चित्रण अभिनय के रूप मे हुआ भी है तो वह थोड़ा है, अप्रधान है। इसीलिए राम उतने स्वतन्त्र चपल, चंचल बालोचित स्वाभाविक रूप से क्रीडा-मग्न नहीं हैं। उनमें उतनी नैसर्गिकता नहीं जितनी कृष्ण मे है। रूठना, गिर पड़ना, आदि क्रीड़ाएँ नहीं हैं। इस प्रकार तुलसी ने अपने आराध्य के सौन्दर्य-चित्रण में—उनकी विरुदावली गाने के उत्साह में—बाल-वर्णन की

बहुत कुछ स्वाभाविकता अपने हाथ से चली जाने दी है। तुलसी-दास ने अधिकतर अपने आराध्य के अंग, वस्त्र और आभूषणादि का वर्णन ही अनेक वार किया है। एक ही प्रकार की उत्प्रेक्षा और उपमा घटित की गई है। भावना की पुनरुक्ति से चमत्कार नहीं आ सका। कामदेव, कमल, स्वर्ण, विद्युत, बादल, मयूर आदि की उपमाएँ न जाने कितनी बार प्रस्तुत हैं। 'गीतावली' का गीति-काव्य रूप होने के कारण सम्भवत इसमें आवर्तन दोष न माना जावे पर कवि की दृष्टि तो सीमित ज्ञात होती ही है।

सूरदास और तुलसीदास के बाल-वर्णन में जो अन्तर आ गया है उसके अनेक कारण हो सकते हैं —

(१) दोनों की उपासना का दृष्टिकोण भिन्न है। सूरदास ने सख्य-भाव से भक्ति की थी, तुलसी ने दास्य भाव से। अतः सूर-दास अपने आराध्य से तुलसी की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता ले सकते थे। सूरदास अपने आराध्य से घुल-मिल सकते थे, पर तुलसी दास एक सेवक की भाँति दूर ही खड़े रहना उचित समझते थे। कहीं स्वामी का अपमान न हो जावे, यही कारण था कि तुलसीदास राम का बाह्य रूप वर्णन कर सके, राम के मनोवेगों में नहीं घुस सके।

(२) दोनों के आराध्य भी भिन्न थे। सूर के कृष्ण ग्राम्य वातावरण से पोषित गोप थे, तुलसी के राम नागरिक जीवन से मर्यादित राजकुमार थे। राम के नैसर्गिक जीवन के विकास की परिस्थितियाँ कम थीं। दूसरे, कृष्ण की अनेक लीलाओं में—माखन चोरी, दधि दान आदि में—बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिए अधिक अवसर मिल गया। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम-रूप में थोड़ी सी भी उच्छृङ्खलता के लिए स्थान नहीं था। कृष्ण की भाँति वे अनेक स्त्रियों से प्रेम भी नहीं कर सकते थे—वे तो ऐसे सयम के सूत्र में जकड़े थे कि—

> मोहिं अतिसय प्रतीत जिय केरी,
> जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥ (बालकांड मानस)

इसीलिए जहाँ सूरदास के लिए श्रीकृष्ण के चरित्र की बहुरंगी सामग्री है वहाँ तुलसीदास के लिए व्यक्तित्व-वर्णन का मर्यादित एवं संकुचित दृष्टिकोण है।

यह निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :—

वर्ण्य-विषय	सूर	तुलसी
१ वातावरण	ग्राम्य(स्वतंत्र)	नागरिक (संयत)
२ व्यक्तित्व	गोप (माखन-चोरी, वंशी-वादन, गोपिका-प्रेम) (अ) चरित्र-वर्णन (आ) विस्तृत क्षेत्र	राजकुमार (माता की गोद या मणि खचित आँगन में ही खेलना, चौगान) (अ) व्यक्तित्व-वर्णन (आ संकुचित क्षेत्र
३ दृष्टिकोण	सख्य (अ) मनोवेगों का वर्णन (आ) मानवी संकेत	दास्य (अ) बाह्य दर्शन (आ) दैवी संकेत

यह तुलसी का कला-चातुर्य माना जावेगा कि इन्होंने मर्यादित परिधि के भीतर भी राम के बाल-जीवन के कुछ अच्छे चित्र खींचे हैं। परिस्थितियों का प्रभाव (Local colour) भी स्वाभाविक है। "राम-जन्म की छठी", 'बारही' "तुला तौलिये घी के", "नरसिंह मन्त्र पढ़े", "झरावति कौशिला". "महि मनि महेस पर सबनि सुधेनु दुहाई" आदि चित्र बहुत स्वाभाविक हैं। इस भाँति राम के बाल-जीवन का क्रमिक विकास भी बहुत सरस और स्वाभाविक है :—

१ पूत सपूत कौशिला जायो (२ रा पद)

२ राम शिशु गोद लिए (७वाँ पद)

३ पालने रघुपति झुलावै (२० वाँ पद)
४ आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए (२३ वाँ पद)
५ ठुमुकि-ठुमुकि चलैं (३० वाँ पद)
६ खेलन चलिए आनन्दकन्द (३८ वाँ पद)
७ विहरत अवध बीथिन राम (३९ वाँ पद)
८ कर कमलनि विचित्र चौगानें खेलन लगे खेल रिझये
(४३ वाँ पद)

(आ) गीतावली की कथा-वस्तु

'गीतावली' को रचना मुक्तक रूप में, गीतों में हुई है। अतः 'गीतावली' में गीतिकाव्य का प्रस्फुटन देखना चाहिए। गीतिकाव्य की रचना आत्माभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से ही होती है, उसमें विचारों की एक रूपता रहती है। आराध्य से आत्मनिवेदन के उल्लास मे रचना गेय हो जाती है और भावना के घनीभूत होने के कारण संक्षिप्तता आ जाती है। अत सफल गीतिकाव्य में ये चार बातें— आत्माभिव्यक्ति, विचारों की एकरूपता, संगीत और संक्षिप्तता होनी आवश्यक है। 'गीतावली' में संगीत का तो प्रधान स्थान है पर शेष बातों की अवहेलना सी हो गई है। यद्यपि 'गीतावली' में प्रबन्धात्मकता नहीं है पर घटनाओं की वर्णनात्मकता में पद बहुत लम्बे हो गए हैं। बालकांड में राम-जन्म से सम्बन्ध रखने वाले पद २४ पंक्तियों से कम तो हैं ही नहीं। दूसरा पद तो ५० पंक्तियों का है। इसमें आत्म-निवेदन भी नहीं है, राम-जन्म की वर्णनात्मकता ही है। विविध घटनाओं की सृष्टि के कारण विचारों में एकरूपता भी नहीं है, विचार-धारा और संगीत मे साम्य अवश्य है। इस दृष्टि से 'गीतावली' का अरण्य कांड सबसे अधिक सफल कांड है। प्रथम पद ही मे राम को ललित घन का रूपक देकर उनका सौन्दर्य वर्णन मलार राग में किया गया है। यदि 'गीतावली' मे घटनाओं की अधिक सृष्टि न की गई होती और कवि भाव-विभोर होकर अपने

आराध्य को लीन कर लेता तो 'गीतावली' उत्कृष्ट गीतिकाव्य के रूप में साहित्य में ऊँचा स्थान पाती।

'गीतावली' में गीत-रचना होने के कारण केवल कोमल भावनाओं को ही प्रश्रय मिला है। रामचरित के जितने कोमल स्थल हैं वे तो गीतावली में विस्तार से वर्णित हैं पर जितनी परुष घटनाएँ हैं उनका सकेत मात्र कर दिया गया है। यही कारण है कि कैकेयी-दशरथ सम्वाद, लका-दहन और राम-रावण-युद्ध का कहीं वर्णन ही नहीं है। ये स्थल गीत के सरस और कोमल वातावरण के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते थे।

बालकांड मे राम की बाल्यावस्था के बहुत कोमल चित्र हैं। 'मानस' की भाँति इसमें रामावतार की कथाएँ नही हैं और न रामचरित्र की विस्तृत आलोचना ही। कवि ने सौन्दर्य की अन्तर्दृष्टि से राम की शारीरिक छवि को अनेक प्रकार से वर्णित किया है। उसने उनके शील-सौन्दर्य पर विशेष प्रकाश डाला है। ४४ पदों में राम का बाल-वर्णन ही है। समस्त बालकांड घटना सूत्र के सहारे राम का सौन्दर्य-प्रकरण ही कहा जा सकता है। उनका जितना रूप-वर्णन कांड के प्रारम्भ में है उतना ही अंत में, जहाँ जनकपुर की स्त्रियाँ उनके रूप की प्रशंसा करती हैं। बालकांड में जनकपुर-प्रसंग बड़े विस्तार से वर्णित है। कुछ स्थलों पर कृष्ण-काव्य का भी प्रभाव है। ५२ वे पद में तो 'व्रजवधू अहीर' [1] का वर्णन उस समय किया गया है जब विश्वामित्र के साथ राम, लक्ष्मण उत्तर की ओर जा रहे थे—"मधु माधव मूरति दोउ सँग मानो दिनमनि गवन कियो उत्तर अयन" ॥ पद नं० ४६

---

१. मुनि के सग विराजत वीर।

... ...

नयननि को फल लेत निरखि खग मृग सुरभी व्रजवधू अहीर।
तुलसी प्रभुहि देत सब आसन निज-निज मन मृदु कमल कुटीर॥

बालकांड, पद ५२

पद नं० ४३ और ४४ में राम का चौगान खेलना लिखा गया है। यह तुलसी के काव्य में काल दोष (Anachronism) माना जा सकता है। जो हो, बालकांड के अंतर्गत जनकपुर में एकत्र नागरिक-वधू अपने प्रेम-कथन से राम की सुन्दरता और भक्ति-भावना की सर्वांग पवित्र चित्रावली प्रस्तुत करती हैं।

अयोध्याकांड में मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी है। कैकेयी-दशरथ सम्वाद में जितनी मनोवैज्ञानिक प्रगति है वह 'मानस' में तो अंकित है, पर 'गीतावली' में उसका चिह्न भी नहीं है। यह कांड कथावस्तु के सौन्दर्य से भी हीन है। इतनी बात अवश्य है कि वन-मार्ग की स्त्रियों ने राम, लक्ष्मण और सीता के रूप की प्रशंसा सुन्दर शब्दावली और कल्पना की अनेक-रूपता से अवश्य की है। इस वर्णन में कवि का हृदय ही जैसे अपने आराध्य की प्रशंसा कर रहा है। कवि की भक्ति-भावना तो कुछ स्थलों पर इतनी बढ़ गई है कि वह कौशल्या से भी अपने पुत्र राम के प्रति अमर्यादित शब्द कहलवा देता है —

सुनहु राम मेरे प्रान पियारे।
बारौं सत्य वचन श्रुति सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥[1]

माता का पुत्र से उसके 'चरण-वियोग' के सम्बन्ध में कहना मातृत्व-पद की अवहेलना करना है। इसी प्रकार तीसरे पद में भी यही बात कही गई है :—

यह दूसन विधि ताहि होत अब, राम चरन वियोग उपजायक।

कथा का अनियमित विकास होने के कारण मानव-चरित्र की आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं है। राम का शृंगार वर्णन ही प्रधान स्थान प्राप्त कर लेता है और उसमें एक ही प्रकार की उपमाओं की पुनरावृत्ति होने लगती है। इस कांड मे भी कृष्ण काव्य का प्रभाव लक्षित होता है। यह प्रभाव दो प्रकार से है। एक तो बसन्त और फाग-वर्णन के रूप मे और दूसरा माता के वियोगपूर्ण

१. गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद २

वात्सल्य में। चित्रकूट के प्रकृति-चित्रण मे अनावश्यक रूप से फाग और होली की कल्पना की गई है :—

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु॥
झिल्लि झाझ झरना डफ नव मृदग निशान।
भेरि उपंग भृग रव ताल कीर कल गान॥
हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर।
गावत मनहुँ नारि नर मुदित नगर चहुँ ओर॥[1]

यहाँ तुलसीदास ने 'राम ग्राम गुन', 'चाँचरि मिस' भले ही कह दिए हों, पर उनका चित्रण इस रूप मे यहाँ आवश्यक है। माता की करुणामयी वात्सल्य-भावना भी कृष्ण-काव्य से प्रेरित की हुई ज्ञात होती है, कृष्ण के वियोग में यशोदा की जो दशा है वही राम के वियोग में कौशल्या की। 'सूरसागर' का यह पद :—

मधुकर इतनी कहियो जाय॥
अति कृश गात भई ये तुम विन परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत दोउ आँखिन हूँकति लीन्हें नाउँ।
जहाँ-जहाँ गो-दोहन करते सूँघति सोई सोई ठाउँ॥
परति पछारि खाइ छिन ही छिन अति आतुर है दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं वारि मध्य ते मीन॥[2]

'गीतावली' के निम्नलिखित पद से कितना साम्य रखता है :—

राघौ एक वार फिरि आवौ।
ए वर वाजि विलोकि आपने वहुरो वन [illegible] धावौ॥
जे पय प्याइ पोखि कर पंकज वार-वार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले! ते अब निपट विसारे॥
भरत सौ गुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झावरे, मनहुँ कमल हिम मारे॥

---

१. तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खड (गीतावली) पृष्ठ ३५२-३५३

२. सूर सुषमा, पृष्ठ ५५, ५६ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९[illegible])

सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु सदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो ॥

कृष्ण के वियोग में जो दशा गायों की थी, वही राम के वियोग में घोड़ों की। माता के उद्‌गारों में कितना साम्य है! इस विषय मे अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। वस्तुत' यह कांड कथा-प्रधान होने की अपेक्षा भाव-प्रधान हो गया है।

अरण्यकांड मे तो कथा-वस्तु की नितान्त अवहेलना है। 'मानस' में जितनी घटनाएँ इस काड के अतर्गत वर्णित हैं उनमे से आधी भी 'गीतावली' मे नहीं हैं। इस काड के अतर्गत घटनाओं की लम्बी शृ खला इतनी सक्षिप्त कर दी गई है कि कथा का रूप ही स्पष्ट नहीं होता। जयन्त-छल, अत्रि और अनुसुइया से राम-सीता मिलन, विराध-वध, शरभग, अगस्त्य और सुतीक्ष्ण से राम-मिलन, शूर्पणखा प्रसग, खर-दूषण वध, रावण-मारीच वार्तालाप, नारद-राम-भक्ति संवाद आदि कथाओं का सकेत भी नहीं है। सम्भवत ये घटनाएँ अधिकतर वर्णनात्मक और वीरात्मक होने के कारण छोड़ दी गई हैं। शेष घटनाएँ जो कोमल भावना से युक्त हैं, अवश्य वर्णित हैं। गीध-प्रसग यद्यपि पूर्व पक्ष में वीरात्मक है पर उत्तर-पक्ष मे करुणाजनक होने के कारण इस कांड में वर्णित है। फिर इस प्रसग से राम की भक्तवत्सलता भी प्रकट होती है। यही भावना शवरी-प्रसंग में भी है। वहाँ काव्य-सौन्दर्य न होते हुए भी वर्णन-विस्तार है जिससे व्यक्तिगत भक्ति-भावना को भी प्रश्रय मिलता है। यद्यपि इस कांड मे काव्य-सौंदर्य गौण है तथापि कोमल भावनाओं का प्रस्फुटन करने मे कवि ने सतर्कता से काम लिया है। जहाँ कहीं कवि को व्यक्तिगत भावनाओं के प्रदर्शित करने का अवसर मिला है, वहाँ वह चूका नहीं है :—

राघव, भावति मोहि विपिन की वीथिन्ह धावनि ।[1]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खड (गीतावली) पृष्ठ २५६

इसी प्रकार सोलहवें पद में कवि कहता है :—

ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो ॥[1]

वन-देवों के द्वारा राम को सीता-समाचार सुनाना ('जबहिं सिय सुधि सब सुरनि सुनाई)[2] यद्यपि अलौकिक घटना में परिगणित किया जायगा, किन्तु राम को सर्वोपरि देव मानने के कारण देवताओं का उनके प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है। इसीलिए तुलसी ने वन-देवों को कथा में स्थान दिया है।

इस कांड में कवि ने करुण रस की ओर सकेत किया है और वह गीध एवं शवरी-वर्णन के रूप में है। इन घटनाओं पर तुलसी 'मानस' के समान अधिक विस्तार से लिख सकते थे। उन्होंने शवरी के सम्वन्ध में तो ऐसा किया भी है किन्तु गीतिकाव्य में अधिक सौन्दर्य लाने के लिए उन्होंने करुण रस की अभिव्यक्ति कम किन्तु प्रभावोत्पादक शब्दों में ही की है। दशरथ की मृत्यु के वाद करुण-रस का सकेत हमें यही मिलता है। यह स्पष्ट है कि तुलसीदास ने इस कांड मे गीति-काव्य के लक्षणों की रक्षा करने का सम्पूर्ण प्रयत्न किया है।

'गीतावली' का किष्किन्धा-कांड महत्त्वहीन है। उसमें केवल दो पद हैं। न तो उसमे कथा ही है और न भाव-सौन्दर्य ही। 'मानस' मे जो प्रकृति-चित्रण में लोक-शिक्षा का व्यापक रूप मिलता है, वह भी यहाँ प्राप्त नहीं है।

रस की दृष्टि से सुन्दर-कांड श्रेष्ठ है। वीर वियोग-शृंगार और रौद्ररस के साथ ही साथ शान्त रस की भी निष्पत्ति की गई है, यद्यपि यहाँ शान्त रस के लिए कोई स्थान नहीं था। विभीषण का राम पक्ष में आकर सेवा करना तुलसीदास की व्यक्तिगत भक्ति-भावना का चित्रण-सा हो गया है।

---

१. वही, पृष्ठ ३७३

२. वही दूसरा खड (गीतावली) पृष्ठ ३७२

पद पद्म गरीब निवाज के ।
देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल, हित सुर साधु समाज के ।[१]

समस्त पद भक्ति की भावनाओं से ओत प्रोत है । विभीषण का राम की शरण में आना तुलसी का भगवान् की शरण में आना ही ज्ञात होता है । अत यहाँ गीतिकाव्य में व्यक्तिगत भावना का प्राधान्य आ गया ज्ञात होता है । जिन रसों की सृष्टि की गई हैं वे सभी उत्कृष्ट रूप में हैं । वियोग शृंगार में सीता के हृदय की परिस्थिति, वीर रस में राम सैन्य-सञ्चालन, रौद्र-रस में रावण के प्रति हनुमान की ललकार और शान्त रस में 'गरीब निवाज' राम के प्रति तुलसी-हृदय लेकर विभीषण के उद्गार सभी यथास्थान सजे हुए हैं । रस-वैभिन्न की दृष्टि से एक ही स्थल पर अनेक रसो का समुच्चय इस कांड की विशेषता है ।

इस काड में कुछ दोष भी हैं । सीता और मुद्रिका में वार्तालाप होना बहुत अस्वाभाविक है । यही प्रसग 'रामचन्द्रिका' में केशवदास ने अच्छी तरह सँभाला है । मुद्रिका से राम की कुशलता पूछने पर सीता को जब मुद्रिका उत्तर नहीं देती तो हनुमान सीता से कहते हैं—

तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम ।
ककन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम ॥[२]

(तुम 'मुद्रिके' नाम से सम्बोधन कर समाचार पूछ रही हो, पर इस नाम पर इसका मौन रहना उचित ही है, क्योंकि तुम्हारे वियोग में राम ने इसे 'ककन' का नाम दे रखा है । अब यह मुद्रिका नहीं रह गई । इसीलिए 'मुद्रिका' नाम के सम्बोधन पर यह उत्तर नहीं दे सकी ।)

---

१ वही, पृष्ठ ३६०

२ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १४२
(नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १६१५)

पर 'गीतावली' सुन्दर-कांड के तीसरे पद में सीता और मुद्रिका में बहुत लम्बा वार्तालाप हुआ है। अन्त में कवि ने कहा है :—

किये सीय प्रबोध मुँदरी, दियो कपिहि लखाउ।
पाइ अवसर नाइ सिर, तुलसीस गुनगन गाउ ॥[1]

अशोक-वाटिका-विध्वंस और लंका-दहन जो इस कांड के प्रधान अंग हैं, उनका वर्णन भी नहीं है। उनके अभाव में कांड की वर्णनात्मकता अपूर्ण रह गई है। संभवतः गीतिकाव्य के आदर्शों की रक्षा के निमित्त ही उन प्रसंगों को छोड़ देना उचित समझा गया है। काव्य में आगामी घटनाओं का पूर्वोल्लेख (anticipation) कथा-प्रवाह के लिए असंगत है। ऐसी घटनाओं का उल्लेख (यह अभिलाष रैन दिन मेरे राज विभीषण कब पावहिंगे ॥ १० वाँ पद) भी सुन्दरकांड में हुआ है, पर गीतिकाव्य होने के कारण ये दोष मार्जनीय हैं।

लंका कांड में वीर-रस का अभाव आश्चर्यजनक है। नाम के अनुकूल रस की सृष्टि न होना अस्वाभाविक ज्ञात होता है, पर गीति-काव्य में वीर-रस की संपूर्ण स्थिति नहीं है। सुन्दरकांड में लंका-दहन उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया, उसी प्रकार लंका कांड में राम-रावण युद्ध का वर्णन नहीं है। समस्त कांड में शिक्षा, उपदेश और अभिलाषाओं की चित्रावली सजाई गई है। अंगद-रावण सम्वाद के बाद ही लक्ष्मण-शक्ति का वर्णन है। वहाँ वीर रस के बदले करुण-रस का ही अधिक चित्रण है, हनुमान के वीरत्व पर तीन पद (८, ९, १०) अवश्य लिखे गए हैं। लक्ष्मण शक्ति के बाद ही राम की विजय एक ही पद में कह दी गई है :—

राजत राम काम सत सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित, फेरत चाप विशिष बनरुह कर ॥आदि

इस कांड के अन्त में करुण-भावना की एक झाँकी है—जिसमें माता के पुत्रागमन की उत्सुकता छिपी हुई है :—

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ ३७८-३७६

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुशल घर कहहु काग फुरि बाता ॥
दूध भात की दोनी देहों, सोने चोंच मढ़ैहों।
जब सिय सहित विलोकि नयन भरि, रामलषन उर लैहौं ॥[1]

उत्तर कांड 'गीतावली' का सब से विचित्र कांड है। इसमें जहाँ एक ओर 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव है वहाँ दूसरी ओर कृष्ण-काव्य का भी; और इन दोनों के साथ तुलसी के कथा-वर्णन की मौलिकता है। जहाँ तक उत्तर कांड की कथा से सम्बन्ध है, वह 'वाल्मीकि रामायण' से ही ली गई है। राम का राज्याभिषेक, न्याय सीता-वनवास और लवकुश-जन्म। जहाँ तक राम का विलास, हिंडोला या नख शिख-वर्णन है वह कृष्ण-काव्य से प्रभावित है। बीच बीच में कवि की जो भक्ति-भावना है, वह उसकी अपनी है।

उत्तर कांड का प्रारम्भिक भाग बालकांड के समान ही है जहाँ शोभा और सौन्दर्य का साँग वर्णन है अन्तर केवल राम की अवस्था ही का है। बाल कांड में वे बालक हैं, उत्तर कांड में प्रौढ़ व्यक्ति। १८ वें पद से २३ वें पद तक राम का हिंडोला झूलना वर्णित है।

आली री राघौ के रुचिर हिडोलना झूलन जैए।[2]

यह हिंडोलना-वर्णन वसन्त-वर्णन के साथ है जिसमें :—

'नूपुर किंकिनि धुनि अति सोहाइ। ललना गन जब जेहि धरहिं जाइ ॥[3]

राम की मर्यादा अक्षुण्ण नहीं रह पाती। उत्तर कांड में राम का सौन्दर्य वर्णन भले ही हो, पर उनकी मर्यादा का रूप नहीं रह गया। अत इस ग्रन्थ में राम मर्यादा पुरुषोत्तम का महत्त्व नहीं धारण कर सके। इसीलिए इस ग्रन्थ मे लोक-शिक्षा का रूप भी नहीं रह गया। उत्तर कांड के अंतिम पद में समस्त राम-कथा का

---

१ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ ४०६

२ वही पृष्ठ ४२१

३ वही पृष्ठ ४२२

सारांश दिया गया है और अंतिम पंक्ति में तुलसीदास की भक्ति-भावना—

तुलसीदास जिय जानि सुअवसर, भगति दान तब माँगि लियो ॥

'गीतावली' के समस्त कांडों की समालोचना करने पर निम्न-लिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

१. 'गीतावली' में कथा का अनियमित विस्तार है जिसमे भावनात्मक चित्रण के लिए अधिक स्थान है। फलतः ग्रंथ मे भावनाओं का प्राधान्य है, घटनाओं का नहीं। मुक्तक-काव्य होने के कारण भावनाएँ विशृंखल हो गई हैं।

२. गीति-काव्य के आदर्शों की रक्षा के लिए परुष एवं ओजपूर्ण स्थलों का एकान्त अभाव है। लंका-दहन एव राम रावण-युद्ध की उपेक्षा इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। काव्य का गेय रूप होते हुए भी व्यक्तिगत भावना और गीति-काव्य के संक्षिप्त कलेवर की ओर कवि का ध्यान कम गया है।

३ राम के सौन्दर्य वर्णन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया गया है। शील का संकेत मात्र है, अतः लोक-शिक्षा का स्वरूप जो 'मानस' में तुलसी का आदर्श है, अप्रकाशित ही रह गया। पात्रों की चरित्र-रेखा भी निर्मित न होने के कारण लोक-शिक्षा का स्वरूप उपस्थित नहीं हो सका, भरत का चरित्र-चित्रण ही नही है, सीता का चरित्र एक कोमलांगी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राम का चरित्र एक सुन्दर राजकुमार सा है। पात्र के सामने आदर्श नहीं रह सके, अतः उनका लोक-रंजक रूप अस्पष्ट ही रह गया। कृष्ण का व्यक्तित्व सौन्दर्य से अधिक निर्मित है, अतएव तुलसीदास राम के व्यक्तित्व को कृष्ण के व्यक्तित्व के बहुत समीप तक ले आये हैं। इसी आधार पर तुलसीदास को सूर के कृष्ण-काव्य से प्रभावित हुआ माना जा सकता है।

४ गीतावली की वर्णनात्मकता ने काव्य के सौन्दर्य को कम कर दिया है। इसका कारण यह है कि तुलसीदास ने मानव-जीवन के अतरतम प्रदेशों में प्रविष्ट होने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने केवल भक्ति के आवेश में आकर कथा सूत्र के सहारे राम के चरित्र का वर्णन कर दिया है। फलतः उनकी गीतावली' 'सूरसागर' की एक धुँधली छाया ज्ञात होती है।

५ 'गीतावली' तुलसीदास को ब्रज भाषा पर अधिकार रखने का प्रमाण तो अवश्य दे सकती है किन्तु गीति-काव्य में सर्व श्रेष्ठ कवि प्रमाणित नहीं कर सकती। 'गीतावली' में व्यक्तिगत भावना का अभाव है। तुलसीदास राम-कथा कहना चाहते हैं। वर्णनात्मक प्रसगों में तुलसीदास की आत्माभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नही है। यदि 'विनयपत्रिका' के समान उनका आदर्श वर्णनात्मकता से हीन होता तब वे अपनी भक्तिभावना स्पष्ट कर पाते। वर्णनात्मकता घटनाओं में ही केन्द्रित हो गई है। ये घटनाएँ कृष्ण-लीलाओं की तरह हैं। पर दोनों में अन्तर यह है कि कृष्ण की लीलाएँ स्वतन्त्र घटनाएँ हैं, पर राम का जीवन एक कथात्मक एवं वर्णनात्मक प्रसग है। अतः 'गीतावली' न तो पूर्ण रूप से वर्णनात्मक काव्य ही है और न आत्माभिव्यक्ति का उदाहरण ही। कवि मध्य स्थिति मे है। वह कभी इस ओर कभी उस ओर प्रवाहित हो जाता है। तुलसीदास गीति-काव्य के अन्तर्गत केवल सौन्दर्य की सृष्टि कर सके, किसी उत्कृष्ट काव्यादर्श की नहीं। न तो वे 'विनय-पत्रिका' के समान आत्म-निवेदन ही कर सके और न 'मानस' के समान कथा-प्रसग की सृष्टि ही। अतः 'गीतावली' एकान्त 'माधुर्य की रचना है।

(इ) रस—'गीतावली' तुलसीदास की काव्य-कला की सबसे मधुर

अभिव्यक्ति है। उसमें जहाँ ब्रजभाषा का माधुर्य है वहाँ भावों की कोमलता भी अत्यधिक है। इसीलिए परुष भाव सम्बन्धी घटनाएँ कथावस्तु के अन्तर्गत नहीं हैं। इस दृष्टिकोण ने तुलसीदास को कोमल रसों के निरूपण करने के लिए ही अधिक प्रेरित किया है। 'गीतावली' में शृंगार रस प्रधान है।

शृंगार—(१) यदि वात्सल्य को भी शृंगार रस के अंतर्गत मान लिया जावे तब तो संयोग शृंगार ही प्रधान हो जाता है, क्योंकि—राम का बाल-वर्णन संयोगात्मक अधिक है, वियोगात्मक कम। इसके पर्याय कृष्ण का बाल वर्णन वियोगात्मक अधिक है सयोगात्मक कम।

(२) तुलसी ने रामकथा का जैसा चित्रण किया है उसके अनुसार भी शृंगार रस को प्रधान स्थान मिलता है। राम के उन्हीं चरित्रों का दिग्दर्शन अधिक कराया गया है जो कोमल भावनाओं के व्यञ्जक हैं।

(३) 'गीतावली' का अंतिम भाग कृष्ण-काव्य से प्रभावित होने के कारण भी अधिक शृंगारात्मक बन गया है। वसन्त और हिंडोला आदि अवतरणों ने तो शृंगार को और भी अतिरंजित कर दिया है।

शृंगार रस में प्रधानतः निम्नलिखित अवतरण हैं :—

१. राम का बाल-वर्णन (बाल कांड का पूर्वार्ध) पद १—३७
२. सीता-स्वयंवर (बाल कांड का मध्य) पद ६०—६४
३. विवाह (बाल कांड का उत्तरार्ध) पद ६५—१०८
४. वन-गमन (अयोध्या कांड का प्रारम्भ) पद १३—४२
५. चित्रकूट वर्णन (अयोध्या कांड का मध्य) पद ४३—४६
६. राम का पंचवटी जीवन (अरण्य कांड) पद १—५
७. राम का नख-शिख (उत्तर कांड) पद २—१६
८. हिंडोला, वसन्त (उत्तर कांड) पद १७—२३

वियोग शृंगार के वर्णन में कवि-कौशल अधिक है, यद्यपि वह परिमाण में कम है। जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के चित्रण में वियोग शृंगार अधिक सफल हुआ है। अयोध्या कांड में वियोग शृंगार की चरम सीमा है।

करुण—वियोग शृंगार के मरण-निवेदन की अंतिम स्थिति के बाद करुण रस की सृष्टि होती है जिसमें रति की भावना न होकर शोक की भावना ही प्रधानता प्राप्त करती है। 'गीतावली' में करुण रस के स्थल निम्नलिखित हैं :—

१	दशरथ का स्वर्गारोहण	(अयोध्या कांड)	पद १२ और ५७
२	कौशल्या का विलाप	,,	पद २—४
३	लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप	लंका कांड	पद ५—७

अयोध्या काण्ड का ५७ वाँ पद (दशरथ का विलाप) करुण रस की पूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में है। उसी प्रकार राम के वन गमन पर कौशल्या का विलाप करुण रस की परिधि में आ सकता है क्योंकि उन्हें विश्वास नहीं था कि वे राम के वियोग में १४ वर्ष तक जीवित रह सकेंगी। केवल इसी भावना के आधार पर उनका वियोग करुण रस मे परिवर्तित हो सकता है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम को उनके पुनर्जीवित होने की आशा नही है, यह सदेह करुण रस की पुष्टि करता है।

हास्य—'गीतावली' में सबसे कमजोर रस हास्य है। इसका कारण यह है कि राम के शील-सौन्दर्य में कवि इतना लीन हो गया था कि उसे साधारणतया हास्य-सामग्री प्राप्त करने में कठिनाई प्रतीत हुई। हास्य का जैसा भी रूप 'गीतावली' मे प्राप्त होता है वह विशेष व्यञ्जनायुक्त नहीं है। बाल काड के ६५ वें पद में विश्वामित्र जनक-परिहास मे शतानन्द के प्रति बहुत ही निकृष्ट व्यंग्य

है।[1] उससे चाहे क्षणिक कौतूहल के साथ हास्य की भावना उत्पन्न हो, किन्तु वह अभिनन्दनीय नहीं है। राम के पैदल चलने पर अहल्या की यह उक्ति कि यदि राम इस प्रकार वन में चलेंगे तो वन में एक भी शिला न रह जायगी; सभी शिलाएँ स्त्रियों के रूप में परिवर्तित हो जायँगी, बहुत साधारण है।[2]

'गीतावली' में तुलसीदास हास्य की उत्कृष्ट सृष्टि नहीं कर सके।

वीर—'गीतावली' में वीर रस के लिए विशेष स्थान न रहते हुए भी, उसकी मात्रा उचित रूप में है। यह तो अवश्य है कि लंकादहन और युद्ध जैसे आवश्यक अंग 'गीतावली' में नहीं लाए गए पर इस कारण वीर रस का अभाव नहीं है। 'गीतावली' का वातावरण, कोमल और मधुर होने से वीर रस के उद्रेक में मानस कथा के वीर रस के समान तो नहीं हो पाया, पर उसका वर्णन-प्रसंग में स्थान अवश्य है। वीर रस के तीन भेदों में (युद्धवीर, दानवीर और दयावीर में) दयावीर और दानवीर का ही 'गीतावली' में अधिकतर वर्णन है। युद्धवीर तो बहुत साधारण है। 'गीतावली' में निम्नलिखित अवसरों पर वीर रस का उद्रेक है :—

(क) दयावीर—

अहल्योद्धार	बाल कांड, पद ५५—५७
शबरी-मिलन	अरण्य कांड पद १७

१. राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए.
रावरेहु सतानंद पूत भये माय के ॥ गीतावली, बालकांड, पद ६५

२ जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी ॥
गीतावली, बाल कांड, पद ५६

विभीषण शरणागत वत्सलता सुन्दर कांड, पद ३७ ४६

(ख) दानवीर—

(१) विभीषण को तिलक सुन्दर कांड, पद ५२

(२) राम की न्याय-प्रियता उत्तर कांड, पद २५

(३) सीता-परित्याग " ,पद २६-२७

(ग) युद्धवीर

(१) हनुमान-रावण सम्वाद सुन्दर कांड पद, १२—१४

(२) जटायु-रावण युद्ध अरण्य कांड, पद ८

(३) हनुमान का संजीवनी के लिए प्रस्थान लंका कांड पद ८, ६, १

दयावीर और दानवीर का प्राधान्य है क्योंकि ये राम के शील और सौन्दर्य से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। यही 'गीतावली' का दृष्टिकोण है।

रौद्र और भयानक

'गीतावली' में रौद्र और भयानक रस के लिए बहुत कम स्थान है। इन दोनों रसों का वर्णन तो उद्दीपन विभाव और संचारी भाव के रूप मे ही अधिक है। राम-रावण युद्ध के अभाव में इन रसों के लिए राम-कथा में कोई अवसर नहीं रह गया। 'गीतावली' के एक दो स्थलों ही पर इनका निर्देश है —

रौद्र (१) कैकेयी के प्रति भरत की भर्त्सना, अयोध्या कांड पद ६०—६१

(२) रावण के प्रति अंगद की भर्त्सना, लंका कांड पद २—४

भयानक

राम का लंका प्रस्थान सुन्दर कांड, पद २२

बीभत्स

इस रस का तो 'गीतावली' मे पूर्ण अभाव है। इस रस का वर्णन अधिकतर युद्ध में ही हुआ करता है। पर 'गीतावली' में युद्ध-वर्णन न होने से इस रस को कोई स्थान नहीं मिल सका।

अद्भुत

इस रस का उद्रेक 'मानस' में अधिक हुआ है। जहाँ राम के लौकिक चरित्रों में ब्रह्मत्व की स्थापना की गई है—"सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी" या "रोम रोम प्रति राजहीं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड" में तो इस रस की चरम सीमा है, पर 'गीतावली' में इस रस का विस्तार साधारण है। राम का अवतार-रूप गीतावली' में अधिक चित्रित नहीं किया गया। न तो रामावतार के पूर्व की कथाएँ ही हैं और न राम-जन्म का अलौकिक वृत्तान्त या विष्णु-सम्भूत अद्भुत शक्ति के प्रादुर्भाव का रूप ही अंकित किया गया है। अतः राम का ब्रह्मत्व अनेक स्थलों पर मिलते हुए भी अधिक कौतूहलोत्पादक नहीं है।

बाल-वर्णन में यह रस प्रधान है :—

जासु नाम सर्वस सदाशिव पार्वती के।
ताहि झरावति कौशिला यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के ॥[1]

इस प्रकार राम के ब्रह्मत्व के प्रति संकेत ही मे इस रस का उद्रेक अधिक हुआ है। निम्न लिखित प्रसंग इस सम्बन्ध में मुख्य हैं :—

(१) राम का बाल-वर्णन बाल कांड पद, १, २, १२, २२
(२) वन-मार्ग में राम सौन्दर्य के
प्रति लोगों का आकर्षण अयोध्या कांड पद, १७—४२
(३) हनुमान का संजीवनी लाना लंका कांड पद, १०, ११

गीतावली में आश्चर्य के साथ कौतूहल की सृष्टि ही इस रस का प्रधान आधार है।

शान्त

'मानस' तथा 'कवितावली' के उत्तर कांड में यह रस अधिक है, क्योंकि उक्त दोनों स्थलों में ज्ञान, वैराग्य का वर्णन है। 'गीतावली' के उत्तर कांड में 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तर कांड ही की कथा है. अतः तुलसीदास को गीतावली' में शान्त रस के वर्णन के लिए अधिक

१. गीतावली, बाल कांड, पद १२

अवकाश नहीं मिला। 'गीतावली' के उत्तर कांड में कवि की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति भी नहीं है। उत्तर कांड में कृष्ण-काव्य का भी प्रभाव होने के कारण दास्य भक्ति के शान्त वातावरण के लिए स्थान नहीं मिला। उसमें शृङ्गार रस का ही प्राधान्य हो गया है। शान्त रस का चित्रण भरत के चरित्र में हुआ है, किन्तु 'गीतावली' में भरत को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया। भरत की भक्ति का तो वर्णन ही नहीं किया गया, अत वहाँ भी शान्त रस के लिए कोई स्थान नहीं है। केवल एक स्थल पर तुलसी की आत्मा शान्त रस से प्लावित है। वह स्थल है विभीषण का राम की शरण में आना। केवल इसी स्थल पर शान्त रस के पूर्ण दर्शन होते हैं। यह स्थल सुन्दर कांड में है और यहाँ शान्त रस दयावीर के समानान्तर है। दोनों रसों का प्रदर्शन ३७ वें से ४६ वें तक दस पदों में है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'गीतावली' मे कोमल रसों का वर्णन ही अधिक किया गया है, परुप रसों का कम। इसके अनुसार शृंगार, करुण, हास्य, अद्भुत, शान्त के लिए अधिक स्थान है वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स के लिए कम। 'गीतावली' में प्रधानता की दृष्टि से रस-क्रम इस प्रकार है '—

शृंगार, करुण, अद्भुत, शान्त, वीर, रौद्र, भयानक, हास्य। (वीभत्स का अभाव ही है।)

'गीतावली' में तुलसीदास के रस निरूपण में एक दोष है। वह यह कि उसमे शृंगार को छोड़ अन्य रसों में आत्मानुभूति नहीं है। परुप रसों की व्यञ्जना तो कही-कहीं केवल उद्दीपन विभावों के द्वारा ही की गई है। यह भी देखने में आता है कि स्थायी भाव के चित्रण के बाद तुलसीदास ने सचारी भावों के चित्रण का प्रयत्न बहुत कम किया है।

छंद—तुलसीदास ने 'गीतावली' मे छद विशेष न रख कर २१ रागों

की योजना हा की है। 'गीतावली' मे जिस क्रम से राग आए हैं, वह इस प्रकार है :—

आसावरी, जयतश्री, बिलावल, केदारा, सोरठ, धनाश्री, कान्हरा, कल्याण, ललित, विभास, नट, टोड़ी, सारग, सूहो, मलार, गौरी, मारू, भैरव, चंचरी, वसन्त और रामकली।

विशेष—'गीतावली' में तुलसी की बहुत मधुर अनुभूति है। अनेक स्थानों पर मनोदशा के बड़े करुण चित्र हैं। तुलसीदास ने इसके लिए व्रजभाषा के माधुर्य का अक्षय कोष प्रयुक्त किया है। भाषा में तत्सम शब्दों के साथ तद्भव शब्दों के प्रयोग ने व्रजभाषा को बहुत स्वाभाविक और मधुर बना दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास को अवधी पर अधिकार था उसी प्रकार व्रजभाषा पर भी। अलकारों का प्रयोग भी मौलिक है, पर अधिकतर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, काव्यलिंग, अप्रस्तुत प्रशसा अलकारों का ही प्रयोग किया गया है। गुणों में माधुर्य और प्रसाद का प्राधान्य है। एक बात अवश्य है कि एक ही प्रकार की उपमाओं का आवर्तन अनेक बार हुआ है। राम के सौन्दर्य की उपमा के लिए कामदेव न जाने कितने बार बुलाया गया है। बादल और मोर भी अनेक बार काव्य में लाए गए हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ मे कवि का कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं है, पर जहाँ तक राम की कथा के कोमल स्वरूप से सम्बन्ध है, वह बड़ी सफलता के साथ 'गीतावली मे प्रदर्शित हुआ है। राम का सौन्दर्य और ऐश्वर्य ही 'गीतावली' की आत्मा है।

कवितावली

रचना-तिथि—श्री वेणीमाधवदास ने 'कवितावली' नामक ग्रन्थ का न तो कहीं निर्देश ही किया है और न उसकी रचना तिथि

ही दी है। उन्होंने 'गोसांई चरित' के ३५ वे दोहे में कुछ कवित्तों की रचना का सकेत अवश्य किया है :—

सीतावट तर तीन दिन बसि सुकवित्त बनाय।
बदि छोडावन विन्ध नृप, पहुँचे कासी जाय॥

सीतावट के नीचे इन कवित्तों की रचना का समय १६२८ और १६३१ कि के बीच में है। वेणीमाधवदास के अनुसार कवित्तों की रचना 'गीतावली' के बाद और 'मानस' के पूर्व की है। यह भी निश्चित है कि इस काल के बाद भी कवित्तों की रचना हुई क्योंकि 'कवितावली' में "मीन की सनीचरी" का वर्णन है जिसका समय स० १६६९से १६७१ माना गया है।[1] अत 'कवितावली' सम्यक् ग्रथ के रूप में न होकर समय-समय पर लिखे गए कवित्तों के सग्रह-रूप मे है। यदि वेणीमाधवदास का प्रमाण न भी माना जावे तो 'कवितावली' के कुछ कवित्तों का रचना-काल सं० १६६९ के लगभग तो ठहरता ही है।

विस्तार—'कवितावली' में ३२५ छद हैं। सात कांडों में उनका विभाजन इस प्रकार है :—

बाल कांड	२२	छद
अयोध्या कांड	२८	,,
अरण्य कांड	१	,,
किष्किधा कांड	१	,,
सुन्दर काड	३२	,,
लका काड	५८	,,
उत्तर काड	१८३	,,

उत्तर कांड का विस्तार बहुत अधिक है। उसमे कवि की भिन्न विषयों पर स्फुट रचना है। शेष छ काड मिलकर भी उत्तर कांड

---

१ इडियन एटीक्वरी, भाग २२, पृष्ठ ९७

इन तीनों अवतरणों से ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि रामायण' में अहल्या अदृश्य है और राम लक्ष्मण उसके चरण छूते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में अहल्या शिला पर खड़ी होकर तपस्या करती है और राम उसे केवल प्रणाम करते हैं। अहल्या राम के चरणों का स्पर्श पाकर पति-लोक जाती है। 'मानस' में अहल्या पाषाण रूप होकर पड़ी रहती है और राम के पवित्र चरणों का स्पर्श पाकर 'आनन्द भरी' पति-लोक को जाती है। तुलसीदास ने कथा-भाग का रूप तो 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार ही रक्खा है, पर दृष्टिकोण अध्यात्म रामायण के अनुसार। तुलसीदास की अहल्या 'वाल्मीकि रामायण' की अहल्या के अनुसार ही पाषाण-रूप है, पर 'अध्यात्म रामायण' की अहल्या की भाँति राम के चरणों का स्पर्श करती है। 'अध्यात्म रामायण' में राम का व्यक्तित्व कुछ महान् हुआ है। वे अहल्या के चरणों का स्पर्श न कर केवल उसे प्रणाम करते हैं। 'मानस' में राम पूर्ण ब्रह्म हैं, अतः वे अहल्या को प्रणाम भी नहीं करते, प्रत्युत गम्भीरता से अपने 'पावन पद' का स्पर्श उसे करा देते हैं। यह तुलसीदास का अपने आराध्य के प्रति भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण है। इतने पर भी 'मानस' भावना की दृष्टि से 'वाल्मीकि रामायण' की अपेक्षा 'अध्यात्म रामायण' के अधिक समीप है।

दूसरा स्थल कैकेयी के वरदान का है। उसका वर्णन इस प्रकार है:—

वाल्मीकि रामायण

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥५४॥
तया प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्य मद गर्विता॥५५॥[1]

---

१. वाल्मीकि रामायण. [अयोध्याकाण्डे, नवमः सर्ग.]

[(मन्थरा कैकेयी से बोली) हे कल्याणि, जल के बह जाने पर बाँध बाँधने से क्या लाभ ? अतः उठ, साधन-कार्य कर और महाराज की प्रतीक्षा कर।

इस प्रकार मन्थरा द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर विशाल नेत्रा सौभाग्य गर्विता कैकेयी कोप-भवन में गई।]

अध्यात्म रामायण

एतस्मिन्नन्तरे देवा देवीं वाणीमचोदयन्।
गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नत. ॥४४॥
रामाभिषेक विघ्नार्थं यतस्व ब्रह्म वाक्यतः।
मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम् ॥४५॥
ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे।
तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवेशाथ मन्थराम् ॥४६॥[1]

[इसके बाद देवताओं ने सरस्वती देवी से प्रेरणा की। हे देवि, यत्न-पूर्वक तुम भूलोक में अयोध्या में जाओ। राम के अभिषेक में ब्रह्मा के वचन से विघ्न डालने का यत्न करो। पहले मन्थरा में प्रवेश करो बाद में कैकेयी में। विघ्न उत्पन्न होने पर हे शुभे, तुम पुनः स्वर्ग लौट आना। यह सुनकर सरस्वती ने कहा, ऐसा ही होगा। और उसने मन्थरा में प्रवेश किया।]

विपति हमारि विलोकि बड़, मातु करिअ सोइ काजु ।
रामु जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुर काजु ॥१२॥
... ...

वार वार गहि चरन सँकोची ।
चली विचारि विबुध मति पोची ॥
हरषि हृदय दसरथ पुर आई ।
जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई ॥

नामु मथरा मद मति, चेरी कैकेइ केरि ।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ॥१३॥[1]

इन अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि रामायण' में मन्थरा और कैकेयी का जो मनोवेग है वह स्वाभाविक और लौकिक है। 'अध्यात्म रामायण' में मन्थरा और वाद मे कैकेयी की वुद्धि में विपर्यय सरस्वती द्वारा होता है। यहाँ कथा में अलौकिक प्रभाव है। तुलसीदास ने अपने 'मानस' में यह प्रसंग 'अध्यात्म रामायण' से ही लिया है। तुलसीदास की मन्थरा और कैकेयी सरस्वती के प्रभाव से अपनी सात्विक वुद्धि खो वैठती हैं। यह प्रसंग इस कारण विशेष रूप से तुलसीदास ने ग्रहण किया, क्योंकि इस अलौकिक प्रभाव से कैकेयी के दोष का परिमार्जन सरलता से हो जाता है। अयोध्या कांड में स्वयं भरद्वाज भरत से कहते हैं :—

तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातुकरतूति ।
तात कैकेइहि दोपु नहिं, गई गिरा मति धूति ॥२०७॥[2]

इन दोनों प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास ने अपने 'मानस' के दृष्टिकोण के लिए अधिकतर 'अध्यात्म रामायण' का ही सहारा लिया है।

---

१. तुलसी ग्रंथावली. पहला खंड (मानस) पृष्ठ १६२
२. वही ,, ,, पृष्ठ २१८

'मानस' की कथा 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' की सामग्री से निर्मित होकर आदर्श-समाज और आदर्श-धर्म की रूप-रेखा बनाती है। इस कथा में पात्र-चित्रण सब से प्रधान है। तुलसीदास ने प्रत्येक पात्र को इस प्रकार चित्रित किया है कि वह अपनी श्रेणी के लोगों के लिए आदर्श रूप है। पात्र-चित्रण में तुलसी का ध्येय लोक-शिक्षा है। इसी लोक-शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने के उद्देश्य से तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' से स्वतन्त्रता ली है। यों तो 'मानस' में अनेक स्थलों पर आदर्श लोक-व्यवहार की मर्यादा रक्खी है, पर यहाँ केवल एक ही पद्य में पात्र की चरित्र-रेखा स्पष्ट हो जायगी।

शिव—एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।
सिव सकल्पु कीन्ह मन माहीं ॥[1] (भक्ति)

पार्वती—जनम कोटि लगि रगरि हमारी।
बरौं सभु नतु रहौं कुआँरी ॥[2] (पातिव्रत)

दशरथ—रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहु बरु वचनु न जाई ॥[3] (सत्य प्रतिज्ञा)

जनक—सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।
कुँअरि कुआँरि रहउ का करऊँ ॥[4] (सत्य-व्रत)

कौशल्या—जौ केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ वन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना ॥[5] (प्रेम और धर्म)

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड (मानस) पृष्ठ २६
२ " " " पृष्ठ ३६
३. " " पृष्ठ १६८
" " " पृष्ठ १०८
. " " " पृष्ठ १७६

सुमित्रा—जौं पै सीय रामु बन जाहीं।

अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥[१] (धर्म-प्रेम)

सीता—जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।

प्रिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते॥[२] (पातिव्रत)

राम—सेवक सदन स्वामि आगमनू।

मंगल मूल अमंगल दमनू॥[३] (गुरु-प्रेम)

सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी।

जो पितु मातु वचन अनुरागी॥[४] (माता-पिता प्रेम)

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।

विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू॥[५] (भ्रातृ-प्रेम)

एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं।

कालहु जीति निमिषि महँ आनौं॥[६] (स्त्री प्रेम)

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।

सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥[७] (प्रजा-प्रेम)

भरत—भरतहिं होइ न राजमदु

विधि हरिहर पद पाइ।[८] (मर्यादा)

लक्ष्मण—तोरौं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।

जौ न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ॥[९] (वीरत्व और भ्रातृ-प्रेम)

---

१. तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १८१
२. "	"	"	पृष्ठ १८२
३. "	"	"	पृष्ठ १६१
४. "	"	"	पृष्ठ १७३
५. "	"	"	पृष्ठ १७३
६. "	"	"	पृष्ठ ११३
७. "	"	"	पृष्ठ १८५
८. "	"	"	पृष्ठ २४७
९. "	"	"	पृष्ठ २०१

हनुमान—सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तन धारी ॥[1] (स्वामि-भक्ति)

रावण—निज भुजबल मैं बैरु बढावा।
देइहौं उतरु जो रिपु चढि आवा ॥[2] (दृढ़ता)

इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों में भी आदर्श भावना ओत-प्रोत है। पात्रों के विविध गुणों का निरूपण विविध भाँति से किया गया है, जिसमें न केवल व्यक्तिगत मर्यादा की रक्षा है, प्रत्युत सामाजिक मर्यादा भी अक्षुण्ण बनी रहती है। इन आदर्शों के साथ तुलसीदास ने स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता हाथ से नहीं जाने दी है। कला और शिक्षा का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र देखने में नहीं आता। तुलसीदास की इसी आश्चर्यजनक काव्य-शक्ति के कारण 'मानस' का धर्म, समाज और साहित्य में आदरपूर्ण स्थान है।

रस—'मानस' में नवों रसों का उद्रेक सफलता के साथ हुआ है। प्रत्येक कांड में अनेक रस हैं। तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा और काव्यशक्ति से रसों का चित्रण अनायास ही कर दिया है। अतः किसी काड में कोई रस विशेष नहीं है। सभी कांडों में रस वैचित्र्य है। वीभत्स रस अवश्य केवल लंका कांड और अरण्य कांड ही में परिमित है। अन्य रस प्रसग के संकेत से ही प्रवाहित होने लगते हैं। उदाहरण के लिए तुलसीदास का समस्त 'मानस' ही दिया जा सकता है। कुछ नमूने के अवतरण इस प्रकार हैं —

शृङ्गार (संयोग) प्रभुहिं चितै पुनिचितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधु मंडल डोल ॥[3]

---

१ तुलसी ग्रंथावली	पहला खंड	मानस	पृष्ठ ३५५
,,	,,	,,	पृष्ठ ४०७
,,	,,	,,	पृष्ठ १११

(वियोग) देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा।
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी ॥[१]

करुण—

सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ॥
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम बिन जियत बहुत दिन बीते ॥[२]

वीर—

जो तुम्हार अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥
काँचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक इव तोरी ॥[३]

हास्य -

टूट चाप नहिं जुरिहिं रिसाने। बैठिअ होइहि पाय पिराने ॥[४]
जो पै कृपा जरहि मुनि गाता। क्रोध भए तनु राख बिधाता ॥[५]

रौद्र—

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥
बेगि दिखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लगि तव राजू ॥[६]

भयानक—

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। प्रथम महा झोटिंग कराला ॥[७]

वीभत्स—

काक कंक लेइ भुजा उड़ाहीं। एक ते छीन एक लेइ खाहीं ॥[८]

१.	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खण्ड	(मानस)	पृष्ठ ३४७
२.	,,	,,	,,	पृष्ठ २१८
३.	,,	,,	,,	पृष्ठ १०६
४.	,,	,,	,,	पृष्ठ ११८
५.	,,	,,	,,	पृष्ठ ११६
६.	,,	,,	,,	पृष्ठ ११५
७.	,,	,,	,,	पृष्ठ ४१३
८.	,,	,,	,,	पृष्ठ ४१३

अद्भुत—

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥[1]

शान्त—

लसत मञ्जु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु ।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंदु ॥[2]

इन रसों की व्यापकता बढ़ाने के लिए तुलसीदास ने प्रत्येक सचारी भाव का सकेत कर दिया है। संचारी भावों के सहयोग से रसोद्रेक और भी तीव्र हो गया है। उदाहरणार्थ तुलसीदास ने किस सरलता से संचारी भावों का संकेत किया है, यह निम्न प्रकार से है :—

१ निर्वेद—अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती ।सब तजि भजन करौं दिन राती ।
२. ग्लानि—भई गलानि मोरे सुत नाहीं ।
३. शंका—शिवहिं विलोक ससकेउ मारू ।
४ असूया—तब सिय देखि भूप अभिलाखे । कूर कपूत मूढ़ मन माखे ॥
५ श्रम—थके नयन रघुपति छवि देखी ।
६. मद—जग योधा को मोहि समाना ।
७. धृति—धरि बड़ धीर राम उर आनी ।
८ आलस्य—रघुवर जाय सयन तब कीन्हा ।
९ विषाद—समय हृदय बिनवति जेहि तेही ।
१० मति—उपज्यो ज्ञान वचन तब बोला ।
११. चिन्ता—चितवत चकित चहूँ दिसि सीता । कहँ गये नृप किसोर मत चीत
१२ मोह—लीन्ह लाय उर जनक जानकी ।
१३ स्वप्न—दिन प्रति देखहुँ रात कुसपने । कहउँ न तोहि मोह बस अपने ।
१४ विबोध—बिगत निसा रघुनायक जागे ।

---

१. तुलसी ग्रन्थावली	पहला खड	मानस	पृष्ठ ८८
२	”	”	पृष्ठ २५०

१५. स्मृति—सुधि न तात सीता कै पाई।

१६. अमर्ष—जो राउर अनुशासन पाऊँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ॥

१७ गर्व—भुजबल भूमि भूप बिन कीन्हीं। विपुल बार महिदेवन दीन्हीं॥

१८. उत्सुकता—वेगि चलिय प्रभु आनिए, भुजबल रिपु दल जीति।

१९ अवहित्थ—तन सकोच मन परम उछाहू। गूढ प्रेम लखि परै न काहू॥

२० दीनता—पाहि नाथ कहि पाहि गुसाई।

२१ हर्ष—जानि गौरि अनुकूल, सिय हिय हर्ष न जाय कहि।

२२. व्रीड़ा—गुरुजन लाज समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि।

२३. उग्रता—एक बार कालहु किन होई।

२४ निद्रा—ते सिय राम साथरी सोए।

२५. व्याधि—देखी व्याधि असाधि नृप, पर्यो धरणि धुनि माथ।

२६. मरण—राम राम कहि राम कहि, बालि कीन्ह तनु त्याग।

२७. अपस्मार—अस कहि मुरछि परे महि राऊ।

२८. आवेग—उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषग धनु तीरा॥

२९. त्रास—भा निरास उपजी मन त्रासा।

३० उन्माद—लछिमन समझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥

३१ जड़ता—मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा। पुलक शरीर पनस फल जैसा॥

३२. चपलता—प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।

३३. वितर्क—लंका निशिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा॥

विशेष—तुलसीदास ने 'मानस' मे सभी काव्य के गुण सज्जित कर दिए हैं। अलंकारों का प्रयोग भाव-तीव्रता और काव्य-सौन्दर्य के लिये यथास्थान हुआ है। यह प्रयोग काव्य मे पूर्ण स्वाभाविकता और सौन्दर्य के साथ है। प्राय: सभी शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण 'मानस' के अतगत है। तुलसी द्वारा प्रयुक्त अलकारों के उदाहरण बड़ी सरलता से काव्य-ग्रंथों में पाये जा सकते हैं, क्योंकि अलंकारों के भाव-प्रकाशन में तुलसी की रचना बहुत ही सरल और सरस है। तुलसी की रचना में जहाँ

अपरिमित गुण हैं वहाँ काव्य के दो-एक दोष नगण्य हैं। दोषों में समास-दोष, प्रतिकूलाक्षर और अर्थ-दोष के अन्तर्गत न्याय विरुद्ध दोष ही तुलसीदास की रचना में कहीं पाये जा सकते हैं।

तुलसीदास का सबसे लोकप्रिय ग्रथ 'मानस' है पर उसका पाठ भी संदिग्ध है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने अपने 'मानस' की दो प्रतियाँ की थीं। एक प्रति तो वे अपने साथ मलीहाबाद ले गए थे जहाँ उन्होंने कुछ दिनों निवास किया था। वहाँ उन्होंने यह प्रति किसी चारण कवि को भेंट कर दी थी। यह अब मलीहाबाद निवासी प० जनार्दन के अधिकार में है। प० जनार्दन उस प्रति को दिन का प्रकाश भी नहीं दिखलाना चाहते। ऐसा करने से उस प्रति के 'अपवित्र' हो जाने का भय है। प्रति की जो थोड़ी बहुत परीक्षा हुई है उससे ज्ञात होता है कि पुस्तक तुलसी-दास लिखित नहीं है। उसमें बहुत से क्षेपक भर दिए गए हैं। किन्तु यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसकी पूर्ण परीक्षा न हो जाय। दूसरी प्रति तुलसीदास अपने साथ राजापुर (बाँदा) लेते गए थे। राजापुर की प्रति चोरी चली गई थी और जब चोर का पीछा किया गया तो उसने उस ग्रन्थ को यमुना मे फेंक दिया था। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे से केवल अयोध्याकांड बहने से बचा लिया गया था, जिस पर पानी के छींटे पड़े हुए हैं और वे छींटे इस वृत्त को घोषित करते हैं। ये दोनों प्रतियाँ तुलसीदास जी द्वारा लिखी कही जाती हैं।

इनके अतिरिक्त एक तीसरी प्रति भी मिली है, जो बनारस के महाराजा बहादुर के राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रति संवत् १७०४ मे अर्थात् तुलसी की मृत्यु के २४ वर्ष बाद तैयार की गई थी। इसी प्रति के आधार पर 'मानस' का एक संस्करण खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित किया गया है। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि खड्गविलास प्रेस का संस्करण संवत् १७०४ वाली

प्रति से अनेक स्थानों में भिन्न है। कहा नहीं जा सकता कि यह भूल कैसे हो सकती है। आवश्यकता तो इस बात की है कि राजापुर और मलीहाबाद की प्रतियों तथा मानस की अन्य प्राप्त प्रतियों का परीक्षण किया जावे। खेद का विषय है कि जिस ग्रन्थ ने तीन सौ वर्षों से अधिक भारतीय हृदय और मस्तिष्क पर शासन किया है, उसका पाठ आज भी अनिश्चित है।

'रामचरितमानस' की एक और विश्वसनीय प्रति अयोध्या में प्राप्त हुई है। कहा जाता है कि इस प्रति का प्रथम कांड संवत् १६६१ में लिखा गया था। अन्य कांड अपेक्षकृत नवीन हैं। यह प्रति 'सावन कुंज' अयोध्या के बाबा छविकिशोर शरण के संरक्षण में है। पुस्तक के अंत में "संवत् १६६१ वैशाष सुदि ६ बुधवार" लिखा हुआ है। अतः यह ग्रंथ तुलसी की मृत्यु से १६ वर्ष पहले लिखा गया था। तुलसीदास ने अयोध्या ही में 'मानस' का लिखना प्रारम्भ किया था, वे अयोध्या में बहुत दिन रहे भी थे: अतः यह प्रति उनके द्वारा या उन्हीं की देखरेख में लिखी गई कही जाती है। प्रति में अनेक स्थानों पर संशोधन भी है। यह संशोधन भी तुलसीदास के हाथ का कहा जाता है।

काशी के सरस्वती भवन में 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकांड की एक प्रति सुरक्षित है। उसकी पुष्पिका में प्रतिलिपिकार का नाम और समय दिया हुआ है :—

समाप्तं चेदं महाकाव्यं श्री रामायणमिति ॥ संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि रवौ लि० तुलसीदासेन ॥

इससे लेखक का नाम तुलसीदास ज्ञात होता है, जिसने संवत् १६४१ में महाकाव्य रामायण की प्रतिलिपि तैयार की।[1] क्या ये

---

१ इसका निर्देश वेणीमाधवदास ने भी अपने 'गोसाईं चरित' में किया है :—

लिखे वाल्मीकी बहुरि इकतालिस के माँह।
मगसर सुदि सतमी रवौ, पाठ करन हित ताहि ॥ गो० च०, दोहा ५५

तुलसीदास मानसकार तुलसी ही थे ? स्वर्गीय रामदास गौड़ इस सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"गोस्वामी जी ने जितनी कविता की है, सभी राम-भक्ति पर। इन बातों पर ध्यान रख कर जब हम देखते हैं कि संवत् १६४१ में काशी जी में बैठकर किसी विद्वान् संस्कृतज्ञ "तुलसीदास" ने वाल्मीकीय रामायण की सुन्दर प्रतिलिपि की, हमें यह कहने में कोई विशेष युक्ति नहीं दीखती कि यह तुलसीदास कोई और थे जो गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे, जब किसी अन्य सुलेखक और विद्वान् काशीवासी तुलसीदास की कहीं कभी चर्चा भी सुनने में नहीं आई। सुतरां यह न मानने का कोई सुदृढ़ कारण नहीं दीखता कि काशीवासी वाल्मीकीय उत्तरकांड की यह प्रति प्रातःस्मरणीय मानसकार गोस्वामी तुलसीदास की ही लिखी है।"[1]

गौड़ जी का यह मत निस्संदेह युक्तिसंगत है। इस सम्बन्ध ... प्रमाण और भी है। तुलसीदास ने अपने मित्र टोडर की मृत्यु ... उनके उत्तराधिकारियों में सम्पत्ति के बटवारे के लिए एक ...नामा भी लिखा था। इस पंचनामा के ऊपर की छः पंक्तियाँ ...लसीदास के हाथ की लिखी हुई कही जाती हैं। पंचनामे की प्रारंभिक ...क्तियाँ इस प्रकार हैं :—

श्री जानकी वल्लभो विजयते ।

द्विश्शरं नाभि सन्धत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहि धरम न सत्य समान ।
रामु तजो जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥२॥

---

[1] रामचरित मानस की भूमिका—गोस्वामी जी की लिपि (श्री रामदास गौड़) पृष्ठ ६०-६१

धर्मो जयति नाधर्मस्सत्यं जयति नानृतम् ।
क्षमा जयति क्रोधो विष्णुर्जयति नासुर· ॥१॥

यह पंचनामा संवत् १६६९ में टोडर की मृत्यु पर तुलसीदास
रा लिखा हुआ कहा जाता है।[१] इस पंचनामे के विषय में बाबू
ामसुन्दरदास और डा० बडथ्वाल लिखते हैं :—

"यह पंचनामा ग्यारह पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। ११वीं
ढ़ी में पृथ्वीपालसिंह ने उसे काशिराज को दिया। अब भी यह
शीराज के यहाँ अच्छी तरह सुरक्षित है।"[२] टोडर तुलसीदास
परम मित्र थे। उनकी मृत्यु पर तुलसीदास को अपना "कीन्हें
कृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना" प्रण तोड़
र पद्य-रचना करनी पड़ी।[३]

पचनामे की प्रारम्भिक छः पंक्तियाँ उसी हस्ताक्षर में हैं जिसमें
वत् १६४१ की 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तर कांड की प्रतिलिपि है।
तः यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि पंचनामे के लेखक तुलसी-
स ही 'वाल्मीकि रामायण' के प्रतिलिपिकार तुलसी थे। राजापुर में

---

१. 'गोसाँई चरित' में भी इसका निर्देश है :—

पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीचि मुनि, बाँटि दिए घर बार॥

गो० च०, दोहा ८६

गोस्वामी तुलसीदास (हिन्दुस्तानी एकेडेमी), पृष्ठ ११०

चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथयो टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुन गन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥
राम धाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥

सुरक्षित बालकांड की प्रति इसलिए भी अप्रामाणिक मानी जाती है, क्योंकि उसके हस्ताक्षर इन दोनों प्रतियों के हस्ताक्षर से नहीं मिलते। राजापुर के बाल कांड की अप्रामाणिकता के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसके संदर्भ में अनेक भूलें हैं। २५६ वें दोहे के आगे की चौपाई का यह क्रम :—

एकुचहुँ तात कहत एक बाता।
भे प्रमोद परिपूरन गाता॥

अशुद्ध है क्योंकि प्रथम पंक्ति के अर्थ की पूर्ति दूसरी पंक्ति में नहीं होती। राजापुर वाली प्रति में लिखने की तिथि भी नहीं दी गई है।

नागरी प्रचारिणी सभा ने 'मानस' का जो सस्करण प्रकाशित किया है उसका आधार निम्न लिखित प्रतियों पर है : -

(१) राजापुर का हस्त लिखित अयोध्या कांड जो गोस्वामी के हाथ का लिखा माना जाता है।
(२) अयोध्या का प्रति (बालकाड) जो गोस्वामी जी के परलोक वास के ११ वर्ष पीछे की लिखी हुई है।
(३) काशिराज की प्रति।
(४) लाला छक्कन लाल का छपाया लीथो वाला सस्करण जो मिरजापुर के प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी की प्रति के आधार पर छपा था।
(५) सदल मिश्र का संस्करण जो वि० सं० १८६७ में कलकत्ते में छपा था।
(६) डेढ सौ वर्ष की लिखी एक हस्त-लिखित प्रति।[1]

इन प्रतियों में सम्वत् १६६१ वाली अयोध्या की प्रति नहीं है, जो सब से अधिक विश्वसनीय प्रति मानी जाती है। यह विषय चिंत्य है।

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा खड, वक्तव्य, पृष्ठ १२

तुलसीदास और राजनीति

तुलसीदास ने 'मानस' में लोक-शिक्षा का बहुत व्यापक रूप रक्खा है। उन्होंने केवल व्यष्टि के लिए ही नही, समष्टि के लिए ऐसे नियमों की रूप-रेखा निर्मित की जो धर्म एव समाज के लिए हितकर सिद्ध हो। वे एक महान् सुधारक थे। उन्होंने अपने आराध्य की महत्त्वपूर्ण कथा मे जीवन के अगों को घटित करते हुए आदर्श की ओर सकेत करने का स्थान निकाल ही लिया। उन्होंने जिस कुशलता से उपदेश का अश कथा मे मिलाया है उससे शिक्षा और कला ने एक ही रूप धारण कर लिया है, यही कवि की प्रतिभा का द्योतक है।

तुलसीदास ने राजनीति के सिद्धान्तों का निरूपण अधिकतर 'मानस' ही मे किया है। पहले तो उन्होंने समकालीन परिस्थितियों का चित्रण कर—कलियुग के प्रभाव से—राजनीति की दुरवस्था का रूप खडा किया है, बाद में राम राज्य वर्णन मे राजनीति के आदर्श की ओर सकेत किया है। 'मानस' में अनेक स्थानों पर राजनीति के सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। तत्कालीन राजनीति के चित्र चार स्थानों पर प्रधान रूप से मिलते हैं। 'दोहावली' 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और 'मानस' में ये स्थल इस प्रकार हैं :—

(१) दोहावली

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥[1]

(२) कवितावली

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।

1. तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, (दोहावली) दोहा ५५६, पृष्ठ १५३

वेद-धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ॥[1]

(३) विनयपत्रिका

राज समाज समाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है ।
नीति प्रतीति प्रीति परिमिति रति, हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥[2]

रावण के शासन की अनीतियों से तुलसीदास ने अपने समय में यवनों की राजनीतिक अनीतियों का संकेत बड़े कौशल से किया है :—

भुज बल विस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र ।
मण्डलीक मनि रावन, राज करै निज मंत्र ॥२१३॥
देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर वर नारि ॥२१४॥

... . ..

जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला ।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाउँ पुर आग लगावहिं ॥

. .

जप जोग बिरागा तप मख भागा, श्रवन सुनै दससीसा ।
आपुन उठि धावै, रहै न पावै, धरि सब घालै खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा ससारा, धरम सुनिअ नहिं काना ।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै, जो कह वेद पुराना ॥

बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवनि मिति ॥ २१५॥[3]

राजनीति की इन दुखपूर्ण परिस्थितियों से ऊब कर तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर राजनीति के आदर्शों का निरूपण किया है ।

---

१ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (कवितावली) छंद १७७, पृष्ठ २४७
२ ,, ,, (विनय पत्रिका) छंद १३९, पृष्ठ ५३३
३ ,, ,, (मानस), पृष्ठ ८०

(१) राजा ईश्वर का अंश है :—

साधु सुजान सुसील नृपाला । ईस अंश भव परम कृपाला ॥[1]

(२) राजा का धर्म प्रजा का सुख ही है :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥[2]

(३) राजा में समदृष्टि आवश्यक है :—

मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक ।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक ॥[3]

(४) राजा के कार्यों के लिए प्रजा-जन की सम्मति अपेक्षित है :—

मुदित महीपति मन्दिर आए । सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए ।
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए । भूप सुमंगल वचन सुनाए ॥
प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू । रामहि राय देहु जुवराजू ।
जौ पाँचहि मत लागइ नीका । करहु हरष हिय रामहिं टीका ॥[4]

(५) राजा में चार नीतियाँ होनी चाहिए :—

साम दाम अरु दण्ड विभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा ॥[5]

(६) राजा का सत्यव्रत होना आवश्यक है :—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु बरु वचनु न जाई ॥[6]

---

१. तुलसी ग्रंथावली	पहला खण्ड	(मानस)	पृष्ठ १७
२. ,,	,,	,,	पृष्ठ १८५
३. ,,	,,	,,	पृष्ठ २८०
४. ,,	,,	,,	पृष्ठ १५१
५. ,,	,,	,,	पृष्ठ ३८८
६. ,,	,,	,,	पृष्ठ १६८

(६) राजा को निर्भीक और स्वावलंबी होना चाहिए :—

(अ) निज भुज बल मैं बैरु बढावा। देइहौं उतरु जो रिपु चढि आवा ॥[1]

(आ) जौं रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥[2]

(इ) निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।[3]

(७) राजधर्म में आलस्य और असावधानी अक्षम्य है :—

बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥
करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥
राजुनीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥
बिद्या बिनु बिवेक उपजाए। श्रम फल पढ़े किए अरु पाए ॥
सग तें जती कुमंत्र तें राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा ॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेग नीति अस सुनी ॥
रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन।[4]

(८) राज्य में प्रजा की समृद्धि आवश्यक है :—

(अ) बिबिध जन्तु सकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ जिमि पाइ सुराजा।[5]

(आ) पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी।[6]

(९) रक्तपात यथासम्भव बचाया जावे :—

मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालि कुमारा ॥
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥[7]

१	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खण्ड	(मानस)	पृष्ठ ४०७
२	,,	,,	,,	,, १२१
३	,,	,,	,,	,, २६३
४.	,,	,,	,,	,, ३०४
५	,,	,,	,,	,, ३३२
६	,,	,,	,,	,, ३३२
७.	,,	,,	,,	,, ३७७

(आ) नारि पाइ फिरि जाहिं जौ, तौ न बढ़ाइअ रारि ।
नाहि त सम्मुख समर महँ, तात करिअ हठि मारि ॥[१]

(१०) वैर उसी से हो जो बुद्धि-बल से जीता जा सके :—

नाथ बैर कीजै ताही सों । बुद्धि बल सकिअ जीति जाही सों ॥[२]

(११) राजा को सभी कार्यों का श्रेय अपने सहायकों को देना चाहिये :—

(अ) सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी ॥
प्रति उपकार करौं का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥[३]

(आ) तुम्हरे बल मैं रावनु मारा । तिलकु विभीषन कहँ पुनि सारा ॥[४]

(१२) राजा को आश्रम-धर्म का पूर्ण पालन करना चाहिए :—

(अ) अन्तहु उचित नृपहि बनबासू । बय बिलोकि हिय होइ हरासू ॥[५]
(आ) सत कहहिं अस नीति दसासन । चौथे पन जाइहिं नृप कानन ॥[६]

(१३) राजा को स्वदेश स्वर्ग से भी अधिक प्रिय होना चाहिए :—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना । वेद पुरान विदित जग जाना ।
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ । यह प्रसंग जाने कोउ कोऊ ॥[७]

१	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खण्ड	(मानस)	पृष्ठ	३७४
२.	,,	,,	,,	,,	३७२
३.	,,	,,	,,	,,	३५५
४.	,,	,,	,,	,,	४३२
५.	,,	,,	,,	,,	१७६
६	,,	,,	,,	,,	३७२
७.	,,	,,	,,	,,	४४०

इन उद्धरणों के अतिरिक्त 'मानस' में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ राजनीति का वर्णन बड़े सरल शब्दों में घटनाओं के वर्णन में किया गया है। संक्षेप में राजा को प्रजा का निष्पक्ष पालन, और दुष्टों का नाश करना चाहिए। उसे सत्यव्रती, निर्भीक, स्वावलम्बी, मेधावी, पराक्रमी, और स्वदेश-प्रेमी होना चाहिए।

तुलसीदास और समाज

तुलसीदास ने समाज की मर्यादा पर विशेष लिखा है। धर्म का पालन बिना समाज के मर्यादा-पालन के नहीं हो सकता। समाज के दो भाग हैं—व्यक्तिगत और सार्वजनिक। इन दोनों क्षेत्रों में तुलसीदास ने अपनी असाधारण काव्य-शक्ति से महान् सदेश दिया है। 'रामचरितमानस' के पात्रों में लोक-शिक्षा का रूप प्रधान रूप से है। पारिवारिक जीवन का आचार 'मानस' में यथास्थान सज्जित है। पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, सखा, सेवक, पुरजन आदि का क्या पारस्परिक व्यवहार होना चाहिए, इन सबका उत्कृष्ट निरूपण तुलसीदास ने अपनी कुशल लेखनी से किया है। 'वाल्मीकि रामायण' में मानवी भावनाओं के निरूपण के लिए आदि कवि ने अनेक प्रसंग लिखे हैं, जो स्वाभाविक होते हुए भी लोक-शिक्षा के प्रचारक नहीं हैं। लक्ष्मण का क्रोध, दशरथ के वचन आदि औचित्य का अतिक्रमण करते हैं। पर तुलसीदास ने ऐसे एक पात्र की भी कल्पना नहीं की, जिससे दुर्वासनाओं और अनाचारों की वृद्धि हो। उन्होंने तामसी पात्रों को भी सद्गुणों की वृद्धि करते हुए चित्रित किया है। सात्विक भावनाओं से भरे हुए पात्रों को तो उन्होंने मर्यादा का आधार ही अंकित कर दिया है। पारिवारिक जीवन के कुछ चित्र इस प्रकार हैं :—

(राम) बरष चारिदस बिपिन बसि, करि पितु वचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहौं, मन जनि करसि मलान ॥[1]

---

१. तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १७८

(लक्ष्मण) उतरु न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त काह बसाइ ॥[१]

(सीता) खग मृग परिजन नगर बनु, बलकल बिमल दुकूल ।
नाथ साथ सुरसदन सम, परनसाल सुखमूल ॥[२]

(भरत) बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात ।
राम-राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जलजात ॥[३]

(दशरथ)
सो तनु राखि करबि मैं काहा । जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ॥[४]

(कौशल्या)
धीरजु धरिअ तो पाइअ पारू । नाहिंत बूड़िहि सबु परिवारू ।
जौं जिय धरिअ विनय पिय मोरी । रामु लषनु सिय मिलहिं बहोरी ॥[५]

(सुमंत) तात कृपा करि कीजिअ सोई । जातें अवध अनाथ न होई ॥
मंत्रिहिं राम उठाइ प्रबोधा । तात धरम मतु तुम्ह सब सोधा ॥[६]

(निषाद) नाथ आजु मैं काह न पावा । मिटे दोष दुख दारिद दावा ।
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी । आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी ॥[७]

(हनुमान) सुनि प्रभु वचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत ॥[८]

(प्रजा) सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं । राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं ॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू । बिन रघुबीर अवध नहिं काजू ॥[९]

---

१. तुलसी ग्रन्थावली पहला खण्ड (मानस) पृष्ठ १८५
२. ,, ,, ,, पृष्ठ १८३
३. ,, ,, ,, पृष्ठ ४३८
४. ,, ,, ,, पृष्ठ २१८
५. ,, ,, ,, पृष्ठ २१७
६. ,, ,, ,, पृष्ठ १६४
७. ,, ,, ,, पृष्ठ १६७
८. ,, ,, ,, पृष्ठ ३५५
९. ,, ,, ,, पृष्ठ १६०

(विभीषण) जिन्ह पायन्ह के पादुकहि, भरत रहे मन लाइ ।
ते पद आज विलोकिहौं, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥[1]

इन पात्रों की चरित्र रेखा के साथ अन्य अनेक पात्रों में तुलसीदास ने जिस आदर्शवाद का स्तर (Standard) निर्धारित किया है, वह समाज को संयमशील बनाने में बहुत सहायक हुआ। यही कारण है कि हिन्दू जीवन में 'मानस' के पात्र आज भी उत्साह और शक्ति की स्फूर्ति पहुँचा रहे हैं।

उत्तर कांड में तुलसी ने राम-राज्य में समाज का चित्र खींचा है, वह वर्णाश्रम धर्म से युक्त है। जब समाज में इस धर्म का पालन किया जावेगा, तभी उसमे सुख-समृद्धि होगी और वह राम-राज्य के समान हो जावेगा। तुलसीदास ने राम राज्य में आदर्श समाज का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है :—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ॥
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय शोक न रोग ॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती।
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारि व्रत रह सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्त्तक नृत्य समाज।
जितहु मनहि अस सुनिअ जग रामचन्द्र के राज ॥[2]

बालकांड में भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदरपूर्ण स्थान का निर्देश है। सीता के स्वयम्बर में पुरजनो को यथास्थान बिठलाने का निर्देश करते समय तुलसीदास ने लिखा है :—

---

१ तुलसी ग्रंथावली पहला खण्ड मानस पृष्ठ ३६०
२ ,, ,, ,, पृष्ठ ४४६-४५०

देखी जनक भीर भै भारी। सुचि सेवक सब लिए हँकारी।
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू॥
कहि मृदु वचन विनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि॥[1]

तुलसी ने नारि जाति के प्रति बहुत आदर-भाव प्रकट किया है। पार्वती, अनुसुइया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि की चरित्र-रेखा पवित्र और धर्म पूर्ण विचारों से निर्मित की गई है। कुछ आलोचकों का कथन है कि तुलसीदास ने नारी जाति की निन्दा की है और उन्हें "ढोल, गँवार" की श्रेणी मे रक्खा है। किन्तु यदि मानस पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए हैं, जब नारी के धर्म के विपरीत आचरण किया है; अथवा निन्दात्मक वाक्य कहने वाले व्यक्ति वस्तु-स्थिति देखते हुए नीतिमय वाक्य कहते हैं। ऐसी स्थिति में वे कथन तुलसीदास के न होकर परिस्थिति-विशेष मे पड़े हुए व्यक्तियों के समझने चाहिए। जैसे—

(१) ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥[2]
(२) नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच, अदाया॥[3]

पहली उक्ति सागर ने अपनी क्षुद्रता बतलाने के लिए राम से कही और दूसरी रावण ने अपनी महत्ता बतलाने के लिए मन्दोदरी से कही।

तुलसीदास ने समाज का आदर्श विस्तार पूर्वक लिखा, क्योंकि उन्होंने अपने समय मे समाज की दुरवस्था देखी थी। समाज-सुधार के लिए ही उन्होंने 'रामायण' की चरित्र रेखा को अपने 'मानस'

---

१ तुलसी ग्रन्थ वली पहला खण्ड (मानस) पृष्ठ १०४
२. " " " पृष्ठ २६६
३. " " " पृष्ठ ३७६

में परिष्कृत कर नवीनता के साथ रख दिया। तुलसीदास की यही मौलिकता थी। उन्होंने अपने 'मानस' में तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण बहुत स्पष्टता के साथ किया है :—

दोहावली—बादहिं सूद्र द्विजन सन, "हम तुम तें कछु घाटि ?
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर" आँखि दिखावहि डाँटि ॥[१]

कवितावली—बबुर बहेरे को बनाय बाग लाइयत,
रूधबे को सोई सुरतरु काटियत है।
गारी देत नीच हरिचन्द हू दधीच हू को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियत है॥
आप महापातकी, हँसत हरिहर हू को,
आपु है अभागी भूरिभागी डाटियत है।
कलि को कलुष मन मलिन किये महत,
मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियत है॥[२]

विनय पत्रिका

आस्रम बरन धरम बिरहित जग, लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत, अपने अपने रंग रई है॥
साति सत्य सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥[३]

मानस

बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नरनारी।
द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥[४]

---

१. तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (दोहावली) पृष्ठ १५२
२ ,, ,, (कवितावली) पृष्ठ २२६
३. ,, ,, (विनयपत्रिका) पृष्ठ ५३३
४. ,, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४८३

तुलसीदास ने 'मानस' के उत्तरकांड में कलियुग का जो वर्णन किया है वह उन्हीं के समय की तत्कालीन परिस्थिति थी। उस अंश को पढ़ कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की उच्छृंखलता के लिए कितना क्षोभ था। इसी क्षोभ की प्रतिक्रिया उनके लोकशिक्षक समाज-चित्रण के आदर्श में है।

तुलसीदास और दर्शन

तुलसीदास के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने संस्कृत के दर्शन-शास्त्र का बड़ा गंभीर अध्ययन किया था। दर्शन की अत्यत कठिन और रहस्यपूर्ण बातों को उन्होंने बड़ी ही सरलता से अपनी 'भाषा' में रख दिया है। तत्कालीन साहित्य में कोई भी ऐसा कवि नहीं है, जिसने दर्शन-शास्त्र का परिचय इतनी दक्षता के साथ दिया हो। तुलसीदास के दो ही ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें उनके दर्शन-ज्ञान का पता चलता है। एक तो 'विनयपत्रिका' है, दूसरा 'मानस'। 'विनयपत्रिका' में स्तुति, आत्म-बोध और आत्म-निवेदन का अंश अधिक हो जाने के कारण दर्शन का विशेष स्पष्टीकरण नही है, पर कुछ पद ऐसे अवश्य हैं, जिनसे तुलसी का दर्शन-ज्ञान लक्षित होता है। शंकर के मायावाद के निरूपण मे तो वे दक्ष हैं :—

केसव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रविकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥[1]

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड (विनय पत्रिका), पृष्ठ ५१६

इस पद से ज्ञात होता है कि वे शकर के अद्वैतवाद के प्रतिपादक होते हुए भी उसे 'भ्रम' मानते थे। जो हो, 'विनयपत्रिका' में 'दर्शन' के कुछ सिद्धान्तों का निर्देश अवश्य है, पर उसमें अधिकतर विनय और प्रेम का अश ही अधिक है।

'मानस' में तुलसी का दर्शन बहुत विस्तृत, व्यापक और परिमार्जित है। उन्होंने घटना-प्रसंग मे भी दर्शन का पुट दे दिया है। जहाँ कहीं भी उन्हें भावनाओं के बीच में अवकाश मिला है, उन्होंने दर्शन की चर्चा छेड़ दी है। बालकांड के प्रारम्भ में तो ईश्वर-भक्ति का निरूपण करते हुए उन्होंने अपनी दार्शनिकता के अग-अंग स्पष्ट किए हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण-निषाद सवाद, राम नारद सवाद, वर्षा-शरद वर्णन, राम-लक्ष्मण संवाद, गरुड़ और कागभुशुण्डि सवाद में तुलसी ने अपनी दार्शनिकता का परिचय दिया है।

उनका दर्शन किस 'वाद' के अतर्गत आता है, यह विवाद ग्रस्त है। कुछ समालोचकों ने इधर सिद्ध किया है कि तुलसी अद्वैतवाद के पोषक थे, कुछ कहते हैं कि वे विशिष्टाद्वैतवादी थे। किन्तु अभी तक कोई भी मत स्पष्ट नहीं हो पाया।

तुलसी के दर्शन सम्बन्धी अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि वे राम को "विधि हरि शभु नचावन हारे" के रूप में मानते थे। अतः वे आदि ब्रह्म हैं। इस ब्रह्म के लिए उन्होंने उन सभी विशेषणों का प्रयोग किया है, जो अद्वैतवाद के ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस अद्वैतवाद की व्याख्या में माया के लिए भी स्थान है, जिसका वर्णन तुलसीदास ने अनेक बार किया है। यह तो स्पष्ट है कि तुलसीदास वैष्णव थे, अत. वे अवतारवादी भी थे। इसका प्रमाण उनके 'मानस' में अनेक बार है। वे अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के शब्दों में तो व्यक्त करते हैं, पर उसे विशिष्टाद्वैत क गुण से युक्त कर देते हैं —

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥[1]

यहाँ एक अनीह और अरूप ब्रह्म भक्तों के लिए अवतार लेता है। अद्वैतवाद के रूप में उनका ब्रह्म इस प्रकार है :—

(अ) गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।[2]
(आ) नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥[3]
(इ) व्यापकु एकु ब्रह्म अविनाशी। सत चेतन घन आनँद रासी॥[4]
(ई) ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥[5]
(उ) निज निर्गुण निर्विकल्प निरीहम्।
चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहम्॥[6]

इसी अद्वैत ब्रह्म को जब तुलसीदास विशिष्ट बनाते हैं तब वे सती से प्रश्न कराते हैं :—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥[7]

और इसका उत्तर वे आगे चल कर इस प्रकार देते हैं :—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम-बस सगुन सो होई॥

---

१. तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १०
२. ,, ,, ,, पृष्ठ १३
३. ,, ,, ,, पृष्ठ १४
४. ,, ,, ,, पृष्ठ १५
५. ,, ,, ,, पृष्ठ २६५
६. ,, ,, ,, पृष्ठ ४८८
७. ,, ,, ,, पृष्ठ १७

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसें।
जासु नाम भ्रम तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥

... ...

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीश ग्यान-गुन-धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।
जौं सपने सिर काटै कोई। बिन जागें न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा। गहै घ्रान बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान॥[1]

इस प्रकार तुलसीदास ने अद्वैतवाद के भीतर ही विशिष्टाद्वैतवाद की सृष्टि कर दी है। 'रामचरितमानस' के समस्त अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि तुलसीदास अद्वैतवाद को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे। उन्होंने सभी स्थलों पर राम नाम के साथ नारायण के गुणों का समन्वय कर दिया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का भी यही मत है। वे लिखते हैं :—

---

१ तुलसी ग्रंथावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ ५४-५५

"साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य के अनुयायी थे ही, जिनका निरूपित सिद्धान्त भक्तों की उपासना के बहुत अनुकूल दिखाई पड़ा।"[१]

तुलसीदास ने ब्रह्म की व्यापकता के लिए उसे अद्वैतवाद का रूप अवश्य दिया और उसे माया से समन्वित किया भी, पर वे उसे उस रूप में ग्रहण नहीं कर सके। वे भक्त थे, अतः भक्ति का सहारा लेकर उन्हें ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत में निरूपित करना ही पड़ा। इसीलिए जहाँ कहीं भी उन्हें अद्वैतवाद से ब्रह्म निरूपण की आवश्यकता पड़ी, वहीं उसके बाद उन्होंने उसे भक्तिमार्ग का आराध्य भी मान लिया। यह इसीलिए किया गया, क्योंकि वे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट बतला देना चाहते थे। अरण्यकांड में जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र से पूछा—

"ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु, कहहु सकल समुझाइ ॥[२]

उस समय राम ने—

माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव ।
बन्ध मोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव ॥[३]

कहकर भी यह स्पष्ट घोषित किया

जा तें बेगि द्रवौं मैं भाई । सो मम भगति भगत-सुखदाई ॥[४]

प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मतानुसार "दार्शनिक सिद्धान्तों में श्री गोस्वामी जी श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी हैं।"[५] अपने प्रमाण में उन्होंने 'मानस' के प्रायः सभी दर्शन से सम्बन्ध

१.	तुलसी ग्रन्थावली	तीसरा खंड		पृष्ठ १४५
२.	,,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ २९८
३.	,,	,,	,,	पृष्ठ २९९
४.	,,	,,	,,	पृष्ठ २९९
५.	,,	तीसरा खंड	,,	पृष्ठ ६४

रखने वाले स्थल उपस्थित कर दिए हैं। उनके विचारों से विषय बहुत स्पष्ट हो जाता है, पर यह सिद्ध नहीं हो पाता कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैत के समर्थक नहीं थे।

तुलसीदास ने अद्वैतवाद का निरूपण अवश्य किया है, पर वे उसे अपना मत नहीं मान सके। मानस में अद्वैतवाद की भावना लाने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :—

(१) तुलसीदास ने राम के ब्रह्मत्व का संकेत ही शिव-पार्वती के संवाद में दे दिया था। उसी तत्व-निरूपण में उन्हें राम को विशिष्टाद्वैत के विशेषणों से संयुक्त करना पड़ा।

(२) तुलसीदास धार्मिक सिद्धान्तों में बहुत सहिष्णु थे। अतः उन्होंने अद्वैतवादियों और विशिष्टाद्वैतवादियों का विरोध दूर करने के लिये राम के व्यक्तित्व में दोनों 'वादों' को सम्मिलित कर दिया।

(३) तुलसीदास रामानन्द की शिष्य परम्परा में थे। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में 'अध्यात्म रामायण' आधारभूत धार्मिक पुस्तक थी।[1] अध्यात्म रामायण की समस्त कथा में अद्वैतवाद की भावना है। अत तुलसीदास ने जब 'अध्यात्म रामायण' को अपने 'मानस' का आधार बनाया तो वे उसकी अद्वैत भावना की अवहेलना भी नहीं कर सके। यही कारण है कि 'मानस' में स्थान-स्थान पर अद्वैत भावना का निरूपण है। इस निरूपण के बाद यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी थे।

तुलसीदास ने जिस ब्रह्म का निरूपण किया है उसकी मर्यादा विशिष्टाद्वैत से ही निर्मित है।

सीय-राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥[2]

---

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिटरेचर ऑव् इण्डिया, पृष्ठ ३२६

२ तुलसी ग्रन्थावली पहलाखण्ड (मानस) पृष्ठ ७

इस चौपाई में विशिष्टाद्वैत की प्रधान भावना सन्निहित है। चित्, अचित् ये ईश्वर के ही रूप हैं। ये उससे किसी प्रकार भी अलग नहीं रह सकते। जब ईश्वर आदि रूप में रहता है, तब चित् और अचित् (संसार) सूक्ष्म रूप से ईश्वर मे व्याप्त रहता है और जब ईश्वर अपना विकास करता है तब वह स्थूल रूप धारण करता है। अतः चित् अचित में ईश्वर की व्याप्ति सब काल के लिए है।[1] इसी मे 'सीय राममय सब जग जानी' की सार्थकता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है, पर व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार। तुलसीदास ने अपने ब्रह्म राम को इन्हीं पाँच रूपों में चित्रित किया है :—

१. पर—यह वासुदेव-स्वरूप है। यह ऐसा रूप है, जो परमानन्द-मय है और अनन्त है। 'मुक्त और नित्य' जीव उसी में लीन हैं। यह षड्गुण्य विग्रह (ऐश्वर्य, शक्ति, तेज, ज्ञान, बल और वीर्य से युक्त शरीर) रूप है। इसीलिए राम को यही रूप दिया गया है और उनके प्रत्येक कार्य पर देवता (नित्य जीव) फूल बरसाते और अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

गगन विमल सकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥
बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी बाजी॥[2]

इस पर-रूप का वर्णन 'मानस' में इस प्रकार है :—

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस कौसल्या के गोद॥[3]

---

१. दि कनवेनशन ऑव् रिलीजंस इन इंडिया (१९०९) भाग २, पृष्ठ १९-२० (नरसिंह आयंगर)

२ तुलसी ग्रन्थावली (रामचरित मानस, बालकांड) पृष्ठ ८४

३. वही पृष्ठ ८९

२. व्यूह

यह स्वरूप विश्व की सृष्टि और उसके लय के लिए ही है। 'षड्गुण्य विग्रह' में से केवल दो गुण ही स्पष्ट होते हैं। वे गुण चाहे ज्ञान और बल हों, चाहे ऐश्वर्य और वीर्य या शक्ति और तेज हों। तुलसीदास व्यूह के वर्णन में लिखते हैं :—

जाके बल बिरचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।।
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन ॥[1]

३ विभव

इस रूप में विष्णु के अवतार मुख्य हैं। यह रूप विशेष रूप से नर-लीला के निमित्त होता है। इसमें "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" का उद्देश्य रहता है। तुलसीदास ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा, तुम्हहि लागि धरिहौं नर वेसा ॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा, लेइहौं दिनकर बंस उदारा ॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई, निरभय होहु देव-समुदाई ॥[2]

विभव के निरूपण ही में तुलसीदास ने लिखा है :—

निज इच्छा प्रभु अवतरै, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहै मोच्छ सुख त्यागि। [3]

४. अन्तर्यामी

इस रूप में ईश्वर समस्त ब्रह्मांड की गति जानता

---

1. तुलसी ग्रन्थावली, (रामचरित मानस) पृष्ठ ३५१
२ वही " " पृष्ठ ८२
३ वही " " पृष्ठ ३१६

है। वह जीवों के अंतःकरण में प्रवेश कर उनका नियमन भी करता है। इसी रूप में राम ने अवतार के रहस्यों को सुलझाया है। तुलसीदास ने अंतर्यामी राम का चित्रण 'मानस' में अनेक स्थानों पर किया है। उदाहरणार्थ अरण्य-कांड में यह निर्देश है —

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन ॥[1]

५. अर्चावतार

यह ब्रह्म का वह रूप है जो भक्तों के हृदय में अधिष्ठित है। वे जिस रूप से ब्रह्म को चाहते हैं, ब्रह्म उसी रूप से उन्हें प्राप्त होता है, तभी तो ब्रह्म की भक्ति सब कालों और सब परिस्थितियों मे सुलभ होती है। तुलसीदास ने इसका वर्णन राम जन्म के समय कौशल्या से कराया है :—

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजिअ सिसुलीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा ॥[2]

इस भाँति तुलसीदास ने 'मानस' में राम को उपयुक्त पाँच रूपों मे प्रस्तुत किया है। लोकाचार्य ने अपने 'तत्वत्रय में भगवान् की देह का जो रूप लिखा है, वही तुलसीदास ने राम के व्यक्तित्व में निरूपित किया है :—

"भगवान का शरीर सकल जगत को मोहने वाला है। इस रूप के दर्शन से सांसारिक समस्त भोग्य पदार्थो के प्रति विरक्ति उत्पन्न

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ ३०८
२ वही " " पृष्ठ ८४

हो जाती है। यह तीनों तापों का नाश करने वाला है। नित्य मु
से सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान का स्वरूप है। दि
भूषणों से तथा दिव्य अस्त्रों से सदैव यह शरीर युक्त रहता है
यह भक्तों का रक्षक है। धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जगत
अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।[1]

तुलसीदास विशिष्टाद्वैत मत में अपनी आस्था रखते थे, इस
एक विश्वस्त प्रमाण बालकांड में रामजन्म के प्रसंग में तुलसीद
ने दिया है। भक्त तुलसीदास ने अपने आराध्य राम के आविभ
के समय स्वाभाविक रूप से अपने हृदय की प्रेरणा महारा
कौशल्या के मुख से प्रकट कर दी है। कौशल्या ने जो स्तुति र
के प्रकट होने के समय की है, उसमें ब्रह्म का आविर्भाव विशि
द्वैत के सिद्धान्तानुसार हो है। 'मानस' में यह पहला प्रसंग
जब कवि अपने आराध्य के प्रकट होने का अवसर वर्णन करता
और ऐसी स्थिति में वह अपनी समस्त श्रद्धा संपत्ति विश्वासम
भावनाओं से अपने प्रभु के चरणों में समर्पित करता है। अ
इस अवसर पर कवि तुलसीदास के विचारों और विश्वासों
अत्यंत प्रामाणिक चित्र बिना किसी कृत्रिमता के पाया जा सकता
उदाहरण के लिए कौशल्या द्वारा की हुई स्तुति में कवि की विशि
द्वैत सम्मत ब्रह्म के आविर्भाव की क्रमिक रूप रेखा देखिए। क्रम
किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है —

[स्तुति की पृष्ठ भूमि और रूप-चित्रण]

भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौशल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिराम तनु घन स्याम निज आयुध भुज चारी।
भूषन बन माला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी॥

---

१ प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय—डा० उमेश मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०
(हिन्दुस्तानी—१६३७, पृष्ठ ४२६)

[पर रूप]

कह दुई कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनंता ।
माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनता ॥

[व्यूह रूप]

करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयेउ प्रगट श्री कंता ॥

[विभव रूप]

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ॥

[अन्तर्यामी रूप]

उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥

[अर्चावतार रूप]

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजिअ सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा ॥

[आविर्भाव का निष्कर्ष और महत्त्व]

विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ॥[1]

इस भाँति यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि तुलसीदास अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विशिष्टाद्वैतवादी थे ।

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, प्रथम खंड, मानस, पृष्ठ ८४

हो जाती है। यह तीनों तापों का नाश करने वाला है। नित्य मुक्तों से सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान का स्वरूप है। दिव्य भूषणों से तथा दिव्य अस्त्रों से सदैव यह शरीर युक्त रहता है। यह भक्तों का रक्षक है। धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जगत में अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।[1]

तुलसीदास विशिष्टाद्वैत मत में अपनी आस्था रखते थे, इसका एक विश्वस्त प्रमाण बालकांड में रामजन्म के प्रसंग में तुलसीदास ने दिया है। भक्त तुलसीदास ने अपने आराध्य राम के आविर्भाव के समय स्वाभाविक रूप से अपने हृदय की प्रेरणा महारानी कौशल्या के मुख से प्रकट कर दी है। कौशल्या ने जो स्तुति राम के प्रकट होने के समय की है, उसमें ब्रह्म का आविर्भाव विशिष्टा-द्वैत के सिद्धान्तानुसार हो है। 'मानस' में यह पहला प्रसग है, जब कवि अपने आराध्य के प्रकट होने का अवसर वर्णन करता है और ऐसी स्थिति मे वह अपनी समस्त श्रद्धा सपत्ति विश्वासमयी भावनाओं से अपने प्रभु के चरणों मे समर्पित करता है। अतः इस अवसर पर कवि तुलसीदास के विचारों और विश्वासों का अत्यत प्रामाणिक चित्र बिना किसी कृत्रिमता के पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए कौशल्या द्वारा की हुई स्तुति में कवि की विशिष्टा-द्वैत सम्मत ब्रह्म के आविर्भाव की क्रमिक रूप रेखा देखिए। क्रम में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है —

[स्तुति की पृष्ठ भूमि और रूप-चित्रण]

भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौशल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप विचारी॥
लोचन अभिरामं तनु घन स्याम निज आयुध भुज चारी।
भूषन बन माला नयन विसाला सोभा सिंधु खरारी॥

---

[1] प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय—डा॰ उमेश मिश्र, एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰ (हिन्दुस्तानी—१६३७, पृष्ठ ४२६)

[पर रूप]

कह दुई कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौं अनंता ।
माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनंता ॥

[व्यूह रूप]

करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयेउ प्रगट श्री कंता ॥

[विभव रूप]

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ॥

[अन्तर्यामी रूप]

उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥

[अर्चावतार रूप]

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजिअ सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा ॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा ॥

[आविर्भाव का निष्कर्ष और महत्त्व]

विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार ।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ॥[1]

इस भाँति यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि तुलसीदास अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विशिष्टाद्वैतवादी थे।

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, प्रथम खंड, मानस, पृष्ठ ८४

तुलसीदास और धर्म

तुलसीदास ने ऐसे समय जन्म लिया था जब भारत की धार्मिक परिस्थिति अनेक प्रभावों से शासित हो रही थी। मुसलमानों का राज्य-काल धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दुओं के लिए हित कर नहीं रहा। यदि कुछ साधु-प्रकृति शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं किए तो उनके धर्माचार को प्रोत्साहित भी नहीं किया। अकबर ही एक ऐसा शासक था जिसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया, पर अकबर के पूर्व शासकों की जो नीति थी उसके फल-स्वरूप जनता में धार्मिक विद्वेष की आग अभी तक कहीं-कहीं दीख पड़ती थी। यह विरोध धामिक शान्ति के प्रतिकूल था। किन्तु इसी समय हिन्दू धर्म के महान् आचार्यों ने जन्म लिया और प्रतिक्रिया के रूप में अपने धर्म को और भी उत्कृष्ट बना दिया। मुसलमानी प्रभाव उन्हें किसी प्रकार भी अपने धर्म-मार्ग से विचलित नहीं कर सका और वे हिन्दू धर्म के महान् संदेश-वाहक हुए। ऐसे ही महान् आचार्यों में तुलसीदास का स्थान है।

मुसलमानी प्रभाव के अतिरिक्त तुलसीदास के सामने धर्म की समस्या विचित्र रूप में आई। उन्होंने "गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल" की विषम परिस्थिति में अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थित करते हुए अनेक मतों और पंथों से भी समझौता किया। तुलसीदास की यह कुशल नीति थी। उनके समय में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी प्रधान रूप से अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे और प्रत्येक क्षेत्र में वैष्णवों से प्रतिद्वंद्विता कर रहे थे। तुलसीदास ने इनसे विरोध की नीति का पालन न कर उन्हें अपने ही आदर्शों में सम्मिलित कर लिया। तुलसीदास की इस सहिष्णु नीति ने धार्मिक भेदों का एकदम ही विनाश कर दिया। वैष्णव धर्म के इस सिद्धान्त-संगठन ने हिन्दू धर्म को इस्लाम की प्रतिद्वंद्विता में विशेष बल प्रदान किया।

तुलसीदास ने वैष्णव धर्म को इतना व्यापक रूप दिया कि
शैव, शाक्त और पुष्टि-मार्गी सरलता से सम्मिलित हो गए। तुल
दास की इस धार्मिक नीति ने राम-भक्ति के प्रचार का अवसर
विशेष दिया और 'रामचरित-मानस' को साहित्यिक होने के सा
साथ धार्मिक ग्रन्थ होने के योग्य बनाया। 'मानस' के वे स्थ
धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जो शैव, शाक्त और पुष्टि मार्गी क
वैष्णव धर्म के अन्तर्गत करने के लिए लिखे गए हैं :—

शैव—

(अ) करिहौं इहाँ सम्भु थापना। मोरे हृदय परम कलपना॥

... ...

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास॥[१]

(आ) औरउ एक गुपुत मत सबहि कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥[२]

शाक्त—

नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाव बेद नहिं जाना॥
भव-भव विभव पराभव कारिनि।
बिस्व विमोहनि स्वबस बिहारिनि॥[३]

---

१. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ. ३७१
२. वही ,, ,, पृष्ठ ४६०
३. ,, ,, ,, पृष्ठ १०२

पुष्टिमार्गी—

(अ) अब करि कृपा देहु बर एहू।
निज पद सरसिज सहज सनेहू ॥[1]

(आ) सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुमहि रघुनन्दन।
जानहि भगत भगत उर चन्दन ॥[2]

(इ) राम भगति मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके ॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं।
जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।
राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।[3]

राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गियों के आदर्शों की पूर्ति कर तुलसीदास ने राम भक्ति में व्यापकता के साथ ही साथ शक्ति भी ला दी। शैव और वैष्णवों की विचार-भिन्नता की समाप्ति तुलसीदास की लेखनी से हुई।

तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे। वे पच देवताओं की पूजा में विश्वास करते थे, इसका प्रमाण उनकी विनयपत्रिका में दिया ही जा चुका है। इस दृष्टिकोण से उनकी भक्ति की मर्यादा का रूप और भी स्पष्ट हो गया था। उनके सामने ज्ञान का उतना महत्त्व नहीं था जितना भक्ति का, यद्यपि उन्होंने ज्ञान और भक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं माना। ज्ञान की अपेक्षा उन्होंने भक्ति को विशेष महत्त्व

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ १६६
२ ,, ,, ,, पृष्ठ २०७
३ ,, ,, ,, पृष्ठ ४६०

दिया है, जिसके विवेचन में उन्होंने उत्तरकांड का उत्तरार्ध लिखा। गरुड़ ने "भुसुंडि" से यही प्रश्न किया था :—

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहौ बुझाइ कृपानिधि मोही॥
ग्यानहिं भगतिहि अन्तर केता। सकल कहौ प्रभु कृपा निकेता॥[1]

और इसका उत्तर सुजान 'काग' ने इस प्रकार दिया :—

भगतिहिं ग्यानिहिं नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु विहंगवर॥[2]

और यह अंतर केवल इतना है कि भक्ति स्त्री है और ज्ञान पुरुष है।

ग्यान विराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥

... .

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु प्रभु दोऊ। नारिवर्ग जानहिं सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतहिं सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥[3]

अतः भक्ति पर माया का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। भक्त को "रघुपति कृपा सपनेहुँ मोह न होइ" की भावना तुलसीदास ने अपने 'मानस' में रक्खी है।

ज्ञान की साधना है भी बड़ी कठिन। जो इस कठिन साधना में सफल होते हैं. उन्हें मुक्ति अवश्य मिलती है, पर यह सफलता प्राप्त करना बहुत कष्ट-साध्य है :—

---

१. तुलसी ग्रंथावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४६८
२. ,, ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,, पृष्ठ ४६४-४६५

ग्यान के पंथ कृपान के धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जौं निरबिघन पंथ निरबहई। सो कैवल्य परमपद लहई ॥[1]

इस भाँति तुलसी ने ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता स्पष्ट की है। इस भक्ति का चरम उद्देश्य सेवक-सेव्य भाव की सृष्टि करना है, जो तुलसीदास का आदर्श है। इस आदर्श के सम्बन्ध में तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से घोषित किया है :—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धांत बिचारि ॥[2]

तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति का यह विरोध दूर कर धार्मिक परिस्थितियों में महान् ऐक्य की सृष्टि की। ज्ञान भी मान्य है, पर भक्ति की अवहेलना करके नहीं। इसी प्रकार भक्ति का विरोध भी ज्ञान से नहीं। दोनों में केवल दृष्टिकोण का थोड़ा सा अन्तर है। इसे समझाते हुए श्रीरामचन्द्र ने अरण्यकांड में नारद से कहा है :—

सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई ॥
प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिल बाता।
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहिं मोर बल निज बल नाहीं। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहीं ॥
यह बिचारि पण्डित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥[3]

ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, यही तुलसी का दृष्टिकोण है। इस भाँति ज्ञान और भक्ति में साम्य उपस्थित कर तुलसीदास ने बहुत से वितण्डावादों की जड़ काट दी।

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४६७
२ ” ” ” ”
३.

उन्होंने ज्ञान और भक्ति दोनों को मानते हुए भक्ति की ओर ही अपनी प्रवृत्ति प्रदर्शित की है और इस सम्बन्ध मे उन्होंने स्वयं अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र के मुख से लक्ष्मण के प्रति कहलाया है :—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला॥[1]

इस भाँति वे 'ग्यान विग्यान' को भी भक्ति के आधीन समझते हैं। भक्ति से ज्ञान की सृष्टि होती है और ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति की स्थिति रहती है। दोनो एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, दोनों मे किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है, यही तुलसीदास के भक्ति-ज्ञान प्रकरण का निष्कर्ष है। यह इस प्रकार स्पष्ट है :—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहि पय लागी॥[2]

भक्ति के अनेक साधन तुलसीदास ने बतलाए हैं। वे सभी वर्णाश्रम धर्म के दृष्टिकोण से हैं। तुलसीदास के अनुसार भक्ति के साधन निम्नलिखित हैं, जो स्वयं श्रीरामचन्द्र के मुख से कहलाए गए हैं :—

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पन्थ मोहि पावहिं प्रानी॥[3]

(१) प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती।[4]
(२) निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
(३) यहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

---

१. तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ २६६
२. ,, ,, ,, पृष्ठ ४६४
३. ,, ,, ,, पृष्ठ २६६
४. ,, ,, ,, पृष्ठ २६६

(४) संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
(५) गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
(६) मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
(७) काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥[1]

भक्ति की सर्वोच्च साधना ही तुलसीदास के धर्म की मर्यादा है। तुलसीदास ने सरल साधना के सहारे जिस प्रकार धर्म की रूप रेखा निर्धारित की थी, उसमें दोषों के आ जाने का सन्देह था। भक्ति करते हुए भी लोग बाह्याडम्बर और छल-कपट न करें, इसलिए तुलसीदास ने अपने धर्म के स्वरूप को अक्षुण्ण रखने के लिए संतों के लक्षण भी लिख दिये हैं—

नारद ने श्री रामचन्द्र से पूछा —

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भजन भव भीरा॥[2]

तब श्री रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर भगति पथ परम प्रवीना॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविंद बिप्र पद प्रेमा॥

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खण्ड (मानस) पृष्ठ २६६
२ ,, ,, ,, पृष्ठ ३२०-३२१

श्रद्धा छमा मइत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति श्रमाया ॥
बिरति बिवेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना ॥
दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥
गावहिंसुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला ॥[१]
सुनि मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥

संक्षेप में तुलसीदास के धर्म की व्याख्या यही है कि—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई।[२]

तुलसीदास और साहित्य

तुलसीदास ने जिस समय लेखनी उठाई थी उस समय उनके सामने केवल चारणकाल के वीर-गाथात्मक ग्रंथ और प्रेम-काव्य तथा सत-काव्य के मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित धार्मिक ग्रथ थे। चारण-काल में तो काव्य की भाषा ही स्थिर नहीं हुई थी, अत. उसमें साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कम था। प्रेम-काव्य की दोहा-चौपाई की प्रबन्धात्मक रचना में शैली का सौन्दर्य अधिक था और भावों का कम। सत साहित्य में तो एकमात्र एकेश्वरवाद और गुरु की वन्दना थी। उसमें धर्म-प्रचार की भावना अधिक थी, साहित्य-निर्माण की कम। कृष्ण-काव्य के आदर्श भी बन रहे थे वे अभी पूर्णता को प्राप्त नही हुए थे। अतः तुलसीदास के समय मे साहित्य बहुत ही साधारण कोटि का था। उन्होंने उसे केवल अपनी प्रतिभा से उत्कृष्ट बना दिया जब कि उनके सामने साहित्यिक आदर्श न्यून मात्रा ही मे थे। यही तुलसीदास की अपरिमित शक्ति थी।

भाषा—तुलसीदास के पूर्व अवधी मे काव्य रचना हो चुकी थी, क्योंकि सूफी कवियों ने उसमे प्रेम गाथाओं की रचना की थी। पर यह अवधी ग्रामीण थी, उसमें साहित्यिक परिष्करण नहीं था। तुलसीदास ने अवधी मे 'रामचरित-

१. तुलसी ग्रथावली पहला खण्ड (मानस) पृष्ठ ३२१
२. ,, ,, ,, पृष्ठ ४५८

मानस' लिख कर उसे उतना ही सुसंस्कृत और मधुर बना दिया जितना ब्रजभाषा में लिखा गया 'सूरसागर'। 'सूरसागर' का दृष्टिकोण तो सीमित है, पर 'मानस' का दृष्टिकोण मनुष्य-जीवन का सम्पूर्ण आलिंगन किए हुए है। अतः 'मानस' का महत्त्व 'सूरसागर' से कहीं अधिक है। तुलसीदास के समय में कृष्ण काव्य की रचना ब्रजभाषा में होने लगी थी। तुलसीदास ने ब्रजभाषा में भी 'गीतावली' 'कृष्णगीतावली', 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' की रचना कर अपनी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का परिचय दिया। 'कवितावली और 'विनय-पत्रिका' की ब्रजभाषा इतनी परिष्कृत और सम्बद्ध है कि वैसी कृष्ण-काव्य के प्रमुख कवियों से भी नहीं बन पड़ी।

अवधी और ब्रजभाषा के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य भाषाओं को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया, यद्यपि उन्होने उनमें से किसी में भी स्वतंत्र ग्रथ नहीं लिखे। 'विनयपत्रिका' में भोजपुरी का यह नमूना कितना सरस और स्वाभाविक है :—

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहिंत भव बेगारि महँ परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे॥
बाँस पुरान साज सब अटखट, सरल तिकोन खटोला रे॥
हमहिं दिहल करि कुटिल करम चँद मद मोल बिनु डोला रे॥
विषम कहार मार मदमाते चलहिं न पाँव बटोरा रे।
मद विलद अमेरा दलकन, पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँट कुरायँ लपेटन लोटन ठावहिं ठाँउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेट लगाऊ रे॥
मारग अगम सग नहि सम्बल नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे॥[1]

---

[1] तुलसी ग्रथावली, दूसरा खड (विनयपत्रिका), पृष्ठ५५८-५५९

इस प्रकार तुलसीदास ने बुन्देलखंडी के शब्दों का प्रयोग भी स्वाभाविकता से किया है :—

ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई ।
अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो कई ॥[1]

... .

परिवार पुरिजन मोहिं राजहिं प्रान प्रिय सिय जानिबी ।
तुलसी सुशील सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी ॥[2]

हिन्दी की प्रान्तीय बोलियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने मुग़ल-कालीन अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी बड़े कौशल से अपनी रचनाओं में किया है। जहाँ कहीं शब्द काव्य में बैठ नहीं सके वहाँ उनका परिष्कार भी कर दिया गया है। इस प्रकार वे शब्द सम्पूर्ण रूप से अपने बना लिए गए हैं। नीचे लिखे अवतरणों मे विदेशी शब्द किस सुन्दरता से स्वदेशी बनाए गए हैं :—

१ असमंजस अस मोहिं अँदेसा	(अँदेशा)
२. सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे ॥	(काग़ज़)
३ लोकप जाके बन्दी खाना ।	(ख़ाना)
४ गई बहोर गरीब निवाजू । सरल सबल साहिब रघुराजू ॥	(गरीबनिवाज, साहब)
५. सो जाने जनु गरदन मारी ।	(गर्दन)
६ मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू ॥	(जहाज)
७. जे जड़ चेतन जीव जहाना ।	(जहान)
८ जगमगत जीन जड़ाव जोति सुमोति मनि मानिक लगे ।	(ज़ीन)
९ सजहु बरात बजाय निसाना ।	(निशान)
१०. बाज नफीरी भेरि अपारा ।	(नफ़ीरी)

---

१. तुलसी ग्रंथावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ १४०
२. " " " पृष्ठ १४५

११	गवने भरत पयादेहि पाये।	(प्यादा)
१२	कुम्भकरन कपि फौज बिडारी	(फ़ौज)
१३	बना बजारु न जाय बखाना।	(बाज़ार)
१४	भइ बकसीस जाचकन दीन्हा।	(बख़्शीश)
१५	जनु बिनु पंख विहग बेहालू	(बेहाल)
१६	जो कह झूठ मसखरी जाना	(मसख़री)
१७	सनकारे सेवक सकल चले स्वामि रुख पाय	(रुख़)
१८	रिपुदल बधिर भये सुनि सोरा	(शोर)
१९	आज करउँ तोहि काल हवाले	(हवाले)

ये तो 'मानस' के कुछ ही उदाहरण हैं। तुलसीदास ने अपने अन्य ग्रथों में भी अरबी फारसी के अनेक शब्द बड़ी स्वतन्त्रता से प्रयुक्त किए हैं। वे अपनी रचना को जनता की वस्तु बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने ग्रथों की रचना सरल से सरल भाषा में की। उनका काव्य-आदर्श भी यही था—

"सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहि सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥[1]

तुलसीदास ने अपना 'मानस' भाषा में लिखते समय यह अनुभव अवश्य किया था कि वे साहित्य और धर्म की भाषा सस्कृत छोड़ कर 'भाषा' को स्वीकार कर रहे हैं। पर कवि का लक्ष्य राम-कथा का घर-घर में प्रचार करना था। सस्कृत मे राम-कथा केवल पडितों तक ही सीमित थी। वे समकालीन राजनीतिक प्रभाव की प्रतिद्वन्द्विता मे जनता के हृदय में धार्मिक भावना जाग्रत कर देना चाहते थे। इसीलिए जहाँ उन्होंने आदि कवि वाल्मीकि को प्रणाम किया है वहाँ उन्होंने प्राकृत और भाषा में कवियों की वन्दना करते हुए अपनी भाषा में लिखने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट कर दी है:—

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खण्ड (मानस), पृष्ठ १०

१. भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिवे जोग हँसे नहिं खोरी ॥[1]
२. भनिति भदेस वस्तु भल बरनी। राम कथा जग मंगल करनी ॥[2]
३. गिरा ग्राम सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान ॥[3]
४. राम सुकीरति भनित भदेसा। असमंजस अस मोहि अदेसा ॥[4]
५. सिअनि सुहावनि टाट पटोरे ॥[5]
६. तौ फुर होइ जो कहउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥[6]
७. भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥[7]

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस समय भाषा में जो रचना की जाती थी वह हास्यास्पद और आदरहीन मानी जाती थी। तुलसीदास ने राम-कथा का सहारा लेकर इस भावना के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाई। इससे तुलसीदास के हृदय में संतोष भी हुआ, क्योंकि संस्कृत में राम कथा उन्हें "प्रबोध" नहीं दे सकती थी।

भाषा में लिखने के कारण तुलसीदास ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी सरल बनाकर तद्भव कर दिया था। कुछ शब्द तो प्राकृत से होकर तद्भव बन ही गए थे और कुछ तुलसीदास ने अक्षरों के उच्चारण की सरलता देकर तद्भव-सा बना दिया था। ऐसे शब्दों मे ग्यान (ज्ञान) और रिसि (ऋषि) आदि हैं। इस शैली का अनुसरण करने के कारण तुलसीदास की वर्णमाला निम्न प्रकार से होगी:—

१	तुलसी ग्रंथावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ	७
२	,,	,,	,,	,,	८
३.	,,	,,	,,	,,	८
४.	,,	,,	,,	,,	१०
५.	,,	,,	,,	,,	१०
६	,,	,,	,,	,,	११
७.	,,	,,	,,	,,	१८

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अ

व्यजन—क ष ग घ

च छ ज झ

ट ठ ड ढ

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

स ह ड़ ढ़

अलकार, रस और गुण—तुलसीदास की रचनाओं में भावों का प्रकाशन जिस कौशल से होता है, उसमें अलकार की आवश्यकता नहीं। सरल स्वाभाविक और विदग्धतापूर्ण वर्णन तुलसीदास की शैली की विशेषता है, पर तुलसीदास की प्रतिभा इतनी उच्चकोटि की है कि उसमें अलकार स्वाभाविक रूप से चले आते हैं। अलकारों के स्थान के लिए भावों की अवहेलना नहीं करनी पड़ती। उसका कारण यह है कि तुलसीदास का भाव विश्लेषण इतना अधिक मनोवैज्ञानिक है कि उसकी भाव-तीव्रता या सौन्दर्य वर्णन के लिए अलंकार की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर तुलसीदास एक कुशल कलाकार की भाँति अलकार के रत्नों को सरलता से उठाकर काव्य में रख देते हैं। उनका रखना नंददास के 'जड़ने' से श्रेष्ठ है। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय लिखते हैं—"रामचरित मानस की कोई चौपाई भले ही बिना उपमा की मिल जाय, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ऐसा मिलेगा, जिसमें किसी सुन्दर उपमा का प्रयोग न हो। उपमाएँ साधारण नहीं हैं। वे अमूल्य रत्न-राजि हैं।[1]

---

१ तुलसीदास की उपमाएँ—प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'माधुरी', वर्ष २, खड १, सख्या १, पृष्ठ ७४

जहाँ अर्थालंकारों से भाव-व्यंजना को सहायता मिली है, वहाँ शब्दालंकारों से भाषा के सौन्दर्य में भी वृद्धि हुई है। सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग तुलसीदास की कुशल लेखनी से कलापूर्ण हुआ है। अलंकार-प्रयोग में एक बात अवश्य है। कुछ अलंकार संस्कृत काव्य ग्रंथों से ले लिए गए हैं। कहीं-कहीं तो वे अपने पूर्व रूप में ही हैं, पर कहीं-कहीं उनमे परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरणार्थ कुछ अलंकार लीजिए :—

लछिमन देखहु मोर गन, नाचत बारिद पेखि ।
गृही बिरति रत हरष जस, बिष्णु भगत कहुँ देखि ॥[1]

यह उपमा श्रीमद्भागवत से अपने संस्कृत रूप में ही ली गई है:—

मेघा गमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन शिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णाः यथाऽऽच्युत जनाऽगमे ॥[2]

यहाँ यथाऽऽच्युत जनाऽगमे' को तुलसीदास ने विष्णु-भक्त कर दिया, क्योंकि वे वैष्णव थे, किन्तु अलंकार का प्रयोग और भाव वही है। इसी प्रकार जयदेव के 'प्रसन्नराघव' की "यदि खद्योत भासापि समुन्मीलति 'पद्मिनी' का रूपान्तर तुलसीदास ने 'मानस' में—

सुनु दसमुख, खद्योत प्रकासा ।
कबहुँ कि नलिनी करै बिकासा ॥[3]

कर दिया। अन्य स्थलों पर तुलसीदास के अलंकार उत्कृष्ट रूप में प्रयुक्त हुए हैं। रस-निरूपण का परिचय तुलसीदास के ग्रंथों की विवेचना मे हो ही चुका है। मनोवैज्ञानिकता के साथ रस की पूर्णता तुलसीदास की काव्य-कला की सबसे बड़ी सफलता है। रस की अभिव्यक्ति गुण के सहारे कितनी अच्छी हो सकती है, इसके उदाहरण 'मानस' मे अनेक स्थानों पर मिलते हैं। शृंगार रस के

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस), पृष्ठ २२१
२. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय २०, श्लोक २०
३. तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस), पृष्ठ ३४६

अंतर्गत माधुर्य गुण, वीर और रौद्ररस के अंतर्गत ओज गुण और अद्भुत, शान्त तथा अन्य कोमल रसों के अंतर्गत प्रसाद गुण बड़ी कुशलता से प्रयुक्त हुए हैं :—

माधुर्य गुण

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥[1]

. . .

बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा । जलखग कूजत गुंजत भृंगा ॥[2]

ओज गुण

भट कटत तन सत खंड । पुनि उठत करि पाखंड ॥
नभ उड़त बहुभुज मुंड । बिनु मौलि धावत रुंड ॥[3]

× × × ×

रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज सिरा ।
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धरु धरु धरु करहिं भयकर गिरा ॥[4]

प्रसाद गुण

राम सनेह मगन सब जाने । कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥
प्रभुहिं जोहारि बहोरि बहोरी । बचन बिनीत कहहिं कर जोरी ॥
अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय ।
भाग हमारे आगमनु राउर कोसल राय ॥[5]

गुणों के साथ-साथ तुलसीदास ने वर्ण-मैत्री का भी ध्यान रक्खा है। जहाँ काव्य मे प्रयुक्त वर्ण-मैत्री प्रवाह को सहायता देती है, वहाँ

---

१ तुलसी ग्रंथावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ	९९
२ ,,	,,	,,	,,	९८
३. ,,	,,	,,	,,	२०३
४ ,,	,,	,,	,,	,,
५ ,,	,,	,,	,,	२१०

दूसरी ओर अर्थ में चमत्कार भी उत्पन्न करतो है। इन दोनों वातों के निर्वाह के लिए उच्च कोटि की काव्य प्रतिभा चाहिए। इसका 'मानस' में से एक उदाहरण लीजिए :—

जौ पटतरिय तीय महुँ सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥[1]

इस चौपाई में लघु वर्णों की आवृत्ति प्रवाह के लिये कितनी सरस और उपयुक्त है! अर्थ-सौन्दर्य की दृष्टि से तुलसीदास सरस्वती, पार्वती और रति तीनों को सीता से हीन और लघु प्रदर्शित करना चाहते हैं। यह लघुता ही लघु वर्णों से वहुत अच्छी तरह व्यक्त हुई है। सीता सवसे श्रेष्ठ और महान हैं, अतः उनके लिए "सीया" गुरु वर्ण प्रयुक्त किए गए हैं :—

सीता—तीय महँ सीया (दूसरे ही पद में स्त्रियों की हीनता प्रकट करने के लिए 'तीय' शब्द 'जुवति' के लघु अक्षरों में परिवर्तित हो गया है।

गिरा = मुखर (सभी अक्षर लघु)
भवानी = तनु अरध "
रति = अति दुखित अतनु पति जानी (अत के तुकान्त को छोड़ कर इसमें भी सभी अक्षर लघु हैं)

यदि ध्यान से 'मानस' का अध्ययन किया जावे तो तुलसीदास के पांडित्य की अनेक वातें ज्ञात होंगी।

मनोवैज्ञानिक परिचय—तुलसीदास ने मानव हृदय की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का कितना अधिक अन्वेषण किया था और वे उनका प्रकाशन कितनी कुशलता से कर सकते थे, यह उनके 'मानस' के विद्यार्थी जानते हैं। रसों के अंतर्गत—संचारी भाव के भेदों के अन्तर्गत-हृदय की न जाने कितनी भावनाएँ भरी हुई हैं। मानवी संसार की विभिन्न परिस्थितियों

---

१. तुलसी ग्रन्थावली प्रथम खंड (मानस) पृष्ठ १०६

केशवदास

केशवदास हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। इन्होंने साहित्य की मीमांसा शास्त्रीय पद्धति पर कर काव्य-रचना का पांडित्यपूर्ण आदर्श रक्खा।[१] इन्होंने जहाँ एक ओर राम-काव्य के अंतर्गत 'रामचन्द्रिका' की रचना की वहाँ रीतिकाव्य के अंतर्गत 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' की भी रचना की। साथ ही इन्होंने चारणकाल के आदर्शों को ध्यान में रख कर 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' और वीरसिंह देव चरित' भी लिखे। इस प्रकार केशवदास ने अपने काव्य-आदर्शों में चारणकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के आदर्शों का समुच्चय उपस्थित किया। इसी दृष्टिकोण से केशवदास के काव्य का महत्त्व है।

केशवदास ने स्वयं अपना परिचय 'रामचन्द्रिका' में इस प्रकार दिया है :—

सुगीत छंद ॥ सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव।
कृष्णदत्त प्रसिद्ध हैं महि मिश्र पंडित राव ॥
गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारि कै जिन पाइयो मत साध ॥

दोहा ॥ उपज्यो तेहि कुल मन्दमति शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास ॥[२]

इस वर्णन के अनुसार केशव का वंश परिचय यह है :—

कृष्णदत्त (सनाढ्य जाति)
|
काशीनाथ
|
केशवदास

---

१. सलेक्शन्स फ्राम हिंदी लिटरेचर (पुस्तक १, पृष्ठ ५०)
लाला सीताराम, बी० ए०

२ रामचन्द्रिका सटीक (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृष्ठ ७

अत केशवदास मनाढ्य ब्राह्मण श्रीकृष्णदत्त के पौत्र और 'शीघ्रबोध' बनाने वाले श्रीकाशीनाथ के पुत्र थे। 'नखशिख' वाले प्रसिद्ध कवि बलभद्र इनके बड़े भाई थे।

केशवदास का जन्म संवत् १६१२ के लगभग टेहरी में हुआ था। इनकी कुल-परम्परा में कविता का वरदान था। ये ओरछा-नरेश के दरबारी कवि, मंत्र गुरु एव मत्री थे। वीरसिंहदेव के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के दरबार में इन्होंने बहुत सम्मान पाया। कहा जाता है कि इन्होंने अपनी नीति-कुशलता एव सभा-चातुरी से इन्द्रजीतसिंह पर अकबर के द्वारा किया हुआ एक करोड़ रुपये का जुरमाना माफ करा दिया था।[1] ये तुलसीदास के समकालीन थे। वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास और केशवदास की भेंट दो बार हुई। पहली बार काशी मे 'मीन की सनीचरी' के बाद स० १६४३ के लगभग और दूसरी बार सं० १६६६ के पूर्व ('गोसांई चरित' में ठीक सवत् नहीं दिया गया. जब तुलसीदास ने केशवदास को प्रेतयोनि से मुक्त किया था।[2] वेणीमाधवदास के अनुसार जब सं० १६४३ के लगभग तुलसीदास की भेंट केशवदास से हुई थी तभी 'रामचन्द्रिका' की रचना का सूत्रपात हुआ था। तुलसीदास के अनुसार केशवदास 'प्राकृत कवि' थे केशवदास ने इस लाञ्छन से मुक्त होने के लिए ही एक रात्रि मे 'रामचन्द्रिका' की रचना कर तुलसीदास के दर्शन किए थे।

> कवि केसवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
> कवि जानि कै दरसन हेतु गये। रहि बाहिर सूचन भेजि दिये॥
> सुनि कै सु गोसाई कहे इतना। कवि प्राकृत केसव आवन दो॥
> फिरिगे भट केसव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कै॥

---

१. सर्च फार हिंदी मेनास्क्रिप्ट्स १६०६-७-८. पृष्ठ ७

२. उड़हे केसवदास, प्रेत हतो बेरेउ मुनिहिं।
उधरे दिनहि प्रवास. चढ़ि विमान सुरगहि गयो॥
मूल गोसाईं चरित, दोहा १८

जब सेवक टेरेउ गे कहि कै हौं मेंटिहौं कालिह विनय गहि कै ।
घनस्याम रहे प्रासिराम रहै । बलभद्र रहै विस्राम लहै ॥
रचि राम सुचंद्रिका रातिहि में । जुरै केशव जू असि घाटिहि में ॥
सतसग जमी रस रग मची । दोउ प्राकृत दिव्य विभूति षची ॥
मिटि केसव को सकोच गयो । उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥[1]

इससे दो बातें ज्ञात होती हैं । एक तो 'रामचन्द्रिका' की रचना तुलसीदास को प्रसन्न करने के लिए की गई थी और दूसरी 'रामचन्द्रिका' का रचना-काल सवत् १६४२ के लगभग है । किन्तु जब 'रामचन्द्रिका' का साद्त्य लिया जाता है तो ज्ञात होता है कि दोनों बातें ही अशुद्ध हैं । केशवदास 'रामचन्द्रिका' की रचना का कारण निम्नलिखित बतलाते है : -

बालमीकि मुनि स्वप्न में दीन्हो दरशन चारु ।
केशव तिन सों यों कह्यो, क्यों पाऊँ सुख सारु ॥[2]

वाल्मीकि ने केशवदास से कहा :—

नगस्वरूपिणी छद ॥ भलो बुरो न तू गुनै । वृथा कथा कहै सुनै ॥
न रामदेव गाइहै । न देव लोक पाइहै ।

षट् पद ॥ बोलि न बोल्यो बोल दयो फिरि ताहि न दीन्हो ।
मारि न मार्‌यो शत्रु, क्रोध मन वृथा न कीन्हो ॥
जुरि न मुरे सग्राम लोक की लीक न लोपी ।
दान सत्य सन्मान सुयस दिशि विदिशा ओपी ॥
मन लोभ मोह मद काम वश, भयो न केशवदास भणि ।
सोइ परब्रह्म श्री राम हैं, अवतारी अवतार मणि ॥

दोहा ॥ मुनिपति यह उपदेश दै जब ही भयो अदृष्ट ।
केशवदास तहीं कर्‌यो रामचन्द्र जू इष्ट ॥[3]

इसके बाद कवि 'रामचन्द्रिका' लिखने का निश्चय करता है :—

---

१. मूल गोसाईं चरित दोहा ४८ की चौपाइयाँ ।
२. रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ७
३. „ „ पृष्ठ ९

चतुष्पदी छंद ॥ जिनको यश हंसा जगत प्रशंसा मुनिजन मानस रंता ।
लोचन अनुरूपनि, श्याम स्वरूपनि अंजन अंजित संता ॥
काल त्रयदर्शी निर्गुणपर्शी होत विलम्ब न लागै ।
तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागै ॥[1]

इसके अनुसार केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' की रचना वाल्मीकि मुनि के आदेशानुसार की, तुलसीदास के आदेशानुसार नहीं। यदि "कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो" के अनुसार तुलसी ही को वाल्मीकि मानें तब भी वस्तुस्थिति नहीं सुलझती, क्योंकि केशवदास के अनुसार वाल्मीकि ने उन्हें स्वप्न दिया था और वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास ने उनसे मिलना ही कठिनता से स्वीकार किया था ।

वेणीमाधवदास के अनुसार 'रामचन्द्रिका' की रचना तिथि भी अशुद्ध है। 'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ में ग्रन्थ की रचना-तिथि संवत् १६५८ दी गई है :—

सोरह सै अट्ठावन कातिक सुदि बुधवार ।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्ह्यो अवतार ॥[2]

'रामचन्द्रिका' में वर्णित कवि का अभिप्राय ही प्रामाणिक मानना उचित है। अतः केशवदास के सम्बन्ध में वेणीमाधवदास का कथन नितान्त अशुद्ध है।

ओरछा नगर बसाने वाले राजा रुद्रप्रताप सूर्य वंश में हुए। उनके पुत्र मधुकरशाह थे। मधुकरशाह ने ही केशवदास के पिता काशीनाथ का सम्मान किया था। मधुकर शाह के नौ पुत्र हुए जिनमे सब से बड़े रामशाह और सब से छोटे इन्द्रजीत थे। रामशाह ने राज्य-भार इन्द्रजीत पर ही छोड़ दिया था। इन्हीं इन्द्रजीत के समय में केशवदास की मान-मर्यादा बढ़ी। इन्द्रजीत

---

१. रामचन्द्रिका, सटीक, पृष्ठ १०

२. ,, ,, पृष्ठ ७

जब सेवक टेरेउ गे कहि कै हौं भेंटिहौं कालिह विनय गहि कै ।
घनस्याम रहे घासिराम रहे। बलभद्र रहे विस्राम लहे ॥
रचि राम सुचद्रिका रातिहि में। जुरे केशव जू असि घाटिहि में ॥
सतसग जमी रस रग मची। दोउ प्राकृत दिव्य विभूति षची ॥
मिटि केसव को सकोच गयो। उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥[1]

इससे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो 'रामचन्द्रिका' की रचना तुलसीदास को प्रसन्न करने के लिए की गई थी और दूसरी 'रामचन्द्रिका' का रचना-काल सवत् १६४२ के लगभग है। किन्तु जब 'रामचन्द्रिका' का साक्ष्य लिया जाता है तो ज्ञात होता है कि दोनों बातें ही अशुद्ध हैं। केशवदास 'रामचन्द्रिका' की रचना का कारण निम्नलिखित बतलाते हैं : -

बालमीकि मुनि स्वप्न में दीन्हो दरशन चारु।
केशव तिन सों यों कह्यो, क्यों पाऊँ सुख सारु ॥[2]

वाल्मीकि ने केशवदास से कहा :—

नगस्वरूपिणी छद ॥ भलो बुरौ न तू गुनै। वृथा कथा कहै सुनै ॥
न रामदेव गाइहै। न देव लोक पाइहै ।

षट् पद ॥ बोलि न बोल्यो बोल दयो फिरि ताहि न दीन्हो।
मारि न मार्यो शत्रु, क्रोध मन वृथा न कीन्हो ॥
जुरि न मुरे सग्राम लोक की लीक न लोपी।
दान सत्य सन्मान सुयश दिशि विदिशा ओपी ॥
मन लोभ मोह मद काम वश, भयो न केशवदास भणि ।
सोइ परब्रह्म श्री राम हैं, अवतारी अवतार मणि ॥

दोहा ॥ मुनिपति यह उपदेश दै जब ही भयो अदृष्ट ।
केशवदास तहीं कर्यो रामचन्द्र जू इष्ट ॥[3]

इसके बाद कवि 'रामचन्द्रिका' लिखने का निश्चय करता है :—

---

१. मूल गोसाईं चरित दोहा ४८ की चौपाइयाँ।
२. रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ७
३ ,, ,, पृष्ठ ६

चतुष्पदी छंद ॥ जिनको यश हंसा जगत प्रशंसा मुनिजन मानस रंता ।
लोचन अनुरूपनि, श्याम स्वरूपनि अजन अंजित संता ॥
काल त्रयदर्शी निर्गुणपर्शी होत विलम्ब न लागै ।
तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागै ॥[1]

इसके अनुसार केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' की रचना वाल्मीकि मुनि के आदेशानुसार की, तुलसीदास के आदेशानुसार नहीं। यदि "कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो" के अनुसार तुलसी ही को वाल्मीकि मानें तब भी वस्तुस्थिति नहीं सुलझती, क्योंकि केशवदास के अनुसार वाल्मीकि ने उन्हें स्वप्न दिया था और वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास ने उनसे मिलना ही कठिनता से स्वीकार किया था।

वेणीमाधवदास के अनुसार 'रामचन्द्रिका' की रचना तिथि भी अशुद्ध है। 'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ में ग्रन्थ की रचना-तिथि संवत् १६५८ दी गई है :—

सोरह सै अट्ठावन कातिक सुदि बुधवार ।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हो अवतार ॥[2]

'रामचन्द्रिका' में वर्णित कवि का अभिप्राय ही प्रामाणिक मानना उचित है। अतः केशवदास के सम्बन्ध में वेणीमाधवदास का कथन नितान्त अशुद्ध है।

ओरछा नगर बसाने वाले राजा रुद्रप्रताप सूर्य वंश में हुए। उनके पुत्र मधुकरशाह थे। मधुकरशाह ने ही केशवदास के पिता काशीनाथ का सम्मान किया था। मधुकर शाह के नौ पुत्र हुए जिनमें सब से बड़े रामशाह और सब से छोटे इन्द्रजीत थे। रामशाह ने राज्य-भार इन्द्रजीत पर ही छोड़ दिया था। इन्हीं इन्द्रजीत के समय में केशवदास की मान-मर्यादा बढ़ी। इन्द्रजीत

---

१. रामचन्द्रिका, सटीक, पृष्ठ १०
२. ,, ,, पृष्ठ ७

ने केशव को अपना गुरु मान लिया था और उन्हें २१ गाँव उपहार में दिए थे।

> गुरु करि मान्यो इन्द्रजित तन मन कृपा बिचारि ।
> ग्राम दये इकवीस तब, ताके पायँ पखारि ॥[१]

और केशवदास ने इन्द्रजीत की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

> भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुगजुग
> केसोदास जाके राज राज सो करत है ।[२]

केशवदास संस्कृत के आचार्य थे, अतः सस्कृत का ज्ञान इनके कवित्व के लिए बहुत सहायक हुआ । यद्यपि रीतिशास्त्र का प्रारम्भ मुनिलाल के 'राम प्रकाश' और कृपाराम की 'हित तरंगिनी' से हुआ था, पर उसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय केशवदास ही को है ।[३] इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण पूर्ण रीति से किया । काव्य मे रस की अपेक्षा अलंकार को ये अधिक श्रेष्ठ मानते थे । इसीलिए इन्होंने सस्कृत के दडी और रुय्यक आदि का आदर्श ही अपनी रचनाओं में अपनाया ।

केशवदास के सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं —'विज्ञान गीता', 'रतन-बावनी', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित्र', 'रसिक प्रिया', 'कविप्रिया और 'रामचन्द्रिका' ।

लाला भगवानदीन के अनुसार इनकी आठवीं पुस्तक 'नखशिख' है, जो विशेष महत्त्व की नहीं है। इन ग्रन्थों में 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनसे इन्होंने साहित्य

---

१ कविप्रिया, पृष्ठ १० (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सातवीं बार, १९२४)

२. कविप्रिया, पृष्ठ २३

३- श्याम बिहारी मिश्र एम्० ए० (सर्च फ़ार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स फ़ार १९०९-१०-११

का शृंगार किया है। प्रबंधात्मक रचनाओं में 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित' और 'रतनबावनी' मान्य हैं।[1]

केशव कवि के नाम से दो ग्रन्थ और मिलते हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं :—'बालि चरित्र' और 'हनुमान जन्म लीला,' पर दोनों ग्रंथों की रचना इतनी शिथिल और निकृष्ट है कि वे महाकवि केशवदास द्वारा रचित नहीं कहे जा सकते।[2]

'रसिकप्रिया' की रचना संवत् १६४८ और 'कविप्रिया' की रचना सं० १६५८ में हुई। 'रसिक प्रिया' में शृंगार रस का विस्तृत निरूपण है, 'कविप्रिया' में काव्य के सभी अंगों का विधिपूर्वक वर्णन है। इन दोनों में काव्य के विविध अंगों की विस्तारपूर्वक समीक्षा की गई है। इनकी विस्तृत विवेचना रीतिकाल के अन्तर्गत ही होगी, क्योंकि इनका विषय ही रीति-शास्त्र है। 'वीरसिंह-देवचरित्र', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'रतनबावनी' और 'विज्ञान गीता' बहुत साधारण ग्रन्थ हैं। केशवदास की प्रतिभा देखते हुए इन चारों ग्रंथों की रचना साधारण कोटि की है। 'रामचन्द्रिका' राम-काव्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, अतः उस पर यहाँ विस्तारपूर्वक विचार होगा।

'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ में केशवदास ने वाल्मीकि के स्वप्न-दर्शन का संकेत किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने केवल 'वाल्मीकि रामायण' का आधार ही लिया होगा। पर 'रामचन्द्रिका' देखने से ज्ञात होता है कि केशवदास 'वाल्मीकि रामायण' के पथ पर ही नहीं चले, वे 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' से भी बहुत प्रभावित हुए। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि रामायण' की वे अवहेलना नहीं कर सके। लवकुश-प्रसंग उन्होंने 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर ही लिखा।

---

१. वही, १६०६-७-८

२. वही १६०६.१०-११

पैतीसमें प्रकास में अश्वमेध किय राम ।
सोहन लव शत्रुघ्न को ह्वै हैं सगर धाम ॥[१]

इसी प्रकार परशुराम-आगमन उन्होंने राम के विवाह के बाद मार्ग ही में वर्णन किया है।

विश्वामित्र बिदा भये, जनक फिरे पहुँचाय ।
मिले मागली फौज को, परशुराम अकुलाय ॥[२]

रचना तिथि—अन्तर्साक्ष्य से ही ज्ञात होता है कि 'रामचन्द्रिका' की रचना कार्तिक शुक्ल संवत् १६५८ में हुई थी।

विस्तार—'रामचन्द्रिका' में ३६ प्रकाश हैं। प्रत्येक प्रसंग में कथा-भाग का नाम देकर उसका वर्णन किया गया है।

छंद—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। एक गुरु (ऽ) के श्री छंद से लेकर केशवदास ने अनेक वर्णो और मात्राओं के छदों का प्रयोग किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि केशवदास छंदों के निरूपण के लिए ही 'रामचन्द्रिका' लिख रहे हैं। छदों का परिवर्तन भी बहुत शीघ्र किया गया है। कथा का तारतम्य छद-परिवर्तन से वहुत कुछ भग हो गया है।

वर्ण्य विषय—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में राम की समस्त कथा 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर कही है, यद्यपि अनेक स्थलों पर अन्य सस्कृत ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। इन ग्रन्थों में 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' मुख्य हैं। यह प्रभाव प्रकरी या पताका रूप ही में अधिक हुआ

---

१. रामचन्द्रिका, सटीक पृष्ठ १३३

२. ,, ,, ६५

है, सामान्य रूप से कथा का विकास 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर ही है। कथा का विभाजन कांडों में न होकर प्रकाशों में है, पर कथा का विस्तार अनियमित है। उसमें प्रवन्धात्मकता नहीं है। प्रारम्भ में न तो रामावतार के कारण ही दिए गए हैं और न राम के जन्म का ही विशेष विवरण है। राजा दशरथ का परिचय देकर और रामादि चारों भाइयों के नाम गिना कर विश्वामित्र के आने का वर्णन कर दिया गया है। ताड़का और सुबाहु-वध आदि का वर्णन संकेत रूप में ही है। हाँ, जनकपुर मे धनुष-यज्ञ का वर्णन सांगोपांग है। केशव का सम्बन्ध राज-दरबार से होने के कारण, यह वर्णन स्वाभाविक और विस्तृत है। ऋतुवर्णन और नखशिख आदि ग्रन्थ मे विस्तारपूर्वक दिए गए हैं, क्योंकि ये काव्य-शास्त्र से संबन्ध रखते हैं और केशवदास काव्य-शास्त्र के आचार्य हैं। शेष वर्णन कथा-भाग में आवश्यक होते हुए भी प्राय. छोड़ दिए गए हैं, जिससे पात्रों की चरित्र-रेखा स्पष्ट नहीं हो पाई। 'रामचन्द्रिका' मे न तो कोई दार्शनिक और धार्मिक आदर्श है और न लोक शिक्षा का कोई रूप ही, जैसा 'मानस' मे है। इसी कारण 'रामचन्द्रिका' 'मानस' की भाँति लोकप्रिय नहीं हो सकी। मनोवैज्ञानिक चित्रण भी उतने विदग्धतापूर्ण नहीं जितने 'मानस' मे। 'मानस' मे कैकेयी के हृदय का स्पष्ट निरूपण है, उस चरित्र में दैवी भाव रहते हुए भी एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक सत्य है, पर 'रामचन्द्रिका' मे यह प्रकरण पूर्ण उपेक्षा से देखा गया है। समस्त प्रसंग कितने क्षुद्र रूप में लिखा गया है :—

दिन एक कहो शुभ शोभ रयो। हम चाहत रामहिं राज दयो।
यह बात भरत्थ कि मात सुनी। पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥

तेहि मंदिर में नृप सो विनयो। वरु देहु हतो हमको जो दयो।
नृप बात कही हँसि हेरि हियो। वर मागि सुलोचनि मैं जो दियो॥
॥कैकयी॥ नृपता सुविशेषि भरत्थ लहैं।
बरषैं बन चौदह राम रहैं॥
यह बात लगी उर वज्र तूल।
हिय फाट्यो ज्यों जीरण दुकूल॥
उठि चले विपिन कहँ सुनत राम।
तजि तात मात तिय बन्धु धाम॥

'मानस' में यह प्रकरण बहुत विस्तारपूर्वक और मनोवैज्ञानिक ढग से वर्णित है। यहाँ सात पंक्तियों में समस्त प्रकरण कह दिया गया है। कैकेयी का चरित्र कितना ओछा है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे कैकेयी यह अवसर ही खोज रही थी। कैकेयी का चरित्र यहाँ मर्यादाहीन है।

केशव ने सवाद अवश्य बहुत लम्बे लिखे हैं, क्योंकि वे स्वय सवाद का मर्म जानते थे। 'रामचन्द्रिका' में निम्नलिखित सवाद बहुत बड़े हैं:—

१ सुमति-विमति सवाद (पृष्ठ २९-३२)
२ रावण-वाणासुर सवाद (पृष्ठ ३३-३८)
३ राम-परशुराम संवाद (पृष्ठ ६९-७८)
४ रावण-अगद संवाद (पृष्ठ १६५-१७५)
५ लवकुश भरतादि संवाद (पृष्ठ ३४४-३४७)

कथा की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' में प्रसगों का नियमित विस्तार नहीं है। जहाँ अलकार-कौशल का अवसर अथवा वाग्विलास का प्रसग मिला है वहाँ तो केशवदास ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और जहाँ कथा की घटनाओं की विचित्रता है वहाँ कवि मौन हो गया है। अत. 'रामचन्द्रिका' की कथावस्तु में काव्य-चातुर्य स्थान-स्थान पर देखने को तो अवश्य मिलता है, पर चरित्र चित्रण या कथा की प्रवन्धात्मकता के दर्शन नहीं होते। भक्ति की जैसी

भावना 'मानस' में स्थान-स्थान पर मिलती है, वैसी रामचन्द्रिका' के किसी भी स्थल पर नहीं है। फलतः 'रामचन्द्रिका' से न तो कोई दार्शनिक सिद्धान्त निकलता है और न कोई धार्मिक ही।

आचार्यत्व—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अपने पूर्ण आचार्यत्व का प्रदर्शन किया है। इसके पीछे उन्होंने भक्ति, दर्शन आदि के आदर्शों की उपेक्षा तक कर दी है। उन्होंने केवल छद निरूपण के लिए ही पद-पद पर छंद बदले हैं जिससे कथा के प्रवाह में व्याघात हो गया है। इसी प्रकार अलंकार-निरूपण के सामने उन्होंने भावों की अवहेलना तक कर दी है।

कुंतल ललित नील भृकुटी धनुष नैन,
कुमुद कटाक्ष बाण सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अगदादि भूषणन,
मध्यदेश केशरी सुगज गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लक्ष लक्ष ऋक्ष बल,
ऋक्षराज मुखी मुख केशोदास गाई है।
रामचन्द्र जू की चमू राजश्री विभीषण की,
रावण की मीचु दर कूच चली आई है॥[1]

यहाँ श्री रामचन्द्र की सेना का ओजपूर्ण वर्णन नहीं है, वरन् केशवदास के पाण्डित्य का निदर्शन है। कवि ने प्रत्येक शब्द में तीन-तीन अर्थों की सृष्टि की है, जिससे वे सेना, राज्यश्री और मृत्यु तीनों पर घटित होते हैं। केशवदास ने सेना के बन्दरों के नाम में श्लेष रक्खा है। कुंतल, ललित, नील, भृकुटी, धनुष, नैन, कुमुद कटाक्ष, बाण, सबल, सुग्रीव, तार, अंगद, मध्यदेश, केशरी, सुगज, विग्रह, अनुकूल, ऋक्षराज, इन १६ नामों में श्लेष के द्वारा तीन अर्थ केशवदास ने निकाले। यहाँ केशवदास का पाण्डित्य भले ही हो, पर उनके वर्ण्य-विषय का कोई सौन्दर्य नहीं।

---

१. रामचन्द्रिका, सटीक, पृष्ठ १६२

इसी प्रकार वर्षा वर्णन में केशवदास ने कालिका और वर्षा दोनों का एक साथ वर्णन किया है :—

भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूषण जराय ज्योति तड़ित रलाई है।
दूरि करी मुख सुख सुखमा शशी की नैन,
अमल कमल दल दलित निकाई है॥
केशवदास प्रबल करेणुका गमन हर,
मुकुत सुहसक शबद सुखदाई है।
अम्बर बलित मति मोहे नीलकंठ जू की,
कालिका की बरषा हरषि हिय आई है॥[1]

यहाँ केशवदास के पाण्डित्य मे वर्षा का उद्दीपन विभाव बिल्कुल छिप गया है।

कुछ स्थल तो वास्तव में उत्कृष्ट हैं, जहाँ केशवदास ने अलंकार द्वारा भाव-व्यंजना और चित्र की स्पष्टता प्रदर्शित की है। उस स्थल पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि अलंकारों का पूर्ण शासक है और वह आवश्यकतानुसार चाहे जिस भाव का स्पष्टीकरण चाहे जिस अलंकार से कर सकता है। बादलों के समूह और उनके गर्जन का चित्रण कितना स्पष्ट है :—

घनघोर घने दशहू दिशि छाये। मघवा जनु सूरन पै चढि आये॥
अपराध बिना छिति के तन ताये। तिन पीड़त पीड़ित ह्वै उठि धाये।[2]

शब्दालंकार के द्वारा केशव ने परशुराम की कठोरता कितनी स्पष्ट की है :—

अब कठोर दशकंठ के, काटहुँ कंठ कुठार॥[3]

---

१ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १२७
२ „ „ १२६
३. „ „ ६५

श्रीसीता की दशा कितनी स्पष्ट और करुणाव्यंजक है :—

> धरे एक वेनीं मिली मैल सारी।
> मृणाली मनो पंक सो काढ़ि डारी॥

मृणाली पंक के संसर्ग से जैसी मैली है, वैसी ही उखड़ जाने से कान्तिहीन हो रही है। वह क्षण क्षण सूखती जा रही है। "मृणाली मनो पंक सों काढ़ि डारी" में श्रीसीता का जितना सुन्दर बाह्य चित्र है उतना ही सुन्दर आन्तरिक चित्र भी है।

अपनी अलंकार-प्रियता से केशव ने रस के उद्रेक में बाधा पहुँचाई है। जहाँ शृंगार रस है, वहाँ का स्थायी भाव विरोधी संचारी भावों के द्वारा नष्ट हो जाता है और पूर्ण रस की सृष्टि नहीं हो पाती। समस्त वर्णन किसी रस विशेष में न होकर भिन्न-भिन्न भावों में ही विशृंखल रीति से उपस्थित किया जाता है। उदाहरणार्थ जनकपुर प्रवेश करने पर लक्ष्मण ने अनुराग युक्त सूर्य का वर्णन किया है जिसमें शृंगार रस का उद्दीपन हो सकता था, पर केशवदास ने उसमें अपनी उत्प्रेक्षा लाने के लिए अनेक भावों का मिश्रण कर दिया :—

> अरुण गात अति प्रात, पद्मिनी प्राणनाथ भय।
> मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
> परिपूरण सिन्दूरपूर कैधौं मंगल घट।
> किधौं इन्द्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूख पट॥
> कै शोणित कलित कपाल यह, किल कपालिका काल को
> यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को॥[1]

यहाँ सभी शृंगारपूर्ण भावनाओं के बीच में 'शोणित कलित कपाल' की वीभत्स भावना अलंकार-प्रियता के कारण अनावश्यक रूप से रख दी गई है।

---

[1] रामचन्द्रिका, सटीक, पृष्ठ ४०

केशवदास की भाषा बुंदेलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा है। इ
ब्रजभाषा में उच्चकोटि का स्वाभाविक माधुर्य नहीं आ पाया, क्योंकि
केशवदास ने अपने पाण्डित्य दिखलाने की चेष्टा में भाषा का प्रभा
बहुत कुछ खो दिया है। उनका निवास-स्थान बुंदेलखंड के अंतर्ग
ओरछा होने के कारण, कविता में बहुत से प्रचलित बुंदेलखंडी शब्
आ गए हैं। उदाहरणार्थ 'सर्वभूषण-वर्णन' में बुंदेलखंडी शब्दों व
पंक्ति देखिए :—

> बिछिया अनौट बाके घु घरू जराय जरी,
> जेहरि छबीली क्षुद्र घंटिका की जालिका।
> मुदरी उदार पौंची ककन वलय चुरी,
> कठ कठमाल हार पहिरे गुपालिका॥
> वेणी फूल शीश फूल कर्ण फूल मांग फूल,
> खुटिला तिलक नकमोती सोहै बालिका।
> केशोदास नील बास ज्योति जगमगि रही।
> देह धरे श्याम सग मानो दीप मालिका॥[1]

केशव का प्रकृति-चित्रण बहुत व्यापक है। उन्होंने अप
सूक्ष्म निरीक्षण और अलकार के प्रयोग से प्रकृति के दृश्य बहु
सुन्दर रीति से प्रस्तुत किए हैं। ये वर्णन अधिकतर बालकांड में हैं
जहाँ :—

> कछु राजत सूरज अरुण खरे। जनु लक्ष्मण के अनुराग भरे॥[2]

में मानसिक चित्र हैं, वहाँ

> चढ़्यो गगन तरु धाय, दिनकर वानर अरुण मुख।
> कीन्हें भुकि भहराय, सकल तारका कुसुम बिन॥[3]

में कल्पनात्मक सौन्दर्य है। कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण में इन्होंने श्लेष

---

१ कविप्रिया, अथ नखशिख वर्णन, पृष्ठ १४८

२ रामचंद्रिका सटीक, पृष्ठ ४०

से बड़ी अस्वाभाविक और अशुद्ध कल्पना भी कर ली है, जैसे दंडकवन के वर्णन में वे लिखते हैं :—

वेर भयानक सी अति लगैं। अर्क समूह तहाँ जगमगैं॥

... ...

पांडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो॥[1]

इसमें वेर, अर्क, अर्जुन और भीम शब्दों के श्लेष से प्रकृति का चित्र खींचा गया है जो अनुपयुक्त है।

[वेर=(१) वेरफल (२) काल

अर्क=(१) धतूरा (२) सूर्य

अर्जुन=(१) ककुभ वृक्ष (२) पांडु पुत्र

भीम (१) अम्ल वेतस वृक्ष (२) "

शब्दों की बाजीगरी में यहाँ प्रकृति का चित्र नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

विशेष—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' लिखकर भी अपने सामने भक्ति का आदर्श नहीं रक्खा। वे कवि और आचार्य के सम्बद्ध व्यक्तित्व से युक्त थे। 'रामचन्द्रिका' के छब्बीसवें प्रकाश में उन्होंने वशिष्ठ के मुख से रामनाम का तत्व और धर्मोपदेश अवश्य कराया है, पर उनमें कवि का कोई सिद्धान्त नहीं है। केशव की अन्य रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे शृंगार रस के उत्कृष्ट कवि थे।

केशवदास के परिचितों में बीरबल और प्रवीनराय पातुर का नाम लिया जाता है। बीरबल ने तो केशव को एक ही कवित्त पर छः लाख रुपया दिया था।[2]

---

१. रामचंद्रिका पृष्ठ, १०५-१०६

२. वह कवित्त निम्नलिखित कहा जाता है :—

पावक पंछि पशु नग नाग,

नदी नद लोक रच्यो दस चारी।

केशवदास की रचना अलंकार और काव्य के अन्य गुणों से युक्त रहने के कारण बहुत कठिन होती है जिसका अर्थ बड़े से बड़ा पंडित आसानी से नहीं लगा सकता। इसी के फलस्वरूप यह बात प्रसिद्ध है :—

कवि कहँ दीन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई ॥[1]

केशवदास के बाद राम-काव्य के अन्य कवियों पर विचार करना आवश्यक है।

स्वामी अग्रदास—ये गलता (जयपुर) निवासी प्रसिद्ध 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास के गुरु थे। इनका आविर्भाव संवत् १६३२ में हुआ था। ये प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने पाँच पुस्तकें लिखी थीं। एक नवीन पुस्तक जो प्रकाश में लाई गई है वह 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' है। यह कुंडलिया छंद में लिखी गई है। इस ग्रंथ का कुंडलिया छंद इतना सफल हुआ है कि पुस्तक का वास्तविक नाम 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' प्रसिद्ध न होकर 'कुंडलिया' या 'कुंडलिया रामायण' ही प्रसिद्ध हुआ, यद्यपि इस ग्रंथ में रामचरित की चर्चा नहीं है। 'बावनी' नाम से कुंडलियों की संख्या ५२ होना चाहिए पर यह संख्या ६८ हो गई है। सम्भव है, किसी कवि ने १६ छंद बाद में जोड़ दिए हों। कुंडलियों के अन्त में लोकोक्तियाँ हैं जिनसे रचना और भी सरस हो गई है।

'ध्यान मञ्जरी' में ६६ पद हैं, जिनमें राम और अन्य भाइयों के सौन्दर्य-वर्णन के साथ सरयू और अयोध्या का भी ध्यान है।

केशव देव अदेव रच्यो नर—
देव रच्यो रचना न निवारी ॥
रचि कै नर नाह बली बलवीर,
भयो कृतकृत्य महामत धारी।
दै करतानन आपन ताहि,
दियो करतार दुहूँ करतारी ॥

ये तुलसी के समकालीन थे। यद्यपि ये अष्टछाप के श्रीकृष्णदास जी पयहारी के शिष्य थे, तथापि इनकी प्रवृत्ति रामोपासना की ओर अधिक थी।

नाभादास—इनका वास्तविक नाम नारायणदास था। ये जाति के डोम थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १६५७ माना जाता है। ये स्वामी अग्रदास के शिष्य थे। ये भी रामोपासक थे और रामभक्ति के संबन्ध में इन्होंने बहुत सुन्दर पद लिखे हैं। किन्तु उन पदों की अपेक्षा इनका 'भक्तमाल' अधिक प्रसिद्ध है जिसमें २०० भक्तों का परिचय ३१६ छप्पयों में दिया गया है। इन छप्पयों में कोई तिथि आदि का निर्देश नहीं है। भक्तों की कुछ प्रधान और प्रसिद्ध वार्तों का ही वर्णन किया गया है। यह ज्ञात होता है कि इस पुस्तक द्वारा नाभादास जी कवियों और भक्तों के यश का प्रचार करना चाहते थे। इसी 'भक्तमाल' की टीका प्रियादास ने सम्वत् १७६६ में की। 'भक्तमाल' की टीका का संवत् प्रियादास इस प्रकार देते हैं :—

संवत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर,
फागुन मास वदि सप्तमी बताय कै।

सेनापति—सेनापति का वास्तविक नाम ज्ञात नहीं। ये इतने कोमल और सरस कवि हैं कि इनसे किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ सकता है। इन्हें भाषा पर उतना ही अधिकार था जितना एक सेनापति को अपनी सेना पर। ये अनूप शहर के निवासी थे और इनका जन्म संवत् १६४६ में हुआ था। इनके पितामह का नाम परशुराम और पिता का नाम गंगाधर था। इनके गुरु का नाम हीरामणि था जैसा कि इनके एक कवित्त से ज्ञात होता है।[1] इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' है जिसकी रचना सं०

---

१ दीक्षित परसराम, दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ, ताकी जग में बड़ाई है।

१७०६ में हुई। इसमें इन्होंने अपना सारा काव्य-कौशल प्रदर्शित कर दिया है।

'कवित्त रत्नाकर' में पाँच तरङ्गे हैं। उन तरंगों का वर्णन निम्न-लिखित है :—

पहली तरङ्ग	श्लेष वर्णन
दूसरी तरङ्ग	शृङ्गार वर्णन
तीसरी तरङ्ग	ऋतु वर्णन
चौथी तरङ्ग	रामायण वर्णन
पाँचवीं तरङ्ग	राम रसायन वर्णन

श्लेष वर्णन में इनका भाषाधिकार स्पष्ट ज्ञात होता है। शृङ्गार वर्णन में इनकी सौन्दर्योपासक दृष्टि एवं संयोग वियोग के चित्र बड़ी कुशलता के साथ खींचे गए हैं। ऋतु-वर्णन तो इनकी अपनी विशेषता है। प्रकृति के सरस वर्णन में इनकी कविता का चरमोत्कर्ष है। शरद वर्णन का एक चित्र इस प्रकार है :—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फैलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चंद चांदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।

गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाकौं,
गंगातीर बसत अनूप जिन पाई है॥
महा जान मनि विद्यादान हू को चिन्तामनि,
हीरामनि दीछित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

कवित्त रत्नाकर पहली तरंग छंद ॥

तिमि हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है ।[1]

चौथी तरङ्ग में राम की कथा का वर्णन इन्होंने भक्ति और पाण्डित्य दोनों को मिला कर किया है। भाषा पाण्डित्य पूर्ण होते हुए भी कृत्रिम नहीं है । इसमे अनुप्रास और यमक का प्रयोग सरसता और प्रौढ़ता के साथ है। इनकी भक्ति भी उत्कृष्ट प्रकार की है जिस प्रकार रचना अत्यन्त सरस है । 'कवित्तरत्नाकर' का एक प्रामाणिक संस्करण प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से प्रकाशित हुआ है । इसके सम्पादक श्री उमाशंकर शुक्ल एम० ए० हैं। 'कवित्तरत्नाकर' के अतिरिक्त 'काव्य- कल्पद्रुम' नामक एक ग्रंथ और भी सेनापति का कहा जाता है।

हृदय राम—इन्होंने संवत् १६२३ मे 'हनुमन्नाटक' नामक एक नाटक की रचना की। यह नाटक संस्कृत के इसी नाम के नाटक के आधार पर लिखा गया है । इसमें राम-भक्ति बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है। तुलसीदास क प्रभाव से राम-भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में 'हनुमन्नाटक' की रचना महत्त्वपूर्ण है । यह रचना कवित्त और सवैयों में है।

प्राणचन्द चौहान—इनका समय संवत् १६६७ माना गया है। इन्होंने 'रामायण महानाटक' नाम की एक रचना की, जिसमें राम की कथा सम्वाद-रूप मे कही गई है। रचना मे वर्णनात्मकता अधिक और काव्य-सौन्दर्य कम है। इनकी अन्य कोई रचना ज्ञात नहीं। ये जहाँगीर के समकालीन थे।

बलदास—इन्होंने ब्रह्म-सृष्टि ज्ञान तथा योगसाधन वर्णन पर 'चित्रावोधन' नामक ग्रन्थ तुलसीदास की शैली पर लिखा है। इनका संवत् १६८७ माना गया है।

लालदास—ये बरेली निवासी थे । इन्होंने 'अवध विलास'

---

१. कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, छंद ४०

१७०६ में हुई। इसमें इन्होंने अपना सारा काव्य-कौशल प्रदर्शित कर दिया है।

'कवित्त रत्नाकर' में पाँच तरङ्ग हैं। उन तरगों का वर्णन निम्न-लिखित है :—

पहली तरङ्ग	श्लेष वर्णन
दूसरी तरङ्ग	शृङ्गार वर्णन
तीसरी तरङ्ग	ऋतु वर्णन
चौथी तरङ्ग	रामायण वर्णन
पाँचवीं तरङ्ग	राम रसायन वर्णन

श्लेष वर्णन में इनका भाषाधिकार स्पष्ट ज्ञात होता है। शृङ्गार वर्णन में इनकी सौन्दर्योपासक दृष्टि एवं संयोग वियोग के चित्र बड़ी कुशलता के साथ खींचे गए हैं। ऋतु-वर्णन तो इनकी अपनी विशेषता है। प्रकृति के सरस वर्णन में इनकी कविता का चरमोत्कर्ष है। शरद वर्णन का एक चित्र इस प्रकार है :—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फैलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चद चादनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।

गगाधर पिता गगाधर के समान जाकौं,
गगातीर बसत अनूप जिन पाई है॥
महा जान मनि विद्यादान हू कौ चिन्तामनि,
हीरामनि दीछित तैं पाई पडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दे सुनत कविताई है।
—कवित्त रत्नाकर पहली तरंग छन्द ४

तिमि हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है।[1]

चौथी तरङ्ग में राम की कथा का वर्णन इन्होंने भक्ति और पाण्डित्य दोनों को मिला कर किया है। भाषा पाण्डित्य पूर्ण होते हुए भी कृत्रिम नहीं है। उसमें अनुप्रास और यमक का प्रयोग सरसता और प्रौढ़ता के साथ है। इनकी भक्ति भी उत्कृष्ट प्रकार की है जिस प्रकार रचना अत्यन्त सरस है। 'कवित्तरत्नाकर' का एक प्रामाणिक संस्करण प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक श्री उमाशंकर शुक्ल एम० ए० हैं। 'कवित्तरत्नाकर' के अतिरिक्त 'काव्य- कल्पद्रुम' नामक एक ग्रंथ और भी सेनापति का कहा जाता है।

हृदय राम—इन्होंने संवत् १६२३ मे 'हनुमन्नाटक' नामक एक नाटक की रचना की। यह नाटक सस्कृत के इसी नाम के नाटक के आधार पर लिखा गया है। इसमें राम-भक्ति वड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है। तुलसीदास क प्रभाव से राम-भक्ति सम्बन्धी रचनाओं में 'हनुमन्नाटक' की रचना महत्त्वपूर्ण है। यह रचना कवित्त और सवैयों में है।

प्राणचन्द चौहान—इनका समय संवत् १६६७ माना गया है। इन्होंने 'रामायण महानाटक' नाम की एक रचना की, जिसमें राम की कथा सम्वाद-रूप में कही गई है। रचना में वर्णनात्मकता अधिक और काव्य-सौन्दर्य कम है। इनकी अन्य कोई रचना ज्ञात नहीं। ये जहांगीर के समकालीन थे।

बऊदास—इन्होंने ब्रह्म-सृष्टि ज्ञान तथा योगसाधन वर्णन पर 'चित्रावोधन' नामक ग्रन्थ तुलसीदास की शैली पर लिखा है। इनका संवत् १६८७ माना गया है।

लालदास—ये बरेली निवासी थे। इन्होंने 'अवध विलास'

---

१. कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, छंद ४०

नामक ग्रंथ अयोध्या में लिखा, जिसमें श्री सीताराम की विविध लीलाओं का वर्णन तथा ज्ञानोपदेश है। इनका आविर्भाव-काल संवत् १७०० है। रचना साधारण है।

बाल-भक्ति—ये राम-साहित्य के कवि थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका काल संवत् '७५० है। राम और सीता का पारस्परिक प्रेम ही इनके ग्रन्थ 'नेहप्रकाश' का विषय है। इनका लिखा हुआ एक ग्रन्थ और कहा जाता है, उसका नाम है 'दयाल मंजरी'। ये नव-परिचित कवि हैं।

रामप्रिया शरण—इनका आविर्भाव काल सवत् १७६० है। ये जनकपुर के महन्त थे। इन्होंने 'सीतायण' नामक पुस्तक की रचना की, जिसमे श्री जानकीजी तथा उनकी सखियों का चरित्र वर्णन है। साथ ही राम का चरित्र भी सच्चेपतया वर्णित है। 'सीतायण' का नाम इन्होंने 'सीताराम प्रिया' भी रक्खा है।

जानकी रसिक शरण—इनका आविर्भाव काल भी सवत् १७६० माना गया है। ये प्रमोदबन अयोध्या के निवासी थे। इन्होने 'अवधी सागर' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ पर कृष्ण काव्य का यथेष्ट प्रभाव है। श्रीरामचन्द्र और सीता का अष्टयाम वर्णन कर उनका रास, नृत्य, विहार आदि भी वर्णित है। रचना सरस और मनोहर है।

प्रियादास—इनका आविर्भाव-काल सवत् १७६९ है। ये बड़े प्रसिद्ध कवि और टीकाकार थे। इन्होंने नाभादास के प्रसिद्ध 'भक्तमाल' की टीका लिखी है।

कलानिधि—इनका वास्तविक नाम श्रीकृष्ण था। इनका आविर्भाव काल भी सवत् १७६९ है। ये उत्कृष्ट कोटि के कवि थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। बूँदी के राव बुद्धिसिंह के आश्रित रहकर इन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

१ 'शृंगार रस माधुरी'—इसमें इन्होंने शृंगार रस का व्यापक वर्णन किया है।

२. 'वाल्मीकि रामायण'—बालकांड, युद्धकांड, उत्तरकांड, 'वाल्मीकि रामायण' के इन तीन कांडों का पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद।

३. 'रामायण सूचनिका'—इसमे रामायण की प्रधान-प्रधान घटनाओं की पद्यात्मक सूची है।

४. 'वृत्त चंद्रिका'—इसमें छन्द-शास्त्र का वर्णन है। मेरु, मर्कटी आदि के वर्णन चित्र, रूप में लिखे गए हैं।

५. 'नवशई'—इसमें शृंगार वर्णन है।

६- 'समस्यापूर्ति'—इसमे अनेक समस्यापूर्तियाँ हैं। कहीं-कहीं इसी नाम के अन्य कवियों की भी समस्या-पूर्तियाँ सम्मिलित हो गई हैं।

रचनाएँ सरस और सुन्दर हैं।

महाराज विश्वनाथसिंह

ये रीवाँ-नरेश राम के प्रसिद्ध भक्त थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १७६० है। ये कवियों के आश्रयदाता थे और स्वयं कवि थे। प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह इन्हीं के पुत्र थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनकी रचनाएँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम भाग मे वे रचनाएँ हैं जो सन्त साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं और दूसरे भाग मे वे हैं जो राम-साहित्य पर लिखी गई हैं। रीवाँ मे कबीरपंथ की एक गद्दी है और कबीर के शिष्य धरमदास ने स्वयं रीवाँ मे आकर अपने मत का प्रचार किया था। अतः रीवाँ-नरेश परम्परा से कबीर का महत्त्व मानते हैं। महाराज विश्वनाथसिंह रामोपासक भी थे। यहाँ तक कि 'कबीरबीजक' की टीका उन्होंने साकार राम के अर्थ में लिखी है। इनकी ३२ रचनाएँ कही जाती हैं। प्रधान ग्रंथों की सूची इस प्रकार है:—

(अ) संत-काव्य संबंधी

(१) 'शब्द'
(२) 'ककहरा'
(३) 'चौरासी रमैनी'
(४) 'बसत चौंतीसी'
(५) 'आदि मंगल'

(आ) राम-काव्य संबंधी

(१) 'आनन्द रघुनन्दन नाटक'
(२) 'सगीत रघुनन्दन'
(३) 'आनन्द रामायण'
(४) 'रामचन्द्र की सवारी'
(५) 'गीता रघुनन्दन'
(६) 'रामायण'

ये उद्भट लेखक और विद्याप्रेमी थे। भारतेन्दु जी के अनुसार 'आनन्द रघुनन्दन' हिन्दी का छंद-प्रधान नाटक है।[1] इस दृष्टि से विश्वनाथसिंह हिन्दी के कवि-नाटककार हैं। इनकी कविता सरल और उपदेशपूर्ण है।

राजा शिवप्रसाद 'सितार ए-हिन्द' ने 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक के विषय मे लिखा है :—

रीवाॅ के स्वर्गवासी महाराज विश्वनाथसिंह जू देव का बनाया यह नमूना है बुदेलखड के महाराजाओं की हिन्दी का। इस नाटक में सात अकों में राम जन्मोत्सव से लेकर राम-राज्य तक की कथा है। परन्तु इसमें असली नाम के ठिकाने दूसरे नाम लिखे हैं। जैसे श्रीरामचन्द्र की जगह हितकारी, लक्ष्मण की जगह डील धराधर, रावण की जगह दिकशिरा इत्यादि।[2]

---

१ भारतेंदु नाटकावली, पृष्ठ ८३७ (इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग १९२७)
२ नया गुटका हिस्सा २. (राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द) पृष्ठ १५६ [ई० जे० लेज़ारस एड को०, बनारस १९००]

सितार-ए-हिन्द के कथन की स्पष्टता के लिए 'आनन्द रघुनन्दन' का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है :—

राक्षस आकर। दिगशिर की आज्ञा है तुम अकेले हितकारिही सों जुद्ध करि कै मारि आवौ जो हितकारी साँचे होइं तौ अकेलहीं कढ़ि हमसों जुद्ध करैं॥

हितकारी। धनुष चढ़ाकर दौडता है।

त्रेतामल्ल। भुजभूषण देखो तो हितकारी के मण्डलाकार चांप ते चारों ओर कैसे सर कढ़ैं हैं जैसे चरखी तें अनल के फुहारे सनमुख धाइ धाइ सेना कैसी नास होत जाइ है जैसे बाड़व बन्हि में वारिधि वारि।

भुजभूषण। त्रेतामल्ल देखो देखो अस्त्र छोड़ि स्वामी बड़ो कौतुक कियो ये निश्चर परस्पर पेखि आपुसि ही में लरि मरि गये।

(जय जय करके सब हितकारी की पूजा करते हैं)

सुगल। महाराज अपूर्व यह अस्त्र कौन है।

हितकारी। यह गंधर्वास्त्र मोकों ही चलावे को आवै है।

(दिक्शिरा सेना समेत आता है)

रोला छंद

महा मोद की उमँग अंग मारिहुँ समाति नहि।
उछलि-उछलि अक्कास मिले पादप पहार गहि॥
जनु तकि प्रभु मुख चन्द वीर रस वारिधि भाये।
सहित सैन दिगसीस बेल थल बोरन धाये॥

नराच छंद

लियो सो बान बिन्नु चाप धाप देव बर्ज्ज सो।
लसे सुभट्ट तज्जि तज्जि गज्जि गज्जि गज्ज सो॥
मिले संग्राम के उछाह पौन सो उमंडि कै।
अनन्द के अनन्त नेह ज्यों चलैं घुमंडि कै॥

दिक्शिरा सूत से। कढ़ मेरो रथ आनो।

सुगल। भुजभूषण देखो तो यह दिगशिर हमारी सैना में कैसे परो जैसे सूखे बन आगि।[1]

'आनन्द रघुनन्दन' में पद्य के साथ ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग है। इसी कारण प्राचीन हिन्दी नाटकों में 'आनन्द रघुनन्दन' का स्थान महत्त्व-पूर्ण है।

प्रेमसखी—इनका आविर्भाव-काल संवत् १७६१ है। ये सखी संप्रदाय के वैष्णव थे। इनकी भक्ति-भावना बड़ी उत्कृष्ट है। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, 'जानकी राम को नखशिख', 'होरी छन्दादि प्रबन्ध' और 'कवित्तादि प्रबन्ध।' प्रथम ग्रंथ में श्री सीताराम के नखशिख की शोभा है और दूसरे तथा तीसरे ग्रंथों में श्री राम और सीता की शोभा, क्रीड़ा, फाग, प्रेम आदि पर बरवै और कवित्तादि हैं। रचना सरस है।

कुशल मिश्र—ये सारस्वत वैष्णव थे और ज्योधरी (आगरा) में रहते थे। इन्होंने 'गंगा नाटक' नाम के ग्रन्थ की रचना की। नाटक का नाम अनुपयुक्त है, क्योंकि ग्रंथ में केवल गंगा की पद्य कहानी है। ग्रंथ में गंगा जी का जन्म माहात्म्य, बलिचरित्र तथा रामचरित वर्णित है। इनका आविर्भाव काल संवत् १८२६ है।

रामचरणदास—ये अयोध्या के वैष्णव महन्त थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८३६ है। ये अच्छे कवि थे। इनके पाँच ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'दृष्टान्त बोधिका', 'कवितावली रामायण', 'पदावली' 'रामचरित्र' तथा 'रस मालिका'। अपने ग्रंथों में इन्होंने रामनाम महिमा, श्रीराम सीता का गूढ़ रहस्य और माहात्म्य वर्णन किया है। 'पदावली' में इन्होंने विशेष रूप से नायक-नायिका-भेद लिखा है। 'कवितावली

---

१ नया गुटका, हिस्सा २ पृष्ठ १५७

रामायण' में इन्होंने कवित्तों और अन्य छंदों में रामचरित्र का वर्णन किया है। नीति, उपासक भाव और वैराग्य भी यत्र तत्र पाया जाता है। इनकी रचना सरस और मनोहर है।

मधुसूदनदास—इनका आविर्भाव संवत् १८३९ माना जाता है। इनका जीवन-वृत्त कुछ विशेष ज्ञात नहीं।

इनकी 'रामाश्वमेध' रचना बहुत प्रसिद्ध है। तुलसीदास की रचना से इसका बहुत साम्य है। रचना भी दोहा चौपाई में की गई है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कवि ने 'रामचरितमानस' का आदर्श अपने सामने रक्खा है। रचना मनोहारिणी है। भाषा भी मँजी हुई और सरल है।

कृपानिवास—इनका आविर्भाव-काल संवत् १८४३ माना जाता है। ये रामोपासक थे और उनके सभी ग्रंथ धार्मिक सिद्धांतों से संबध रखते हैं। ये अयोध्या निवासी थे; इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है। एक ग्रंथ राधाकृष्ण पर भी है, शेष ग्रथ सीता राम पर हैं। इनके मुख्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—

'भावना पचीसी'—इसमें श्रीराम और सीता की सखियों का वर्णन और प्रातःकाल की क्रिया आदि का उल्लेख है।

'समय प्रबंध'—इसमें श्री सीताराम की आठ पहर की लीलाओं का ध्यान और उनकी उपासना का वर्णन है।

'माधुरी प्रकाश'—इसमें राम और सीता के अंगों की छटा, शोभा और माधुरी का वर्णन है।

'जानकी सहस्र नाम'—इसमें श्री जानकी जी के सहस्र नाम और उनके जपने का माहात्म्य वर्णन है।

'लगन पचीसी'—इसमें राम के प्रेम के लगन संबधी पद हैं। रचना साधारणतः अच्छी है।

गंगाप्रसाद व्यास उदैनियाँ—इनका लिखा हुआ 'राम आग्रह' ग्रंथ प्रसिद्ध है। यह 'योग वाशिष्ठ' का एक भाग मात्र है। इस ग्रथ की रचना समथर के राजा विष्णुदास की प्रार्थना पर सवत् १८४४ में हुई। अत यही समय कवि का आविर्भाव काल मानना चाहिए।

सर्व सुख शरण—इनका आविर्भाव काल संवत् १८५७ माना जाता है। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं :—

१. 'बारहमासा विनय'—जिसमें अधिकतर राम के प्रति विरह-वर्णन है।

२ 'तत्त्वबोध'—जिसमें रामभक्ति के साथ ज्ञान और वैराग्य का निरूपण है।

भगवानदासी खत्री—इनका आविर्भाव-काल सवत् १८५७ माना जाता है। इन्होंने 'महारामायण' नामक ग्रंथ 'योग वाशिष्ठ' के आधार पर हिन्दी गद्य में लिखा। रचना बहुत साधारण है। मिश्र-बन्धु के अनुसार ये अभी तक जीवित हैं।

गंगाराम—इनका समय संवत् १८५७ माना गया है। इन्होंने 'शब्द-ब्रह्म' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें भक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन है। रचना उत्कृष्ट है।

रामगोपाल—इनका आविर्भाव-काल सवत् १८५७ है। इन्होंने 'अष्टयाम' नामक ग्रथ लिखा है, जिसमें श्री राम और सीता की आठों पहर की लीला वर्णित है। रचना साधारण है।

परमेश्वरीदास—इनका जन्म-संवत् १८६० और मृत्यु-संवत् १९१२ है। ये कालिंजर के कायस्थ थे। इन्होंने 'कवितावली' नामक पुस्तक लिखी जिसमें श्री सीताराम का अष्टयाम या आठों पहर की लीलाएँ वर्णित हैं। रचना साधारण है।

पहलवानदास—इनका आविर्भाव-काल संवत् १८६० है। ये भीखीपुर (बाराबंकी) के निवासी थे। इनके गुरु दुलारेदास सतनामी मत के प्रवर्त्तक जगजीवनदास के शिष्य थे। इन्होंने 'मसलेनामा' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें ज्ञान और राम-नाम महिमा का वर्णन है। इसमें पहेलियाँ आदि भी हैं, जिसमें ईश-भजन की ध्वनि है। इस क्षेत्र में ये स्वामी अग्रदास के अनुयायी थे।

गणेश—इनका आविर्भाव सं० १८६० माना जाता है। ये काशी-नरेश महाराज उदितनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश' की रचना की, जिसमें इन्होंने रामचरित्र के कुछ अंशों का पद्यानुवाद किया। कविता साधारणतः अच्छी है। उसमे भक्ति भावना की पुट भी है।

ललकदास—इनका आविर्भाव काल सवत् १८७० माना जाता है। ये लखनऊ निवासी थे। वेनी कवि ने एक परिहास में कहा है—"वाजे वाजे ऐसे डलमऊ में वसत, जैसे मऊ के जुलाहे लखनऊ के ललकदास।"

रचना—'सत्योपाख्यान' इनका ग्रन्थ कहा जाता है। इसमे रामचन्द्र के जन्म से विवाह तक का चरित्र दोहे और चौपाइयों में लिखा गया है। अनेक स्थानों पर इन्होंने संस्कृत और भाषा के कवियों के भाव अपना लिए हैं। इनकी भाषा सरल है, किन्तु उसमे ऊँचा कवित्त्व नहीं। इनका आविर्भाव सं० १८७० है।

रामगुलाम द्विवेदी—ये मिर्जापुर निवासी थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८८० है। ये उत्कृष्ट रामोपासक थे। इन्होंने तुलसीकृत 'मानस' की अच्छी विवेचना की। इन्होंने स्वयं इस विषय में 'प्रबन्ध रामायण' नामक ग्रन्थ की रचना

की। इनका 'विनयपंचिका' ग्रंथ प्रौढ़ है जिसमें इन्होंने हनुमान, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला, माँडवी, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत, जानकी और राम की विनय लिखी।

जानकीचरण—ये अयोध्या निवासी थे। इनके गुरु का नाम श्रीरामचरण जी था। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८७७ माना गया है। इनके दो ग्रथ प्रसिद्ध हैं, 'प्रेम प्रधान' और 'सियाराम रस मञ्जरी'। 'प्रेम प्रधान' में राम और सीता का जन्म, प्रेम और विवाह वर्णित है। 'सियाराम रस मंजरी' में श्रीसीताराम की भक्ति और अयोध्या-मिथिला वर्णन है। रचना सरस और आकर्षक है।

शिवानन्द—इनका आविर्भाव-काल संवत् १८७८ है। इनके ग्रथ का नाम 'श्रीरामध्यान मजरी' है जिसमे श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान वर्णित है।

दुर्गेश—इनका आविर्भाव-काल संवत् १८८२ है। ये रीवाँ के महाराज जयसिंह के समकालीन थे। इन्हीं जयसिंह के नाम से इन्होंने 'द्वैताद्वैतवाद' नामक एक ग्रथ वेदान्त पर लिखा जिसमे विशिष्टाद्वैत का निरूपण किया गया है। ये अभी तक अपरिचित कवि थे।

जीवाराम—(युगल प्रिया) ये अग्रस्वामी के शिष्य और अयोध्या के महन्त युगलनारायणशरण के गुरु थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८८७ माना गया है। इन्होंने 'पदावली' और 'अष्टयाम' दो ग्रथों की रचना की। 'पदावली' में इन्होंने भक्ति संबन्धी पदों की रचना की और 'अष्टयाम' में इन्होंने श्रीसीताराम की अष्टयाम लीला का ध्यान लिखा। 'अष्टयाम' ग्रन्थ ब्रजभाषा गद्य में है।

बनादास—इनका परिचय अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है। यद्यपि ये प्रतिभावान् कवि नहीं थे, तथापि इन्होंने अनेक ग्रथ

लिखे जिनकी संख्या ३२ से कम नहीं है। ये अपनी रचना-तिथि लिखने के पक्षपाती नहीं थे—

सन सम्मत जानो नहीं, नहिं साका तिथि वार।
इन सब सों मतलब नहीं, करना वस्तु विचार॥

किन्तु इनकी कुछ रचनाओं में तिथि पाई भी जाती है। उसी के आधार पर इनका आविर्भाव-काल संवत् १८९० है। ये अयोध्या निवासी थे और भवहरण कुंज में निवास करते थे। इन्होंने ससार त्याग दिया था और वैरागियों की भाँति रहते थे। इनके अभी तक निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं —

'अर्ज पत्रिका', 'आत्मबोध', 'उभयप्रबोध', 'रामायण', 'खंडन खड्ग समस्यावली', 'नाम निरूपण,' 'ब्रह्मायण ज्ञान मुक्तावली', 'ब्रह्मायण तत्व निरूपण', 'ब्रह्मायण द्वार' 'ब्रह्मायण पराभक्ति', 'परत्तु' 'ब्रह्मायण परमात्म बोध', 'ब्रह्मायण विज्ञान छत्तीसा', ब्रह्मायण शालि सुषुप्ति', 'यात्रा मुक्तावली', 'राम छटा', 'विवेक मुक्तावली', 'सार शब्दावली', 'हनुमत विजय'।

इन ग्रन्थों में राम-भक्ति-महिमा और ब्रह्मवाद ही अधिकतर निरूपित है। रचना साधारण है।

मोहन—ये अत्रिग्राम (चित्रकूट) निवासी थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८९८ है। इन्होंने 'चित्रकूट माहात्म्य' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें देवताओं, आदि ऋषि वाल्मीकि और कामद नाथ आदि की वंदना है और अंत में चित्रकूट-माहात्म्य वर्णित है। रचना साधारण है।

रत्नहरि—ये बहुत ऊँचे भक्त और कवि थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८९८ है। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—

१. 'दूरादूरार्थ दोहावली'—इसमें शब्दों के अनेक अर्थ दिए गए हैं।

२. 'जमक दमक दोहावली'—इसमें यमकालकार के आधार पर श्री रामचरित वर्णित है।
३. 'राम रहस्य पूर्वार्ध'—इसमें रामचरित की आधी कथा वर्णित है।
४ 'राम रहस्य उत्तरार्ध'—इसमें रामचरित की अन्तिम आधी कथा वर्णित है।

रामनाथ—इनका आविर्भाव-काल सवत् १९०० है। ये पटियाला के महाराज नरेश के समकालीन थे। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'रसभूषण', 'महाभारतगाथा' और 'जानकी पचीसी' में इन्होंने श्री जानकी जी का अवतार और उनकी अनुपम छवि का वर्णन किया है।

जनकलाडिली शरण—इनका आविर्भाव-काल सवत् १९०० है। इन्होंने 'टीका नेह प्रकाश' नामक बाल अली जू कृत स्नेह प्रकाश की टीका लिखी है। ये जनकराज किशोरी शरण के समकालीन थे।

जनकराज किशोरी शरण—(रसिक अलि) ये राघवेन्द्र दास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल सवत् १९०० है। यह काल मिश्रबन्धुओं के अनुसार सवत् १८८८ है। इनकी तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। १ 'अष्टयाम' (श्री सीताराम की अष्टयाम लीला), २ 'सीताराम सिद्धान्त मुक्तावली' (श्री सीताराम भक्ति, महिमा तथा माहात्म्य वर्णन—इसके साथ ही रस-वर्णन भी है), ३. 'सीताराम सिद्धांत अनन्य तरगिणी' (अवध महिमा और युगल नामावली, प्रासाद वर्णन आदि)। रचना सरस है।

गगाप्रसाद दास—इनका आविर्भाव-काल सवत् १९०७ है। ये बड़े कृष्णभक्त थे, पर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' पर गद्य और पद्य में टीका लिखी। ये चित्रकूट

निवासी और उमेद सिंह मिश्र के पुत्र थे, जो बड़े कृष्ण-भक्त थे।

हरबख्शसिंह—इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०७ माना जाता है। ये प्रतापगढ़ निवासी बिसेन क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम पृथ्वीपाल और पितामह का नाम चन्द्रिकाबख्श था। इन्होंने दो पुस्तकों की रचना की। श्री 'रामायण-शतक' और 'राम रत्नावली'। 'श्री रामायण शतक' में वाल्मीकि और नारद के संवाद द्वारा श्रीरामचन्द्र के गुणों का वर्णन किया गया है। गुणों के वर्णन के साथ राम-चरित की सभी घटनाएँ साररूप वर्णित कर दी हैं। पुस्तक के तीन भाग किए गए हैं, रामायण शतक, तत्व-विचार और ज्ञान-शतक। तत्व-विचार में तत्वों का निरूपण है और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का गुण वर्णन किया गया है। ज्ञान-शतक में वैराग्य संबन्धी बातें हैं। 'रामरत्नावली' मे श्रीरामचन्द्रजी की बाल्यावस्था से खाने-पीने और रहन-सहन आदि का वर्णन किया गया है। रचना सरस और प्रौढ़ है। ये सफल कवि हैं।

लक्ष्मण—इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०७ है। ये अयोध्या के गौड़ ब्राह्मण थे और श्रीरामानुजाचार्य के मतानुयायी। इन्होंने 'रामरत्नावली' नामक पुस्तक में श्री रामनाम महिमा लिखी है। रचना साधारण है।

रघुवरशरण—इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०७ है। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'राममंत्र-रहस्य', 'जानकी जी को मंगलाचरण' और 'बना' (दूलह राम)। प्रथम पुस्तक में श्रीराम-मंत्र का गूढ़ार्थ वर्णन है।

गिरिधरदास—इनका जन्म संवत् १८६० में हुआ था। ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे। इनका वास्तविक नाम बाबू

गोपालचंद्र था। ग्यारह वर्ष की अवस्था ही में इनके पिता बाबू हर्षचंद्र का देहावसान हो गया था। इन्होंने अपने ही परिश्रम से संस्कृत और हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। इनकी मृत्यु २७ वर्ष की अवस्था ही में संवत् १९१७ में हो गई, जब भारतेंदु केवल दस वर्ष के थे।

रचना—भारतेंदु ने इनके ग्रंथों की संख्या ४० दी है। वे सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक में अपना परिचय लिखते हुए अपने पिता का भी निर्देश करते हैं—"जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस"—पर ये चालीस ग्रथ अभी तक देखने में नहीं आए। भारतेंदु के दौहित्र श्री ब्रजरत्नदास ने अठारह पुस्तकों की सूची दी है, जिनमें अधिकतर धार्मिक पुस्तकें ही हैं। रचना में अधिकतर यमक और अनुप्रास पाया जाता है। शब्दालंकारों के प्राधान्य से कहीं-कहीं भाव-व्यञ्जना में बाधा पड़ जाती है और कहीं-कहीं अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता, पर जहाँ भावों का प्रकाशन हो सका है वहाँ रचना अत्यन्त सरस है। इन्होंने अधिकतर धार्मिक कथामृत, लिखे जैसे 'बाराह कथामृत', 'नृसिंह कथामृत', 'वामन कथामृत', 'परशुराम कथामृत', 'कलिकथामृत' आदि। 'भारती भूषण' में अलंकार पर, भाषा व्याकरण में पिंगल पर भी इनकी रचनाएं हुईं। इन्होंने 'नहुष' नामक नाटक भी लिखा, जो भारतेंदु द्वारा हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक कहा गया है। वे लिखते हैं, 'विशुद्ध नाटक-रीति से पात्र प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचन्द्र जी) का है।"[1]

---

१. भारतेंदु ग्रन्थावली, पृष्ठ ८१७

राम साहित्य हिन्दी के इतिहास में उस प्रकार अपना विकास नहीं कर सका जिस प्रकार कृष्ण-साहित्य। उसका कारण या तो राम-साहित्य की गम्भीरता और मर्यादा हो या तुलसीदास का अद्वितीय काव्य-कौशल जिसके कारण अन्य कवियो को उस कथा के वर्णन का साहस ही न हुआ हो। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' लिखी अवश्य, पर वे अपना दृष्टिकोण भक्तिमय बना ही नहीं सके। उनके पात्र भी अपने चरित्र की श्रेष्ठता अक्षुण्ण न रख सके और राम साहित्य का सारा भक्ति-उन्मेष काव्य प्रणाली की निश्चित धाराओं में केशव का नीरस पाण्डित्य लेकर बह गया। इस प्रकार राम साहित्य अपनी भक्ति-भावना के साथ हमारे सामने तुलसी की कविता में बन्दी होकर रहा, उसे अपने विस्तार का अवसर ही नहीं मिला।

तुलसी की भक्ति-भावना का सूत्रपात इस बीसवी शताब्दी में रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चिन्तामणि', बलदेवप्रसाद मिश्र के 'कोशलकिशोर' और 'साकेत संत', 'जोतिसी' के 'श्री रामचन्द्रोदय' और मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने राम को ईश्वर का विश्वव्यापी रूप देकर अपना आराध्य मान लिया। वे प्रारंभ में ही कहते हैं :—

> राम, तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
> विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
> तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे।
> तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे॥

'साकेत' वास्तव में रामचरित का सुन्दर काव्य है। यद्यपि इसमें लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि कुछ पात्रों का चित्रण शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन अवश्य कर गया है, पर जहाँ तक राम और सीता के चरित्र से संबन्ध है वहाँ तक वह आदर्शो और वर्तमान सामाजिक नीति के सिद्धांतों के भी अनुकूल है। 'साकेत' की सब से महान् सफलता कैकेयी का चरित्र-चित्रण है। उसमें मानव हृदय का

स्वाभाविक दौर्बल्य और पश्चात्ताप जितनी सफलता के साथ अंकित किया गया है, उतनी सफलता से शायद 'साकेत' की कोई भी घटना नहीं। उर्मिला का विरह तो किसी अंश में रीति-काल की प्रोषितपतिका के विरह-चित्रण की शैली पर हो गया है। हाँ, यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि नवम सर्ग के कुछ पद जो उर्मिला ने अपने विरह में कहे हैं, वे सचमुच ही हिन्दी साहित्य के अमर रत्न हैं।

'रामचन्द्रोदय' एक महाकाव्य है जिसमें 'रामचन्द्रिका' की शैली और पाण्डित्य है। यह व्रजभाषा में है। 'कोशलकिशोर' के लेखक बलदेव-प्रसाद मिश्र हैं। 'कोशलकिशोर' भी एक महाकाव्य है और महाकाव्य के सभी लक्षण उसमें वर्तमान हैं। उसमें 'सर्ग बन्धो महाकाव्यम्' आदि सभी आवश्यक विधानों का समावेश हो गया है। उसका कथानक कोशलकिशोर भगवान रामचन्द्र जी की किशोरावस्था का चरित्र ही है। विष्णु के अवतार के लिए स्तुति करते हुए देवताओं के चित्रण से आरम्भ होकर यह महाकाव्य श्री रामचन्द्र के विवाह होने के पश्चात् युवराज पद के वर्णन पर समाप्त हो जाता है। बीच में 'रामचरित मानस' के समान ही घटनाओं का विस्तार है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है रामायण के सामयिक अध्ययन का दृष्टिकोण।

राम-काव्य का सिंहावलोकन

राजनीति की जटिल परिस्थितियों में धर्म की भावना किस प्रकार अपना उत्थान कर सकती है यह राम-काव्य ने स्पष्ट कर दिया। अकबर का शासन मुगलकाल में धार्मिक सहिष्णुता का परिच्छेद अवश्य खोलता है, तथापि उसमे धार्मिक उत्थान की भावना नहीं है। उसमें हिन्दू धर्म का विरोध इसीलिए नहीं है, कि उससे राजनीति की समस्या हल होती है और वह अन्य धर्मों की भाँति सत्य की ओर निर्देश करता है।[1] रामानन्द के बढ़ते हुए प्रभाव ने

१ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ३७८ (डा० ईश्वरी प्रसाद

और कर्मकांड की उपेक्षा के साथ धर्म-प्रचार में जन-समूह की भाषा की उपयोगिता ने राम-साहित्य को विकसित होने का यथेष्ट अवसर दिया। तुलसीदास ने अपनी महान् और असाधारण प्रतिभा के द्वारा राम-काव्य को धर्म और साहित्य के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचा दिया। उसी समय वल्लभाचार्य की कृष्ण-भक्ति भी सूरदास के स्वरों में गूँजकर साहित्य का निर्माण कर रही थी। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में धर्म-क्षेत्र ही में नहीं, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में भी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। इसका संकेत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भी मिलता है, जहाँ तुलसीदास नन्ददास की कृष्ण-भक्ति पर आक्षेप कर उन्हें राम की भक्ति करने के लिए प्रेरित करते हैं और नन्ददास कृष्ण-भक्ति की प्रशंसा कर राम-भक्ति की अवहेलना करते हैं।

दोनों काव्यों के दृष्टिकोण भी अलग हैं। राम काव्य का दृष्टिकोण दास्य भक्ति है और कृष्ण काव्य का दृष्टिकोण है सख्य भक्ति। दोनों की अलग अलग दो भाषाएँ भी हो जाती हैं। राम-काव्य की भाषा है अवधी और कृष्ण-काव्य की व्रजभाषा। किसी भी कृष्ण भक्त ने अवधी मे कृष्ण-कथा नहीं लिखी, किन्तु तुलसी ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर व्रजभाषा मे भी राम ही की नहीं, वरन् कृष्ण की कथा भी लिखी। अतः तुलसीदास ने राम-साहित्य को ऐसा व्यापक रूप दिया कि वह सच्चे वैष्णव-साहित्य का प्रतिनिधि होकर धर्म और साहित्य के इतिहास मे अमर हो गया।

वर्ण्य-विषय—राम-काव्य का वर्ण्य-विषय विष्णु के राम-रूप की भक्ति ही है। इस भक्ति के निरूपण में जहाँ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है, वहाँ राम की विस्तृत कथा भी अनेक रूपों में कही गई है। राम की कथा का स्वरूप अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के द्वारा निर्धारित किया गया है।

रामानन्द के द्वारा प्रचारित विशिष्टाद्वैत की परिभाषा में राम-कथा का विकास हुआ है, यद्यपि तत्कालीन प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों का भी निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। इस काव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास हुए जिन्होंने रामचरित्र का दृष्टिकोण 'अध्यात्म रामायण' से लेकर राम को पूर्ण ब्रह्म घोषित किया। राम-काव्य के अन्य परवर्ती कवियों ने तुलसीदास को ही अपना पथ-प्रदर्शक मान कर राम-काव्य की रचना की। केशवदास अवश्य राम को तुलसी की दृष्टि से नहीं देख सके। उन्होंने न तो राम के उस ब्रह्मत्व को स्थापित किया जो 'अध्यात्म रामायण' से 'रामचरित मानस' के द्वारा होकर आया था और न राम के लोकशिक्षक स्वरूप ही की स्थापना की। वे अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' के कथा-सूत्र पर ही निर्भर रहे हैं और उन्होंने स्थान-स्थान पर भक्ति-भावना का प्रदर्शन न कर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। इसीलिए धार्मिक दृष्टिकोण के विचार से ही नहीं, काव्य की कठिनता के विचार से भी केशव की 'रामचन्द्रिका' साहित्य में वह स्थान न पा सकी जो तुलसी के 'रामचरितमानस' को मिला। तुलसी को छोड़कर राम-साहित्य में कोई भी कवि ऐसी रचना नहीं कर सका जो धर्म और साहित्य की दृष्टि से अमर होती। तुलसीदास की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा ने किसी अन्य राम-कवि को प्रसिद्ध होने का अवसर नहीं दिया। तुलसीदास ही राम-काव्य के एकछत्र अधिपति हैं।

छंद—राम-काव्य की रचना दोहा-चौपाई ही मे अधिक हुई। जो छंद-परम्परा सूफी कवियों ने प्रेम-काव्य लिखने में प्रसिद्ध की थी, उसी छंद परम्परा को राम काव्य के कवियों ने भी स्वीकार किया, क्योंकि दोहा-चौपाई में प्रबन्धात्मकता

का अच्छा निर्वाह होता है और राम की कथा प्रबन्धात्मक ही है। दोहा-चौपाई के अतिरिक्त अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें प्रधानतः कुंडलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि छन्द हैं। केशवदास ने तो 'रामचन्द्रिका' लिखने में छन्द-शास्त्र का मंथन कर प्रस्तार के अनुसार अनेक छन्दों में राम-कथा लिखी। ऐसे छन्द राम की कथा की उतनी अभिव्यक्ति नहीं करते जितनी केशव की काव्य-कला की। 'रामचरितमानस' में जहाँ श्लोक लिखे गए हैं वहाँ वर्णवृत्त छन्दों में भी रचना है, पर वे छद एक ही दो वार प्रयुक्त हुए हैं। परवर्ती कृष्ण-काव्य के कवियों ने अधिकतर मात्रिक छदों का ही प्रयोग किया है।

भाषा—राम-काव्य की भाषा प्रधानतः अवधी है क्योंकि उसमें राम-काव्य का आदर्श ग्रन्थ 'रामचरितमानस' लिखा गया। तुलसीदास ने अवधी के अतिरिक्त व्रजभाषा का प्रयोग भी अपने अन्य ग्रंथों में किया है। केशवदास ने तो व्रजभाषा ही में 'रामचन्द्रिका' लिखी है। अतः राम-काव्य की दो भाषाएँ माननी चाहिए—अवधी और व्रजभाषा। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं की शब्दावली, वाग्धाराएँ और क्रियाएं आदि प्रयुक्त हुई हैं। ऐसी भाषाओं में बुन्देली, भोजपुरी, और फारसी तथा अरबी भाषाएँ हैं। इन भिन्न भाषाओं की सहायता से अवधी या व्रजभाषा का रूप अधिक व्यापक हो गया है। उनमें सरलता के साथ भावाभिव्यंजना भी हुई है।

अवधी और व्रजभाषा का जो स्वरूप राम-काव्य में है, वह पूर्ण परिष्कृत भी है। उसमें प्रेम-काव्य की ग्रामीणता अथवा गोकुलनाथ की काव्यहीन वाक्य-शैली नहीं है। अवधी और व्रजभाषा की रचना संस्कृत के परिष्कृत वातावरण में ही हुई है। यह बात दूसरी है कि

भाषा में लिखे जाने के कारण शब्दों का रूप सरल कर दिया गया है, पर शब्द-चयन पाण्डित्यपूर्ण है। उदाहरणार्थ तुलसीदास की ये पंक्तियाँ लीजिए—

जहँ-तहँ जूथ-जूथ मिलि भामिनि।
सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि॥
बिधु बदनी मृग सावक लोचनि
निज सरूप रति मान विमोचनि॥[1]

यहाँ यूथ का जूथ या स्वरूप का सरूप कर दिया गया है, पर उनका रूप संस्कृत ही है। अतः भाषा सरल होते हुए भी पाण्डित्यपूर्ण है, यही राम-काव्य की प्रेम काव्य से श्रेष्ठता है। जिस अवधी और व्रजभाषा में राम-काव्य की रचना हुई है, वह भक्ति और प्रेम से पूर्ण है—उसमे सरसता और प्रवाह है।

तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में व्रजभाषा का प्रयोग किया है जहाँ उन्होंने स्तोत्र लिखे हैं वहाँ भाषा कठिन और कर्कश हो गई है उसमें लम्बे लम्बे समास और संयुक्ताक्षर हैं, पर यह ध्यान में रखन चाहिए कि 'विनयपत्रिका' के उन स्तोत्रों मे देवता या देवताओं के शौर्य, बल और शक्ति का निरूपण है, अत. भाषा भी भावों की अनुगामिनी बनकर कर्कश हो गई है। यथा—

भीषणाकार भैरव भयंकर भूत प्रेत प्रमथाधिपति विपति हर्त्ता।
मोह मूषक मार्जार संसार भय हरण तारण तरण करण कर्त्ता॥
अतुल बल विपुल विस्तार विग्रह गौर अमल अति धवल धरणीधराभ
शिरसि संकुलित कालकूट पिंगल जटा-पटल शत कोटि विद्युच्छटाभं॥

अन्य स्थलों पर भाषा बोधगम्य और सरस है।

रस—राम-काव्य मे नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन ही इस मे विभाजित है कि उससे सपूर्ण रसों की अभिव्यक्ति

---

[1] ...ग्रावली पहला खंड (मानस.), पृष्ठ १२६
[2] दूसरा खंड पृष्ठ ४६५-४६६

होती है।'वाल्मीकि रामायण' महाकाव्य है—राम की समस्त कथा महाकाव्य के रूप ही में 'मानस' में वर्णित है, अतः महाकाव्य के लक्षण के अनुसार सभी रसों का निरूपण होना चाहिए। इसीलिए 'मानस' में सभी रसों का समावेश है। 'रामचन्द्रिका' में भी नवरस वर्णन है। राम-काव्य के अन्य ग्रंथों में भी विविध रसों का निरूपण है। दास्य भक्ति की प्रधानता होने के कारण संत-काव्य की भाँति राम काव्य में भी शान्त रस का प्राधान्य है। राम विष्णु के अवतार हैं—वे राजकुमार हैं—उनका सीता से विवाह होता है, अतः उनमें सौन्दर्य और माधुर्य की भावना है। इसीलिए राम-काव्य में शृंगार रस भी प्रधान है। शान्त और शृंगार इन दो प्रधान रसों से राम-काव्य लिखा गया है। अन्य रस गौण रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

विशेष—वैष्णव धर्म का जैसा विकास उत्तर मे हो रहा था, वैसा ही दक्षिण में भी हो रहा था। अन्तर केवल भक्ति-भाव के दृष्टिकोण और आराध्य के रूप का था। दक्षिण के मराठा भक्त ईश्वर की साकारोपासना करते हुए भी उसे वैसा ही आदि ब्रह्म मानते थे, जैसा तुलसीदास ने राम को माना है, जो 'विधि हरि हर' से भी ऊपर हैं। अद्वैतवाद के ईश्वर संबन्धी विशेषणों के साथ राम की भक्ति ही दक्षिण में प्रचलित थी, यद्यपि उस भक्ति का कोई विशेष दार्शनिक सिद्धांत नहीं था।'[1] इन मराठा भक्तों में तुकाराम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका सिद्धांत कुछ इस प्रकार रक्खा जा सकता है :—

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस हिस्ट्री ऑव् इंडिया. पृष्ठ ३०० (जे० एन फ़र्क्युहार)

"तुकाराम जी के मत से सारा संसार तीन रूपों में विभक्त था। जड़ सृष्टि, चैतन्ययुक्त जीव, और ईश्वर। ईश्वर जड़-सृष्टि तथा सचेतन जीवों का अन्तर्यामी अर्थात् अन्त संचालक है। यह दोनों प्रकार की सृष्टि, जो उसी की इच्छा से निर्मित हुई है, ईश्वर की देह-स्वरूप है और ईश्वर उस देह का आत्मा है। सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म रूप से रहता है। जैसे देह से विकारादि आत्मा को विकृत नहीं कर सकते, वैसे ही जड़-सृष्टि तथा जीवों के गुणों से ईश्वर स्वरूप विकृत नहीं होता। वह सब दोषों से तथा अवगुणों से अलिप्त रहता है। वह नित्य है, जीवों तथा जड़ सृष्टि में ओत-प्रोत भरा हुआ है, सबों का अन्तर्यामी है और शुद्ध आनन्द स्वरूप है। ज्ञान ऐश्वर्य इत्यादि सद्गुणों से वह युक्त है। वही सृष्टि का निर्माण करता है, वही उसका पालन करता है तथा अंत में वही उसका संहार भी करता है। भक्त जनों का वह शरण्य है। उसके गुणों का आकलन न होने के कारण ही उसे अगुण या निर्गुण कह सकते हैं।"[1]

तुकाराम की ईश्वर-संबन्धी यह व्याख्या रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से बहुत मिलती है। अतः उसका निर्देश राम काव्य के अन्तर्गत ही होना चाहिए। मराठा संतों की उपासना में विशिष्टाद्वैत से यदि कुछ विशेषता है तो वह यह कि वह एकेश्वरवाद की ओर कुछ अधिक झुकी हुई है।

इन भक्तों के आराध्य का रूप भी राम न होकर 'पांडुरंग', 'विट्ठोबा' या 'विट्ठल' है। 'पांडुरंग' तो शिव का नाम है[2] जो वैष्णव उपासना में मराठा भक्तों द्वारा प्रयुक्त है। 'विट्ठोबा' या 'विट्ठल' संस्कृत शब्द नहीं

---

१ संत तुकाराम (हरि रामचन्द्र दिवेकर), पृष्ठ १३७
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३७

२ वैष्णविज्म शेविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (सर आर० जी० भंडारकर), पृष्ठ ८८

है। इससे ज्ञात होता है कि 'विट्ठल' बहुत ही बाद की रचना है।[१] विट्ठल का अर्थ है "ईंट पर खड़ा हुआ (मराठी-विट्=ईंट)। भंडारकर 'विट्ठल' को विष्णु का अपभ्रंश रूप ही मानते हैं। महाराष्ट्र में इस नाम की व्युत्पत्ति यों कही जाती है कि भीमा नदी के तीर पर पुंडलीक नाम का एक व्यक्ति रहता था जो अपने माता-पिता की बहुत सेवा करता था। इस भक्ति से प्रसन्न होकर कृष्ण उसे साक्षात दर्शन देने के लिए उसके पास आए। पुंडलीक अपने माता-पिता की भक्ति में व्यस्त था। जब उसे ज्ञात हुआ कि स्वयं श्रीकृष्ण दर्शन देने आये हैं तब उसने अपने पास पड़ी हुई ईंट श्रीकृष्ण के पास फेंक कर कहा—कृपया इस पर विश्राम कीजिए। माता-पिता की सेवा के बाद मैं आप की ओर देख सकूँगा। श्रीकृष्ण उस भक्त की आज्ञा मान कर ईंट पर खड़े हो गए और कमर पर हाथ रख कर पुंडलीक की ओर देखने लगे। यही विट्ठल की मूर्ति है। वे ईंट पर खड़े हुए अपनी कमर पर हाथ रखे एकटक देख रहे हैं। कहा जाता है कि पुंडलीक के कारण ही विष्णु का विट्ठल रूप से अवतार हुआ और पुंडलीक या पुंडरीक के नाम पर भीमा नदी का गॉव पुंडलीकपुर या पंढरपुर कहा जाने लगा।

उपासना और आराध्य का रूप कुछ भिन्न होते हुए भी मराठा भक्तों की भावना राम-काव्य से बहुत मिलती-जुलती है। तुकाराम ने तो अपनी-हिन्दी कविता की रचना में राम का नाम भी अनेक बार प्रयुक्त किया है :—

राम कहे सों मुख भला रे, बिन राम से बीख।
आव न जानू रमने वेरा, जब काल लगावे सीख॥[२]
तुकादास राम का मन में एकहि भाव।
तो न पलट आवे, येही तन जाव॥[३]

---

१ वही, पृष्ठ ८९
२ संत तुकाराम, पृष्ठ १५०
३ ,, पृष्ठ १५०

बार-बार काहे मरत अभागी। बहुरि मरन से क्या तोरे भागी ॥१॥
एहि तन करते क्या ना होय। भजन भगति करे बैकुण्ठ जाय ॥२॥
रान नाम मोल नहिं बेचे कवरी। वोहि सब माया छुरावत सगरी ॥३॥
कहे तुका मन सु मिल राखो। राम-रस जिह्वा नित चाखो ॥४॥[1]

महाराष्ट्र के भक्त-कवियों ने मराठी अभंगों के साथ[2] हिन्दी में भी रचना की। इन रचनाओं में साहित्य का सौन्दर्य न होकर केवल भक्ति का ही सौन्दर्य है। ऐसे महाराष्ट्र भक्तों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

१. जनार्दन (समय—संवत् १५१०)

२ भानुदास (समय—संवत् १५५५) इनकी प्रभातियाँ तुलसीदास की प्रभातियों के समान ही हैं। हिन्दी कविता में ये राम और श्याम दोनों ही को समान रूप से मानते हैं :—

झमत झमत राम स्याम सुंदर मुख तव ललाम,
याती की छूट कछू भानुदास पाई ॥[3]

३ एकनाथ (समय—संवत् १६००) ये बड़े लोक प्रिय-वैष्णव थे इन्होंने भक्ति का सबसे अधिक प्रचार किया। 'ज्ञानेश्वरी का प्रचार इनके द्वारा महाराष्ट्र के कोने कोने में हो गया इन्होंने 'एक नाथी भागवत' और 'भावार्थ रामायण की रचना की। इनकी हिन्दी कविता भी बहुत प्रसिद्ध है जिसमें तत्कालीन फ़ारसी शब्द भी आ गए हैं।

४ तुकाराम (समय—संवत् १६६४—१७०६) इनका जीवन तुलसी दास के जीवन से बहुत मिलता है। गृहस्थाश्रम के बा

---

१ वही पृष्ठ १५६

२ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ९१

३ हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद (श्रीभास्कर रामचन्द्र भालेराव), पृष्ठ ९१

कोशोत्सव स्मारक संग्रह (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), १९८

वैराग्य लेने पर इन्होंने भक्ति का विशेष प्रचार किया। इन्होंने 'वारकरी' नामक पथ भी चलाया। इनके अभंग महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध हैं। छत्रपति शिवाजी इनके सम्पर्क में आये थे और दीक्षित होना चाहते थे, पर तुकाराम ने यह स्वीकार नहीं किया। वे वीतरागी ही रहे।

५ नारायण (समय—संवत् १६६५—१७३८) इन्होंने रामदास नाम से वैष्णव-भक्ति का प्रचार किया। संभवतः यह रामानन्द के प्रभाव के कारण ही हुआ। इन्होंने शिवाजी को बहुत प्रभावित किया। इसीलिए इनका नाम समर्थ गुरु रामदास हुआ। इनके सिद्धान्तों पर रामदासी पन्थ चल निकला। इनका ग्रंथ 'दशबोध' रामदासी मत में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इनके उत्साह भरे उपदेश ने महाराष्ट्र को शक्ति से समन्वित कर मुसलमानी सत्ता के सामने निर्भीक और साहसी बना दिया। शिवाजी का शौर्य गुरु रामदास की वाणी का विकसित रूप है।

इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र मे अन्य वैष्णव भक्त भी हुए, जिन्होंने कुछ हिन्दी रचना की। उन भक्तों में कन्होबा जयराम, रघुनाथ व्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

उत्तर और दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की इस लहर ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में भी हिन्दू जीवन को सुरक्षित रक्खा और धर्म और साहित्य के गौरव की रक्षा की। वैष्णव धर्म का राम-काव्य कृष्ण-काव्य से श्रेष्ठ रहा, क्योंकि राम काव्य में किसी प्रकार की कलुषता नहीं आने पाई। कृष्ण काव्य ने आगे चलकर शृङ्गार रस के वासनामय आतंक के सामने सिर झुका दिया। उसमें धर्म की पवित्रता नहीं रह गई। साहित्य के दृष्टिकोण से भी उत्तर-कालीन कृष्ण-काव्य केवल मनोरंजन और विलासिता का साधन बन कर रह गया है।

———

सातवाँ प्रकरण

कृष्ण-काव्य

श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व ही हो चुका था। श्रीकृष्ण के अनेक नामों मे 'वासुदेव' नाम भी था। हापकिंस का कथन है कि 'महाभारत' मे श्रीकृष्ण केवल मनुष्य के रूप में ही आते हैं, बाद में वे देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए। पर कीथ के विचारानुसार 'महाभारत' में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व पूर्णरूप से देवत्व की भावना से युक्त है।[1] इतना तो निश्चित है कि ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व के लगभग कृष्ण में देवत्व की भावना आ गई थी, क्योंकि पाणिनि के 'व्याकरण' मे वासुदेव और अर्जुन देव युग्म हैं। प्रसिद्ध यात्री मैगस्थनीज ने भी लिखा है कि कृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर में होती थी। यह काल ईसा के ३०० वर्ष पूर्व का है। यदि वासुदेव कृष्ण की पूजा प्रथम मौर्य के समय मे प्रचलित थी तब तो इस पूजा का प्रारम मौर्य वंश की स्थापना के बहुत पहले हो गया होगा। सभवत. इस पूजा का प्रारम्भ 'उपनिषदों' के साथ हो हुआ, क्योंकि महानारायण उपनिषद' मे विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। कृष्ण वासुदेव का ही पर्यायवाचा है अत· कृष्ण ही विष्णु का द्योतक है।

---

१. जर्नल अव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी १६१५, पृष्ठ ५४८

सर भंडारकर वासुदेव और कृष्ण में अन्तर मानते हैं। उनका विचार है कि 'सात्वत' एक क्षत्रिय वंश का नाम था जिसे 'वृष्णि' भी कहते थे। वासुदेव इसी सात्वत वंश के एक महापुरुष थे. और उनका समय ईसा के ६०० वर्ष पूर्व है। उन्होंने ईश्वर के एकत्व भाव का प्रचार किया था। उनकी मृत्यु के बाद उसी वंश के लोगों ने वासुदेव ही को साकार रूप से ब्रह्म मान लिया है। 'भगवद्गीता' इसी कुल का ग्रन्थ है।

इस प्रकार वासुदेव का प्रथम रूप नारायण था, बाद मे विष्णु और अन्त में गोपाल कृष्ण।

कृष्ण एक वैदिक ऋषि का नाम था, जिसने 'ऋग्वेद' के अष्टम मंडल की रचना की थी, वह उसमें अपना नाम कृष्ण लिखता है। 'अनुक्रमणी' का लेखक उसे आंगिरस नाम देता है इसके बाद 'छांदोग्य उपनिषद्' में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में उपस्थित किए जाते हैं। वे घोर आंगिरस के शिष्य हैं। आंगिरस ने उन्हें शिक्षा भी दी है :—

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वो वापाऽपिपास एवस बभूव, सोऽन्तवेलायामेतत्त्रय प्रतिपद्येताक्षितमस्य च्युतमसि प्राणमशितमसीति।[1]

[अर्थात् देवकी पुत्र श्रीकृष्ण के लिए आंगिरस घोर ऋषि ने शिक्षा दी कि जब मनुष्य का अन्तिम समय आवे तो उसे इन तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए :—

(१) त्वं अक्षितमसि—तू अनश्वर है।

(२) त्वं अच्युतमसि—तू एक रूप है।

(३) त्वं प्राणसंशितमसि—तू प्राणियों का जीवनदाता है।]

यदि कृष्ण भी आंगिरस थे तो 'ऋग्वेद' के समय से 'छांदोग्य उपनिषद्' के समय तक उनके सबन्ध में जनश्रुति चली आती होगी। इसी जनश्रुति के आधार पर कृष्ण का साम्य वासुदेव में हुआ

१. छांदोग्य उपनिषद, प्रकरण ३, खण्ड १७

होगा जब वासुदेव देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए होंगे। कृष्ण और वासुदेव के एकत्व का एक कारण और है। 'जातकी' की गाथा के भाष्यकार का मत है कि कृष्ण एक गोत्र-नाम है और यह क्षत्रियों द्वारा भी यज्ञ समय में धारण किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्ण रूप है कार्ष्णायन। वासुदेव उसी कार्ष्णायन गोत्र के थे, अतः उनका नाम कृष्ण हो गया। इस प्रकार कृष्ण ऋषि का समस्त वेद-ज्ञान और और देवकी का पुत्र गौरव वासुदेव के साथ सम्बद्ध हो गया, क्योंकि वे अब कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से दो वर्ष बाद, इन चार सौ वर्षों में 'महाभारत' मे कृष्ण दैवी अवतार के रूप में ज्ञात होते हैं। सभा पर्व में भीष्म श्रीकृष्ण को अव्यक्त प्रकृति एव सनातन कर्त्ता कहते हैं, वे उन्हें समस्त भूतों से परे मानते हैं :—

एव प्रकृतिरव्यक्ता कर्त्ताचैव सनातनः।
परश्च सर्व भूतेभ्यः तस्मात्पूज्य तमोऽच्युतः ॥[१]

आगे चल कर वे उन्हें परब्रह्म भी कहते हैं :—

एतत्परमकं ब्रह्म एतत्परमक यशः।
एतदक्षरमव्यक्तं एतत् वै शाश्वत मह ॥[२]

भीष्म द्वारा श्रीकृष्ण इस प्रशसा में गोकुल में की हुई कृष्ण की लीलाओं का निर्देश नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि 'महाभारत मे परब्रह्म कृष्ण की भावना है गोपाल-कृष्ण की नहीं। सभापर्व मे शिशुपाल अवश्य श्रीकृष्ण की गोकुल सबन्धी लीलाओं क निर्देश करता है, पर वे पक्तियाँ प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं, क्योंकि 'महा भारत' के समय तक कृष्ण के देवत्व का उतना ही विकास हुआ थ जितना भीष्म द्वारा वर्णित है। 'महाभारत' में कृष्ण के लिए ए नाम और आता है। वह नाम है गोविन्द। पर इस शब्द का अर्थ गो (गाय) से सबन्ध रखने वाला नहीं है। आदि पर्व में गोविन्

---

१ महाभारत २८। २५
२ वही ६६। ६

का अर्थ वाराह अवतार के प्रसंग में है जहाँ विष्णु ने पानी मथ कर पृथ्वी को निकाला है। शान्ति पर्व में भी वासुदेव कृष्ण ने अपना नाम गोविन्द बतलाते हुए पृथ्वी के उद्धार की बात कही है। अतः 'महाभारत' के काल में गायों से संबन्ध रखने वाले 'गोविन्द' की कथाएँ प्रचलित नहीं थीं। गोविन्द का वास्तविक इतिहास 'गोविद्' शब्द से है जो 'ऋग्वेद' में इन्द्र के लिए प्रयुक्त है, जिसने गायों की खोज की थी।

'महाभारत' में विष्णु के महत्त्व की पूर्ण घोषणा है। यह बात अवश्य है कि विष्णु के साथ ब्रह्मा और शिव का भी निर्देश है, किन्तु विष्णु का महत्त्व दोनों से अधिक है, क्योंकि विष्णु की भावना में अवतारवाद है। 'महाभारत' में कृष्ण विष्णु के ही अवतार माने गए हैं। इसी समय बौद्ध धर्म के महायान वर्ग में बुद्ध सम्पूर्ण ईश्वर बन जाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि बौद्ध मत प्रधानतः 'महाभारत' की ईश्वरीय भावना से ही प्रभावित है।

'महाभारत' के बाद 'भगवद्गीता' में भी श्रीकृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार हैं। वे पूर्ण परब्रह्म हैं :—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥[1]

'महाभारत' में कृष्ण जो विष्णु के अवतार माने गए हैं, 'भगवद्गीता' में एकान्त ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित होते हैं। विष्णु या कृष्ण का ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करना इस बात की घोषणा करता है कि कृष्ण ब्रह्म के साकार रूप हैं। 'गीता' के अनुसार उपासना के तीन मार्ग हैं—ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग। भक्ति मार्ग ने कृष्ण के रूप को और भी विकसित कर दिया।

मोक्षधर्म के अन्तर्गत 'नारायणीय' में नारद ने बदरिकाश्रम की यात्रा की है और वहाँ उनका नर और नारायण से मिलना वर्णित है। उसमें नारायण अपनी प्रकृति (नर) का ही पूजन करते

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ७।७

हैं। इस प्रकार नारायण की अभिव्यक्ति 'नारायणीय' में व्यूह प्रकार से हैं, जिसके अनुसार नारायण चतुर्व्यूहियों के रूप में आविर्भूत हैं।

नारायण

वासुदेव	संकर्षण	प्रद्युम्न	अनिरुद्ध
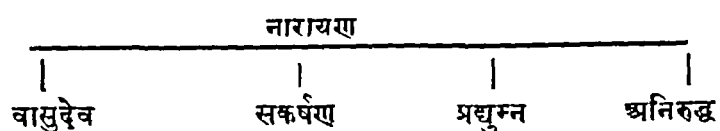
इन चार रूपों से ब्रह्मा की उत्पत्ति है जो दृश्य-जगत का निर्माता है। नारायण (विष्णु) के ये चार रूप आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार हैं :—

१ वासुदेव—	आदि ब्रह्म	ब्रह्मा—सर्वभूतानि
२ संकर्षण—	प्रकृति	
३. प्रद्युम्न—	मानस	
४. अनिरुद्ध—	अहंकार	

विष्णु अपने चारों रूपों से संसार में अवतरित होते हैं और उन्हीं से अवतार की सृष्टि होती है। 'नारायणीय' में अवतार की भावना का अत्यधिक विस्तार है। इसमें अन्य अवतारों के साथ कंस-वध के निमित्त वासुदेव का अवतार अवश्य निर्देशित किया गया है, पर गोकुल में असुर-वध का या गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का कोई उल्लेख नहीं है। गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण 'हरिवंश पुराण', वायु पुराण' और 'भागवत पुराण' में हुआ है। गोपाल कृष्ण की कथाएँ इन पुराणों की रचना के पूर्व अवश्य प्रचलित रही होंगी तभी तो वे बाद में लिपिबद्ध हुई।

'हरिवंश पुराण' ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखा गया। अतः गोपालकृष्ण की जनश्रुतियाँ ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी के बाद से ही प्रचलित हुई होंगी। 'नारायणीय' मे अवतार की जो भावना व्यक्त की गई थी उसका परिवर्द्धन विशेष रूप से पुराणों में हुआ, केवल भावनाओं ही मे नहीं, वरन् संख्या में भी। 'नारायणीय' में केवल छ. अवतारों का उल्लेख है :—

वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और वासुदेव कृष्ण। पुराणों में अवतारों की संख्या इस प्रकार है :—

(१) हरिवंश (६ अवतार) वही

(२) वायु पुराण

(अ) ६७वें अध्याय में १२ अवतार। उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त शिव और इन्द्र के भी अवतार हैं।

(आ) ६८वें अध्याय में १० अवतार। उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त दत्तात्रेय, अनामी, वेदव्यास और कल्कि।

(३) वाराह पुराण १० अवतार—उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि।

(४) अग्नि पुराण ,, ,,

(५) भागवत पुराण

(अ) प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में २२ अवतार

(आ) द्वितीय स्कंध के सप्तम अध्याय में २३ अवतार

(इ) एकादश स्कंध के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतार

इन अवतारों मे उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त सनत्कुमार, नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वन्तरि आदि हैं। ये ऋषभ संभवतः जैन धर्म के तीर्थंकर ज्ञात होते हैं।

(६) नृसिंहपुराण—१० अवतार जो 'वाराह' और 'अग्नि पुराण' में हैं। पर इन अवतारो मे कृष्ण के साथ बलराम का नाम भी जोड़ दिया गया है। और इस नाम की सार्थकता अध्याय ५३ के इस श्लोक से की गई है :—

प्रेषयामास द्वे शक्ती सित कृष्णे स्वके नृप।
तयोः सिता च रोहिण्या वसुदेवाद्बभूव ह॥
तद्वत्कृष्णा च देवक्यां वसुदेवाद्बभूव ह।
रौहिणेयोऽथ पुण्यात्मा रामनामाभिनो महान्॥
देवकीनन्दनः कृष्ण............ ....

अर्थात् पृथ्वी के भार उतारने के हेतु श्री विष्णु भगवान ने अपनी दो शक्तियों को पृथ्वी पर भेजा—एक सफ़ेद, दूसरी काली। श्वेत शक्ति रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न होकर 'राम' नाम से प्रसिद्ध हुई और काली शक्ति देवकी के गर्भ से उत्पन्न होकर 'कृष्ण नाम से प्रसिद्ध हुई।[1]

गोपालकृष्ण की भावना का विकास 'हरिवंश पुराण' में इस प्रकार हुआ कि ३८०८ वें श्लोक में कृष्ण ने अपने पिता नन्द से गोवर्धन पूजा की प्रार्थना करते समय अपने को पशु पालक' कहा है और अपना वैभव 'गोधन' से ही माना है। ३५३२ वें श्लोक से उनका निवास व्रज और वृन्दावन ज्ञात होता है। श्रीकृष्ण की गोबर्धन पूजा और व्रज निवास में एक ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

व्रज और वृन्दावन केन्द्र में दूसरी और तीसरी शताब्दी में आभीर जाति रहती थी। अत. गोपाल कृष्ण इसी आभीर जाति के देवता होंगे। ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में आभीरों ने राजनीति में भी भाग लिया था और महाराष्ट्र के उत्तर में अपने राज्य की स्थापना की थी। इस जाति में ईश्वरसेन एक बड़ा भारी राजा हुआ जिसका एक शिला लेख नासिक में प्राप्त हुआ है।[१] यह जाति अपने साथ गोपाल कृष्ण को ईश्वर के रूप में लाई। भडारकर का कथन है कि आभीर जाति का 'कृष्ण' शब्द संभव है पश्चिम के 'क्राइस्ट' (Christ) शब्द से उद्भूत हुआ हो।[२] इसी 'कृष्ण' को आभीर जाति ने अपने महत्त्व से 'वेद', 'उपनिषद्' और 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण से सम्बद्ध कर दिया। अतः

---

१ श्रीकृष्णावतार—महामहोपाध्याय डा० गगानाथ झा एम० ए०, डी० लिट (कल्याण—श्रीकृष्णाङ्क, श्रावण १९८८)

२ वैष्णविज्म, शैविज्म एड माइनर रिलीजस सिस्टम्स पृष्ठ ३७ (सर भडारकर)

वासुदेव कृष्ण जो 'महाभारत' तक ब्रह्म और ब्रह्म के अवतार रहे आभीरों के गोपाल कृष्ण में रूपान्तरित हो गए और गोपाल कृष्ण की बाललीलाएँ पुरातन कृष्ण की बाल लीलाएँ बन गई। नारद पंचरात्र की 'ज्ञानामृत सार संहिता' में कृष्ण की बाल-लीलाओं का निर्देश है। 'ज्ञानामृत सार संहिता' का रचना-काल सर भंडारकर द्वारा ईसा की चौथी शताब्दी के बाद ही निर्धारित किया गया है।[1] अतः इस समय आभीरों का आतंक अवश्य ही अपने उत्कर्ष पर होगा और उसी आतंक से प्रेरित होकर वासुदेव कृष्ण की सत्ता गोपाल कृष्ण के समस्त बाल-चरित्र में लीन हो गई। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में श्रीकृष्ण की भावना का विकास हुआ।

कृष्ण की ईश्वरीय सृष्टि सर्वप्रथम 'वनदेव' की भावना में मानी जानी चाहिए। प्रकृति में वसन्तश्री से नवीन जीवन की सृष्टि होती है, नवीन पल्लवों में सौन्दर्य फूट पड़ता है। इस नवीन जीवन को उत्पन्न करने वाली शक्ति के प्रति प्राचीनतम काल के असंस्कृत हृदय में भक्ति का उद्रेक होना स्वाभाविक है। हमें ज्ञात है कि आर्यों ने प्रकृति के अनेक रूपों को देवताओं के रूप में मान इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत, आदि देवों की कल्पना की है। उसी भाँति मृत्यु से जीवन का आविर्भाव करने वाली शक्ति भी किस प्रकार कृष्ण के रूप में आई, यही हमें देखना है।

(अ) कृष्ण के जीवन की भावना स्पष्ट रूप से गोपरूप में है, जिसका सम्बन्ध गौवों से है। प्रकृति के जीवों की रक्षा करने वाले और प्रकृति के प्रांगण में विहार करने वाले देवताओं की कल्पना तो हमारे भक्ति काल के साहित्य में भी मिलती हैं। गाएँ प्रकृति की निर्दोष सरल और करुण प्रतिमाएँ हैं। श्रीकृष्ण उनके पोषक हैं। इसीलिए वे आदि-भावना में गोप रूप होने के कारण 'वन देव' के रूप में आप से आप आ जाते हैं। उनका नाम इसीलिए गोपाल अथवा गोपेन्द्र है।

१ वही पृष्ठ ४१

यही कारण ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के हृदय में 'श्रीवत्स' चिन्ह है। यह चिन्ह हृदय पर रोओं के चक्र से निर्मित है जिसके लिए 'भौंरी' एक विशिष्ट शब्द है। यह गाय और बैलों की छाती पर अक्सर रहा करता है। इसी भावना पर कहीं बिहारी ने श्लेष से व्यङ्ग किया था :—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यो न सनेह गभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर॥[1]

(आ) कृष्ण के भाई का नाम बलराम है। वे भी ऋतु के देव माने गए हैं। उनका सबन्ध विशेष कर धान्यादिकों से है। उनका आयुध भी हल है। अतएव कृष्ण-बलराम प्रकृति की सृजन शक्ति के प्रतिनिधि हैं।

(इ) गोवर्धन पूजा का भी यही तात्पर्य है जिसमें अनाज की पूजा का प्रधान विधान है। उस उत्सव का दूसरा नाम अन्नकूट भी है। उसका प्रारभ श्रीकृष्ण के द्वारा होना कहा गया है जिस कारण उन्हें इन्द्र का कोप-भाजन बनना पड़ा।

इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के ये सब सिद्धान्त जो प्रकृति के प्रति आदर के भाव से परिपूर्ण थे, कृष्ण के देवत्व का निर्माण कहने में पूर्ण सहायक थे। बाद में अन्य सिद्धान्तो के मिश्रण से कृष्ण अनेक विचारों के प्रतीक बनें किन्तु उनका आदि रूप निश्चय ही 'वनदेव' से लिया गया जान पड़ता है क्योंकि वे आभीर जाति के आराध्य थे।

यह कहा ही जा चुका है कि यदि रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूप ले कर राम-भक्ति का प्रचार किया तो निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी के आदर्शो को सामने रख कर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की ही भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति 'भागवत पुराण' से ली गई है जिसमे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही

---

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ १७८-१७६

अधिक महत्त्व है, आत्म-चिन्तन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। ईसा की १५ वीं शताब्दी में कृष्ण भक्ति का जो प्रचार हुआ उसमें वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की वहाँ भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि मार्ग की, दोनों के योग से उन्होंने श्रीकृष्ण को ब्रह्म मान कर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत् चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप की कल्पना की। उनके पुष्टि सम्प्रदाय में अनेक वैष्णव दीक्षित हुए जिन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति पर उत्कृष्ट रचना की। इसमें अष्टछाप बहुत प्रसिद्ध है जिसकी स्थापना श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने की थी। उसी अष्टछाप में सूरदास, नन्ददास आदि ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे जो भक्ति के क्षेत्र में यशस्वी और लोकप्रिय हुए। वल्लभाचार्य ने अपनी गद्दी अपने आराध्य श्रीकृष्ण की जन्म भूमि ब्रज ही में स्थापित की। इस गद्दी का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ कि श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ साथ ब्रजभाषा का भी बहुत प्रचार हुआ, और वह शीघ्र ही काव्य-भाषा के पद पर अधिष्ठित हो गई। ब्रजभाषा में ऐसे सुंदर गेय पदों की रचना हुई कि उसके द्वारा कृष्ण भक्ति उत्तरीय भारत के कोने कोने में व्याप्त हो गई। कृष्ण-भक्ति के द्वारा ब्रजभाषा का प्रचार हुआ और ब्रजभाषा के द्वारा कृष्ण भक्ति का। इस तरह कृष्ण-भक्ति और ब्रजभाषा ने पारस्परिक रूप से एक दूसरे को महत्व दिया। श्रीवल्लभाचार्य से प्रभावित होकर जिन कवियों ने श्रीकृष्ण-भक्ति पर रचना की उनमें श्री सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

श्रीकृष्ण की भावना के विकास के साथ ही साथ राधा के इतिहास पर भी दृष्टि डालना युक्ति-संगत होगा।

'महाभारत' में जहाँ कृष्ण के जीवन का चित्रण है, वहाँ राधा का निर्देश नहीं है। 'महाभारत' में कृष्ण का जीवन महत्त्वपूर्ण है, वे मथुरा में जन्म लेते हैं, कंस के साथ अन्य असुरों को मारते हैं और कृष्ण-वध के बाद द्वारिका चले जाते हैं। उनके पिता का नाम

वसुदेव और माता का नाम देवकी है, पर उनके गोप जीवन की छाया और उनके अलौकिक कृत्यों की कथा महाभारत में नहीं है। गोप-जीवन के अभाव में राधा का उल्लेख भी नहीं है।

'महाभारत' के बाद ईसा की दशम शताब्दी मे 'भागवत पुराण' की रचना हुई। उसके आधार पर नारद भक्ति सूत्र' और 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' का निर्माण हुआ। इनमे भक्ति का विकास पूर्ण रूप से हुआ किन्तु इन ग्रन्थो मे भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति होते हुए भी भक्ति की साकार मूर्ति राधा का निर्देश कृष्ण के साथ नहीं है। 'भागवत पुराण' में कृष्ण का बाल-जीवन ही वर्णित है, उत्तर जीवन का विवरण ही नहीं है, केवल सकेत मात्र है। जिस बाल जीवन का वर्णन 'भागवत' मे है वह बहुत विस्तार से है। 'भागवत' मे गोपियों का निर्देश अवश्य है, पर राधा का नहीं। यह बात अवश्य है कि श्रीकृष्ण के साथ एकात में विचरण करने वाली एक गोपी का विवरण अवश्य है, पर उसका नाम नहीं दिया गया। अन्य गोपिया उस गोपी की प्रशसा करती हैं कि उसने पूर्व जन्म मे श्रीकृष्ण की आराधना अवश्य की होगी तभी तो वह श्रीकृष्ण को इतनी प्रिय है। महाराष्ट्र के सत ज्ञानेश्वर और उसी वर्ग के अन्य गायकों ने राधा का वर्णन नहीं किया। 'भागवत पुराण' के आधार पर पहला संप्रदाय माधव सप्रदाय है जिसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना पर विशेष जोर दिया गया है, पर इसमे भी राधा का उल्लेख नहीं है। माधव सम्प्रदाय श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित हुआ जिनका समय सम्वत् १२५१ से १३३५ (सन् ११९९-१२७८) माना गया है।

'भागवत पुराण' के आधार पर जिन अन्य पुराणों की रचना की गई है उनमे राधा का निर्देश है। 'भागवत पुराण' मे एक विशेष गोपी का निर्देश अवश्य है जिसने पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की आराधना की है जिस कारण वह श्री कृष्ण को विशेष प्रिय है। इसी 'आराधना' शब्द से राधा की उत्पत्ति ज्ञात होती है। राधा

शब्द संस्कृत धातु 'राध' से बना है जिसका अर्थ 'सेवा करना या प्रसन्न करना है'। किस ग्रंथ में राधा का नाम पहले पहल इस अर्थ में आता है यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर पहला ग्रंथ जिसका परिचय अभी तक प्राप्त हो सका है वह है गोपाळतापनी उपनिषद्। इसमें राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसि के रूप में है। यह ग्रन्थ राधा-सम्प्रदाय के लोगों में बहुत मान्य है। 'गोपालतापनी उपनिषद्' की रचना मध्व के भाष्य और अनुव्याख्यान के बाद ही हुई होगी क्योंकि मध्व ने राधा का उल्लेख नहीं किया।

माधव संप्रदाय के बाद जो अन्य संप्रदाय हुए (जिनमें कृष्ण का महत्व स्वीकार किया गया) वे विष्णु स्वामी और निम्बाक संप्रदाय हुए। इन दोनों संप्रदायों में राधा का निर्देश है। निम्बार्क संप्रदाय में जयदेव हुए जिन्होंने राधा और कृष्ण के विहार में 'गीतगोविन्द' की रचना की। राधा की उपासना 'भागवत पुराण' के आधार पर वृन्दावन में ईसा सन् ११०० के लगभग प्रारंभ हो गई होगी और वहीं से वह बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची होगी। विष्णुस्वामी और निम्बार्क सप्रदाय के बाद चैतन्य और बल्लभ सप्रदायों में भी राधा को विशिष्ट स्थान मिला। विष्णुस्वामी से पभावित होकर वल्लभाचार्य ने राधा की उपासना की जिससे महाकवि सूरदास प्रभावित हुए और निम्बार्क से प्रभावित होकर जयदेव ने 'गीतगोविन्द' मे राधा का वर्णन किया जिससे महाकवि विद्यापति प्रभावित हुए। इस प्रकार विद्यापति और सूरदास की रचनाओं में राधा को महत्वपूर्ण स्थान मिला।

कृष्ण-काव्य का प्रारंभ विद्यापति से माना गया है। किन्तु विद्यापति पर 'गीतगोविंद' के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिए।

जयदेव

जयदेव का जीवन-वृत्त अधिकतर नाभादास के 'भक्तमाल' और प्रियादास द्वारा उसकी 'टीका' से ज्ञात होता है। नाभादास के 'भक्त-माल' में जयदेव का परिचय मात्र है।[1] प्रियादास की 'टीका' में जयदेव के जीवन पर कुछ अधिक प्रकाश डाला गया है।[2] इनके जीवन की अधिकांश घटनाएँ अलौकिक हैं और वे अधिकतर जनश्रुति के आधार पर ही हैं। इनके जीवन के विषय में प्रामाणिक रूप से यही कहा जा सकता है कि इनका जन्म किंदुविल्व (वीरभूमि, बगाल) में हुआ था। इनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधादेवी (रामादेवी ?) था। बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में इन्होंने बड़ी प्रसिद्धि पाई। राजा लक्ष्मण सेन का समय सन् ११७० (स १२२७) है। अतः जयदेव का समय भी यही मानना चाहिए।[3] 'श्री भक्तमाल सटीक' के वार्तिक प्रकाशकार श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद ने जयदेव का समय सन् १०२५ से १२५० ई० (अर्थात् सवत् १०८२ से ११०७ के मध्य माना

---

१ जयदेव कवि नृप चक्कवै खँड मँडलेश्वर आन कवि।
प्रचुर भयो तिहुँलोक गीत गोविन्द उजागर।
कोक काव्य नव रस सरस शृंगार को सागर॥
अष्ट पदी अभ्यास करै तिहि बुद्धि बढावै।
राधा रमण प्रसन्न सुनै तहँ निश्चै आवै॥
शुभ सत सरोरुह खड को पद्मावति सुख जनक रवि।
जयदेव कवि नृप चक्कवै खँड मँडलेश्वर आन कवि।

भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ३२७

है।[१] मानियर विलियम्स ने जयदेव का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी माना है।[२] इतिहास के साक्ष्य से मेकालिफ़ के द्वारा दिया गया समय ठीक ज्ञात होता है। लक्ष्मणसेन के राज्यारोहण का समय सन् ११११ दिया गया है।[३] मुहम्मद बिन बख्तियार ने बिहार पर ११९७ में चढ़ाई की थी उसके पूर्व लक्ष्मणसेन की मृत्यु हो गई थी। अतः लक्ष्मणसेन का राजत्व काल सन् ११९७ के पूर्व मानना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में सन् ११७० (सम्वत् १२२७) में जयदेव का लक्ष्मणसेन के संरक्षण में रहना संभव है। अतः जयदेव का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिए।

प्रियादास ने जयदेव के वैराग्य, पद्मावती से विवाह, गृहस्थाश्रम, 'गीत गोविन्द' की रचना, ठग मिलन, पद्मावती की मृत्यु और पुनर्जीवन आदि प्रसंगों पर विस्तार से लिखा है जिनमें अनेक अलौकिक घटनाओं का मिश्रण है, पर इतना निश्चित है कि जयदेव ने 'गीत गोविन्द' की रचना संस्कृत में लक्ष्मणसेन के राजत्वकाल ही में की थी। 'गीत गोविन्द' में जयदेव ने राधा-कृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर लीलाएँ और प्रेम की मादक अनुभूति सरस और मधुर शब्दावली में लिखी है। 'गीत गोविन्द' के द्वारा राधा का व्यक्तित्व पहली बार मधुर और प्रेमपूर्ण बना कर साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। 'गीतगोविन्द' की पदावली मधुर है। उसमें कामदेव के बाणों की मीठी पीड़ा है। कीथ 'गीतगोविन्द' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उसकी

---

१ इनका समय सन् १०२५ ई० से १०५० ईसवी तक निर्णय किया गया है, अर्थात् विक्रमी सम्वत् १०८२ तथा ११०७ के मध्य।

भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ३४७

२. ब्रह्मनिज़्म एंड हिन्दूइज़्म, पृष्ठ १४६ (मानियर विलियम्स)

३. मेडीवल इंडिया, पृष्ठ २१ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

ावली इतनी मधुर और भावों के अनुकूल है कि उसका
वाद अन्य किसी भाषा में ठीक तरह से हो ही नहीं सकता।[1]
जयदेव ने संस्कृत में 'गीत गोविन्द' की रचना कर अपने भाषा-
ार और भाव-प्रदर्शन की कुशलता का परिचय अवश्य दिया,
हिन्दी में उन्होंने अपनी यह कुशलता नहीं दिखलाई। अपने
पम वाग्विलास से उन्होंने विद्यापति और सूरदास जैसे महान्
ायों को प्रभावित अवश्य किया पर वे स्वयं हिंदी में उत्कृष्ट
टे की रचना नहीं कर सके। संस्कृत की कोमल कांत पदावली में
ोंने जिस संगीत की सृष्टि अपने काव्य 'गीत-गोविंद' में की,
हिंदी में नहीं हो सकी। संस्कृत के 'गीतिकाव्य' में 'गीतगोविंद'
र है। उसमें यमक और अनुप्रास से जिस प्रकार भाव व्यंजना
गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उदाहरणार्थ तृतीयावलोकनम् मे
ा का विरह निवेदन लीजिए :—

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन सम सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।
अलि कुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे॥
मृगमद सौरभ रभसवशंवद नवदल माल तमाले।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंशुक जाले॥
मदन महीपति कनक दण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे।
मिलित शिलीमुख पाटलि पटल कृतस्मर तूण विलासे॥ इत्यादि

'गीत-गोविंद' में आध्यात्मिकता की विशेष छाप नहीं है, लौकिक
ृंगार से चाहे आध्यात्मिकता का संकेत भले ही मान लिया जावे
ामसूत्र के संकेतों के आधार पर राधा कृष्ण का परिरंभन है, विलास

---

१ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (हेरीटेज अव इण्डिया सीरीज, पृष्ठ १२१
(ए० कीथ)

है, क्रीड़ा है। इस क्रीड़ा में ही रहस्यवाद का संकेत आलोचकों द्वारा माना गया है।[1]

जयदेव हिंदी में उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं कर सके। उनके एक-दो पद 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब' में अवश्य पाये जाते हैं जो भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यंत साधारण हैं। जयदेव के ऐसे पद 'श्री गुरुग्रथ साहब' की राग गूजरी और राग मारू में ही मिलते हैं। उनकी हिन्दी-रचना बहुत कम देखने में आती है। परिचय के लिए उनका राग मारू में एक पद इस प्रकार है :—

चंद सत भेदिया नाद सत पूरिया सूर सत खोड़ सादतु कीया।
अबलबलु तोड़िया अचल चलु थापिया अघडु घड़िया तहा अमिउँ पीया।
मन आदि गुण आदि बखानिया।
तेरी दुविधा दृष्टि समानिया॥
अरधि कौ अरधिया सरधि कौ सरधिया,
सलिल कौ सललि संमानिआइया।
वदति जयदेव जयदेव कौ रमिया,
ब्रह्म निर्वाण लवलीन पाइया॥[2]

इस पद में न तो जयदेव का भाषा-माधुर्य है और न भाव-सौन्दर्य। जयदेव ने 'गीत गोविंद' में श्रीकृष्ण और राधा के प्रेम का कोमल और विलासपूर्ण वर्णन किया है, उसकी छाया भी इस पद में नहीं है। यह पद तो निर्गुण ब्रह्म की शक्ति संपन्नता के विषय में है। अतः जयदेव ने यद्यपि हिन्दी में संस्कृत की मधुर पदावली के समान कोई रचना नहीं की तथापि उन्होंने हिन्दी के कवियों को राधा-कृष्ण संबन्धी रचना करने के लिए प्रोत्साहित अवश्य किया। इस क्षेत्र में वे हिन्दी के कवियों के लिए आधार-स्वरूप हैं। उनका

---

१. (अ) ए हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ १६४ (ए० बी० कीथ)
(आ) ब्रह्मनिज़्म एंड हिन्दूइज़्म, पृष्ठ १४६ (मानियर विलियम्स)

२. आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी (मोहन सिंह) पृष्ठ ५६८
तरनतारन (अमृतसर, पंजाब), १९२७

सब से अधिक प्रभाव विद्यापति पर ही ज्ञात होता है, अतः यहाँ विद्यापति की कविता पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

विद्यापति

विद्यापति बगाली कवि नहीं थे, वे मिथिला के निवासी थे और मैथिली में उन्होंने अपनी कविता लिखी। लगभग चालीस वर्ष पहले बंगाली विद्यापति को अपना कवि समझते थे, पर जब से उनके जीवन की घटनाओं की जाँच-पड़ताल बाबू राजकृष्ण मुकर्जी और डाक्टर ग्रियर्सन ने की है तब से बगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं।

विद्यापति एक विद्वान् वश के वंशज थे। उनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'गगा-भक्ति-तरगिनी' अपने मृत संरक्षक मिथिला के महाराजा गणेश्वर की स्मृति में समर्पित की थी। गणपति के पिता जयदत्त संस्कृत विद्वत्ता के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थे वरन् वे एक बड़े सन्त भी थे। उन्हें इसी कारण 'योगेश्वर' की उपाधि मिली थी। जयदत्त के पिता वीरेश्वर थे, जिन्होंने मैथिल ब्राह्मणों की दिनचर्या के लिये नियम समद्ध किए थे।

विद्यापति विसपी के रहनेवाले थे। यह दरभगा ज़िले में है। यह गाँव विद्यापति ने राजा शिवसिंह से उपहार-स्वरूप पाया था। विद्यापति ने शिवसिंह लखिमा देवी, विश्वास देवी, नरसिंह देवी और मिथिला के कई राजाओं की सरक्षिता पाई थी। ताम्र-पत्र द्वारा विसपी गाँव का दान शिवसिंह ने 'अभिनव जयदेव' की उपाधि सहित सन् १४०० ई० मे विद्यापति को दिया था।[1]

---

१ स्वतिश्रीगजरथत्यादि समस्त प्रक्रिया विराजमान श्रीमद्रामेश्वरी वरलब्ध प्रसाद भवानी भव भक्ति भावना परायण—रूप नारायण महाराजाधिराज—श्रीमच्छिवसिंह देव पादाः समरविजयिनो जरे लतप्पायां विसपी ग्रामवास्तव्य सकल लोकान् भूकपकाश्च समादिशान्ति ज्ञातमस्तु भवताम्। ग्रामोऽय मस्माभि. सप्रक्रिया भिनव जयदेव—महाराज पण्डित ठक्कुर—श्री

कई विद्वान् इस ताम्रपत्र को जाली समझते हैं। इस लेख की अक्षराकृति उस समय के अक्षरों से नहीं मिलती जब कि यह दान दिया गया होगा। इस प्रमाण के आधार पर ताम्रपत्र अप्रामाणिक सिद्ध किया जाता है। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि विसपी गाँव विद्यापति को शिवसिंह ने दान मे दिया था। कवि स्वयं इस दान को अपने एक पद्य में लिखता है।[1] उस स्थान पर प्रचलित जन-श्रुति भी इस दान का समर्थन करती है।

विद्यापति के आविर्भाव के सम्बन्ध में डा० उमेश मिश्र लिखते हैं :—

"इनके पिता गणपति ठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राज सभासद थे और महासभा में अपने पुत्र विद्यापति को ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ ल० सं० में हुई थी। अतः विद्यापति उस समय अंततः १० या ११ की अवस्था के अवश्य रहे होंगे जिसमें उनका राजदरबार मे आना-जाना हो सकता था। दूसरी बात यह है कि विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह का जन्म २४३ ल० सं० में हुआ और ५० वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे यह माना जाता है और यह भी लोगों की धारणा है कि कवि विद्यापति उनसे दो वर्ष मात्र बड़े थे। तीसरी बात यह है कि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपने को खेलन कवि' कहा है. इसलिए वह अवश्य कीर्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि में अल्पवयस के साथ साथ खेलने के लायक़ रहे होंगे। इन सभी बातों से

विद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽत ग्रामकस्या चूयनैतेदौ वचनकरौ भूकर्द कादिकर्म्म करिष्ययेति लक्ष्मणानेन सम्वत् २९३ श्रावण सुदि ७ गुरौ।

1. पंचगौड़ाधिप शिवसिंह भूप कृपा करि लेल निज पास।
   विसपी ग्राम दान कएल मोहि रहइत गऽमनिवास॥

—पदावली

अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ ल० सं० में लगभग १० या ११ वर्ष के थे।"[१]

डाक्टर उमेश मिश्र के इस कथनानुसार विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० (सवत् १४२५) निश्चित होता है।

विद्यापति की मृत्यु के सम्बन्ध में डा० मिश्र का कथन है—

"वाचस्पति मिश्र भैरवेन्द्रसिंह के सभासद, विद्वान् और विद्यापति के समकालीन थे। वाचस्पति मिश्र का समय १४७५ ईस्वी (प्रिंस आव वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़, ग्रन्थ ३ पृ० १५२) तक होना माना जाता है, अतएव विद्यापति को भी इसी समय तक या उसके लगभग रखना ही पड़ेगा। इन सब बातों को विचार कर यह कहा जा सकता है कि विद्यापति लगभग ३५६ ल० सं० अर्थात् १४७५ ईस्वी में अवश्य जीवित रहे होंगे।"[२]

इस कथन से विद्यापति की मृत्यु स० १५३२ (सन् १४७५) के बाद ही माननी चाहिए। इस प्रकार विद्यापति ने १०० वर्ष से भी अधिक आयु पाई। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में तो विद्यापति का निर्देश मात्र कर दिया है।[३]

---

१ विद्यापति ठाकुर (डा० उमेश मिश्र) पृष्ठ ३६
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३७)

२. वही, पृष्ठ ३७।

३. विद्यापति ब्रह्मदास बहोरन चतुर विहारी।
गोविन्द गगा रामलाल बरसानियाँ मगलकारी॥
प्रिय दयाल परसराम भक्तभाई याटी को।
नन्द सुवन की छाप कवित्त केशो को नीको॥
आश करन पूरन नृपति भीषम जन दयाल गुननहिन पार।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत में ये कविजन अतिसय उदार॥
—भक्तमाल (नामादास)

विद्यापति के पदों का बंगाली में रूपान्तर बहुत अधिक पाया जाता है। यहाँ तक कि बंगाल में विद्यापति के जो पद प्रचलित हैं, वे कई अंशों में मैथिली में प्रचलित पदों से भिन्न हैं। उसका एक कारण है। विद्यापति का समय मिथिला विश्वविद्यालय के गौरव का समय था और उन दिनों मिथिला और बंगाल में भाव-विनिमय की अधिकता थी। अतएव बंगाल के राधाकृष्ण के गीत मिथिला में पहुँचे और उनका पाठ बिलकुल मैथिल हो गया। उदाहरण-स्वरूप गोविन्ददास के पद दिए जा सकते हैं। वही विद्यापति की कविता का हाल हुआ और उसका पाठ भी बंगाली हो गया। कोई-कोई पद तो केवल बंगाली ही में पाए जाते हैं।

विद्यापति संस्कृत के महान् पण्डित थे। प्रधानतः इन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत ही में लिखीं। संस्कृत के अतिरिक्त इन्होंने अवहट्ट और मैथिली में भी ग्रन्थ और पद लिखे। अतः भाषा की दृष्टि से विद्यापति के ग्रंथ तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं :—

संस्कृत—१ 'शैव सर्वस्वसार,' २ 'शैव सर्वस्वसार प्रमाण-भूत-पुराण संग्रह,' ३ 'भू परिक्रमा,' ४ 'पुरुष परीक्षा,' ५ 'लिखनावली' ६ 'गंगा-वाक्यावली,' ७ 'दान वाक्यावली,' ८ 'विभाग सार,' ९ 'गया पत्तलक,' १० 'वर्ण कृत्य,' ११ 'दुर्गा भक्ति तरंगिणी'।

अवहट्ठ—१ 'कीर्तिलता,' २ 'कीर्तिपताका'

मैथिली—'पदावली'

'कीर्तिलता' की भाषा अपभ्रष्ट या अवहट्ट कही गई है। डा० बाबूराम सक्सेना ने स्वसंपादित कीर्तिलता' की भूमिका में लिखा है :—

'विद्यापति के प्राय. पांच सौ वर्ष पूर्व कर्पूर मंजरी के रचयिता को संस्कृत के प्रबन्ध परुष जान पड़ते थे और प्राकृत के सुकुमार इसलिए उन्होंने कर्पूर मंजरी प्राकृत में लिखी। विद्यापति को वही

प्राकृत नीरस जान पड़ी और संस्कृत को बहुत लोग पसन्द नहीं करते इसलिए विद्यापति ने देशी भाषा अपभ्रंश में कीर्तिलता बनाई ।"

इस भाषा में तत्कालीन अपभ्रंश के लक्षण मिलते हैं, यद्यपि इसे विद्यापति ने 'देसिल बअना' नाम दिया है ।[1] विद्यापति की 'कीर्तिलता' में भाषा विषयक यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है :—

बालचन्द विज्जावइ भाषा,
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा ।
ओ परमेसर सिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ॥

'पदावली' विद्यापति का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है । विद्यापति की बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के भिन्न भिन्न अवसरों पर लिखे गए पद संग्रह कर दिए गए हैं । इन पदों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं —

श्रृङ्गार सम्बन्धी—इस वर्ग में राधा कृष्ण के मिलन के प्रेमपूर्ण पद हैं ।

भक्ति सम्बन्धी—इस वर्ग में शिव प्रार्थना आदि हैं ।

काल संबन्धी—इस वर्ग में तत्कालीन परिस्थितियों के चित्र हैं ।

विद्यापति शैव थे, अतः उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे तो अवश्य भक्ति से ओतप्रोत हैं, किन्तु श्रीकृष्ण और राधा संबन्धी जो पद हैं इनमें भक्ति न होकर वासना है । इस क्षेत्र में जयदेव की श्रृंगार भावना ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है । कुमारस्वामी ने विद्यापति के ऐसे पदों को लेकर यह सिद्ध करना चाहा है कि विद्यापति की कविता ईश्वरोन्मुख है और उसमें रहस्यवाद की अनुपम छटा है । किन्तु श्री विनय-

---

१. दि लैंग्वेज अव दि कीर्तिलता—डा० बाबूराम सक्सेना
(इंडियन लिंग्विस्टिक्स—भाग ५, पृष्ठ ३२३)

कुमार सरकार ने कुमारस्वामी के इस मत के विरुद्ध ही अपनी सम्मति प्रकट की है।[1] विद्यापति के पदों को देखते हुए विनय कुमार सरकार का मत ही समीचीन ज्ञात होता है क्योंकि विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है।

विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधाकृष्ण के चरणों पर समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने शृंगार रस पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधाकृष्ण के जीवन का तत्त्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।

विद्यापति की कविता गीतिकाव्य के स्वरों में है। गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार, भावोन्माद, आशा-निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार, व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त रहते हैं। विद्यापति की कविता में यद्यपि अधिक व्यक्तिगत विचार नहीं हैं, पर उसमें भावोन्माद की प्रचंड धारा वर्षाकालीन नदी के वेग से किसी प्रकार भी कम नहीं है। वयःसन्धि, नखशिख, अभिसार, मान-विरह आदि से कवि की भावना इस प्रकार संबद्ध हो गई है मानो नायक-नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हैं। विचार इतने तीव्र हैं कि उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुका कर उन्हीं विचारों के अनुसार कार्य करते हैं।

विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है। भाव आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन इनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। उनके सामने विश्व के शृंगार में राधा और कृष्ण की ही मूर्तियाँ हैं। स्थायी भाव रति तो पदावली में आदि से

---

१. लव इन हिन्दू लिटरेचर पृष्ठ ४७-४८

विनय कुमार सरकार (मारूजान कंपनी, [illegible], १९१६

अन्त तक है ही। आलम्बन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधिका का मनोहर चित्र खींचा गया है। उसके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौन्दर्य की सम्पत्ति लिये राधा नायिका।

कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ छओ अनुपम इक ठामा

उद्दीपन विभाव में वसन्तादि चित्रित किए गए हैं :—

बाल बसन्त तरुन भए धाओल बढए सकल संसारा।
दखिन पवन घन अंग उगारए किसलय कुसुम परागे,
सुललित हार मजरि घन कज्जल अँखितौ अजन लागे।
नव बसन्त रितु अनुसर जौवति विद्यापति कवि गावे,
राजा सिवसिंघ रूप नरायन सकल कला मन भावे।

और अनुभाव इस प्रकार है :—

सुन्दरि चललिहु पहु घरना। चहु दिस सखि सबकर धरना॥
जाइतहु हार टुटिए गेल ना। भूखन बसन मलिन भेल ना॥
रोए रोए काजर दहाए देल ना। अदकहि सिंदुर मिटाए देलना॥
नाइतिहु लागु परम डर ना। जइसे ससि काँप राहु डर ना॥

विद्यापति ने राधा कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमे लेश मात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति है और राधा यौवन की मदिरा मे मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और सौन्दर्य ही उसका कार्य कलाप। यौवन ही से जीवन का विकास है।

अंगरेजी कवि बाइरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धात है कि—"यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।"

विद्यापति ने जीवन में शृंगार की प्रधानता मानी है। जीवन मानों दो धाराओं में बह गया है एक धारा का नाम है पुरुष और दूसरी का स्त्री। इन्हीं दोनों के मिलाप में जीवन का तत्त्व सन्निहित है; किन्तु जिस जीवन का रूप चित्रित किया गया है; उसमें वासना की प्रधानता है। राधा का शनैः शनैः विकास, उसकी वयः सन्धि, दूती की शिक्षा, कृष्ण से मिलन, मान-विरह आदि उसी प्रकार लिखे गए हैं, जिस प्रकार किसी साधारण स्त्री का भौतिक प्रेम-विवरण। कृष्ण भी एक कामी नायक की भाँति हमारे सामने आते हैं। कवि के इस वर्णन में हमें जरा भी ध्यान नहीं आता कि यही राधा कृष्ण हमारे आराध्य हैं। उनके प्रति भक्ति भाव की जरा भी सुगन्धि नहीं है। निम्नलिखित अवतरण में आराधना का स्वरूप है अथवा वासना का ?

मोर पिया सखि गेल दुरि देश ।
जौवन दए गेल साल सनेस ॥
मास असाढ उनत नव मेघ ।
पिया विसलेख रहओं निरथेघ ॥
कौन पुरुप सखि कौन से देश ।
करब मोय तहाँ जोगिन भेस ॥

कृष्ण और राधा साधारण पुरुष-स्त्री हैं। राधा तो उस सरिता के समान है, जिसमें भावनाएँ तरंगों का रूप लेकर उठा करती हैं। राधा स्त्री है, केवल स्त्री है, और उसका अस्तित्व भौतिक संसार ही में है। उसका बाह्य रूप जितना अधिक आकर्षक है उतना आंतरिक नहीं। बाह्य सौन्दर्य ही उसका सब कुछ है, कोमलता ही उसका स्वरूप है मानो सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं। जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ कमल खिल उठते हैं, वह प्रसन्नता से पूर्ण है, उसकी चितवन में कामदेव के बाण हैं, पाँच नहीं वरन् समी दिशाओं में छूटे हुए सहस्र बाण।

विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया.

खेलन कवि (९) सुकवि कंठहार (१०) महाराज पंडित (११) राज पंडित (१२) कवि रतन (१३) कवि कठहार (१४) कविवर (१५) सुकवि (१६) कवि रजन ।

विद्यापति की लोकप्रियता चैतन्य देव के कारण ही बढ़ी। प्रोफेसर जनार्दन मिश्र एम० ए० लिखते हैं :—

'विद्यापति के प्रचार का सब से बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बगाल में वैष्णव सम्प्रदाय के ये सब से बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में निमग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्छा सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इसलिए बगाल में विद्यापति का आश्चर्य जनक प्रचार हुआ।"[1]

अभी तक विद्यापति की पदावली के तीन अच्छे संस्करण प्रकाशित हुए हैं :—

(१) व्रजनन्दन सहाय का आरा सस्करण
(२) बेनीपुरी का लहेरियासराय सस्करण
(३) नगेन्द्रनाथ गुप्त का बगला सस्करण

व्रजभाषा में कृष्ण-काव्य

व्रजभाषा मे कृष्ण-काव्य की रचना का समस्त श्रेय श्री वल्लभाचार्य को होना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रचारित पुष्टि मार्ग मे दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग का [illegible] किया, जिसका अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति कर उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति हो। श्रीवल्लभाचार्य ने अपने 'निरोध लक्षणम्' मे लिखा है :—

---

१ विद्यापति (प्रोफेसर जनार्दन मिश्र, एम्० ए०), पृष्ठ ३२
(पटना १९८९)

अहं निरुद्धो रोधेन निरोध पदवीं गतः ।
निरुद्धाना तु रोधाय निरोध वर्णयामि ते ॥६॥

... ...

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भव सागरे ।
ये निरुद्धास्तएवात्र मोदमायात्यहर्निशं ॥११॥[1]

[मैंने निरोध की पदवी प्राप्त करली है क्योंकि मैं रोध से निरुद्ध हूँ। किन्तु निरोध मार्गियों का निरोध-सिद्धि के लिए मैं निरोध का वर्णन करता हूँ। भगवान के द्वारा जो छोड़ दिए गए हैं, वे संसार सागर में डूब गए हैं और जो निरुद्ध किए गए हैं वे रात दिन आनन्द में लीन हैं।]

भारतेन्दु इस निरोध के विषय में लिखते हैं :—

"इस वाक्य से यह दिखाया कि निरुद्ध होना स्वसाध्य नहीं है जिनको वह (ईश्वर) चाहता है निरुद्ध करता है, नहीं तो उसे छोड़ देता है। मनुष्य का बल केवल उस मार्ग पर प्रवृत्त होना है, परन्तु इससे निराश न होना चाहिए कि जब अंगीकार करना वा न करना उसी के आधीन है तो हम क्यों प्रयत्न करें। हमारे क्लेश करने पर भी वह अंगीकार करे या न करे ऐसी शंका कदापि न करना।"[2]

इस श्लोक के अनुसार निरोध-मार्गी और पुष्टिमार्गी पर्यायवाची शब्द हैं। पुष्टिमार्गी हरि के अनुग्रह-पात्र हैं। पुष्टि का विशेष विवरण श्री वल्लभाचार्य के 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेदः' में दिया गया है। प्रारम्भ में ही कहा गया है :—

कश्चिदेव हि भक्तो हि ' योमद्भक्त ' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्ष कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥४॥[3]

---

१. षोडश ग्रन्थ (निरोध लक्षणम्) पृष्ठ ६-११.
[श्री नृसिंहलाल जी व्रजभाषा टीका, बुंबई, सं० १९५८.]

२. श्री हरिश्चन्द्र कला, चतुर्थ भाग (तदीय सर्वस्व) पृष्ठ ६
[खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, सं० १९८५]

३. षोडश ग्रन्थ (पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद), पृष्ठ ४

इसी प्रकार उन्होंने अपने अनुभाष्य में कहा है —

कृति साध्यं साधन ज्ञान भक्ति रूप शास्त्रेण बोध्यते । ताभ्या विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा । तद्रि हितानामपि स्व स्वरूप बलेन स्वप्रापण पुष्टिरित्युच्यते ।

[शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है— और तद्विहित साधन से भक्ति मिलती है । इन साधनों से प्राप्त की हुई मुक्ति का नाम 'मर्यादा' है । ये साधन सर्वसाध्य नहीं । अत अपनी ही शक्ति से (स्व स्वरूप बलेन) ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को प्रदान करता है, वह पुष्टि कहलाती है ।]

अतः पुष्टि का सम्बन्ध शरीर से नहीं है । उसका सम्बन्ध हरि के अनुग्रह से है ।[1]

श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गोपी जनों को ही पुष्टिमार्ग का गुरु माना है । वे ही कृष्ण से प्रेम करना जानती थीं और उन्होंने ही कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त किया था । अतः पुष्टिमार्गी भक्त को गोप-गोपियों के कृत्यों का ही अनुकरण करना चाहिए, उन्हीं के सुख दुख को ग्रहण करने की शक्ति उनमें होनी चाहिए । वल्लभाचार्य 'निरोध लक्षणम्' में इसी भाव को इस प्रकार लिखते हैं :—

यच्च दु ख यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां च यद्दुःख तदद्रु ख स्यान्मम क्वचित् ॥१॥
गोकुले गोपिकाना च सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत्सुख समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥२॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥३॥[2]

[जो दु.ख यशोदा नन्दादिकों एवं गोपीजनों को गोकुल में हुआ था, वह दुःख मुझे कब होगा ? गोकुल में गोपीजनों एवं सभी व्रज-

१ श्रीमद् वल्लभाचार्य—लल्लू भाई पी॰ पारेख (दि कनवेनशन अव् रिलीजश इन इंडिया (१६०६), पृष्ठ ३३

२ षोडश ग्रन्थ (निरोध लक्षणम्), पृष्ठ २-४

वासियों को जो भली-भाँति सुख हुआ, वह सुख भगवान कब मुझे देंगे ? उद्धव के आने पर वृन्दावन और गोकुल में जैसा महान् उत्सव हुआ था, क्या वैसा मेरे मन में कभी होगा ?]

यही कारण है कि पुष्टिमार्गी सभी भक्त कवि श्रीकृष्ण के चरित्र में वैसा ही आनन्द लेना चाहते हैं जैसा स्वयं गोपी और गोपजन लेते थे। फलतः वे सभी कृष्णचरित्र का सच्ची अनुभूति से वर्णन करते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद करते हुए भी 'सूरसागर' में दशम स्कन्ध को बड़े विस्तार से वर्णन किया है कृष्ण की कथा को वे भाव के परमोत्कर्ष से वर्णन करते हैं। यही कृष्ण-भक्ति है।

'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति की विस्तृत व्याख्या की गई है। उसमें कहा गया है :—

ॐ त्रिसत्यस्य भक्ति देव गरीयसी भक्ति देव गरीयसी।[1]

ॐ गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति।[2]

[तीनों कालों में सत्य (ईश्वर) की भक्ति ही बड़ी है, भक्ति ही बड़ी है। यह भक्ति एक रूप ही होकर गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति और परम विरहासक्ति, रूप में ग्यारह प्रकार की है।]

यही ग्यारह प्रकार की आसक्ति वल्लभाचार्य ने कृष्ण के प्रति स्थापित की है। कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द, गोप-गोपियों की जो आसक्ति है, वह इन्हीं रूपों में रक्खी गई है। सूरदास ने इस आसक्ति-वर्ग को अपने 'सूरसागर' में इस प्रकार रक्खा है :—

---

१. नारद भक्ति सूत्र—सूत्र संख्या ८०
२. ,, सूत्र संख्या ८१

१ गुण माहात्म्यासक्ति	भ्रमर-गीत[1]
२ रूपासक्ति	दान-लीला[2]
३ पूजासक्ति	गोवर्धन-धारण[3]
४ स्मरणासक्ति	गोपिका-वचन परस्पर[4]
५ दास्यासक्ति	मुरली-स्तुति[5]
६ सख्यासक्ति	गौ-चारन[6]
७ कान्तासक्ति	गोपिका-विरह[7]
८ वात्सल्यासक्ति	यशोदा-विलाप[8]
९ आत्म-निवेदनासक्ति	भ्रमर-गीत[9]
१० तन्मयतासक्ति	भ्रमर-गीत[10]
११ परम विरहासक्ति	भ्रमर-गीत[11]

वल्लभाचार्य के सब से प्रधान शिष्य सूरदास थे। अतः पहले उन्हीं पर विचार करना आवश्यक है।

सूरदास

हिन्दी साहित्य में काव्य सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले

---

१. संक्षिप्त सूरसागर (बेनीप्रसाद) इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२ पृष्ठ १३५

२. ,, पृष्ठ ११८

३. ,, पृष्ठ १२९

४. ,, पृष्ठ २६५

५. ,, पृष्ठ ६५

६. ,, पृष्ठ ६४

७. ,, पृष्ठ ३१५

८. ,, पृष्ठ २९९

९. ,, पृष्ठ ३१७

१०. ,, पृष्ठ ४०१

११. ,, पृष्ठ ४२२

महाकवि सूरदास का काल-निर्णय अभी तक अन्धकार में है, उसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ। जो कुछ भी विचार हुआ है वह सूरदास के कुछ पदों एवं किम्वदन्तियों के आधार पर। सूरदास के काल-निर्णय के विषय में पहले अन्तर्साक्ष्य पर विचार करना चाहिए।

सूरदास ने दृष्टि-कूट सबन्धी जो पद लिखे हैं उनमें एक पद उनके जीवन विवरण से संबन्ध रखता है।[1]

प्रथम ही प्रथ जगाते मे प्राग अदभुत रूप।
ब्रह्म राव विचार ब्रह्मा नाम राखि अनूप॥
पान पय देवी दयो शिव आदि सुर सुख पाय।
कहा दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति सुख पाय॥
शुभ पार पायन सुरन पितु के सहित अस्तुति कीन।
तासु बश प्रशंस शुभ में चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्ह्यो तिन्हैं ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्ह्यो प्रथम आप नरेश॥
दूसरे गुणचन्द ता सुत शीलचन्द स्वरूप।
वीर चन्द्र प्रताप पूरण भयो अद्भुत रूप॥
रन्तभार हमीर भूपत संग सुख अवदात।
तासु बंश अनूप भो हरचन्द्र अति विख्यात॥
आगरे रहि गोपचल में रहो तासुत वीर।
पुत्र जनमें सात ताके महाभट गम्भीर॥
कृष्ण चन्द्र उदार चन्द्र जो रूप चन्द्र सुभाइ।
बुध चन्द्र प्रकाश चौथो चन्द्र भे सुखदाइ॥

---

१. श्री सूरदास का दृष्टि-कूट सटीक (जिसका उत्तमोत्तम तिलक श्री महाराजाधिराजा काशिराज श्री महीश्वरी प्रसाद नारायण सिंहाज्ञानुसार श्री सरदार कवि ने किया है।)

पद नं० ११०, पृष्ठ ७१-७२

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (चौथी बार), सन् १८१२

देवचन्द्र प्रबोध षष्टम चन्द्र ताको नाम ।
भयो सातो नाम सूरज चन्द मन्द निकाम ॥
सो समर कर साहि से सब गये विधि के लोक ।
रहो सूरज चन्द्र हग से हीन भर वर शोक ॥
परो कूप पुकार काहू सुनी ना ससार ।
सातवें दिन आइ यदुपति कियो आप उधार ॥
दिव्य चख दै कही शिशु सुन योग वर जो चाह ।
है कही प्रभु भगति चाहत शत्रु नाश स्वभाइ ॥
दूसरो ना रूप देखे देख राधा श्याम ।
सुनत करुनासिन्धु भाषी एवमस्तु सुधाम ॥
प्रवल दच्छिन विप्रकुल तें शत्रु हू है नाश ।
अखिल बुद्ध विचारि विद्यामान माने मास ॥
नाम राखै है सु सूरजदास, सूर सुश्याम ।
भये अन्तरधान बीते पाछली निशि याम ॥
मोहि मनसा इहै ब्रज की बसौ सुख चित थाप ।
थपि गुसाँई करी मेरी आठ मध्ये छाप ॥
विप्र प्रथ ते जगा को है भाव सूर निकाम ॥
सूर है नँदनन्द जू को लियो मोल गुलाम ॥

इसमें सूरदास ने अपने को चद का वशज माना है। उनके छः भाई थे, जो युद्ध मे मारे गये। सूरदास अन्धे थे। कुएँ मे गिरने पर श्रीकृष्ण द्वारा निकाले गए। "जब श्रीकृष्ण ने वर माँगने को कहा तो मैंने उत्तर दिया कि आपको छोड़ कर मैं किसी दूसरे को न देखूँ। श्रीकृष्ण ने एवमस्तु कह कर यह बतला दिया कि दक्षिण के ब्राह्मण कुल से शत्रु का नाश होगा। वे मेरा नाम सूरजदास या सूरश्याम रख कर अन्तर्धान हो गए। मैंने फिर ब्रजवास की इच्छा की और गोसाईं (विट्ठलनाथ) ने मेरी 'अष्टछाप में स्थापना की। मैं जगात कुल का ब्राह्मण हूँ और व्यर्थ होते हुए भी नन्द नन्दन का मोल लिया हुआ गुलाम हूँ।"

'प्रबल दच्छिन विप्र कुल' के संबन्ध में कहा गया है कि "शिवाजी के सहायक पेशवा का कुल जिसने पीछे मुसलमानों का नाश किया"[1] इतिहास में प्रसिद्ध है। अष्टछाप के कवियों में सूरदास का नाम सर्वोपरि ही है।

मुंशी देवीप्रसाद ने सूरदास को ब्राह्मण न मान कर भाट कुल का ही माना है जिसकी पदवी 'राव' है। वे लिखते हैं :—

"३०-३५ वर्ष पहले मैंने भी एक प्रतिष्ठित राव से जो जम्बू की तरफ़ से टौंक में आया था, यह बात सुनी थी कि ये ३ महाकाव्य राव लोगों के बनाये हुए हैं :—

१ 'पृथ्वीराज रासो'।

२ 'सूरसागर'

३ 'भाषा महाभारत,' जो काशी में बनी है।

मैंने बूँदी के विख्यात कवि राव गुलाबसिंह जी से भी इस विषय में पूछा था, उन्होंने आसाढ़ बदि १ संवत् १९५६ को यह उत्तर दिया कि सूरदास जी को मैं भी ब्राह्मण ही जानता था, परन्तु राज्य के काम को रीवां गया था, वहाँ के सब कवीश्वर मेरे पास आते थे, उन्होंने कहा कि सूरदास जी राव थे ..।"[2]

यदि दृष्टिकूट संबन्धी यह पद प्रामाणिक है तो इससे यह तो स्पष्ट होता है कि सूरदास भाट कुल में उत्पन्न हुए थे और 'राव' थे। पं० राधाकृष्णदास ने पं० राधाकृष्ण संगृहीत सारस्वत ब्राह्मण की जाति-माला में "प्रथ जगात", "प्रथ" या "जगात" नाम पर विचार करते हुए लिखा है कि इस जाति या गोत्र के सारस्वत ब्राह्मण

---

१. श्री सूरदास का जीवन चरित्र, पृ० ४

(श्री सूरसागर—काशी निवासी श्री राधाकृष्णदास द्वारा शुद्ध प्रतियों से संशोधित) खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८०

२. श्री महाराज सूरदास जी का जीवन चरित, भारत जीवन प्रेस, काशी, संवत् १९६३ (प्रथमबार)

सुनने में नहीं आए .."जगा व जगातिया" तो भाट को कहते हैं ।[1] अतः श्री राधा-कृष्णदास के अनुसार भी सूरदास भाट कुल में उत्पन्न हुए थे । ऐसी स्थिति में उपर्युक्त पद की अन्तिम पंक्ति में जो 'विप्र' शब्द है उसका अर्थ क्या होगा ? इस पद में 'विप्र' और 'ब्रह्मराव' दोनों विरोधी शब्दों का साथ ही साथ उल्लेख है । अतः यह विरोध पद की प्रामाणिकता में सन्देह उपस्थित करता है । सूरदास ने अपने बृहत् 'सूरसागर' में अपनी जाति के संबन्ध में कुछ नहीं लिखा ।

सूरदास के एक अन्य पद से उनके अंधे होने का प्रमाण मिलता है :—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरौ ।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा विनु सब जग माँझि अँधेरौ ॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरौ ।
सूर कहा कहि दुविध आँधिरौ बिना मोल को चेरौ ॥[2]

सूर ने 'दुविध आँधिरौ' का अर्थ चर्मचक्षु और मानस-चक्षु लिया है । इससे यह ज्ञात तो नहीं होता कि सूरदास जन्म से ही अंधे थे[1] पर इतना स्पष्ट है कि वे मृत्यु के समय अवश्य अंधे हो गए थे । सूरदास के पदों से उनके काल का भी निरूपण किया गया है ।

सूरदास जी ने 'सूरसागर' के अतिरिक्त दो ग्रंथ और लिखे हैं, 'साहित्य लहरी' और 'सूरसारावली' । ये दोनों ग्रंथ 'सूरसागर' के पीछे बने होंगे, क्योंकि 'साहित्यलहरी' के पदों का सङ्कलन 'सूरसागर' मे कहीं नहीं है, प्रत्युत 'साहित्यलहरी' ही में 'सूरसागर' के कुछ पदों का सङ्कलन है । 'सूरसारावली' भी 'सूरसागर' के पीछे

---

१ श्री सूरदास जी का जीवन चरित्र, पृष्ठ ४

२ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८८ २८९

(गंगा विष्णु श्री कृष्णदास, मुंबई, संवत् १९८५)

बनी होगी; क्योंकि 'सारावली' 'सूरसागर' की विषय-सूची ही है और ग्रन्थ सम्पूर्ण होने के बाद ही उसकी कथा का संकेत दिया जा सकता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि 'साहित्य लहरी' और 'सूरसारावली' ये दोनों ग्रन्थ 'सूरसागर' के बाद लिखे गए। 'साहित्य लहरी' में उन्होंने उसकी रचना का संवत् इस प्रकार दिया है :—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि सुबल सम्बत पेख॥[1]

× × × ×

तृतिय ऋच्छ सुकर्म योग विचारि सूर नवीन।
नन्द नन्दन दास हित साहित्यलहरी कीन॥[2]

काव्य के नियमानुसार इस पद में से [मुनि=७, रसन (जिसमें रस नहीं)=०, रस=६, दशन गौरी नन्द=१] १६०७ संवत् निकलता है अर्थात् 'साहित्य लहरी' की रचना का संवत् १६०७ था। 'सूरसारावली' में एक स्थान पर है :—

गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥[3]

अर्थात् 'सूरसारावली' लिखते समय सूरदास की अवस्था ६७ वर्ष की थी। यदि हम 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' का रचना-काल एक ही मानें (जैसा कि बहुत सम्भव है, क्योंकि दोनों पुस्तकें 'सूरसागर' के बाद ही बनीं) तो सम्वत् १६०७ में सूरदास की आयु ६७ वर्ष की रही होगी अर्थात् उनका जन्म सम्वत् १५४० में

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सूरदास को जन्मान्ध लिखते हैं :—"यह इस प्रसार संसार को न देखने के वास्ते आँखें बन्द किए हुए थे।"
—चरितावली (दूसरी बार १९१७)

२. साहित्य लहरी, छन्द नं० १०६

३. सूर सारावली, छन्द नं० १००३।

हुआ होगा। जितना अन्तर 'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी' के रचना काल में होगा उतना ही अन्तर जन्म संवत् में पड़ जायगा, पर अनुमान से यह कहा जा सकता है कि दोनों के रचना-काल में अधिक वर्षों का अन्तर नहीं हो सकता। अतएव सूरदास के पदों के अनुसार उनका जन्म संम्वत् १५४० या उसके आस-पास ठहरता है।

अब बाह्य साक्ष्य पर विचार करना है। सूरदास के समकालीन लेखकों ने निम्नलिखित ग्रन्थों में उनका निर्देश किया है :—

१. 'भक्तमाल'—नाभादास
२ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'—गोकुलनाथ
३. 'आईन अकबरी'
४. 'मुन्तखिब-उल-तवारीख'
५. 'मुन्शियात अबुलफजल'
६. 'गोसांई चरित'

'भक्तमाल' में सूरदास के संबन्ध में एक ही छप्पय है। वह इस प्रकार है।

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥[1]

इस छप्पय में सूरदास के केवल काव्य की प्रशसा की गई है। उनके जन्म, वंश, जाति, मृत्यु आदि पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

१. श्रीभक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५३९-५४०

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' अवश्य ऐसा ग्रंथ है जो सूर के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डालता है; पर उसमें भी तिथि आदि का कोई संकेत नहीं है। संक्षेप में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के वे अंश उद्धृत किए जाते हैं, जिनमें सूरदास के जीवन की किसी घटना-विशेष का परिचय मिलता है :—

(१) सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतौ सो सूरदास जी स्वामी हैं आप सेवक करते सूरदास जी भगवदीय हैं गान बहुत आछौ करते ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते।[1]

(२) तब सूरदास जी अपने स्थल तें आय के श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन को आये तब श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर आवौ बैठौ तब सूरदास जी श्री आचार्यजी महाप्रभून के दर्शन करिके आगे आय बैठे तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्यश वर्णन करौ तब सूरदास जी ने कही जो आज्ञा .....सो सुनि कैं श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यो जो सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे को है कछु भगवल्लीला वर्णन करि। तब सूरदास ने कह्यो जो महाराज हौं तो समझत नाहीं तब श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो जा स्नान करि आउ हम तोकों समझावेंगे तब सूरदास जी स्नान करि आये तब श्री महाप्रभून जी ने प्रथम सूरदास जी कों नाम सुनायौ पाछें समर्पण करवायौ.... तब सूरदास जी ने भगवल्लीला वर्णन करी।[2].... सो जैसे श्री आचार्य जी महाप्रभून ने मार्ग प्रकाश कियौ हौ ताके अनुसार सूरदास जी ने पद कीये।[3]

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २०२
२. " पृष्ठ २७४-२७५
३. " पृष्ठ २७६

(३) और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहियै सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।[1]

(४) सो सूरदास जी के पद देशाधिपति ने सुने सो सुनि के यह बिचारी जो सूरदास जी काहू विधि सों मिले तो भलौ सो भगवदिच्छाते सूरदास जी मिले सो सूरदास जी सों कह्यो देशाधिपति ने जो सूरदास जी में सुन्यो है जो तुमने बिसनपद बहुत कीये हैं जो मोकों परमेश्वर ने राज्य दीयौ है सो सब गुनीजन मेरौ जस गावत हैं ताते तुमहूँ कछु गावौ तब सूरदास जी ने देशाधिपति के आगे कीर्तन गायौ[2]......।

(५) और सूरदास जी ने या पद के समाप्त में गायौ। "हो जो सूर ऐसे दर्श कोइ मरत लोचन प्यास"। यह गायौ हौ देशाधिपति ने पूछौ जौ सूरदास जी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाहीं सो प्यासे कैसें मरत हैं और बिन देखे तुम उपमा कौं देत हौ सो तुम कैसे देत हौ तब सूरदास जी कछु बोले नाहीं। तब फेरि देशाधिपति बोलौ जो इनके लोचन हैं जो तो परमेश्वर के पास हैं सो उहाँ देखत हैं सो वर्णन करत हैं।[3]

(६) अब सूरदास जी ने श्रीनाथ जी की सेवा बहुत कीनी बहुत दिन तांई ता उपरांत भगवदिच्छा जानी जो अब प्रभून की इच्छा बुलायवे की है यह विचारि के .....जो परासोली तहाँ सूरदास जी आये .. तब श्री गुसांई जी ने अपने सेवकन सों कह्यो जो पुष्टिमार्ग कों जिहाज जात हैं जाकों कछू लेनो होय तौ लेउ।[4]

---

१ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७६

२ ,, पृष्ठ २७६

३ ,, पृष्ठ २८० २८१

४ ,, पृष्ठ २८७

(७) और चत्रभुजदास हू ठाढ़े हुते तब चत्रभुजदास ने कह्यौ जो सूरदास जी ने बहुत भगवत् जश वर्णन कीयौ परि श्री आचार्य जी महाप्रभून को जस वर्णन ना कीयौ तब यह वचन सुनि के सूरदास जी बोले जामें तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कीयौ है कछू न्यारौ देखूँ तो न्यारौ कहूँ।[1]

इन सात अवतरणों से सूरदास के जीवन के संबन्ध में निम्न-लिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

सूरदास बड़े गायक थे। वे गऊघाट पर निवास करते थे और विनय-पद गाते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया और कृष्ण लीला गाने की प्रेरणा दी। उन्होंने कृष्ण-लीला के 'सहस्रावधि' पद लिखे जिनकी प्रसिद्धि सुनकर देशाधिपति (अकबर) उनसे मिले। सूरदास अन्धे थे। वे ईश्वर और गुरु में कोई अन्तर नहीं मानते थे। उन्होंने परासोली में प्राण त्याग किए।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता प्रामाणिक ग्रथ है, अत. सूरदास के सम्बन्ध की ये बातें सत्य हैं। इस विवरण में जहाँ सूरदास के जीवन की विविध घटनाओं का निर्देश है. वहाँ तिथि संवत् का एकान्त अभाव है

अबुल फज़ल[2] ने 'आइन ए-अकबरी' में केवल इतना ही लिखा है कि रामदास नामक गाने वाला अकबर के दरबार में गाता था, उसका लड़का सूरदास भी अपने पिता के साथ आया करता था। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

मुन्तखिबुल तवारीख' में भी रामदास का नाम गायकों में है।[1]

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८८

२ आइन-ए-अकबरी, भाग १ पृष्ठ ६१२ (फुटनोट) ब्लाकमैन द्वारा अनूदित १८७१

१ मुंतखिबुल तवारीख, भाग, २ पृष्ठ ३७

बैरम खाँ ने उसे एक लाख टके का पुरस्कार दिया था। ये रामदास सूरदास के पिता थे, अतः सूरदास भी अपने जीवन-काल में अकबर के समकालीन थे।

अबुल फ़ज़ल ने एक ग्रंथ और लिखा है, उसका नाम है 'मुंशियात अबुल फ़ज़ल'। उसमें बहुत से पत्रों का संग्रह है। उसके अन्त में एक पत्र सूरदास के नाम का भी है, जो बादशाह की आज्ञा से सूरदास को काशी में अबुल फ़ज़ल ने लिखा था। उस पत्र में कोई तिथि नहीं दी गई है, पर मुंशी देवीप्रसाद 'अकबरनामा' के अनुसार अकबर का प्रयाग में आना और क़िला तथा बाँध बनवाना सं० १६४२ में समझते हैं। इसी समय सूरदास अकबर से मिले होंगे।

'गोसांईं चरित' में वेणीमाधवदास ने सूरदास का तुलसीदास से मिलन सवत् १६१६ में लिखा है। इस अवसर पर सूरदास ने अपना 'सूरसागर' तुलसीदास को दिखलाया था।

> सोरह सैं सोरह लगे कामद गिरि ढिग बास।
>
> सुचि एकांत प्रदेश महँ आए सूरसुदास॥
>
> कवि सूर दिखायउ सागर को, सुचि प्रेम कथा नट नागर को॥[1]

'गोसाईं चरित' की प्रामाणिकता में सन्देह है।

बाह्य साक्ष्य के आधार पर सूरदास के जीवन और उनकी मृत्यु पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य से पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। सूरदास ने सवत् १५८७ के पूर्व ही दीक्षा ग्रहण की होगी, क्योंकि संवत् १५८७ में महाप्रभु वल्लभाचार्य का निधन हो गया था।[2] अतः सूरदास का आविर्भाव काल सवत् १५८७ के बाद ही मानना उचित है।

---

१. गोसांई चरित दोहा २६ और बाद की चौपाई।

२ श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता

(गोस्वामि श्री हरिराय जी महाराज कृत)

श्रीनाथद्वारा, सवत् १९७६

सूरदास का निर्देश 'आईन अकबरी' और 'मुंशियात अबुल-फजल' में विशेष रूप से है इस निर्देश से यह ज्ञात होता है कि सूरदास गायक थे और अकबर के दरबार में अपने पिता बाबा रामदास ग्वालेरी गायंदा (गवैया) के बाद उसी पद पर नौकर थे। यदि अकबर के दरबार में वे नौकर न होते तो उनके नाम निर्देश की आवश्यकता नहीं थी। तुलसीदास जी भी तो अकबर के समकालीन उत्कृष्ट कवि और गायक थे, पर उनका निर्देश 'आईन अकबरी' में नहीं है अतः अकबर के दरबार में सूरदास का नौकर रहना ही निर्देश का कारण हो सकता है। अकबर के दरबार में गाने वालों में जो चार गायक थे उनमें सूरदास का नाम भी है[1]:—

१ बाबा रामदास ग्वालेरी गोयदा (गवैया)
२ नायक जरजू (सरजू?) ग्वालेरी गोयंदा (गवैया)
३ सूरदास बाबा रामदास का बेटा गो० (गवैया)
४ रंग सेन आगरे वाला।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में जो सूरदास का देशाधिपति (अकबर) से मिलने का निर्देश है उससे यह ध्वनि निकलती है कि सूरदास अकबर के दरबार में नौकर नहीं थे, वरन् स्वतंत्र संत थे। देशाधिपति (अकबर) ने सूरदास का गान सुनने की इच्छा की और सूरदास ने आकर अकबर की प्रशंसा न कर 'मन रे करु माधो से प्रीति' या 'नाहिन रह्यो मन मे ठौर' पद सुनाए। अकबर ने सूरदास को कुछ देना चाहा, पर सूरदास कुछ भी न स्वीकार कर श्री गोवर्द्धन चले आए।

जोधपुर के कविराज मुरारीदान का कथन है कि अकबर ने सीकरी में सूरदास को बुलाकर उनका गाना सुना। सूरदास ने गाया "सीकरी में कहा भगत को काम।" सूरदास की गान-विद्या सुनकर अकबर ने प्रसन्न होकर 'एकसदी' मनसब दिया। सूरदास ने पहले तो स्वीकार नहीं किया, बाद में अकबर के आग्रह के कारण

---

१. सूरदास जी का जीवन चरित्र (मुंशी देवीप्रसाद) पृष्ठ २०

उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। इसी कारण 'आईन-अकबरी' में सूरदास का निर्देश है।

कविराज मुरारीदान के कथन से 'चौरासी वार्ता' और 'आईन अकबरी' दोनों के मतों की पुष्टि हो जाती है। पर सीकरी में गाना सुनने की वार्ता तो कुंभनदास के संबन्ध में कही जाती है, सूरदास के सम्बन्ध में नहीं। जो हो, सूरदास का अकबर के दरबार से पिता के द्वारा ही सबन्ध रहा हो, क्योंकि इस स्थान पर 'आईन अकबरी का मत ही अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए। चौरासी वार्ताकार ने पुष्टि मार्ग के संत सूरदास का महत्व घोषित करने के लिए उन्हें किसी के संरक्षण में लाना स्वीकार न किया हो। यदि सूरदास क अकबर के दरबार से कुछ संबन्ध था तो उनका प्रसिद्धि-काल संवत १६१३ के बाद ही होना चाहिये, क्योंकि इस संवत् में ही अकबर ने राज्य-सिंहासन प्राप्त किया था।

सूरदास की मृत्यु गोसाई विट्ठलनाथ के सामने ही हुई थी जैस 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा हुआ है। विट्ठलनाथ कं मृत्यु संवत् १६४२ में हुई, अतएव सूरदास जी संवत् १६४२ में य उसके पहले ही मरे होंगे। 'मुंशियात अबुल फजल' के दूसरे दफ़्त में जो पत्र है वह अबुल फजल द्वारा सूरदास को लिखा गया है उस समय सूरदास बनारस में थे। उस पत्र के एक अंश क अनुवाद मुंशी देवीप्रसाद के शब्दों में इस प्रकार है:—

"हज़रत बादशाह शीघ्र ही इलाहाबाद को पधारेंगे। आशा है कि आप भी सेवा में उपस्थित होकर सच्चे शिष्य होवें और ईश्व को धन्यवाद दें कि हजरत भी आपको परम धर्मज्ञ जान कर मि मानते हैं और जब हजरत मित्र मानते हैं तो इस दरगाह के ... और भक्तों का उत्तम बर्ताव मित्रता के अतिरिक्त और क्या होगा। ईश्वर शीघ्र ही आपके दर्शन करावे कि जिसमे हम भी आपकी सत्संगति और चित्ताकर्षक वचनों से लाभ उठावें।

यह सुन कर कि वहाँ का करोड़ी आपके साथ अच्छा बर्ताव

नहीं करता हज़रत को भी बुरा लगा है और इस विषय में उसके नाम कोपमय फ़र्मान भी जा चुका है और इस तुच्छ शिष्य अबुल फ़ज़ल को भी आज्ञा हुई है कि आपको दो-चार अक्षर लिखे, वह करोड़ी यदि आपकी शिक्षा नहीं मानता हो तो हम उसका काम उतार लें और जिसको आप उचित समझें, जो दीन-दुखी और सम्पूर्ण प्रजा की पूरी सँभाल कर सके उसका नाम लिख भेजें तो अर्ज़ करके नियत करा दूँ। हज़रत बादशाह आपको .खुदा से जुदा नहीं समझते, इसलिए उस जगह के काम की व्यवस्था आपकी इच्छा पर छोड़ी हुई है। वहाँ ऐसा हाकिम (शासक) चाहिए कि जो आपके अधीन रहे और जिस प्रकार से आप स्थिर करें काम करें आप से यही पूछना है सत्य कहना और सत्य करना है। खत्रियों वगैरह में से जिस किसी को आप ठीक समझें कि वह ईश्वर को पहिचान कर (प्रजा का) प्रतिपाल करेगा उसी का नाम लिख भेजें तो प्रार्थना करके भेजूँ। ईश्वर के भक्तों को ईश्वर सम्बन्धी कामों में अज्ञानियों के तिरस्कार करने का संशय नहीं होता है सो ईश्वर कृपा से आप का शरीर ऐसा ही है। परमेश्वर आप को सत् कर्मों की श्रद्धा देवे और सत्कर्म से ऊपर स्थिर रक्खे और ज्ज़ादा (ज्यादा) सलाम।"[1]

इस पत्र में कोई तिथि नहीं दी गई है किन्तु 'अकबरनामा' के तीसरे दफ्तर से इलाहाबाद बसाने और "एक कोस लंबा ४ गज़ चौड़ा १४ गज़ ऊँचा एक बाँध" बँधवाने का समय ११ शहरेवर सन् ३० (भादों सुदी १० सम्वत् १६४२) के "दो महीने कुछ दिन" पूर्व स्थिर होता है (अर्थात् श्रावण कृष्ण सम्वत् १६४२) क्योंकि बादशाह इलाहाबाद शहर बसाने के बाद दो महीने और कुछ दिन वहां रहे जब उन्हें उक्त तिथि को काबुल के बलवे को दबाने के लिए कूच करना पड़ा। अतः सम्वत् १६४२ के श्रावण कृष्ण में सूरदास

---

१. सूरदास जी का जीवन चरित (मुन्शी देवीप्रसाद जी) पृष्ठ १०-११

को अबुल फज़ल द्वारा यह पत्र लिखा गया। ऊपर लिखा जा चुका है कि सूरदास गोसाईं विट्ठलनाथ के पूर्व ही मरे थे। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई—किस मास में हुई, यह निश्चित नहीं। उक्त पत्र से ज्ञात होता है कि सूरदास श्रावण कृष्ण सं० १६४२ में वर्तमान थे, अतः विट्ठलनाथ की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के पहले नहीं हो सकती। श्रावण से फाल्गुन १६४२ तक सूरदास और विट्ठलनाथ दोनों की मृत्यु हुई होगी, पहले सूरदास परासोली में मरे होंगे। उनकी मृत्यु के कुछ दिन या कुछ महीने बाद विट्ठलनाथ भी सम्वत् १६४२ में मरे होंगे।

अत इस प्रमाण से सूरदास की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के बाद ही हुई। अभी तक के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सूरदास का जन्म-सम्वत् १५४०, प्रसिद्धि-सवत १५८७ और मृत्यु-संवत् १६४२ है। इस प्रकार सूरदास ने १०२ वर्ष की आयु पाई।

मिश्रबन्धु के अनुसार दृष्टिकूट में जो पद है, वह प्रक्षिप्त है। "हमारा ख़याल है कि उनसे लगभग दो सौ वर्ष पीछे, पेशवाओं का अभ्युदय और मुग़लों का पतन देखकर किसी भाट ने लगभग बालाजी बाजीराव के समय में ये छंद बना कर सूरदास की कविता में रख दिये हैं। इन छंदों के कपोल कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि श्री गोकुलनाथ ने अपने चौरासी चरित्र में और मियाँसिंह ने भक्त विनोद में सूरदास को ब्राह्मण कहा है। फिर यह भी बहुधा सम्भव नहीं कि यदि इनके छै भाई मारे गये होते तो ये दोनों लेखक उस बात को लिखते।"[1]

इन विचारों के आधार पर मिश्रबन्धु 'चौरासी वार्ता' का प्रमाण देते हुए सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। शिवसिंह सेंगर ने भी अपने 'सरोज' में सूरदास को ब्राह्मण लिखा है :—

---

[1] हिन्दी नवरत्न (महात्मा सूरदास) पृष्ठ २३६

मिश्रबन्धु—चतुर्थ सस्करण सं० १६६१

६५. सूरदास ब्राह्मण ब्रजवासी बाबा रामदास के पुत्र, वल्लभाचार्य के शिष्य स० १५४० में उ० ।[1]

सूरदास के ग्रन्थ

सूरदास का प्रधान ग्रन्थ 'सूरसागर' है, पर खोज करने पर उनके नाम से अन्य ग्रंथ भी मिले हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है :—

१ गोवर्धनलीला बड़ी

पद्य संख्या ३००
विषय—"श्रीकृष्ण की गोवर्धन लीला अथवा श्रीकृष्ण का गोवर्धन को उँगली पर सात दिनों तक रखे हुए ब्रजभूमि को इन्द्र के कोप से बचा लेना ।[2]

२ दशम स्कंध टीका

पद्य संख्या १६१३
विषय—भागवत की कथा ।[3]

३ नागलीला

पद्य संख्या ४०
विषय—कालीदह की कथा ।[4]

४ पद संग्रह

पद्य संख्या ४१७
विषय—नीति, धर्म, उपदेश ।[5]

---

१. शिवसिंह सरोज (सेंगर) पृष्ठ ५०२
लखनऊ, १६२६
२. खोज रिपोर्ट सन् १६१७-१६१८-१६१६ पृष्ठ ३७१
३. ,, १६०६-१६०७ १६०८ पृष्ठ ३२४
४. ,, ,, पृष्ठ १२४
५. ,, ,, पृष्ठ १२४

को अबुल फज़ल द्वारा यह पत्र लिखा गया। ऊपर लिखा जा चुका है कि सूरदास गोसाईं विट्ठलनाथ के पूर्व ही मरे थे। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई—किस मास में हुई, यह निश्चित नहीं। उक्त पत्र से ज्ञात होता है कि सूरदास श्रावण कृष्ण सं० १६४२ में वर्तमान थे, अतः विट्ठलनाथ की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के पहले नहीं हो सकती। श्रावण से फाल्गुन १६४२ तक सूरदास और विठ्ठलनाथ दोनों की मृत्यु हुई होगी, पहले सूरदास परासोली में मरे होंगे। उनकी मृत्यु के कुछ दिन या कुछ महीने बाद विट्ठलनाथ भी सम्वत् १६४२ में मरे होंगे।

अत इस प्रमाण से सूरदास की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के बाद ही हुई। अभी तक के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सूरदास का जन्म-सम्वत् १५४०, प्रसिद्धि-संवत् १५८७ और मृत्यु-संवत् १६४२ है। इस प्रकार सूरदास ने १०२ वर्ष की आयु पाई।

मिश्रबन्धु के अनुसार दृष्टिकूट में जो पद है, वह प्रक्षिप्त है। "हमारा ख़याल है कि उनसे लगभग दो सौ वर्ष पीछे, पेशवाओं का अभ्युदय और मुगलों का पतन देखकर किसी भाट ने लगभग बालाजी बाजीराव के समय में ये छंद बना कर सूरदास की कविता में रख दिये हैं। इन छंदों के कपोल-कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि श्री गोकुलनाथ ने अपने चौरासी चरित्र में और मियाँसिंह ने भक्त विनोद में सूरदास को ब्राह्मण कहा है। फिर यह भी बहुधा सम्भव नहीं कि यदि इनके छै भाई मारे गये होते तो ये दोनों लेखक उस बात को लिखते।"[1]

इन विचारों के आधार पर मिश्रबन्धु 'चौरासी वार्ता' का प्रमाण देते हुए सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। शिवसिंह सेंगर ने भी अपने 'सरोज' मे सूरदास को ब्राह्मण लिखा है :—

---

१ हिन्दी नवरत्न (महात्मा सूरदास) पृष्ठ २३१

मिश्रबन्धु—चतुर्थ संस्करण सं० १९९१

६५. सूरदास ब्राह्मण ब्रजवासी बाबा रामदास के पुत्र, वल्लभाचार्य के शिष्य सं० १५४० में उ० ।[1]

सूरदास के ग्रन्थ

सूरदास का प्रधान ग्रन्थ 'सूरसागर' है, पर खोज करने पर उनके नाम से अन्य ग्रंथ भी मिले हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है :—

१ गोवर्धनलीला वड़ी

पद्य संख्या ३००

विषय—"श्रीकृष्ण की गोवर्धन लीला अथवा श्रीकृष्ण का गोवर्धन को उँगली पर सात दिनों तक रखे हुए ब्रजभूमि को इन्द्र के कोप से बचा लेना।[2]

२ दशम स्कंध टीका

पद्य संख्या १६१३

विषय—भागवत की कथा।[3]

३ नागलीला

पद्य संख्या ४०

विषय—कालीदह की कथा।[4]

४ पद संग्रह

पद्य संख्या ४१७

विषय=नीति, धर्म, उपदेश।[5]

---

१. शिवसिंह सरोज (सेंगर) पृष्ठ ५०२
लखनऊ, १९२६

२. खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९ पृष्ठ ३७१

३. ,, १९०६-१९०७ १९०८ पृष्ठ ३२४

४. ,, ,, पृष्ठ १२४

५. ,, ,, पृष्ठ ११४

५ प्राणप्यारी

पद्य संख्या १२

विषय—श्याम सगाई ।[1]

६ ब्याहलो

पद्य-संख्या २३

विषय—विवाह ।[2]

७ भागवत

पद्य-संख्या ११२६

विषय—कृष्ण की कथा ।[3]

[विशेष—यह प्रति खंडित है। पूर्व के २५६ पृष्ठों का पता ही नहीं है। पृष्ठ २५६ से अंश दसम स्कन्ध का है और अन्त में द्वादश की समाप्ति है ।]

८ सूर पचीसी

पद्य-सख्या २८

विषय—ज्ञानोपदेश के पद ।[4]

९ सूरदासजी का पद

विशेष विवरण ज्ञात नहीं ।[5]

१० सूरसागर

पद्य-संख्या २१०००

विषय—श्रीभागवत की कथा ।[6]

---

१. खोज रिपोर्ट सन् १९१७ १९१८-१९१९ पृष्ठ ३७०
२ ,, १९०६-१९०७-१९०८ पृष्ठ ३२३
३ ,, १९१७-१९१८-१९१९ पृष्ठ ३७०
४. ,, १९१२-१९१३-१९१४ पृष्ठ ३३४
५. ,, १९०२
६ ,, १९१७-१९१८-१९१९ पृष्ठ ३७०

[विशेष—इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।]

११ सूरसागर सार

पद्य-संख्या ३७०

विषय—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का वर्णन

[विशेष—सूरसागर सार होने पर भी ग्रंथ का प्रारम्भ 'श्रीरामाय नमः' से होता है। प्रारम्भ और अंत के पद भी श्री रामचन्द्र से ही संबन्ध रखते हैं :—

प्रारम्भ—बिनती कोई विधि प्रभुहिं सुनाऊँ ।
महाराज रघुवीर धीर को, समय न कबहु पाऊँ ॥

अन्त—सियाराम लछमन निरखत सूरदास के नयन सिराये ॥

राम का ऐसा निर्देश सूरसागर सार के संबन्ध में सन्देह उत्पन्न करता है ।]

[सू]रजदास के नाम से भी दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। अगर ये [सूरज]दास सूरदास ही हैं तो निम्नलिखित दो ग्रन्थ भी सूरदास [के ग्रन्थ]ों में सम्मिलित करना चाहिए। वे दो ग्रन्थ निम्नलिखित

[एक]ादशी माहात्म्य

१३ राम जन्म

पद संख्या ६४०

विषय—राम चरित्र वर्णन।[1]

इन ग्रथों के अतिरिक्त सूरदास के तीन ग्रथ और कहे जाते हैं, जिनके नाम है 'सूर सारावली,' 'साहित्य लहरी' और 'नल-दमयन्ती'।[2] इस प्रकार कुल मिलाकर सूरदास के नाम से १६ ग्रन्थ हैं। इनमें से 'सूरसागर' ही पूर्ण प्रामाणिक है। अन्य ग्रन्थ सूर सागर' के ही अश हैं या 'सुरसागर की कथावस्तु के रूपान्तर। कुछ ग्रथ तो अप्रामाणिक भी होंगे। इन ग्रन्थों के परीक्षण की आवश्यकता है।

'सूरसागर' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में प्रधानतः आठ प्रतियों की प्राप्ति हुई है:—

(१) खोज रिपोर्ट सन् १९०६

(१) 'सूरसागर' (सरक्षण स्थान अज्ञात)
लिपि सवत् १७३५

(२) 'सूरसागर' (,, ,,) ,, ,, १८१६

(२) खोज रिपोर्ट सन् १९०६–१९०७-१९०८

(१) 'सूरसागर' (दतिया राज्य पुस्तकालय)
लिपि सवत् अज्ञात

(२) 'सूरसागर' ,, ,,

(३) 'सूरसागर' (विजावर राज्य पुस्तकालय)
लिपि संवत् १८७३

---

[1] खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९ पृष्ठ ३७१

[2] ,, १९०९ १० ११ पृष्ठ ८ (रिपोर्ट)

(३) खोज रिपोर्ट सन् १९१२-१९१३-१९१४

(१) 'सूरसागर' (प० लालमणि वैद्य, पुवायाँ, सहारनपुर) लिपि सवत् १६००

(४) खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९

(१) 'सूरसागर' (ठा० रामप्रताप सिंह वरौली, भरतपुर) लिपि संवत् १७६८

(२) 'सूरसागर' (मतगध्वजप्रसाद सिंह, बिसवाँ अलीगढ़) दो भाग— लिपि सवत् १८७६

बाबू राधाकृष्णदास ने जो 'सूरसागर' का सम्पादन किया था उसके लिए उन्होंने तीन प्रतियों का उल्लेख किया है [1].—

(१) "श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के पुस्तकालय मे पुस्तकों को उलटते पलटते एक बस्ते में 'सूरसागर' का केवल दशम स्कध का पूर्वार्द्ध हाथ आया।"

(२) "बीच बांकीपुर जाने का सयोग हुआ और वहाँ मित्रवर बाबू रामदीन सिंह जी के यहाँ 'सूरसागर' का प्रथम से नवम स्कध तक देखने में आया।"

(३) "दशम उत्तरार्ध और एकादश द्वादश स्कंध श्री १०८ महाराज काशिराज बहादुर के पुस्तकालय से मँगाया गया।"

ये तीनों प्रतियाँ किस संवत् की हैं, यह ज्ञात नहीं। खेमराज श्रीकृष्णदास ने भी अपने निवेदन मे "एक प्राचीन पूरी प्रति जानी-मल खानचन्द्र जी की कोठी मे है" का निर्देश किया है जिससे मिलान कर 'सूरसागर' का परिष्कृत संस्करण प्रकाशित किया गया। पर इस प्रति का भी संवत् नहीं दिया गया। खेमराज श्रीकृष्णदास ने आगे निवेदन मे लिखा है :—"मैं बडे हर्ष के साथ प्रकाशित

---

१ निवेदन, श्रीसूरसागर (श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम यंत्रालय) सं० १६८०

करता हूँ कि श्री १०८ गोस्वामि बालकृष्ण लाल जी महाराज कांकरौली नरेश ने आज्ञा दी है कि मेरे पुस्तकालय में पूरे सवा लाख पद हैं और उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की है कि यदि तुम चाहोगे तो मैं उसे नकल करने की आज्ञा दूँगा। यदि श्री वेङ्कटेश्वर भगवान् से प्रेरित हुए हमारे ग्राहकों से उत्साह पाकर उत्साहित हुआ मैं उसे छापने की इच्छा करता हुआ उस ग्रंथ को प्राप्त करने का उद्योग करूँगा।"

किन्तु न तो यह 'उद्योग' ही हुआ और न यही ज्ञात हुआ कि श्री काकरौली नरेश के यहाँ की प्रति प्राप्त हो सकी या नहीं।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अप्रैल सन् १९३४ में प्रकाशित 'सूरसागर' की प्रथम सख्या में निम्नलिखित प्रतियों का आधार लिया गया है :—

प्रकाशित

(१)	कलकत्ता और लखनऊ दोनों स्थानों की प्रति	संवत् १८८६
(२)	वेंकटेश्वर प्रेस बबई की प्रति	संवत् १९६४

हस्तलिखित

(१)	बाबू केशवदास शाह काशी की प्रति	संवत् १७५३
(२)	वृन्दावन वाली प्रति	,, १८१३
(३)	प० गणेश विहारी मिश्र (मिश्र बन्धु) की प्रति	,, १८५४
(४)	श्री श्यामसुदर दास अग्रवाल, मशकगज की प्रति	,, १८६६
(५)	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति	,, १८८०
(६)	राय राजेश्वरबली, दरियाबाद की प्रति	,, १८८२
(७)	कालाकांकर राज्य पुस्तकालय की प्रति	,, १८८९
(८)	जानीमल खानचद, काशी की प्रति	,, १९०२
(९)	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति	,, १९०६
(१०)	काकरौला राज्य की प्रति	,, १९१२

(११) नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रति संवत् १९१६
(१२) राय कृष्णदास बनारस का प्रति ,, १९२६

इन प्रतियों के अतिरिक्त कुछ हस्त-लिखित प्रतियाँ और भी हैं जिनमें संवत् नहीं दिया गया है :—

(१) पं० लालमणि मिश्र, (शाहजहाँपुर) की प्रति
(२) बाबू गोकुलदास, काशी की प्रति
(३) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति
(४) बाबू पूर्णचन्द्र नाहर, कलकत्ता की प्रति
(५) राय बहादुर श्यामसुंदर दास की प्रति

इन प्रतियों में बाबू केशवदास शाह, काशी की प्रति सब से पुरानी और सब से विश्वस्त है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी का यह प्रकाशन अपेक्षाकृत प्रामाणिक है। स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर ने पहले इसके सम्पादन की सामग्री जुटाई थी, पर वे असामयिक मृत्यु के कारण ऐसा न कर सके। उन्होंने जितना सम्पादन किया उसमें "पाठ शुद्धि के अन्तर्गत छंदों का संशोधन, चरणों का क्रम निरूपण, तथा पद भी निश्चित पद्धति का अनुसरण" पर ध्यान दिया गया था। इसके सम्पादन के लिए सभा ने पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित केशवप्रसाद मिश्र, प्रकाशन मंत्री तथा सम्पादक पंडित नंददुलारे वाजपेयी की एक उपसमिति बनाई है। इस कार्य को पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी उक्त समिति के तत्वावधान में, तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के निरीक्षण में और उनके परामर्श के अनुसार कर रहे हैं।[1]

रचनाकाल—'सूरसागर' का रचनाकाल संवत् १५८७ के बाद ही होना चाहिए, जिस समय सूरदास श्रीवल्लभाचार्य से दीक्षित हुए। दीक्षित होने से पहले वे "घिघियाने" थे, बाद

---

१. निवेदन सूरसागर अंक १, अप्रैल १९३४

में वे भगवल्लीला' वर्णन करने में समर्थ हुए। इसी 'भगवल्लीला' वर्णन करने में उन्होंने 'सूरसागर' की रचना की। यह ग्रंथ किसी तिथि विशेष में नहीं लिखा गया होगा। समय-समय पर पदों की रचना होती रही और अन्त में उनका संकलन कर दिया गया। 'सूरसारावली' की रचना देखने से ज्ञात होता है कि सूरदास के जीवन काल ही मे 'सूरसागर' की समाप्ति हो गई थी।

कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो॥
तादिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार सूरसारावलि गावत अति आनन्द॥
तब बोले जगदीश जगत गुरु सुनो सूर मम गाथ।
तू कृत मम यश जो गावैगो, सदा रहै मम साथ॥[१]

विस्तार—श्री राधा कृष्णदास लिखते हैं—"सूरदास जी के सवा लक्ष पद बनाने की किम्बदन्ती जो प्रसिद्ध है वह ठीक विदित होती है, क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरान्त और 'सारावली' के समाप्त होने तक बनाये इसके आगे-पीछे के अलग ही रहे।"[२]

इस कथन के अनुसार 'सूरसागर' की रचना सूरदास के जीवन काल ही में समाप्त हो गई थी और उसमे एकलक्ष पद भी थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनका निर्देश दूसरी भाँति से दिया गया है —

---

[१] सूरसारावली पद ११०२, ११०३, ११०४

[२] श्री सूरदास जी का जीवन चरित, पृष्ठ २

"और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहियै सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।"[1]

इस उद्धरण में 'सहस्रावधि' है लक्षावधि' नहीं। अत: इन पदों की संख्या निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सकती। शिवसिंह सेंगर ने अपने शिवसिंह सरोज में लिखा है :—

"इनका बनाया 'सूरसागर' ग्रंथ विख्यात है। हमने इनके पद ६० हजार तक देखे हैं। समग्र ग्रथ कहीं नहीं देखा।"[2]

किन्तु इनके प्राप्त पदों की संख्या अधिक से अधिक ४१३२ है। 'सूरसागर' 'श्रीमद्‌भागवत' के आधार पर लिखा गया है। इसलिए 'सूरसागर' में १२ स्कन्ध हैं पर उन स्कन्धों का विस्तार सूरदास ने अपनी काव्य-दृष्टि के अनुसार ही किया है। नीचे के विवरण से ज्ञात हो जायगा कि 'सूरसागर' का विस्तार स्कन्धों की दृष्टि से कितना असमान है।[3]

प्रथम स्कन्ध	२१६ पद	सप्तम स्कन्ध	८ पद
द्वितीय ,,	३८ ,,	अष्टम ,,	१४ ,,
तृतीय ,,	१८ ,,	नवम ,,	१७२ ,,
चतुर्थ ,,	१२ ,,	दशम ,, पूर्वार्ध	३४६५ ,,
		उत्तरार्ध	१३८ ,,
पञ्चम ,,	४ ,,	एकादश ,,	६ ,,
षष्ठ ,,	८ ,,	द्वादश ,,	५ ,,

वर्ण्य-विषय

प्रथम स्कन्ध में अधिकतर विनय-पद हैं। इसमें सूरदास के समस्त

---

१ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७६
(कल्याण मुंबई संवत् १६८५)

२. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ५०२
(नवल किशोर प्रेस, लखनऊ) सन् १६२६

३. श्री सूरसागर (वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई) सम्वत् १६८०

विनय-पद संग्रहीत ज्ञात होते हैं। यह रचना वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व ही सूरदास ने की होगी। इन पदों में सूरदास का दास्य भक्तिमय दृष्टिकोण है। काव्य की दृष्टि से भी यह स्कन्ध उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। विनय-पदों में सगुणोपासना का प्रयोजन, भक्ति की प्रधानता, मायामय ससार आदि पर अच्छे पद हैं। विनय-पदों के अतिरिक्त विष्णु के चौबीस अवतारों पर भी अच्छी रचना है।

द्वितीय स्कन्ध में भी कोई विशेष कथा नहीं। भक्ति सम्बन्धी पदों की ही प्रचुरता है। द्वितीय स्कन्ध के बाद अष्टम स्कन्ध तक विष्णु के अवतारों तथा अन्य पौराणिक कथाओं का निरूपण है। नवम स्कन्ध में रामावतार की कथा है। यह कथा अधिक विस्तार से नहीं है। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि राम-कथा का महत्त्व उस समय स्पष्ट रूप से साहित्य में घोषित न हुआ था अथवा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के कारण सूरदास ने कृष्ण भक्ति की महत्ता राम-भक्ति से अधिक घोषित की थी। जिस प्रकार का दृष्टिकोण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में है। वैसा ही दृष्टिकोण सूरदास ने अपने सामने रक्खा। इस राम-कथा पर तुलसीदास के 'मानस' का किंचित प्रभाव भी लक्षित नहीं है। सूरसागर' की रामकथा अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' से प्रभावित है। परशुराम का राम से मिलन विवाह के बाद ही न होकर अयोध्या को लौटते हुए मार्ग में हुआ है, जैसा प्रसग 'वाल्मीकि रामायण' मे है। 'सूरसागर' में इस प्रसंग का वर्णन निम्नलिखित है।—

विषे परशुराम को रामजी सों मिलाप परस्पर विवाद

रशुराम तेहि अवसर आयो।

ठिन पिनाक कह्यो किन तोर्‌यो क्रोधवन्त यह वचन सुनायो॥

विप्र जान रघुबीर धीर दोउ हाथ जोरि शिर नायो।
बहुत दिनन को हुतो पुरातन हाथ छुअत उठि आयो॥
तुम तौ द्विज कुल पूज्य हमारे हम तुम कौन लराई।
क्रोधवन्त कछु सुन्यो नहीं लियो सायक धनुष चढाई॥
तबहूँ रघुपति क्रोध न कीनो धनुष बान सँभार्‌यो।
सूरदास प्रभु रूप समुझि पुनि परशुराम पग धार्‌यो[1]

सूरदास द्वारा वर्णित रामकथा में लोक-शिक्षा अथवा धार्मिक एवं सामाजिक मर्यादा का भी विचार नहीं है जैसा तुलसीदास के 'मानस' में है। 'सूरसागर' में दशरथ अपने सत्य पर दृढ़ रहने के बदले राम से अयोध्या में रुक जाने की याचना करते हैं :—

राम जू प्रति दशरथ विलाप।
रघुनाथ पियारे आज रहो हो।[2]

अतः यह सिद्ध है कि 'सूरसागर' के नवम स्कन्ध पर मानस' का प्रभाव और उसका आदर्श नहीं है।

'सूरसागर' में दशम स्कन्ध का प्राधान्य है, क्योंकि उस स्कन्ध में श्रीकृष्ण का चरित्र है। श्रीकृष्ण सूर के आराध्य हैं अतः उन्होंने अपने आराध्य का चित्र उत्कृष्ट रूप से चित्रित किया है। दसम स्कन्ध के दो भाग हैं पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। 'सूरसागर' में पूर्वार्ध उत्तरार्ध से बहुत बड़ा है। पूर्वार्ध में पद संख्या ३४६५ है और उत्तरार्ध में केवल १२८। इस विषमता का कारण यह है कि दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में गोकुल और ब्रज में विहार करने वाले श्रीकृष्ण का चरित्र है और उत्तरार्ध में द्वारिका-गमन से मृत्यु तक श्रीकृष्ण की जीवनी है। सूरदास के आराध्य बालकृष्ण ही थे, अतः उन्होंने श्रीकृष्ण के पूर्वार्ध जीवन पर ही विशेष प्रकाश डाला।

---

१. सूरसागर, पृष्ठ ७२
२ ,, पृष्ठ ७४

उत्तरार्ध के राजनीतिक कृष्ण सूरदास को उतने प्रेममय नहीं ज्ञात हुए।

दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में कृष्ण का बाल-जीवन बड़े विस्तार से वर्णित है। उसमें श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य और वात्सल्य भावनाओं की पुष्टि बड़ी कुशलता के साथ की गई है। 'श्रीमद्भागवत' का आधार लेते हुए भी सूरदास ने कृष्ण के जीवन का चित्रण नितान्त मौलिक रूप से किया है। भागवत के कृष्ण शक्ति के प्रतीक हैं। सूरदास के कृष्ण इस गुण से समन्वित होते हुए भी प्रेम और माधुर्य की प्रतिमूर्ति हैं। इस प्रेम और माधुर्य की व्यंजना ग्राम्य वातावरण में बड़ी स्वाभाविकता के साथ हुई है। सूरदास ने कृष्ण के प्रेमपूर्ण जीवन में जो विशेषता रक्खी है, उसमें निम्नलिखित अंग विशेष सौन्दर्य लिये हुए हैं।

१ मनोवैज्ञानिक चित्रण

सूरदास ने शिशु और बाल-जीवन की प्रत्येक भावना का इतना गंभीर अध्ययन किया है कि वे प्रत्येक परिस्थिति के चित्र बड़ी कुशलता और स्वाभाविकता से उतार सकते हैं। उन्होंने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदयों की भावनाओं को इतने सर्वजनीन रूप (Universal manner) से प्रस्तुत किया है कि वे चिरन्तन और सत्य हैं। विविध मानसिक अवस्थाओं के जो चित्र खींचे गए हैं वे मानवी भावनाओं के इतिहास में कभी पुराने न होंगे। कवि का यही अमर काव्य है। बालक के सरल से सरल कार्य को वे बाल-मनोविज्ञान... यन कर ही वर्णन करते हैं और उसका अपार सौन्दर्य पाठकों के सामने बिखेर देते हैं।

२ लौकिक आचार

ग्राम्य वातावरण में लौकिक आचारों के निरूपण से बालक के जीवन मे कितनी स्वाभाविकता और सरसता आ जाती है यह 'सूरसागर' के स्थलों से स्पष्ट है। जन्मोत्सव, छठी, बरही,

नामकरण, अन्नप्रासन, बधावा, आदि अनेक लौकिक आचारों में जहाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण की सामग्री मिलती है वहाँ ग्राम्य वातावरण की स्वाभाविकता भी वर्णन के उत्कृष्ट बना देती है। ग्राम में दूध-दही का प्राचुर्य श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं के कितना प्रश्रय देता है।

३. साम्प्रदायिक आचार

पुष्टिमार्ग में कीर्तन का विशेष स्थान है। सूरदास पुष्टिमार्गी थे अतः वे श्रीनाथ और नवनीतप्रिया जी के समक्ष कीर्तन किया करते थे। इस कीर्तन में 'सूरसागर' के अनेक पदों की रचना हुई। अतः पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण का दैनिक कार्यक्रम—प्रभाती से उठना, शृंगार करना, गोचारण, भोजन, शयन आदि पदों में वर्णित होने के कारण—श्रीकृष्ण के स्वाभाविक ग्रामीण जीवन का और भी स्पष्ट करता था। जहाँ मन्दिर की मूर्ति के सामने भजन करने की भावना थी, वहाँ श्री कृष्ण के जीवन-की ललित लीलाओं के वर्णन करने की भी भावना थी। नित्य कीर्तन मे श्रीकृष्ण की दैनिक चर्या की चर्चा थी और नैमित्तिक कीर्तन में हिंडोना, चांचर, फाग और वसन्त के क्रिया-कलाप थे। इस प्रकार इन पदों मे जहाँ श्री कृष्ण की लीला गान करने का उद्देश्य था वहाँ साथ ही साथ पुष्टि मार्ग के साम्प्रदायिक आचार 'कीर्तन' की भी पूर्ति थी। इसीलिए अनेक स्थानों पर श्री कृष्ण की भोज्य सामग्री में अनेक प्रकार के व्यंजनों का वर्णन है क्योंकि पुष्टि मार्ग के आचार में श्री कृष्ण के 'भोग सम र्पण' की प्रथा है और उस 'भोग' में अनेक प्रकार के व्यंजनों का रहना आवश्यक है।

४. साहित्यिक परम्परा

सूर के आराध्य कृष्ण का चित्रण जयदेव और विद्यापति कर चुके थे। इन दोनों महाकवियों ने रस के दृष्टिकोण से श्रीकृष्ण की लीला गाई थी। गीत गोविन्दकार जयदेव ने तो शृंगार रस मे

होने के पूर्व गोपियाँ अपने-अपने स्थान को चली जाती हैं। अध्याय के अन्त में नन्ददास ने कथा का माहात्म्य कहकर इस "उज्ज्वल रस-माल" को अपने कंठ में बसने की प्रार्थना की है।

नन्ददास ने अपनी 'रासपञ्चाध्यायी' का कथानक मुख्यतः 'भागवत' ही से लिया है। उसमें अनेक स्थलों पर 'भागवत' की कथा का ही रूपान्तर है, और उन्होंने जो बातें 'भागवत' से ली हैं, वे इस प्रकार व्यक्त की गई हैं कि उन पर मौलिकता का रंग नजर आता है।

आधार

उनकी वर्णन-शैली और शब्द-माधुर्य्य में भागवत का अंश भी नन्ददास कृत मालूम पड़ता है। यही नन्ददास की काव्य-शक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण है। कथानक चाहे एक ही हो; किन्तु दोनों की वर्णन-शैली में भिन्नता है। नन्ददास रास के पाँच अध्यायों के लिए 'भागवत' दशम स्कन्ध के २९ से लेकर ३३ अध्याय तक के ऋणी अवश्य हैं।

'रासपञ्चाध्यायी' का दूसरा आधार 'हरिवंशपुराण' कहा जा सकता है; क्योंकि उस पुराण के विष्णु पर्व में उसी रास का वर्णन है, जिसका वर्णन नन्ददास ने अपनी 'पञ्चाध्यायी' में किया है। पुराण में उसका नाम 'हल्लीस-क्रीडन' दिया गया है। इसी रास के आधार पर 'रासपञ्चाध्यायी' ग्रन्थ 'हरिवश पुराण' का ऋणी है।

'पंचाध्यायी' का तीसरा आधार जयदेव का 'गीतगोविन्द' है। यद्यपि 'गीतगोविन्द' और 'रासपचाध्यायी' के कथानक में आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि दोनों की प्रवाह-गति मधुरता और शैली एक ही साँचे में ढली हुई है। नन्ददास ने कदाचित् 'गीत गोविन्द' के माधुर्य्य के वशीभूत होकर ही अपने काव्य की रचना की है। दोनों की मधुरता का ढग है, एक ही। वियोगी हरि तो इसे "हिन्दी का गीत गोविन्द" मानते हैं।[1]

नन्ददास ने अपने काव्य में रस और गुण की सृष्टि बड़ी सुन्दरता के साथ की है। रसों में उन्होंने शृंगार,

रस

करुण और शान्त का बड़ी विशद रीति से वर्णन किया है। उनका शृंगार रस इस प्रकार है:—

इहि विधि विविधि विलास हास सुख कुंज सदन के।
चले जमुन जल क्रीड़न, व्रीड़न कोटि मदन के ॥[1]

कितना सरस शृंगार-वर्णन है!

नन्ददास ने करुण रस के वर्णन करने में भी कुशलता दिखलाई है। आँसुओं की स्वच्छ मालाओं में उन्होंने जो हृदय-वेधी भाव गूँथे हैं, उन्हें हम केवल अनुभव कर सकते हैं, कह नहीं सकते। इस प्रकार का करुण रस हिन्दी साहित्य में बहुत कम है:—

प्रनत मनोरथ करत चरण सरसीरुह पिय के।
कह घटि जैहे नाथ, हरत दुख हमरे हिय के ॥
कहँ यह हमरी प्रीति, कहाँ तुमरी निठुराई।
मनि पखान ते खचै दई तें कछु न बसाई ॥
जब तुम कानन जात सहस जुग सम बीतत छिन।
दिन बीतत जिहि भाँति हमहिं जाने पिय तुम बिन ॥[2]

अन्त में शांत रस का कितना उज्ज्वल स्वरूप है!

श्रवन कीरतन ध्यान सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार, श्रुतिसार गुथी गुनि ॥
अघहरनी, मनहरनी सुन्दर प्रेम वितरनी।
नन्ददास के कण्ठ बसौ नित मंगल करनी ॥[1]

---

१. रास पञ्चाध्यायी और भँवरगीत पृष्ठ २१
२ रास पञ्चाध्यायी और भँवर गीत पृष्ठ १५-१६
१. ,, ,, २५

नन्ददास ने यह रचना स्वतंत्र रूप से लिखी है; इसका सम्बन्ध अन्य किसी ग्रन्थ की रचना से नहीं है।

दूसरी विशेषता है—इसकी भाषा। व्रजभाषा का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक और सरस है। हम आज़ाद के शब्दों में इनके लिए भी कह सकते हैं कि "इनके अल्फ़ाज मोती की तरह रेशम पर ढलकते हुए चले आते हैं।" शब्दों का विकृत रूप कहीं भी देखने में नहीं आता। सभी शब्द यथास्थान इस प्रकार सजे हुए हैं, मानों किसी ने रत्नों को जड़ दिया हो। सचमुच नन्ददास 'जड़िया' थे।

> हे अवनी नवनीत चोर चितचोर हमारे।
> राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान पियारे॥[1]

तीसरा गुण है इनके अनुप्रास की विशेषता। नन्ददास की रचना में अनुप्रास इस तरह स्वाभाविक रीति से चला आता है, मानो इनके शब्द भाण्डार में अनुप्रासयुक्त शब्दों के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था। अनुप्रास भी इस तरह आता है कि उससे भावों की लेश मात्र भी क्षति नहीं होती। इसी में कवि की प्रतिभा का परिचय है :—

> जो रज अज सिव खोजत जोजत जोगी जन जिय।
> सो रज बन्दन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय॥[2]

इनकी रचना का, चौथा गुण है चित्र-शक्ति। नन्ददास जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, वह वर्णन इतना यथार्थ और स्वाभाविक होता है कि उसका चित्र आँखों के सामने आ जाता है।

> सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजत भारी,
> हियो सरोवर रसभरि चलि मानो उमँगि पनारी।[3]

---

१ रास पञ्चाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १२
२ " " १३
३. " " १

इन शब्दों के प्रवाह में 'पनारी' के तीव्र गमन का चित्र है।

रचना का पाँचवाँ गुण है ईश्वरोन्मुख प्रेम। प्रत्येक शृंगार स्थल पर ईश्वर के प्रति भक्तिभाव की भी अभिव्यक्ति होती है। गोपिकाओं के विहार और गर्व का मतलब नन्ददास ने अन्तिम दो पंक्तियों में बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है।

निपट निकट घट में जो अन्तरजामी आही।
बिषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही ॥[1]

रचना का छठवाँ गुण है शब्दों का चुनाव। नन्ददास ऐसे उपयुक्त शब्दों का चयन करते हैं, जो सर्वथा कविता के भाव-व्यंजक हैं :—

इत महकत मालती चारु चम्पक चितचोरत।
उत घनसार तुसार मिली मन्दार झकोरत ॥[2]

यहाँ 'महकत' 'तुसार' और 'झकोरत' शब्द कितने उपयुक्त हैं। इन शब्दों के पर्यायवाची शब्द इन पंक्तियों की भाव-व्यंजना में ओछे उतरेंगे।

माधुर्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में 'रास-पञ्चाध्यायी' सर्वश्रेष्ठ है। यदि तुलसी की कविता भागीरथी सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश है तो नन्ददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता-त्रिवेणी की पूर्ति करती है।

अभी तक 'रास पञ्चाध्यायी' के तीन संस्करण प्राप्त हैं :—

(१) नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण।
(२) बालमुकुन्द गुप्त संस्करण।
(३) ब्रजमोहनलाल संस्करण।

बालमुकुन्द गुप्त का संस्करण अपेक्षाकृत मान्य है। इसका प्रकाशन सन् १९०४ में भारतमित्र प्रेस कलकत्ता से हुआ

---

१. रास पंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २५
२. ,, ,, १

वाह्यसाक्ष्य के अनुसार मीरां का जीवन वृत्त अनेक अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। कहीं-कही वह केवल परिचयात्मक है, उसमें तिथि आदि का कोई निर्देश नहीं है।

नाभादास के 'भक्तमाल' में मीरांबाई पर यह छप्पय मिलता है :—

लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ॥
सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहिं दिखायो।
निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो ॥
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो ॥
भक्ति निशान बजाय कै, काहूँ ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी।[1]

इस छप्पय के अनुसार मीरां का भक्ति-भावना में लीन होकर विषपान करना सिद्ध होता है। मीरां ने अपने गिरधर की भक्ति में तो लोकलाज छोड़ ही दी थी।

इस छप्पय पर प्रियादास ने जो 'टीका' लिखी है, उससे मीरां परिचय अधिक विस्तार में मिलता है :—

(१) 'मेरतो जनम भूमि' भूमि हित नैन लगे,
पगे गिरिधारी लाल पिता ही के धाम मैं।[2]
(२) 'राना के सगाई भई' करी ब्याह सामा नई,
गई मति बुड़ि व रँगीले घनश्याम मैं ॥[3]
(३) 'देवी के पुजायबे को' कियो लै उपाय सासु,
वर पै पुजाइ पुनि वधू पूजि भाखिये ॥[4]

---

१. भक्तमाल सटीक (नाभादास) पृष्ठ ६६४
२. ,, ,, ६६५
३ ,, ,, ,,
४. ,, ,, ६६७

(४) आय कै ननँद कहै गहै किन चेत भामी,

साधुन सो हेतु में कलङ्क लागै भारिये।[1]

(५) सुनि कै, कटोरा भरि गरल पठाय दियो,

लियो करि पान रँग चढ्यो को निहारिये॥[2]

(६) रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये,

लिये संग तानसेन देखिवे को आयो है।[3]

(७) वृन्दावन आई जीव गुसाई जू सौं मिली झिली,

तिया मुख देखवे को पन लै छुटायो है[4]

(८) राना को मलीन मति देख बसी द्वारावति,

इति गिरधारी लाल नित ही लड़ाइये।[5]

(९) सुन बिदा होन गई राय रणछोर जू पै,

छाँड़ौं राखो हीन लीन भई नहीं पाइये।[6]

अन्तर्साक्ष्य के अतिरिक्त प्रियादास की 'टीका' में चार बातें नवीन मिलती हैं :—

(१) अकबर का तानसेन के साथ मीरांबाई से मिलना।

(२) मीरांबाई का श्रीजीव गुसांई से मिलना।

(३) मीरांबाई का द्वारिका मे निवास करना।

(४) मीरांबाई का रणछोड़ जी के मन्दिर में अदृश्य होना।

'भक्तमाल' के टीकाकार श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद ने यह भी लिखा है कि गनगौर की पूजा न करने पर मीरां की सास ने जब

---

१. भक्तमाल सटीक	पृष्ठ	६६६
२. ,,	,,	,,
३. ,,	,,	७०२
४. ,,	,,	,,
५. ,,	,,	७०२
६. ,,	,,	,,

है। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'संतबानी' सीरीज़ की 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' में इस पर आपत्ति की गई है। उसमें लिखा है :—

"मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ राज जोधपुर ने इनके जीवन-चरित्र में एक भाट के जबानी लिखा है[1] कि इनका देहांत संवत् १६०३ विक्रमी अर्थात् सन् १५४६ ई० में हुआ ; परन्तु भक्तमाल से इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है : —

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया।

(२) गुसांई तुलसीदास जी से इनका परमार्थी पत्र व्यवहार था।

समझाने की बात है कि अकबर सन् १५४२ ई० में पैदा हुआ और सन् १५५६ ई० में तख्त पर बैठा और गुसांई तुलसीदास सन् १५३३ ई० (सम्वत् १५८६ विक्रमी) में पैदा हुए तो यदि मीरांबाई के देहांत का समय सन् १५४६ ई० में मान लिया जाय तो अकबर की उम्र उस समय चार बरस की होती है और गुसांई जी की १४ बरस की, जो कि न तो अकबर को साधु दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसांई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है। इसलिए हमको भारतेंदु श्रीहरिश्चन्द्र जी स्वर्गवासी का अनुमान कि मीरांबाई ने संवत् १६२० और १६३० विक्रमी दर्मियान शरीर त्याग किया, ठीक जान पड़ता है जैसा कि उन्होंने उदयपुर दर्बार की सम्मति से निर्णय किया था और कवि-वचन सुधा की एक प्रति में छापा था।"[2]

---

१. राठड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरदान है गाँव लूणवे परगने मारोठ इलाक़ै मारवाड़ में रहता है। उसकी जबानी सुना गया कि मीराँबाई का देहान्त सं० १६०३ में हुआ था और कहाँ हुआ यह मालूम नहीं।

—मीराँबाई का जीवन-चरित्र, पृष्ठ २८

२. मीराँबाई की शब्दावली और जीवन चरित्र, पृष्ठ १-२

वेणीमाधवदास के 'गुसांईचरित' में तुलसीदास जी की जन्म-तिथि इस प्रकार दी गई है:—

पन्द्रह सै चउवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सत्तमी, तुलसी धरेउ शरीर ॥[1]

इसके अनुसार तुलसीदास की जन्म-तिथि संवत् १५५४ है। यदि मीरांबाई ने संवत् १६०३ में अनन्त यात्रा की जैसा मुंशी देवीप्रसाद लिखते हैं तो उस समय तुलसीदास की आयु ४८ वर्ष की होगी। उस समय तक तुलसीदास काफी ख्याति पा चुके होंगे और वैष्णव धर्म के बड़े भारी साधु गिने जाते होंगे, अतएव मीरां और तुलसीदास में पत्र-व्यवहार होना संभव है, किन्तु वेणीमाधव दास की इस तिथि पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

रही अकबर से मिलने की बात। यह बात अवश्य है कि अकबर सन् १५४२ ई० में अमरकोट में पैदा हुआ। इस तिथि के अनुसार वह मीरां की मृत्यु के समय ४ वर्ष का अवश्य रहा होगा। इतनी छोटी सी आयु में वह मीरां से मिलने की इच्छा रखने में असमर्थ होगा। यदि नाभादास के भक्तमाल की यह बात कि अकबर तानसेन के साथ मीरां से मिलने आया सत्य है तो मीरां की मृत्यु संवत् १६०३ के बहुत पीछे होनी चाहिए। उस स्थिति में भारतेन्दु की तिथि का सहारा लेना पड़ता है।

हरविलास सारदा आदि इतिहासज्ञों ने मीरांबाई की मृत्यु-तिथि के विषय में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। जब प्रियादास आदि भक्तों ने मीरांबाई के अकबर से मिलन का उल्लेख किया है, तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र के निर्णय की सार्थकता ज्ञात होती है। सर मोनियर विलियम्स ने भी मीरां को अकबर का समकाल न माना है।[1] अतः मीरां की मृत्यु भारतेंदु हरिश्चन्द्र के कथनानुसार संवत् १६२०

---

१ गोसाईं चरित दोहा २

१. ब्राह्मनिज्म एंड हिंदूइज्म, पृष्ठ २६८ (मानियर विलियम्स)

ऐसे पदों में कृष्ण का स्वरूप पौराणिक कथाओं के अनुरूप नहीं है। इनमें न तो कृष्ण के विष्णु रूप की भावना है और न शक्ति रूप ही की। भागवत के समान अलौकिक घटनाओं का भी वातावरण नहीं है। न तो कृष्ण लीला का ही वर्णन है और न कृष्ण के सख्य एवं वात्सल्य की भावना है। मीरां ने केवल व्यक्तिगत ईश्वर की भावना रक्खी है जिसमें रूप सौन्दर्य और प्रेमाभिव्यक्ति है। पदों में इष्टदेव का वर्णनात्मक रूप नहीं रक्खा गया; उनमें अनुभूति का चित्रण ही प्रधान है। मीरां की इस प्रकार की रचनाओं में हृदय की दयनीय परिस्थितियों का ही विशेष प्रदर्शन हुआ है।

दूसरा दृष्टिकोण वह है जिसमें उन्होंने सन्त मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति की है। संभव है संतों की भक्ति भावना का प्रभाव उन पर पड़ा हो। ऐसे पदों में सन्त मत में प्रयुक्त रूपक और शब्दावली का ही प्रयोग अधिक पाया जाता है, पर मीरां की रचना में ऐसे पद कम हैं। उदाहरणार्थ एक पद इस प्रकार है :—

> नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊं ॥
> इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँ री ॥
> त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहां से झांकी लगाऊँ री ॥
> सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री ॥
> मीरां के प्रभु गिरिधर नागर बार-बार बल जाऊँ री ॥[1]

काव्यत्व

गीति काव्य—मीरांबाई की रचनाओं में राग रागिनियों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है, क्योंकि मीरां की भक्ति में कीर्तन का प्रधान स्थान है। 'मीरां के प्रभु गिरिधर नागर' की भक्ति मन्दिर के कीर्तन के रूप में विशेष प्रसिद्ध है। साथ ही मीरां की गीति-काव्यमयी भावना के लिए रागों

1. मीराबाई की शब्दावली, पद १०

की उपयुक्त सृष्टि परमावश्यक है। इतना होते हुए भी मीरां में कलात्मक अंग कम है। यद्यपि विरह का वर्णन गोपिका-विरह के समान ही है तथापि हृदय से दूर होने के कारण हृदय की दशा का ही मार्मिक चित्रण है। मीरां स्वयं स्त्री थीं, अतः उनके विरह निवेदन में स्वाभाविकता है, सूर के समान कृत्रिमता या कल्पना नहीं। मीरां की स्वभावोक्ति चरम सीमा पर है।

व्यक्तिगत निर्देश—मीरां की रचनाओं में व्यक्तिगत निर्देश बहुत अधिक है। बहुत से पदों में तो मीरां और ऊदा का[1] अथवा मीरां और सास का[2] वार्तालाप ही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त 'जहर का प्याला' अथवा 'साँप पिटारा'[3] का भी उल्लेख अनेक स्थलों पर है। यहाँ तक कि विष का प्याला लाने वाले का नाम भी दयाराम पण्डे दिया गया है 'कनक कटोरे ले विष घोल्यो, दयाराम पण्डो लायो'।[4] गीतकाव्य में व्यक्तिगत निर्देश रहने के कारण मीरां ने अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया है।

पौराणिक भक्तों का उल्लेख—भक्ति के आदर्श की व्याख्या करते हुए मीरां ने पौराणिक कथाओं का भी संकेत किया है।

अजामेल अपराधी तारे, तारे नीच सदान।
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान॥
और अधम तारे बहुतेरे भाखत संत सुजान।
कुबजा नीच भीलनी तारी, जाने सकल जहान॥[5]

---

१. मीरांबाई की शब्दावली पृष्ठ २७ २८
२. ,, ,, २७
३. ,, ,, २६, २४, २४, २८, २७
४. ,, ,, २०
५. ,, ,, २२

'सुदामा चरित्र' तो प्राप्त है, 'ध्रुव चरित्र' अभी तक नहीं मिला। 'सुदामा चरित्र' बहुत छोटी रचना है, पर वह सरस और श्रेष्ठ है कि उसी ने कवि को बहुत लोकप्रिय बना दिया है। उसमें दीन हृदय के बड़े सच्चे चित्र हैं। भाषा बहुत स्वाभाविक और चलती हुई है। उसमें प्रवाह है। भावों के साथ भाषा का इतना सुन्दर मिलाप 'सुदामा चरित्र' की श्रेष्ठता का कारण है।

हरिराय—(वल्लभी) इनका आविर्भाव काल संवत् १६०७ है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे। इनके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये गद्य के प्रमुख लेखक थे। इनके तीन ग्रंथ तो गद्य में हैं। 'श्री यमुनाजी के नाम', 'श्री आचार्य महाप्रभु को 'स्वरूप' और 'श्री आचार्य महाप्रभु की द्वादश निज वार्ता।' श्री यमुनाजी के नाम' में श्री यमुनाजी और उनके घाटों की वन्दना और महिमा का वर्णन है। 'श्री आचार्य महाप्रभु को स्वरूप' में वल्लभ संप्रदाय के आचार्यों के आत्म स्वरूप का वर्णन है और 'श्री आचार्य जी महाप्रभु की द्वादश निज वार्ता' में श्री वल्लभाचार्य जी का जीवन वृत्त वर्णित है। इनकी चौथी पुस्तक पद्य में है। उसका नाम 'वर्षोत्सव' है जिसमें वर्ष भर के उत्सवों पर गाने योग्य पद लिखे गए हैं। प्रमुखतः ये गद्य लेखक हैं।

लालीर—ये तिरहुत के क्षत्रिय थे। इनका परिचय अभी ज्ञात हुआ है। इन्होंने 'महाभारत' पर एक 'द्रोण पर्व' नामक पुस्तक लिखी है। रचना साधारण है। इनका आविर्भाव काल सवत् १६०८ है।

गोविन्ददास इनका जन्म संवत् १६११ में हुआ था। इन्होंने भक्ति पर अच्छे पद लिखे हैं। इनके ग्रंथ का नाम

'एकान्त पद' है जिसमें राधाकृष्ण के सुन्दर भजन लिखे हैं। भाषा ब्रजभाषा है, उस पर पूर्वी प्रभाव भी है। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६५० माना गया है।

स्वामी हरिदास—इनके विषय में कुछ विशेष विवरण ज्ञात नहीं। ये निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत टट्टी संप्रदाय के प्रवर्तक थे और प्रसिद्ध गायक भक्त थे। कहा जाता है कि ये तानसेन के गुरु थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १६१७ के लगभग है क्योंकि ये अकबर के समकालीन थे। इनकी रचना में भावों की सुन्दर छटा है पर शब्दों के चयन में विशेष चातुर्य नहीं है। इनके पद राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनके पदों के अनेक संग्रह प्राप्त हुए हैं। उनमें हरिदास जी की बानी और हरिदास जी के पद मुख्य हैं।

नाभादास ने इनके विषय में जो छप्पय लिखा है, वह इस प्रकार है:—

आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ॥
जुगल नाम सों नेम जगत नित कुञ्ज बिहारी ।
अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी ॥
गान कला गंधर्व श्याम श्यामा को तोषैं ।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं ॥
नृपति द्वारा ठाढ़े रहे दरशन आशा जास की ।
आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की ॥[1]

इनके सम्बन्ध में भक्तमाल के वार्तिककार ने यह भी लिखा है कि "उस समय का बादशाह (अकबर) वेष छुपा के तानसेन

---

१. भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५८८

रखते हैं। इनका कविता काल संवत् १६८२ माना गया है।

सुन्दरदास—इनका आविर्भाव काल संवत् १६८८ है। ये ग्वालियर निवासी थे और शाहजहाँ के दरबार में जाया करते थे। ये पहले कविराज और फिर महा कविराज की पदवी से विभूषित किए गए थे। इनके ग्रथ का नाम 'सुदर शृंगार' है जिसमें नायिका भेद वर्णित है।

चतुरदास—ये कोई संतदास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १६६२ माना जाता है। इन्होंने 'भगवद्गीता' के ग्यारहवें अध्याय का हिन्दी पद्य में अनुवाद किया। इनकी रचना साधारण है। इन्होंने भी दोहा चौपाई में यह अनुवाद किया है।

भुवाल—ये कवि वीर गाथा काल के कवि नहीं थे जैसा कि अन्य इतिहासों में वर्णित है। ये तुलसीदास के बाद हुए। इन्होंने तुलसीदास के अनुकरण पर 'भगवद्गीता' का अनुवाद दोहा, चौपाई में किया। इनका ग्रंथ सम्वत् १७०० में समाप्त हुआ। इस कवि पर विचार पहले हो चुका है।

धर्मदास—इनका आविर्भाव काल सवत् १७०० माना गया है। इन्होंने 'महाभारत' का पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद प्रताप शाह की आज्ञानुसार किया। इन्होंने 'महाभारत' की वर्णनात्मकता हिन्दी पद्य में सफलता के साथ निबाही। सभापर्व में सभा का, कर्ण पर्व में कर्ण का और गदापर्व में भीम की गदा का वर्णन बड़ी मनोहरता के साथ किया है। ये शाहजहाँ के समकालीन थे। ये संत काव्य के धर्मदास से भिन्न हैं।

सुखदेव मिश्र—ये दौलतपुर (रायबरेली) के निवासी थे। ये असोथर के भगवत राय खीची के सम्मुख उपस्थित हुए

थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १७०० है। इनके निम्न-लिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—

१. 'अध्यात्म प्रकाश'— ब्रह्म निरूपण और वैराग्यविवेक लक्षण आदि
२. 'वृत्त विचार'—छन्द वर्णन आदि
३. 'फजल अली प्रकाश'—नायक नायिका भेद और रस वर्णन
४. पिंगलछन्द विचार'—पिंगल शास्त्र।

रसिकदास—ये नरहरिदास के शिष्य थे। इनका अविर्भाव काल संवत् १७०० माना जाता है। ये राधा वल्लभी वैष्णव थे और वृन्दावन में निवास करते थे। इनका ग्रंथ 'पूजा विलास प्रसिद्ध है जिसमें पूजा आदि के नियम, गुरु-लक्षण, भक्ति के अंग, नवधा भक्ति और अन्य दैनिक क्रियाओं की बातें लिखी गई हैं।

हरिवल्लभ—इनका आविर्भाव सवत् १७०० है। इन्होंने 'भगवद्-गीता' की पद्य बद्ध टीका की। इनमें 'गीता' मूल लिख कर टीका हिन्दी पद्यों में दी है। यह एक दूसरी टीका से जो श्री आनन्दराम द्वारा लिखी गई है, अक्षरशः मिलती है, पर हरिवल्लभ ने अपनी टीका के अन्त में लिखा है :—

हरिवल्लभ भाषा रच्यो, गीता रुचिर बनाय।
साधाचार वर्णन कियो, अष्टादश अध्याय॥

इससे ज्ञात होता है कि संभवतः आनन्दराम ने हरिवल्लभ की टीक सपूर्ण रूप से अपना ली हो।

जगतानन्द—इनका आविर्भाव-काल संवत १७०० के लगभग है। इन्होंने 'ब्रज परिक्रमा' और 'उपस्थान सहित दशम स्कंध' की रचना की। प्रथम में ब्रज के वन उपवन कुंडादि का वर्णन है और द्वितीय में 'श्रीमद्भागवत' दशम स्कंध का संक्षिप्त वर्णन है। रचना साधारण है।

भी यत्र तत्र पाई जाती है। कविता मे ये अपना उपनाम 'ब्रह्म' रखते थे। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में अकबर का यह सोरठा प्रसिद्ध है —

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्यो दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन्ह, कछु नहिं राख्यो बीरबल ॥

अकबर ने बीरबल को कविराय की उपाधि से विभूषित किया था। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी इस विषय में लिखते हैं :—

"यह तो स्पष्ट है कि कोई बात उनमें ऐसी विशेष होगी कि गङ्ग और नरहरि आदि के रहते भी 'कविराय' की महत्वपूर्ण पदवी अकबर ने उन्हीं को दी। अकबर स्वयं साधारण कवि और कविता का प्रेमी न था। यद्यपि उसके दरबार में फ़ारसी और हिंदी आदि के कवि आते-जाते रहते थे, किन्तु वह उन्हीं कवियों का सम्मान करता था, जिसमें उसे सार और तत्व दिखाई पड़ता था। अतएव 'कविराय' पद से विभूषित करने के पहले ही उसने विचार कर लिया होगा। दरबार में आने के पहले ही से बीरबल की कविता की प्रशंसा होती थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त शायद वह पद अकबर ने किसी दूसरे को नहीं दिया।"[1]

होलराय—ये अकबर के समकालीन थे और प्रायः अकबर के दर्शन करने के लिए दरबार में भी जाया करते थे। इनका कविता काल सं० १६४२ है। ये अधिकतर चारण रचनाएँ किया करते थे और अपने आश्रयदाता श्री हरिवंस राय की विरुदावली गाया करते थे। इनकी कविता अधिकतर वर्णनात्मक है। उसमें काव्य के किसी अङ्ग का निरूपण नहीं है वरन् वे तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियों से संबन्ध रखती हैं। कहते हैं तुलसीदास के लोटे पर ये रीझ गये थे। इन्होंने कहा था—

लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।

१. हिन्दुस्तानी, जनवरी १६३१, पृष्ठ ६

तुलसीदास ने निम्नलिखित चरण कह कर इन्हें अपना लोटा दे दिया था—

मोल तोल कछु है नहीं लेहु रायकवि होल ॥

इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, स्फुट रचना देखने मे आती है, वह भी साधारण है।

टोडरमल—इनका जन्म सम्वत् १५८० और मृत्यु सम्वत १६४६ में हुई। ये अकबर के मन्त्रियों में से थे। इन्होंने हिन्दी की स्फुट रचनाएँ की थीं, कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। इनकी रचनाएँ अधिकतर नीति से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इनका कविताकाल सम्वत् १६१० माना जाता है।

नरहरि बन्दीजन—ये अकबर के दरबार के माननीय व्यक्ति थे। इन्हें अकबर ने महापात्र की उपाधि दी थी। इनका आविर्भाव काल सम्वत् १६५० कहा जाता है। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'रुक्मिणी मङ्गल,' 'छप्पय नीति' और 'कवित्त-संग्रह'। छप्पय और कवित्त इन्हें विशेष प्रिय थे। कहते हैं इनके एक छप्पय पर प्रसन्न होकर अकबर ने अपने राज्य में गोवध बन्द करा दिया था।

गङ्ग—अकबर के दरबार में गङ्ग श्रेष्ठ कवि माने जाते थे। अतः इनका कविताकाल सम्वत् १६५० के लगभग ही मानना चाहिए। इनका विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जाता है कि किसी राजा या नवाब ने इन्हें हाथी से चिरवाये जाने का मृत्यु दण्ड दिया था जो इन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। गङ्ग अपने समय के बहुत बड़े कवि कहे जाते हैं। दास के 'तुलसी गङ्ग दुवौ भये सुकविन के सरदार' कथन से इस प्रमाण की पुष्टि होती है। इन्होंने बड़ी सरस रचना की है। एक ओर यदि स्वाभाविक शृंगार-वर्णन है तो दूसरी ओर विरह वर्णन की अतिशयोक्ति है। इनकी रचना देखने से ज्ञात होता है कि इनका भाषा

पर पूर्ण अधिकार था। यद्यपि इनकी कोई स्वतंत्र रचना प्राप्त नहीं होती तथापि इनके पद अनेक संग्रहों में मिलते हैं। इनकी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हैं।

भक्ति-काल की राधा-कृष्ण संबन्धी परंपरा रीतिकाल में भी चलती रही। किन्तु भक्तिकाल के आदर्शों की रक्षा रीतिकाल में न हो सकी। रीतिकाल में कृष्ण एकमात्र नायक और राधा एकमात्र नायिका रह गई। अतः राधाकृष्ण संबन्धी रीति-कालीन रचनाओं का विवेचन रीतिकाल के प्रकरण में होगा।

बीसवीं शताब्दी में राधाकृष्ण की भक्ति से प्रेरित होकर प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास', बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'उद्धव-शतक' और बाबू मैथिलीशरण ने 'द्वापर' की रचना की। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण और राधा का आधुनिक स्वरूप रक्खा। श्रीकृष्ण ने आधुनिक विचारों के अनुकूल स्वजाति उद्धार महान् धर्म है अथवा 'विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का, मनुष्य का सर्वप्रधान धर्म है' आदि आदर्श उपस्थित किए। रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में तर्क के साथ मनोवैज्ञानिक चित्र भी रखे। 'उमकि-उमकि पद कंजनि के पजनि पै, पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगी' की चित्रावली उपस्थित की जिसमें निर्गुणवाद का व्यङ्ग्य पूर्ण सफल है। 'द्वापर' में भी मैथिलीशरण ने कृष्ण-काव्य लिखा जिसमें उन्होंने प्रत्येक पात्रों के चरित्र की रेखा स्पष्ट करते हुए सुन्दर रचना की। 'द्वापर' मे भी भ्रमरगीत है और वह गोपी शीर्षक कथा के अन्तर्गत है। इस 'भ्रमरगीत' में भावनाओं की जैसी सरलता और स्वाभाविकता है वैसी सूरदास को छोड़ अन्य भ्रमरगीतकारों ने नहीं लिखी। 'यही बहुत हम ग्रामीणों को जो न वहाँ वह भूला' में ग्रामीण सरलता का सरल उदाहरण है। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने भी श्रीकृष्ण-भक्ति पर कुछ कवित्त लिखे। उनमें सूक्तियों के साथ आत्मानुभूति है। 'मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चित्त चोर है'

जैसी पंक्तियों में गोपालशरणसिंह ने कृष्ण-भक्ति का सरस रूप प्रस्तुत किया।

कृष्ण-भक्ति का भविष्य किसी प्रकार भी पौराणिक न होगा। यदि कृष्ण-भक्ति पर रचनाएँ होंगी, तो उनमें राष्ट्रीयता की भावना अवश्य पाई जावेंगी।

कृष्ण-काव्य का सिंहावलोकन

राम-काव्य के समानान्तर प्रवाहित होते हुए भी कृष्ण-काव्य की धारा राम-काव्य से प्रभावित न हो सकी। राम-काव्य का मर्यादावाद केवल अपने ही में सीमित होकर रह गया। राम-काव्य के दास्य भाव ने भी कृष्ण-काव्य को प्रभावित नहीं किया। कृष्ण-चरित्र का रूप इतना अधिक आकर्षक हो गया कि जीवन की पूर्णता केवल कृष्ण के बाल और किशोर जीवन ही में केन्द्रीभूत हो गई।

वर्ण्य-विषय—कृष्ण-काव्य में कृष्ण की लीलाओं का गान मुख्य विषय है। यह चरित्र 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कंध से लिया गया है। श्रीकृष्ण के इन चरित्रों में 'रास' और 'भ्रमरगीत' ही अधिक प्रसिद्ध हैं। कृष्ण-काव्य के प्रायः सभी कवियों ने कृष्ण के रास और प्रकृति की शोभा का चित्रण किया है। अनेक कवियों द्वारा 'भ्रमरगीत' भी लिखा गया है। अपवाद-स्वरूप मीरां ने कृष्ण की भावना अपने एकान्त प्रियतम रूप में कर केवल अपनी भक्ति की रूप-रेखा निर्धारित की। मीरां के दृष्टिकोण में कृष्ण-लीला का उतना महत्त्व नहीं जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का। इन चरित्रों के साथ भक्ति का उन्मेष भी है जो सख्य भावना की विशेषता है। इस भक्ति को सबसे अधिक प्रोत्साहन पुष्टि मार्ग से मिला। पुष्टि मार्ग में कृष्ण के अनुग्रह का प्रधान अंग है। श्रीकृष्ण का अनुग्रह

भक्ति से ही प्राप्त होगा। अतः पुष्टिमार्ग में भक्ति की सार्थक भावना है।

श्रीकृष्ण की भक्ति का नाम लेकर नायक नायिका भेद की सृष्टि भी प्रारंभ हो गई थी। श्रीकृष्ण की शोभा को लेकर नख शिख की परंपरा भी चल पड़ी थी। श्रीकृष्ण के रास का आधार लेकर ऋतु वर्णन भी प्रारंभ हो गया था। अतः श्रीकृष्ण की भक्ति में ही रीति-शास्त्र का परिशीलन होने लगा था। कृष्ण-काव्य का वर्ण्य विषय केवल कृष्ण-भक्ति ही में सीमित न रह कर नखशिख, ऋतु-वर्णन और नायिका भेद में भी विस्तार पाने लगा था। इस समय भाषा भी परिमार्जित हो गई थी, अतः अलंकार योजना भी भाषा के साथ होने लगी थी। इस प्रकार कृष्ण-काव्य का वर्ण्यविषय भक्ति के साथ-साथ साहित्य की कला की ओर भी उन्मुख होने लगा था।

छन्द—कृष्ण-काव्य ने अधिकतर गीति-काव्य का स्वरूप धारण किया। कृष्ण-चरित्र मुक्तक रूप में वर्णित होने के कारण अधिकतर गेय रहा। अतः कृष्ण-काव्य में उन पदों का अधिक प्रयोग हुआ जो राग-रागिनियों के आधार पर लिखे गए। पुष्टिमार्ग के सांप्रदायिक आचार ने भी कृष्ण-मूर्ति के आगे कीर्तन का विधान रक्खा। इस प्रकार कृष्ण-काव्य आपसे आप संगीतात्मक हो गया। सूरदास, मीरां, विद्यापति आदि प्रधान कवियों ने पदों ही में कृष्ण-काव्य की रचना की। नन्ददास आदि कुछ कवियों ने रोला, दोहा आदि का प्रयोग किया। सूरदास ने भी सूरसागर के कुछ स्थलों में रोला और चौपाई का प्रयोग किया, पर प्रधानतः उन्होंने पद ही लिखे। अष्टछाप के कवियों के पद तो प्रसिद्ध ही हैं। राग-रागिनियों के अतिरिक्त जिन छन्दों का प्रयोग कृष्ण काव्य में हुआ उनमें चौपाई, रोला और दोहा ही प्रधान हैं।

भाषा—कृष्ण-काव्य की भाषा एकमात्र व्रजभाषा है। श्रीकृष्ण का बाल और किशोर जीवन कोमल भावनाओं से पूर्ण रहने के कारण व्रजभाषा जैसी मधुर भाषा में और भी सरस और मधुर हो गया। व्रजभाषा श्रीकृष्ण के जीवन-वर्णन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त भाषा सिद्ध हुई। राम-काव्य में तो व्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु कृष्ण काव्य में केवल व्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। यह बात दूसरी है कि सूरदास द्वारा व्रजभाषा संस्कृतमय हो गई और मीरां के द्वारा व्रजभाषा मारवाड़ीमय। नन्ददास ने अपने 'जड़ने' की प्रवृत्ति में व्रजभाषा को कोमल रूप देते हुए उसे तद्भव शब्दों से अलंकृत किया। किन्तु भाषा का रूप व्रजभाषा ही रहा। कृष्ण-काव्य की भाषा एक ही रहने के कारण साहित्य के विकास की धारा ही बदल गई। एक ही भाषा में अनेक प्रकार की रचनाएँ हुईं। इसलिए उसे परिमार्जन और परिष्करण का यथेष्ट अवसर मिला। फलतः भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा भाषा-सौन्दर्य ही प्रधान हो गया और कृष्ण-काव्य के बाद साहित्य में रीति-काल आ गया, जिसमें श्रीकृष्ण आराध्य होते हुए भी नायक के सभी गुणों और कार्यों से विभूषित हुए। यह व्रजभाषा के परिमार्जन का ही परिणाम है कि कृष्ण-भक्ति को आघात लगा और वह अनुभूति की वस्तु न रह कर केवल शब्द चातुर्य और रसिकता की वस्तु बन गई।

रस—कृष्ण-काव्य में तीन रस प्रधान हैं। शृंगार, अद्भुत और शान्त। शृंगार अपने दोनों विभागों के साथ वर्णन किया गया है। संयोग और वियोग के इतने अधिक रूप साहित्य में कभी इससे पूर्व प्रस्तुत नहीं किए गए थे। सञ्चारी भावों की व्यापकता रस की पूर्णता में बहुत सहायक

हुई है। श्री कृष्ण में रति भाव का प्राधान्य होने के कारण शृंगार की प्रधानता कृष्ण-काव्य की विशेषता हुई। गोपिकाओं का आलम्बन, श्रीकृष्ण की शोभा का उद्दीपन, श्रीकृष्ण-गोपिका मिलन में स्वेद, कम्प और रोमाञ्च का अनुभाव एवं मोह और चपलता के सञ्चारीभाव शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष को विस्तृत बना देते हैं। साहित्य के किसी भाग में रस की इतनी व्यापकता नहीं पाई जाती। अतः कृष्ण का व्यक्तित्व ही शृंगार रस का सहायक है।

पुष्टिमार्ग ने अद्भुत और शान्त को प्रश्रय दिया। श्रीकृष्ण का दैवत्व और अलौकिक कार्य व्यापार अद्भुत रस की सृष्टि में सहायक हुआ और 'अनुग्रह'-याचना से शान्त की सृष्टि हुई। इन रसों के साथ हास्य और वीर रस गौण रूप में है। 'भ्रमरगीत' में गोपियों का व्यङ्ग्य और श्रीकृष्ण की लीलाओं में असुरों का वध तथा दावानल पान आदि कार्य क्रमशः हास्य और वीर रस के उद्रेक में सहायक हैं। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व शील और सौन्दर्यमय होने के कारण कोमल रसों के प्रयोग के लिए ही अधिक सहायक हुआ। प्रधानता केवल शृंगार रस ही की है।

विशेष—मध्यदेश और राजस्थान में तो कृष्ण-काव्य की रचनाएँ भक्ति के उच्चतम आदर्शों के साथ हो ही रही थीं, साथ ही साथ जूनागढ़ (काठियावाड़) का एक कवि भी कृष्ण-भावना का विकास पश्चिम में कर रहा था। यह कवि नरसिंह मेहता था। नरसिंह मेहता ने भी राधाकृष्ण के गीत अनेक भाँति से गाए, जिनमें शृंगार रस का प्राधान्य है। नरसिंह मेहता की भाषा गुजराती है, पर उन्होंने हिन्दी में भी कुछ रचनाएँ कीं। नरसिंह मेहता का आविर्भाव काल संवत् १५०७ से १५३७ माना गया है। 'बृहत् काव्य दोहन' के सातवें भाग में उनकी गुजराती

रचनाओं का संग्रह है। उन्होंने अधिकतर राग रागिनियों में पद ही लिखे हैं जिनमें कृष्ण जन्मनी वधाई नां पद, श्री कृष्ण विहार, श्री कृष्ण जन्म समानां पद, ज्ञान वैराग्य नां पदो हैं। नरसिंह मेहता ने पदों के साथ-साथ साखियाँ भी लिखी हैं, पर उनकी साखियाँ कबीर की साखियों से भिन्न हैं। एक साखी का उदाहरण यह है :—

दे दर्शन दयाल जी, हरिजन नी पूरो आ रे।
कहे नरसैंया आशा घणी, मुने चरणे राखो पास रे॥[1]

श्रीकृष्ण विहार के अन्तर्गत नरसिंह मेहता का एक पद इस प्रकार है :—

जशोदाना आगणीए सुंदर शोभा दीसे रे॥
मुक्ताफल ना तोरण बाघ्या, जोई जोई मनडुं हीने रे। जशोदा ने
महाला महाल करे मानुनीं आनन्द उर न मॉय रे;
केसर कुंकुम चर्चे सहुने, घरे घरे उच्छव थाय रे॥ जशोदा ने
घन घन लीला नन्द भुवन की प्रकट्या ते पूरण ब्रह्म रे;
रंग रेल नरसैंयो गायो मन वाढ्यो आनन्द रे; जशोदा ने

नरसिंह के पदों में भक्ति और शृंगार समानान्तर धारा में प्रवाहित होते हैं। भाषा में सरलता और सरसता दोनों हैं। नरसिंह मेहता के अतिरिक्त 'रसिक गीता' के कवि भीम और 'रासपञ्चाध्यायी' के कवि रणछोड़ भक्त भी हुए। कहानदास ने भी कृष्ण-जन्म पर विशेष सरस पद लिखे हैं।

मध्यदेश और दक्षिण में कृष्ण-भक्ति ने अनेक संप्रदायों का स्वरूप धारण किया।

१. दत्तात्रेय संप्रदाय—इस मत के अनुयायी दत्तात्रेय को अपने पन्थ का प्रवर्त्तक मानते हैं। संभव है, दत्तात्रेय कोई मुनि हों पर दत्तात्रेय का रूप तीन सिरों से युक्त है। उनके

१. इरद काव्य दोहन, भाग ● पृष्ठ ११

साथ एक गाय, चार कुत्ते हैं। तीन सिरों का सकेत त्रिमूर्ति से, गाय का पृथ्वी से और चार कुत्तों का चार वेदों से ज्ञात होता है। इस प्रकार दत्तात्रेय मे दैवी भावना है और वे कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। इस सप्रदाय में श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं और 'भगवद्‌गीता' ही धर्म, पुस्तक है। इस संप्रदाय की उन्नति विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में खूब हुई और इसका मुख्य केन्द्र महाराष्ट्र ही रहा।

२ माधव सप्रदाय—इस मत के अनुयायी मध्वाचार्य से प्रभावित हुए। इनकी प्रधान पुस्तक 'भक्ति रत्नावली' है जिसमें भक्ति के आदर्श निरूपित हैं। ईश्वरपुरी इस संप्रदाय का एक नेता था जिसने सप्रदाय के प्रचार में विशेष योग दिया। संकीर्तन और नगरकीर्तन इस संप्रदाय में भक्ति के साधन प्रसिद्ध हुए। इसका स्वर्णयुग विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में मानना चाहिए।

३ विष्णु स्वामी संप्रदाय—विष्णु स्वामी ने अपने शुद्धाद्वैत से इसकी स्थापना की थी। बाद में विल्वमगल सन्यासी ने 'कृष्ण-कर्णामृत' नामक कविता में राधा-कृष्ण का यश गाकर इस मत का विशेष प्रचार किया। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंत में यह संप्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय में मिल गया क्योंकि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी के सिद्धान्तों को लेकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की।

४ निम्बार्क संप्रदाय—इस सम्प्रदाय का विकास यद्यपि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ पर इसका इतिहास साधारणतः अज्ञात ही है। इस सप्रदाय में केशव काश्मीरी, हरिव्यास मुनि और श्रीभट्ट प्रसिद्ध हुए जिनकी रचनाओं ने इसे विशेष बल प्रदान किया। इन्होंने भी श्रीकृष्ण के

संकीर्तन को प्रधान स्थान दिया। हरिव्यास मुनि चैतन्य और वल्लभाचार्य के समकालीन थे अतः ज्ञात होता है कि संकीर्तन का भाव हरिव्यास मुनि ने चैतन्य से ही ग्रहण किया था।

५. चैतन्य संप्रदाय—सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य संप्रदाय की स्थापना हुई। विश्वम्भर मिश्र (श्रीकृष्ण चैतन्य) ने ईश्वरपुरी के सिद्धान्तों के अनुसार भागवत पुराण की भक्ति का आदर्श स्वीकार किया। जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के कृष्ण विषयक पदों को गाकर उन्होंने कृष्ण-भक्ति का विशेष प्रचार किया। कृष्ण-भक्ति में चैतन्य ने राधा को विशेष स्थान दिया। संकीर्तन और नगरकीर्तन के द्वारा चैतन्य ने श्रीकृष्ण भक्ति से समस्त उत्तर भारत को प्लावित कर दिया। चैतन्य के अनुयायियों में सार्व-भौम, ओड़ीसाधिपति, प्रताप रुद्र और रामानन्द राय थे। चैतन्य की भक्ति का प्रचार करने तथा राधा-कृष्ण सबन्धी पद-रचना करने वालों मे नरहरि, वासुदेव और वंशीवादन प्रसिद्ध हुए। नित्यानन्द ने चैतन्य मत का सङ्गठन किया और रूप और सनातन ने वृन्दावन के आसपास धर्म तत्व का स्पष्टीकरण किया। चैतन्य मत मे निंबार्क का द्वैताद्वैत मत ही मान्य है मध्व का द्वैत मत नही। चैतन्य सम्प्रदाय में जाति-बन्धन विशेष नही है।

६. वल्लभ संप्रदाय—यह सम्प्रदाय वल्लभाचार्य द्वारा विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था। इस सम्प्रदाय की भक्ति का नाम पुष्टि है जो केवल कृष्ण के अनुग्रह-स्वरूप है। इस मत का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है। वल्लभाचार्य के चार शिष्य और विट्ठलनाथ के चार

शिष्य (जिनसे अष्टछाप की स्थापना हुई) इस सम्प्रदाय के प्रचार में विशेष सहायक हुए। गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' ने भी इस सम्प्रदाय को जनता में खूब फैलाया। इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में ब्रजवासीदास ने 'ब्रजविलास' लिख कर इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधा का स्थान विशेष निर्दिष्ट किया। इस सम्प्रदाय में कृष्ण की भक्ति सख्य भाव से की गई। गुरु का महत्त्व कृष्ण के महत्व के समान ही निर्धारित किया गया, स्त्रियों ने गोपी रूप से उनकी पूजा की जिससे आगे चल कर अनाचार की वृद्धि हुई। इस संप्रदाय की प्रधान पुस्तकें वल्लभाचार्य कृत 'वेदान्त सूत्र अनुभाष्य', 'सुबोधिनी' और 'तत्व दीप निबन्ध' हैं।

७ राधा वल्लभी संप्रदाय— इस संप्रदाय की स्थापना सं० १६४२ में हितहरिवंश ने वृन्दावन में की थी। इस मत को विशेष आधार माधव और निंबार्क सम्प्रदाय से मिला। हितहरिवंश ने 'राधा सुधानिधि' नामक संस्कृत ग्रन्थ की रचना १७० पदों में की। हिन्दी में उन्होंने 'चौरासी पद' और 'स्फुट पद' की रचना की। इस सम्प्रदाय में राधा का स्थान कृष्ण से ऊँचा है और भक्त गण कृष्ण का अनुग्रह राधा का पूजन करके ही प्राप्त करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय ने राधा को महत्वपूर्ण पद दिया, किन्तु राधावल्लभी सम्प्रदाय ने राधा को सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान किया।

८ हरिदासी संप्रदाय—इस सम्प्रदाय की स्थापना स्वामी हरिदास के द्वारा हुई थी, जिनका आविर्भाव काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अन्त मानना चाहिए। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त चैतन्य सम्प्रदाय से बहुत मिलते

हैं। स्वामी हरिदास के पदों का कीर्तन इस सम्प्रदाय का प्रधान आचार है।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति के आठ संप्रदाय स्थापित हुए :—

संप्रदाय	केन्द्र	प्रवर्त्तक
१. दत्तात्रेय सम्प्रदाय	महाराष्ट्र	दत्तात्रेय, चक्रधर
२. माधव संप्रदाय	कनारा	मध्वाचार्य, ईश्वरपुरी
३ विष्णु स्वामी संप्रदाय	त्रिविंद्रम, त्रावणकोर	विष्णुस्वामी, श्रीकान्त
४. निंबार्क संप्रदाय	वृन्दावन	निंबार्क, हरिव्यास मुनि
५ चैतन्य संप्रदाय	पुरी, वृन्दावन	चैतन्य रूप, सनातन
६ वल्लभ संप्रदाय	वृन्दावन, मथुरा	वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ
७ राधा वल्लभी संप्रदाय	वृन्दावन	हितहरिवंश
८. हरदासी संप्रदाय	वृन्दावन	हरिदास

कृष्ण-काव्य में पद्य के साथ ही साथ गद्य-रचना भी हुई। यह गद्य रचना साहित्यिक आदर्शों से युक्त नहीं थी, केवल धर्म-प्रचार और भाव-प्रकाशन की सरलता की दृष्टि से ही लिखी गई थी। साहित्य की प्रधान धारा तो पद्य ही में प्रवाहित हो रही थी, पर जहाँ धार्मिक भावना की विवेचना करना था अथवा धर्म की मर्यादा समझा कर जनता में उसे लोकप्रिय बनाना था वहाँ गद्य का आश्रय लिया गया था। गद्य का यह प्रयोग गोरखनाथ के 'नाथ-पंथ' के प्रचार में भी हो चुका था। अतः पुष्टि मार्ग ने इसी परम्परा को हृदयङ्गम कर गद्य का प्रयोग किया। इसे साहित्यिक प्रगति न मान कर धार्मिक प्रगति मानना ही समीचीन है किन्तु गद्य के इतिहास में इस प्रकार की रचनाओं का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। ऐसी रचनाओं में १. श्रीविट्ठलनाथ [illegible]—'शृंगार रस मंडन'—(गद्य-

) और २ श्री गोकुलनाथ कृत—'चौरासी वैष्णवन की
हैं।

-ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र और शिष्य थे। इनका
न्म संवत् १५१५ में हुआ था। ये पुष्टिमार्ग के संत और
ष्टछाप के स्थापक थे। इन्होंने ब्रजभाषा के प्रचार के
ाए जो कार्य किया वह हिन्दी साहित्य में सदैव
ारणीय रहेगा। ये लेखक भी थे। इनका अभी तक
क ही ग्रन्थ ज्ञात था—'शृंगार रस मण्डन'। अब
नके निम्नलिखित ग्रन्थ भी पाए गए हैं जिनसे ये
जभाषा गद्य के महत्वपूर्ण लेखक माने जा सकते हैं।
ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

क—यह पुस्तक पद्य में वल्लभाचार्य द्वारा लिखी गई
ै। उसी का अनुवाद विट्ठलनाथ ने ब्रजभाषा गद्य में
किया--'इति श्रीवल्लभाचार्य कृत श्रीयमुनाष्टक तदुपरि
श्रीगुसांई जी कृत टीका' इसमें श्री यमुना की वन्दना की
ाई है। यह २७० श्लोकों की टीका है। अतः ग्रन्थ काफी
बड़ा है।

सटीक—इसमें वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त वर्णित हैं।
"यह ग्रंथ में सिद्धान्त भयो" कह कर विट्ठलनाथ जी ने
इसका परिचय दिया है। "जा भाँति की सेवा
श्रीवल्लभाचार्य जी के मार्ग में कही है सो करत रहे ..
और कदाचित जीव बुधि ते समर्पण साधि आवें नहीं
तो नाम को मंत्र जो श्रीकृष्णः शरणं नमः याही को
स्मरण भजन करत ठाकुर की सेवा करयौं करे ता
करिके सर्वथा उधार होय"—आदि सिद्धान्त पर प्रकाश
डाला गया है।

गोकुलना
'वार्ता
साहित्यिक
बोलचाल की
विस्तृत है।
है। सर्वनाम
भाषा में आने
माधुर्य इसमें
इस प्रका
में प्रयुक्त होने
का प्रकाशन।
श्री धर्म क २
हि० सा० आ

गोकुलनाथ—ये विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनकी पुस्तकों का उद्देश्य एक मात्र धार्मिक ही है क्योंकि इनमें साहित्यिक सौन्दर्य नाममात्र को भी नहीं है। एक ही बात अनेक बार दुहराई गई है। "सो वे ऐसे भगवदीय हैं, इनकी वार्ता को पार नहीं ताते इनकी वार्ता कहाँ ताई कहिए" प्रत्येक वैष्णव के जीवन चरित्र में कही गई है। इसमें अनेक भाषाओं के शब्द भी हैं। कारण यही ज्ञात होता है कि गोकुलनाथ को अपने धर्म-प्रचार में यथेष्ट पर्यटन करना पड़ा होगा और अनेक स्थानों में जाने के कारण वहाँ के शब्द भी अज्ञात रूप से इनकी भाषा में मिल गए होंगे। इनकी वार्ता के वैष्णव भी अनेक स्थानों तथा अनेक जाति के हैं। इसीलिए उनके चरित्र वर्णन में जिस प्रकार की भाषा लेखक को समझ पड़ी वैसी ही उसने लिख दी। इतनी बात अवश्य है कि उस चित्रण में स्वाभाविकता अवश्य है, उसमें जीवन के अनेक चित्र मिलते हैं। जीवन के इतने विभिन्न चित्रों का संग्रह एक ही स्थान पर मिलता है, यही पुस्तक का महत्त्व है।

'वार्ताओं' की भाषा ब्रजभाषा है। यदि सूरदास के काव्य में साहित्यिक ब्रजभाषा के दर्शन होते हैं तो गोकुलनाथ की भाषा में बोलचाल की ब्रजभाषा मिलती है। इसके शब्द कोष का क्षेत्र भी विस्तृत है। इसमें पञ्जाबी, राजस्थानी और फ़ारसी के शब्द मिलते हैं। सर्वनाम के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग ही अधिक है। इस कारण भाषा में अनेक बार वाक्यों में भी पुनरुक्ति मिलती है। ब्रजभाषा का माधुर्य इसमें अवश्य है।

इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी में गद्य [illegible] रूप से साहित्य में प्रयुक्त होने लगा था और इसके [illegible] शैली [illegible] का भी प्रकाशन होने लगा था। [illegible] की [illegible] के स्वरूप को स्पष्ट करने [illegible] गद्य में [illegible]

हि० सा० का० इ०—११०

इसका उत्कृष्ट प्रमाण नन्ददास लिखित 'नासिकेत पुराण' (भाषा) है, जो ब्रजभाषा गद्य में लिखा गया था।

इसी समय खड़ी बोली गद्य का रूप आता है। यह गद्य दक्षिण में मुसलमानों के द्वारा साहित्य में प्रयुक्त हुआ। इसकी आधारभूत भाषा खड़ी बोली थी, जो दिल्ली और मेरठ में बोली जाती थी। आश्चर्य तो इस बात का है कि खड़ी बोली का गद्य अपने स्थान में पल्लवित होने के बदले दक्षिण में हुआ जहाँ उसके लिए कोई उपयुक्त वातावरण नहीं था। जो मुसलमान दक्षिण में फैलते गए उन्हीं के प्रयास द्वारा खड़ी बोली का गद्य अपने पैरों पर खड़ा हुआ। साहित्य में अप्रकृति का सबसे स्पष्ट उदाहरण खड़ी बोली गद्य के विकास में स्पष्ट रूप से दीख पड़ रहा है। वह उत्पन्न तो हुआ दिल्ली में और उसका विकास हुआ दक्षिण में। अमीर ख़ुसरो ने खड़ी बोली का प्रयोग पद्य मे तो अवश्य किया था पर गद्य में नहीं। दक्षिण में ही उसका विकास हुआ जो एक साहित्यिक कौतूहल है।

खड़ीबोली गद्य का सबसे प्रथम लेखक था गेसू दराज़ बन्दा नवाज़ शहबाज़ बुलन्द। उसका जन्म सवत् १३७८ में हुआ और उसकी मृत्यु १५७६ में। लेखक पन्द्रह वर्ष की उम्र में दक्षिण छोड़ कर दिल्ली में आया और वृद्धावस्था से पहले दक्षिण नहीं लौटा। अतएव उसके गद्य को तत्कालीन दिल्ली की भाषा का सच्चा रूप समझना चाहिए। उसने दो छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की। 'मिराज उल आशक़ीन' और 'हिदायतनामा'। इसमें प्रथम पुस्तक प्राप्त हुई है और वह प्रकाशित भी हो गई है। उसमें केवल १९ पृष्ठ हैं, जिनमे सूफ़ी सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। भाषा का रूप खड़ी बोली है। उसमे फ़ारसी शब्द भी हैं ब्रजभाषा के रूप और कारक चिह्न भी। इस भाषा को 'दकनी उरदू' कहा गया है जिसे 'मिराज उल-आशक़ीन' के सम्पादक मौलाना अब्दुल हक़ साहब बी० ए० ने हिन्दी भी कहा है।

बन्दानवाज़ की शैली इसी प्रकार की थी। यद्यपि वे फ़ारसी के विद्वान थे और उन्होंने फ़ारसी में ग्रन्थ-रचना भी की थी, पर इस प्रकार की रचना भी वे प्रायः किया करते थे। इसके सम्बन्ध में मौलाना अब्दुल हक़ 'मिराज-उल-आशक़ीन' के दीबाचे' में लिखते हैं :—

"हज़रत उन बुज़ुर्गाने दकन में से हैं, जिनकी तसनीफ़ातों तालीफ़ात कसरत से हैं और तक़रीबन सब की सब फ़ारसी में हैं। लेकिन तहक़ीक से यह भी मालूम हुआ है कि आपने बाज़ रिसाले हिन्दी याने दकनी उरदू में भी तसनीफ़ फ़रमाये हैं।"

मिराज-उल-आशक़ीन में आये हुए हिन्दी रूप नमूने के तौर पर नीचे दिए जाते हैं :—

१ हमने आपकूँ देखिया सो ख़ालिक में ते ख़ालिक की इक़रार किया।[१]

२ मुहम्मद हमें ज्यों दिखलाये त्यों तुम्हें देखो।[२]

३ ऐ भाई सुनो जे कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर क़ायम अछेगा। पानी पीवेगा सो विश्वास के कतरया में डूबेगा।[३]

४ जबराईल हज़रत कूँ बोले ऐ महम्मद दुरस्त[४]

५ ये तीनों झाड़ हरएक मोमिन के तन में हैं।[५]

६ हदीस व नबी फ़रमाय हैं[६]

७ इसका माना न देख सकेंगे अपने अँखियाँ सूं मगर देखेंगे मेरे अँखियाँ सू ओ सूरत साहब की[७]

---

१. मिराज उल-आशक़ीन पृष्ठ १४, १५
२. ,, ,, १५
३. ,, ,, १६
४. ,, ,, २१
५. ,, ,, २५
६. ,, ,, ,,
७. ,, ,, ४०

इस प्रकार और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इसी समय की 'भुवन दीपक' नाम की एक पुस्तक मिलती है। जो संस्कृत में ज्योतिष पर लिखी गई है और जिसकी व्याख्या ब्रजभाषा गद्य में की गई है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति की तिथि सन् १६१५ (संवत् १६७२) दी गई है। इससे ज्ञात होता है कि अनुवाद इस तिथि से भी पहले का होगा। पुस्तक में ३५० श्लोक हैं और उनकी विस्तृत व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए उसका गद्य इस प्रकार है:—

जउ अस्त्री पुत्र तणी प्रछा करइ। आ ८ ठ मह नवमई स्थानि एक तो शुक्र होइ तउ स्वभाव रमतो कहिवउ॥ जउ विजह शुक्र मह होई तउ संभोग सुखइ कहिवउ॥ चन्द्र सरिसउ होय। शुक्र होई तउ अधिक द्राव कहिवउ। शुक्र सरिसउ क्रूर ग्रह होइ तउ संभोग पीडा कहवी॥

इस गद्य में केवल सिद्धान्त-निरूपण है। साहित्यिक गद्य के सौन्दर्य का इसमें एकदम अभाव है। गद्य के नमूने के लिए ही इस ग्रथ का नाम स्मरणीय है।

इसके बाद गङ्ग कवि की चन्द छन्द बरनन की महिमा नामक एक छोटा सा गद्य ग्रन्थ अकबर के समय में लिखा गया मिलता है। इसकी भाषा खड़ी बोली है, क्योंकि यह ग्रन्थ दिल्ली की भाषा के प्रभाव में ही लिखा गया था। इस ग्रन्थ में भी ब्रज भाषा के 'जुहार', 'विराजमान' आदि शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग है। इसमें साहित्यिक गद्य तो नहीं है, पर व्यावहारिक गद्य का रूप अवश्य है। पुस्तक कुछ विशेष महत्व की नहीं है पर हिन्दी गद्य के विकास में अपना स्थान रखती है।

संवत् १६८० में जटमल के द्वारा लिखी हुई एक 'गोरा-बादल की कथा' पुस्तक का निर्देश मिलता है।

बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा संपादित हिन्दी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट १६०१ के ४५ वें पृष्ठ में,

संख्या ४८ पर 'गोरा बादल की कथा' की हस्तलिखित प्रति का विवरण दिया गया है जिसके अनुसार कथा गद्य और पद्य में है। ४३ पृष्ठ हैं। पद्य-संख्या १००० है। आकार ६$\frac{1}{2}$ × ५$\frac{1}{2}$ है। प्रत्येक पृष्ठ पर २० पंक्तियाँ हैं और वह बंगाल की एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में सुरक्षित है। इसकी भाषा का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है —

प्रारम्भ - श्री राम जी प्रसन्न होये। श्री गनेस साये नमः। लक्ष्मी कांत। हेवात की सा चित्तोड गढ के गोरा बादल हुआ है, जिनकी वारता की कीताब हींदवी में बनाकर तयार करी है॥

सुक सपत दा येक सकन सीद बुध महेत गनेस
वीगण वीजर ला वीन सो ये लो तुज परण सेस॥ १॥
दूहा॥ जग मग वाणी सर सरस कहता सरस यर वन्द
चहवाण कुल उवधारों हुवा जुवा चावन्द॥२॥

अन्त — गोरे की आवरत आवे सा वचन सुन कर आपने पावन्द की पगड़ी हाथ मे लेकर वाहा सती हुई सो सीवपुर मे जाके वाहा दोनों मेले हुवे ॥१४४॥ गोरा बादल की कथा गुरू के बस सरस्वती के महरवानगी से पुरन भई नीम वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हूं ॥१४५॥ ये कथा सोल से आसी के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई। ये कथा मे दोय [illegible] रस व सीनगार रस है [दो रस है वीर रस व सनगार रस है] सो कथा ॥१४६॥ सोरठो नाद [illegible] करके थाका कदेसर [illegible] इस गाद के लोग और [illegible] है घर घर में आनन्द होता है और [illegible] नही ॥१४७॥

[illegible] है [illegible] बादल लड़का है सो सब पठानों के सरदार है उनके नाते

११६ × ६७६ है। प्रत्येग पृष्ठ में ३० पंक्तियाँ हैं; और प्रत्येक पंक्ति में २५ से ३० अक्षर हैं। इस संग्रह में कई पन्ने कोरे हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह किसी दूसरे ग्रंथ की प्रतिलिपि है, जिसके कुछ पृष्ठ या तो खो गए हैं या पढ़े नहीं जा सके। ड और ड़ में कोई अन्तर नहीं रखा गया। यह संग्रह महाराजा गजसिंह बीकानेर वालों ने संवत् १८२० में लिखाया था। इसी से १५ (१८४५ सम्वत्) १८, २०, २१, नंबर के संग्रहों की बहुत सी वार्ताएँ नक़ल की गई हैं। इसमें ५ वीं वार्ता में गोरा-बादल की कथा का विवरण इस प्रकार है :—

गोरै बादल री कथा—(पृष्ठ ८७ अ० से ६३ अ० तक) यह लग भग वही वार्ता है जो हस्तलिखित ग्रंथ नंबर १५ में है; पर पाठान्तर बहुत है। उदाहरण के लिए इस प्रति का प्रारंभिक भाग देखिए :—

चरण कमल चित लाय के समरू सरसति माय।
कहिस कथा बनाय के प्रणमू सदगुरु पाय ॥१॥
जंबू दीप मझारि भरथखेत्र सोभित अधिक।
नगर भलो चित्रोड़ है ता परि दृढ दुरंग।
रतनसेन राणो निपुण अमली माण अभंग ॥२॥ आदि

इस प्रति के अन्त में एक दोहा है, जो संग्रह नंबर १५ में नहीं है। इसमें कवि का नाम (जटमल) और कथा का लेखनकाल (संवत् १६८०) दिया गया है :—

सौलै सै असी थै समै फागुण पूनिम मास।
वीरारस सिणगाररस कहि जटमल सुपरकास [१] ४६ ॥

इस प्रकार गोरा-बादल की कथा की ये दोनों प्रतियाँ जो क्रमशः संवत् १८२० और १८४५ (अथवा (१८६२) में लिखी गई थीं, पद्य ही में है। हाँ, दोनों के पाठ में भेद

बहुत है। भाव तो अधिकतर वही हैं, पर उनका प्रकाशन उन्हीं शब्दों में होते हुए भी भिन्न है।

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने "कवि-जटमल-रचित गोरा-बादल की बात' शीर्षक एक लेख लिखा है।[1] आपने गोरा-बादल की कथा के विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत से उसका कथा-साम्य दिखलाया है। ओझा जी ने भी "गोरा बादल की बात" नामक पुस्तक को पद्यात्मक ही बतलाया है। (पृष्ठ ३८७) आपको यह प्रति बीकानेर में पुरानी राजस्थानी एवं हिन्दी भाषा के परम प्रेमी ठाकुर रामसिंह जी एम० ए० और डूंगर कालेज के प्रोफ़ेसर स्वामी नरोत्तमदास जी एम० ए० की कृपा से प्राप्त हुई। ओझा जी ने अंत में यह स्पष्ट रूप से लिखा है :—

"नागरी-प्रचारिणी सभा की हिन्दी पुस्तकों की खोज-संबन्धी सन् १९०१ ईसवी की रिपोर्ट के पृ० ४५ में संख्या ४८ पर बंगाल-एशियाटिक सोसाइटी में जो जटमल-रचित 'गोरा-बादल की कथा' है, उसके विषय में लिखा है कि वह गद्य और पद्य में है; किन्तु स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा जो प्रति अवलोकन में आई वह पद्यमय है। इन दोनों प्रतियों का आशय एक होने पर भी रचना भिन्न भिन्न प्रकार से हुई है। रचनाकाल भी दोनों पुस्तकों का एक है और कर्त्ता भी दोनों पुस्तकों का एक है।'

इससे ज्ञात होता है कि स्वामी नरोत्तमदास जी ने उपर्युक्त टेसीटरी द्वारा प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ नं० २२ के अन्तर्गत "गोरा-बादल री कथा" की प्रति ही ओझा जी को बतलाई है; क्योंकि इसी प्रति में कथा का संवत् हमें मिलता है। संवत् १८४५ वाले ग्रन्थ नं० १५ में नहीं. फिर भी यह संदेह रह जाता है कि स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा दी हुई प्रति का नाम ओझा जी 'गोरा-बादल की बात"

1 नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग १३, अंक ४

देते हैं ; पर हस्तलिखित ग्रन्थ नं० ३२ के अनुसार उस प्रति का नाम है "गोरै-बादल री कथा।"

इस पुस्तक के संपादक पं० अयोध्याप्रसाद शर्मा ने अपनी प्रस्तावना में तीन हस्तलिखित प्रतियों का आधार लिया है। प्रथम प्रति, जिसको उन्होंने अधिक प्रामाणिक माना है, संवत् १७६३ की है, जो बड़ा उपासरा बीकानेर के पूज्य श्रीचारित्र्यसूरिजी महाराज के पास है। इसके अनुसार मूल ग्रन्थ संवत् १६८५ में लिखा गया—

संवत् सोल पचासिये, पूनम फागुण मास।
गोरा बादल वरणी, कहि जटमल सुप्रगास॥

शेष दो प्रतियाँ बीकानेर-पुस्तकालय में हैं, जिनमें एक का संवत् १८८० दिया गया है। यह प्रति शायद टेसीटरी द्वारा प्राप्त उपर्युक्त हस्तलिखित ग्रन्थ नं० २२ हो, जिसका रचना-काल भी १८२० ही दिया गया है। इसके अंत मे वही दोहा है, जिसे इस पुस्तक के सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में दिया है।

इस प्रकार जटमल रचित 'गोरा-बादल की कथा' के संबन्ध में हमारे सामने पाँच प्रतियाँ आती हैं :—

१. संवत १७६३ वाली प्रति श्रीचारित्र्यसूरि जी महाराज के पास सुरक्षित है। इसके अनुसार ग्रन्थ-रचना सं० १६८५ में हुई। ग्रन्थ का नाम 'गोरा-बादल की कथा" है।

२ संवत् १८२० वाली प्रति—डा० एल्० पी० टेसीटरी द्वारा संपादित बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित चारणों और ऐतिहासिक ग्रंथों के विवरण में संग्रहीत। इसके अनुसार ग्रन्थ-रचना १६८० में हुई। ग्रन्थ का नाम "गोरै-बादल री कथा" है।

३ संवत् १८४५ वाली प्रति—डा० एल्० पी० टेसीटरी द्वारा खोजी हुई। ग्रन्थ-रचना की तिथि नहीं दी गई। इसके अनुसार ग्रंथ का नाम 'गोरा बादल री कथा" है।

४ स्वामी नरोत्तमदासजी द्वारा प्राप्त प्रति—इसके अनुसार ग्रंथ-रचना संवत् १६८० । ग्रन्थ का नाम "गोरा बादल की बात।" है।

५. बीकानेर-राज्य-पुस्तकालय वाली प्रति—ग्रन्थ-रचना की तिथि नहीं दी गई। इसके अनुसार ग्रंथ का नाम 'गोरा-बादल की कथा" है। ये पाँचों प्रतियाँ पद्य में हैं। अब रह जाती है बात नागरी प्रचारिणी सभा की १६०१ की वार्षिक रिपोर्ट में बतलाई हुई 'गोरा-बादल की कथा' के संबन्ध मे, जो गद्य और पद्य दोनों में है, और जिसका रचना-काल भी १६८० संवत दिया हुआ है, और जिसे मिश्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में केवल गद्य में ही माना है। संभव है, जटमल ने गद्य में भी यह कथा लिखी हो, पर इसके प्रमाण में हमारे सामने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित प्रति के अतिरिक्त कोई भी दूसरी प्रति नहीं है। यह असभव तो नहीं है कि एक ही वर्ष में (स० १६८०) में एक ही लेखक (जटमल) एक कथा को दो तरह से (गद्य और पद्य में) अलग अलग कहे; पर यह कुछ स्वाभाविक—और उस समय के अनुकूल नहीं जान पड़ता कि उसी वर्ष पद्य मे कथा लिखने के बाद कोई लेखक उसी बात को गद्य में दुहरावे। सम्भव है, किसी दूसरे व्यक्ति ने जटमल की पद्यबद्ध पुस्तक को गद्य का रूप दे दिया हो; और रचना-कालसूचक दोहे का भी गद्य में अनुवाद कर दिया हो। अनुवाद भी अक्षरशः हुआ है। इससे हमारे अनुमान की और भी पुष्टि होती है।[1]

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभिक गद्य रचनाएँ धर्म-प्रचार के लिए थीं और उत्तर-कालीन रचनाएँ ऐतिहासिक वृत्त अथवा किसी घटना-प्रसंग के सम्बन्ध में।

---

१ पद्यरूप—सोलै सै असी ऐं समै फागुण पूनिम मास।
वीर रस सिंगार रस कहि जटमल सुखरास ॥

गद्यरूप—ये कथा सोलै से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस है वीररस ने सिंगार रस है सो कथा।

धार्मिक काल का ह्रास

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के लगभग धार्मिक काल की पवित्रता नष्ट होने लगी थी। उसमें शृंगार के अत्यधिक प्राधान्य ने वासना के बीज बो दिए थे। राधा और कृष्ण की विनय अब कवित्त और सवैयों में प्रकट होकर नायिका और नायक के भेदों की कौतूहल-वर्धक पहेलियाँ सुलझाने लगी थी। उसके कारण निम्नलिखित थे:—

१. राजनीतिक सन्तोष

जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल ने प्रजा की सुख शान्ति की समृद्धि की। उसमें युद्ध-प्रियता की अपेक्षा कला-प्रियता की ओर शासकों का विशेष आकर्षण था। शाहजहाँ हिन्दुस्तान के बड़े वैभव-शाली शासकों में था। उसका साम्राज्य विस्तार में अपने सभी पूर्वजों के साम्राज्य से बड़ा था और उसमें तीस वर्ष तक अखंड शान्ति स्थापित रही। साम्राज्य की आमदनी पहले से अधिक थी और खजाना मालामाल था।[1]

इस भाँति राजनीतिक वातावरण की शान्ति ने साहित्य में भी कला की सृष्टि की। मुसलमानी अत्याचार अब सीमित थे। हिन्दू हृदय भी मुसलमानी आतङ्क से स्वतन्त्र हो गए थे। मुसलमान भी अपने को इस देश का निवासी समझने लगे थे। अब हिन्दू इस्लाम से त्रस्त नहीं थे और वे संतोष की साँस लेकर विश्राम करने का अवसर चाह रहे थे। अब हिन्दू और मुसलमानों की रक्त से परितृप्त दो तलवारें देश के एक ही म्यान में रक्खी हुई थीं। इस अवकाश काल में भक्ति की अपेक्षा शृंगार की मतवाली भावना अपना विकास कर रही थी।

२ राज्य-संरक्षण—राजनीतिक शान्ति के कारण कला की उन्नति तो हो ही रही थी, साथ ही साथ भिन्न-भिन्न राज्यवंश भी

---

१. हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास (डा० ताराचन्द) पृष्ठ २८३ मेकमिलन एण्ड कम्पनी (१९३४)

स्थापित हो चले थे। जहाँगीर की विलास-प्रियता ने शासन की शक्ति कम कर दी थी। "खज़ाने से तनख्वाह देने के बजाय जागीर देने की प्रथा चढ़ी"[1] फलतः अनेक जागीरदार हुए, जिन्होंने अपने वैभव की ख़ूब वृद्धि की। कविगण संरक्षण पाने के लिए इन्हीं जागीरदारों और राजाओं की शरण में आने लगे। भक्ति-काल के प्रारम्भ में धर्म की जो मर्यादा संतों और कवियों के द्वारा सुरक्षित हो चुकी थी, उत्तर-काल में वह कवियों को सम्मान नहीं दे सकी, इसलिए वे अब अपना यश और सम्मान बढ़ाने के लिए राज-दरबारों का आश्रय खोजने लगे। राज-दरबार ने उन्हें शृङ्गारपूर्ण रचनाओं की सृष्टि के लिए बाध्य किया। अतः राजाओं और जागीरदारों के संरक्षण ने धार्मिक काल की पवित्रता को कलुषित कर दिया। मुगल दरबार ने भी हिन्दी कविता को प्रोत्साहित किया। जहाँगीर ने तो बहुत से हिन्दी कवियों को पुरस्कृत भी किया।[2] ऐसी परिस्थिति में जब कवियों को राज्य संरक्षण के साथ सब प्रकार का सुख और वैभव प्राप्त होने लगा तब उन्हें भक्ति की करुणापूर्ण अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। विलास प्रियता में भक्ति नहीं होती। जब अत्याचार के बदले उन्हें पुरस्कार प्राप्त होने लगा तब भगवान् को पुकारने की आवश्यकता नहीं रह गई और कवियों की लेखनी या तो राजाओं के गुण गान की ओर अथवा विलासिता की सामग्रियों और शृंगारपूर्ण परिस्थितियों के चित्रण की ओर चल पड़ी। राजाओं ने भी युद्ध के शस्त्रों को विश्राम देकर अपनी दृष्टि रंगमहल की ओर की। वे लोग दिन में ही वियोग और संयोग के

1. हिन्दुस्तान के निवासियों का इतिहास—पृ० ३११
२. हिन्दी एण्ड मुस्लिम रूल, पृ० ५८० (डा० ईश्वरी प्रसाद)

स्वप्न देखने लगे। अपने भावों के उद्दीपन के लिए उन्होंने कवियों को नियुक्त किया। कवियों ने भी धन के लिए अपनी काव्य-कला को 'वासक सज्जा' की भाँति सँवारा और उसे अलङ्कारों से अलङ्कृत किया।

३ कला का विकास—राजनीतिक संतोष के साथ राज्य वैभवशाली हुआ और राज्य के वैभव ने कला को जन्म दिया। शाहजहाँ के गौरवपूर्ण शासन के स्वर्णकाल में कला बहुमुखी होकर विकसित हुई। यह कला केवल साहित्य ही में सीमित होकर नहीं रही वरन् चित्रकला और वास्तुकला में भी प्रकट हुई। जहाँगीर ने अकबर की ललित कला देखी थी और जहाँगीर के आदर्शों ने शाहजहाँ को प्रभावित किया था। जहाँगीर ने चित्रकारों को पुरस्कृत ही नहीं किया, वरन् चित्र-कला के अंगों का अध्ययन भी किया।[1] शाहजहाँ ने तो ताजमहल में कला की चरम सीमा उपस्थित की। समय के कपोल पर रक्खा हुआ वह उज्ज्वल अश्रु-विन्दु शाहजहाँ के कला-पूर्ण हृदय की चित्रशाला है। सम्राट ने अपनी शृंगार प्रियता और प्रणय-चिन्ह के रूप में ताजमहल की साकार विभूति बाइस वर्षों में निर्मित की, जिसकी नींव विरह के आँसुओं से भरी गई थी। जब राजनीति में कला इतनी व्यापक हो रही थी तो साहित्य में उसका प्रादुर्भाव अनिवार्य था और इसी कला की व्यापकता ने हिन्दी कविता का भक्तिमय दृष्टिकोण भी बदल दिया।

४ कृष्णभक्ति का स्वरूप—महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण पूजा का जो रूप निर्धारित किया था, वह अत्यन्त आकर्षक था। वात्सल्य और माधुर्य भाव की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष ही की प्रधानता

१. वही, पृष्ठ ४८०

थी। कृष्ण का सौन्दर्य, गोपियों का प्रेम, कृष्ण और गोपियों का विहार, ये विषय बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादित हुए। किन्तु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अलौकिक और आध्यात्मिक तत्व सन्निहित थे। शारीरिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण भी इंगित था, किन्तु यह रूप आगे चल कर स्थिर न रह सका। चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना कर कृष्ण के दांपत्य प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रवाहित न हो सकी। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिक और पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई। फल यह हुआ कि श्री कृष्ण सूरदास के 'प्रभु बाल सँघाती' न रह कर गोपियों द्वारा होली खेलने के लिए बार-बार निमंत्रित किए जाने वाले "लला, फिर आइयो खेलन होरी" वाले श्री कृष्ण हो गए।

५ भाषा का परिमार्जन—कृष्ण-काव्य की व्रजभाषा परिमार्जित होकर इतनी मँज चुकी थी कि प्रत्येक प्रकार के भावों का प्रकाशन सरल और अलंकारमय हो गया था। भक्तिकाल के पूर्ववर्ती कवियों ने भाषा में इतनी अधिक भाव-व्यञ्जना की थी कि भाषा उनके हाथ में 'करतलगत आमलक' के समान थी। इसी भाषा के परिष्करण ने कवियों को कला-चातुर्य प्रदर्शन के लिए आकर्षित किया। कविगण इस लोभ का संवरण नहीं कर सके और उन्होंने भाव की अपेक्षा कला के सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान रक्खा। शब्दालंकार और अर्थालंकार [illegible] के लिए [illegible] बड़े

भावों की अवहेलना भी करनी पड़ी तो उन्होंने संकोच नहीं किया। उन्होंने शृंगार की भावना को उलट-पुलट कर भाषा के पाश में अपनी कविता को कस दिया। अब कविता जीवन की सन्देश-वाहिनी न होकर केवल भाषा-सौन्दर्य की परिधि ही में केन्द्रीभूत हो गई। जीवन की स्वतन्त्र भावना प्रत्येक नायिका के साथ. शब्दों की शृंखला से बाँध दी गई।

६ रीतिकाल की परम्परा

हिन्दी कविता में रीतिकाल की परंपरा जयदेव के गीत गोविन्द' से होकर विद्यापति की कविता में आई थी। विद्यापति की पदावली में नायिका भेद, नखशिख, ऋतु वर्णन, दूती शिक्षा', अभिसार आदि बड़े आकर्षक ढग में वर्णित है। कृष्ण-काव्य की यह धारा वास्तव में रीतिशास्त्र से पूर्ण है। पर भक्तिकाल में भावना की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि सूर और मीरा ने राधाकृष्ण के शृगारमय गीत गाकर भी उन्हें मर्यादा विहीन नहीं किया। भक्तिकाल की यही मर्यादा है कि विद्यापति की मधुर 'पदावली' सामने रहते हुए भी किसी कवि ने उसका अनुकरण नहीं किया और विद्यापति की रीतिकालीन शृगार-भावना लगभग तीन सौ वर्षों तक निश्चेष्ट पड़ी रही। भक्तिकाल की भाव-तीव्रता मे कमी आते ही रीतिशास्त्र' अपने लौकिक शृगार से सज्जित हो हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से आ गया।

इन सभी कारणों से भक्तिकाल की कविता का उच्च आदर्श सुरक्षित नहीं रह सका। मुग़लकालीन वैभव और राजाओं की सुख-साधना ने उसे काव्य के ऊँचे गौरव से गिरा दिया।

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

१ अनुराग सागर (स्वामी युगलानन्दजी)

२ अमरसिंह बोध (,, ,,)

३ अरब और भारत के संबन्ध (सैयद सुलेमान नदवी)

४ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा)

५ आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहब (भाई मोहन सिंह वैद्य)

६ उदयपुर राज्य का इतिहास (महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)

७ कबीर का रहस्यवाद (डा० रामकुमार वर्मा)

८ कबीर ग्रन्थावली (रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास)

९ कबीर-गोरख-गुष्ट (हस्तलिपि, जोधपुर)

१० कबीर-चरित्र-बोध (स्वामी श्रीयुगलानन्द)

११ कबीर वचनावली (पं अयोध्यासिंह उपाध्याय)

१२ कवि प्रिया (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)

१३ कवित्त रत्नाकर (श्री उमाशंकर शुक्ल)

१४ काव्य निर्णय (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

१५ कोशोत्सव स्मारक संग्रह (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

१६ खोज रिपोर्ट (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

१७ ग्रंथ भवतारण (धर्मदास लिखित)

१८ गरीबदास जी की बानी (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)

१९ गुलाल साहब की बानी (,,)

२० गोरखबानी (डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

२१ गोरख सिद्धान्त संग्रह (राहुल सांकृत्यायन)

२२ गोस्वामी तुलसीदास (बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल)
२३ चरितावली (खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर)
२४ चित्रावली (श्री जगन्मोहन वर्मा)
२५ चौरासी वैष्णवन की वार्ता (श्री लक्ष्मी वेंकटेश्वर छापाखाना, मुंबई)
२६ जायसी ग्रन्थावली (पं० रामचन्द्र शुक्ल)
२७ जैन साहित्य और इतिहास (श्री नाथूराम प्रेमी)
२८ तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त)
२९ तुलसीदास और उनकी कविता (पं० रामनरेश त्रिपाठी)
३० तुलसी ग्रंथावली (खंड, १, २, ३, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
३१ तुलसी चर्चा (लक्ष्मी प्रेस, कासगंज)
३२ दरिया साहब की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३३ दरिया सागर (,,)
३४ दरिया साहब के चुने हुए पद (,,)
३५ दादूदयाल की बानी (,,)
३६ दूलनदास जी की बानी (,,)
३७ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (श्री गोकुलदास जी, डाकौर)
३८ धनी धरमदास जी की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)
३९ नया गुटका (शिवप्रसाद सितार ए-हिन्द)
४० पुरातत्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन)
४१ बिहारी रत्नाकर (बाबू जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर)
४२ बुल्ला साहब का शब्द सागर (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४३ बेलि क्रिसन रुक्मिनी री (डा० एल० पी० टेसीटरी)
४४ ब्रजमाधुरी सार (श्री वियोगी हरि)
४५ भँवरगीत (श्री विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा)
४६ भक्तमाल नाभादास (श्री सीताराम शरण भगवान प्रसाद)

४७ भक्तमाल हरि भक्ति प्रकाशिका (पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र)
४८ भक्तमाला राम रसिकावली (महाराज रघुराज सिंह)
४९ भ्रमरगीत सार (रामचन्द्र शुक्ल)
५० भीखा साहब की बानी (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५१ भारतेन्दु नाटकावली (बाबू श्यामसुन्दर दास)
५२ मलूकदास की बानी (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)
५३ मिश्रबन्धु विनोद (मिश्रबन्धु)
५४ मीराबाई का जीवन चरित्र (मुं० देवीप्रसाद)
५५ मीराबाई की शब्दावली (वेलवेडियर प्रेस)
५६ मूल गोसाई चरित (गीता प्रेस, गोरखपुर)
५७ यारी साहब की रत्नावली (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५८ राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज—(मुं० देवीप्रसाद)
५९ राजपूताने का इतिहास (म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)
६० रामचन्द्रिका (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
६१ रामचरित मानस (खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर)
६२ रामचरित मानस की भूमिका (श्री रामदास गौड़)
६३ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत (श्री बालमुकुन्द गुप्त)
६४ रैदास जी की बानी (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
६५ विद्यापति (श्री जनार्दन मिश्र)
६६ विद्यापति ठाकुर (डा० उमेश मिश्र)
६७ शिवसिंह सरोज (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
६८ श्री कबीर साहब का जीवन-चरित्र (नरसिंहपुर विलास प्रेस, नरसिंहपुर)
६९ श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता (श्री गोवर्द्धनलाल जी महाराज, श्रीनाथ द्वारा)
७० श्री सद्गुरु गरीबदास की बानी (श्री अजरानन्द रमताराम)
७१ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन चरित्र (भारतजीवन प्रेस, काशी)

७२ श्री सूरदास जी का जीवनचरित्र (मुंशी देवीप्रसाद)
७३ श्री सूरदास जी का दृष्टिकूट सटीक (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
७४ श्री सूरसागर (राधाकृष्णदास—श्री वेंकटेश्वर प्रेस, काशी)
७५ श्री हरिश्चन्द्र-कला (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
७६ श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (गीताप्रेस, गोरखपुर)
७७ षोडश-रामायण (श्री जुटविहारीलाल, कलकत्ता)
७८ संक्षिप्त-सूरसागर (डा० बेनीप्रसाद)
७९ संत कबीर (डा० रामकुमार वर्मा)
८० संत तुकाराम (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)
८१ संतबानी-संग्रह (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)
८२ सुंदर-ग्रंथावली (पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा)
८३ सतसई सप्तक (बाबू श्यामसुंदर दास)
८४ सरब-गोटिका (हस्तलिखित प्रति)
८५ सावत्री धरम दोहा (डा० हीरालाल, कारमा बरार)
८६ सुकवि-सरोज (श्री गौरीशकर द्विवेदी)
८७ हर्षनाथ-ग्रंथावली (डा० अमरनाथ झा)
८८ हिन्दी-काव्य-धारा (राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद)
८९ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (श्री नाथूराम 'प्रेमी')
९० हिन्दी नवरत्न (मिश्रबन्धु)
९१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (प० रामचन्द्र शुक्ल)
९२ हिन्दी साहित्य की भूमिका (हजारी प्रसाद द्विवेदी)
९३ हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित
९४ परिच्छेद (श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव)
९५ हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता (डा० वेनीप्रसाद)

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

१ कल्याण (श्री रामायणाङ्क, श्री कृष्णांक, गोरखपुर)
२ गंगा (पुरातत्वाङ्क) सुल्तानगज, भागलपुर)

३ चाँद (मारवाड़ी अंक, इलाहाबाद)
४ जैन-हितैषी, (बंबई)
५ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी)
६ मनोरमा (इलाहाबाद)
७ माधुरी (लखनऊ)
८ राजस्थानी (कलकत्ता)
९ विश्वभारती (शान्ति निकेतन)
१० सरस्वती (इलाहाबाद)
११ हिन्दी बङ्गवासी (कलकत्ता)
१२ हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद)

अंगरेज़ी ग्रन्थ

१ अकबर नामा (बेवीज)
२ अपभ्रंश एकारडिंग टु मारकण्डेय (जी० ए० ग्रियर्सन)
३ आइ-नए-अकबरी (एच० ब्लाकमैन)
४ आक्सफोर्ड हिस्टरी अव् इंडिया (व्ही० ए० स्मिथ)
५ आरीजिन अव् दि टाउन अव् अजमेर
६ इंडियन इम्पायर (जी० बुलर)
७ इंडियन एंटिक्विटी (लैसन)
८ इंडियन क्रोनोलाजी (पिले)
९ इन्फ्लुएन्स अव् इस्लाम आन इंडियन कल्चर (डा० ताराचन्द)
१० इम्पीरीयल गजेटियर (आक्सफोर्ड)
११ ऋगवेद संहिता कमेन्ट्री बाई सायनाचार्य (डा० मैक्समूलर)
१२ ए क्लासिकल डिक्शनरी अव् हिन्दू माइथालोजी एंड रिलीजन (जान डासन)
१३ ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग अव् बार्डिक एंड हिस्टारिकल मैनुस्क्रिप्ट्स (डा० एल० पी० टैसिटरी)
१४ ए शार्ट हिस्टरी अव् मुस्लिम रूल इन इंडिया (डा० ईश्वरीप्रसाद)

१५ एन आउटलाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इंडिया (डा० जे० ए० फ़र्क़ुहार)
१६ एन ओरियंटल बायोग्रैफ़िकल डिक्शनरी (टी० डबल्यू बील)
१७ एनल्स एंड एंटिक्विटीज़ अव् राजस्थान (विलियम क्रुक)
१८ एन साइक्लोपीडिया अव् रिलीजन एंड एथिक्स (जेम्स हेस्टिंग्स)
१९ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (जे० ए० गारविन)
२० ओरियंटल संस्कृत टैक्स्ट (जे० म्योर)
२१ कनवेन्शन अव् रिलीजन इन इंडिया (१९०९)
२२ कबीर एंड दि कबीरपंथ (जे० एच० वेसकर)
२३ कबीर हिज़ बायोग्रेफ़ी (श्रीमोहन सिंह)
२४ कलकत्ता संस्कृत सिरीज़ (डा० प्रबोधचंद्र बागची)
२५ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (ए० बी० कीथ)
२६ गोरखनाथ एंड मिडीवल हिन्दू मिस्टीसिज़्म (डा० मोहनसिंह, लाहौर)
२७ डिटेल्ड रिपोर्ट अव् ए टूअर इन सर्च अव्
२८ संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स मेड इन कश्मीर एंड
२९ राजपूताना, सेन्ट्रल इंडिया (जी, बुलर)
३० तबक़ात-इ-नासिरी (एच० जी रेवर्टी)
३१ दि आइडिया अव् परसोनासिटी इन सूफ़िज़्म (रेनाल्ड ए० निकल्सन)
३२ दि टेन गुरूज़ एंड देयर टीचिंग्स (बाबू छज्जूसिंह)
३३ दि नाइंथ इंटरनेशनल कांग्रेस अव् ओरियंटलिस्ट्स (फुटनोट, लंडन)
३४ दि निर्गुन स्कूल अव् हिन्दी पोइट्री (डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)
३५ दि रामायन अव् तुलसीदास (एफ़० ए० ग्राउज़)
३६ दि रामायन अव् तुलसीदास (जे० एम० मेकफ़ी)

३७ दि लिस्ट अवं् मान्यूमेन्टल एन्टिकिटीज एंड इन्सक्रिपशन्स इन नार्थ वेस्ट प्राविंसेज एंड अवध

३८ दि सिक्ख रिलीजन (एम० ए० मेकालिफ)

३९ दि हिस्ट्री अव् इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स दि मोहमडन पीरियड) (इलियट)

४० न्यू हिस्ट्री अव् इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद)

४१ नोट्स आन तुलसीदास (ग्रियर्सन)

४२ प्रोसीडिंग्स अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी अव् बंगाल

४३ बारडिक एंड लिटरेरी सर्वे अव् राजपूताना (डा० टैसीटरी)

४४ ब्रह्मनिज्म एंड हिन्दूइज्म (सर मानियर विलियम्स)

४५ महाराना साँगा (हरिविलास सारदा)

४६ मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर अव् हिन्दुस्तान (ग्रियर्सन)

४७ मिडिवल इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद)

४८ मिस्टिज्म इन महाराष्ट्र (प्रो० रानाडे)

४९ मुन्तखबुल तवारीख—(जार्ज एम० ए० रैंकिंग और डब्ल्यू० एच० लो०)

५० मेटीरियल्स फार ए क्रिटिकल एडीशन अव् दि बंगाली चर्यापदाज (डा० प्रबोधचन्द्र बागची)

५१ रिलीजन एंड फोकलोर इन नार्दर्न इंडिया (डब्ल्यू० क्रूक)

५२ रीसेन्ट थीस्टिक डिसकशन्स (डी० एल० डेविडसन)

५३ लव इन हिन्दू लिटरेचर (डा० विनयकुमार सरकार)

५४ लिंग्विस्टिक सर्वे अव् इंडिया [९ (१)] (सर जार्ज ग्रियर्सन)

५५ ले अव् आल्हा (वि० वाटरफील्ड)

५६ वियना ओरियन्टल जनरल

५७ विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जनरल

५८ वैष्णविज्म शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (डा० आर० जी० भंडारकर)

५९ संस्कृत ड्रामा—(ए० बी० कीथ)

६० सलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिटरेचर (रायबहादुरलाला सीताराम)
६१ सेकरेड बुक अव दि ईस्ट (डा० जैकोबी)
६२ सेकेंड ट्रिनियल रिपोर्ट अव् दी सर्च फार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स
६३ हिस्ट्री अव् दि राइज अव् दी मोहमडन पावर (जान ब्रिग)

अंगरेज़ी पत्र पत्रिकाएँ

१ इंडियन एँटिकरी (बम्बई)
२ इडियन लिंग्विसटिक्स (लाहौर)
३ जर्नल अव् दि बाम्बे ब्रांच अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (बम्बई)
४ जर्नल अव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (लंदन)
५ जर्नल अव् दि एशियाटिक सोसाइटी अव् बेगाल (कलकत्ता)
६ जर्नल अव् दि विहार एड ओरीसी रिसर्च सोसाइटी (पटना)

अन्य सहायक ग्रन्थ

१ अध्यात्म रामायण, ऐतरेय ब्राह्मण, छांदोग्य उपनिषद, नारद भक्ति सूत्र, महाभारत, वाल्मीकि रामायण, शतपथ ब्राह्मण, शिव सहिता श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवतगीता, षोडष ग्रन्थ (वल्लभ) [सस्कृत]
२ श्रीज्ञानेश्वरी (मराठी)
३ दादू (श्री छितिमोहन सेन, बगाली)
४ वृहद काव्य दोहन (इच्छाराम सूर्यरामदेसाई गुजराती)
५ सूरदास जी नूँ जीवन चरित्र (गुजराती)
६ आवे हयात (आजाद) उर्दू
७ उर्दू शयपारे (डा० महीउद्दीन क़ादरी) उर्दू
८ इस्तवार दला लितरात्यूर ऐंदुई ए ऐन्दुस्तानी (गासी द तासी) फ्रेंच
९ फुतुहल बुलदान बिलाजुरी
१० अहसनुत तकासीम फी मारफ़ित अकालीम बुशारी
११ तुजुकबाबरी
१२ मिराज-उल-आशक़ीन

नामानुक्रमणिका

'ना'

'नि'

'पा'

'पू'

'पे'

'पो'

'प्र'

भा

सी

मानस, गीतावली, कवितावली, दोहावली, छप्पय रामायण, राम सतसई, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, वैराग्य सन्दीपिनी रामलला नहछू, बरवै रामायण, रामाज्ञा प्रश्न या राम सगुनावली, सङ्कटमोचन, विनयपत्रिका, बाहुक, रामशलाका, कुंडलिया रामायण, करखा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण, श्रीकृष्ण गीतावली।

इस निर्देश के बाद ग्रियर्सन ने तुलसी के १२ ग्रन्थ ही माने हैं जो उन्होंने आगे चलकर 'एंसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एंड ऐथिक्स' में दिए।

२. इंट्रोडक्शन टु दि मानस (खड्गविलास प्रेस)
   इसके अनुसार तुलसीदास ने १७ ग्रन्थ लिखे पर वे वास्तव में २१ ग्रंथ हैं, क्योंकि ५ ग्रंथों का समुच्चय ग्रियर्सन ने 'पञ्चरत्न' के नाम से लिखा है।[1]

३. एसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एंड एथिक्स[2]
   इसके अनुसार ग्रियर्सन ने तुलसी के १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने हैं। वे ग्रंथ हैं :—

छोटे ग्रन्थ—रामलला नहछू, वैराग्य सन्दीपिनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल पार्वती मंगल, रामाज्ञा।

बड़े ग्रन्थ—कृष्ण गीतावली, विनय पत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली और रामचरित मानस।

सन् १९०३ में 'बंगवासी' के मैनेजर श्री गिरिधरिलाल वाजपेयी ने 'बंगवासी' के ग्राहकों को समस्त तुलसी ग्रन्थावली उपहार में दी थी उस ग्रंथावली के अनुसार तुलसीदास के ग्रन्थों की संख्या [illegible] निर्धारित की गई थी। बाद में तुलसीदास की तीन पुस्तकें और [illegible]

१. रामचरितमानस (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर), [illegible]
२ एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एंड एथिक्स, भाग [illegible] पृष्ठ [illegible]

दी गई थीं। उक्त ग्रंथावली के सम्बन्ध में श्री शिवबिहारीलाल वाजपेयी ने लिखा था[1] :—

"हम इस वर्ष महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी के १७ ग्रंथ हिन्दी बंगवासी के ग्राहकों को उपहार देंगे। इनमें मानस रामायण अति प्रकांड तथा भारत-प्रसिद्ध ग्रंथ है। भारत के नर-नारी इसके लिए लालायित हैं इस मानस रामायण के अतिरिक्त गोस्वामी जी की १६ और रामायण हम अपने पाठकों को उपहार देते हैं। इन रामायणों में सुन्दर काव्य-तत्व तथा स्वतन्त्र कथाएँ पृथक-पृथक रूप से वर्णित हैं, किन्तु दुःख इतना ही है कि इन १६ रामायणों का प्रचार इस देश में बहुत कम है। इनका प्रचार बढ़ाने के लिए ही हम इन्हें उपहार स्वरूप देने को उद्यत हुए हैं।

इस बार के उपहार का सूचीपत्र देखिए:—

१ मानस रामायण
२ श्रीराम नहछू
३ वैराग्य सदीपिनी
४ बरवा रामायण
५ पार्वती मगल
६ जानकी मंगल
७ श्रीराम गीतावली
८ श्रीकृष्ण गीतावली
९ दोहावली
१० श्री रामाज्ञा प्रश्न
११ कवित्त रामायण
१२ कलि-धर्माधर्म निरूपण
१३ विनयपत्रिका
१४ छप्पय रामायण
१५ हनुमान बाहुक
१६ हनुमान चालीसा
१७ सङ्कट मोचन

इन १७ ग्रंथों के बाद इस ग्रंथावली में तीन ग्रंथ और जोड़ दिए गए। वे ग्रंथ थे—

---

1 सम्वत् १९९० का हिन्दी बंगवासी का नवीन उपहार, पृष्ठ १ २
शिवबिहारीलाल वाजपेयी
मनेजर हिन्दी बंगवासी

कुंडलिया रामायण, रामायण छन्दावली. तुलसी सतसई ।

इस प्रकार तुलसीदास की कुल ग्रंथ संख्या २० हुई । ग्रियर्सन की सूची और इस सूची में यह अन्तर है कि ग्रियर्सन ने रामशलाका. करखा रामायण, रोला रामायण और झूलना रामायण के नाम लिए हैं और इस सूची में कलिधर्माधर्म निरूपण, हनुमान चालीसा और रामायण छन्दावली के नाम अतिरिक्त हैं । यदि ग्रियर्सन की सूची में ये तीन अतिरिक्त नाम और जोड़ दिए जावें, तो तुलसीदास की ग्रंथ-संख्या (२१+३) २४ हो जाती है ।

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'नवरत्न' मे तुलसीदास की ग्रन्थ-संख्या २५ दी है । उन्होंने ग्रियर्सन की दी हुई २१ पुस्तकों की सूची में ४ ग्रन्थ और बढ़ा दिए हैं । वे चार ग्रन्थ हैं :—

छन्दावली रामायण, पदावली रामायण, हनुमान चालीसा और कलि धर्माधर्म निरूपण ।

इन २५ ग्रन्थों में मिश्रबन्धु निम्नलिखित ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते[1] :—

१ कड़खा रामायण
२ कुंडलिया रामायण
३ छप्पय रामायण
४ पदावली रामायण
५ रामाज्ञा
६ रामलला नहछू
७ पार्वती मंगल
८ वैराग्य सन्दीपिनी
९ बरवै रामायण
१० सङ्कटमोचन
११ छन्दावली रामायण
१२ रोला रामायण
१३ झूलना रामायण

इन दस ग्रन्थों को निकाल देने पर शेष १५ ग्रंथ मिश्रबन्धुओं के अनुसार प्रामाणिक हैं :—

---

१. नवरत्न (मिश्रबन्धु) पृष्ठ ८१-१०१

गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ (चतुर्थ संस्करण, १९६१

१ मानस	२ कवितावली
३ गीतावली	४ जानकी मंगल
५ कृष्ण गीतावली	६ हनुमान बाहुक
७ हनुमानचालीसा	८ रामशलाका
९ रामसतसई	१० विनयपत्रिका
११ कलिधर्माधर्म निरूपण	१२ दोहावली

प्राचीन टीकाकारों ने भी तुलसीदास के १२ ग्रंथ माने हैं। श्रीवन्दन पाठक रामलला नहछू की टीका के प्रारम्भ मे लिखते हैं :—

और बड़े खट् ग्रन्थ के टीका रचे सुजान।
अल्प ग्रन्थ खट् अल्प मति, विरचत बन्दन ज्ञान ॥

पं० महादेवप्रसाद ने बन्दन पाठक का समर्थन करते हुए पं० रामगुलाम द्विवेदी का वह कवित्त उद्धृत किया है, जिसके अनुसार तुलसीदास ने बारह ग्रंथ लिखे :—

रामलला नहछू त्यों विराग संदीपिनि हूँ,
बरवै बनाइ बिरमाई मति साँई की।
पारवती जानकी के मंगल ललित गाय,
रम्य राम आज्ञा रची कामधेनु नाँई की ॥
दोहा औ कवित्त गीतबन्ध कृष्ण राम कथा,
रामायन बिनै माँहि बात सब ठाँई की।
जग में सोहानी जगदीस हू के मनमानी,
सत सुखदानी बानी तुलसी गुसांई की ॥

जानकी शर्मा के शिष्य कोदोराम ने भी तुलसी के ग्रन्थों के सम्बन्ध मे एक कवित्त लिखा है :—

मानस गीतावली कवितावली बनाई कृष्ण—
गीतावली गाई सतसई निरमाई है।
पारवती मगल कही मंगल कही जानकी की,

बरवै वैराग्य संदीपिनी बनाई बिनैपत्रिका बनाई,

जामें प्रेम परा छाई है।

नाम कला कोष मणि तुलसीकृत तेरा काव्य,

नहिं कलि में काऊ कवि की कविताई है ॥

इसमें दोहावली के स्थान में सतसई है और नामकला कोस मणि नामक तेरहवाँ काव्य है। अन्यथा रामगुलाम द्विवेदी द्वारा निर्देशित बारह काव्य ग्रंथ इसमें भी परिगणित हैं।[1]

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार तुलसीदास के नाम से पाये हुए ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है :—

१. आरती

पद्य संख्या—६८

विषय—राम व अन्य अवतारों की आरती

२. अंकावली

पद्य संख्या—११५

विषय ज्ञान का वर्णन

३. उपदेश दोहा

पद्य संख्या—१४०

विषय—उपदेश

४. कवित्त रामायण

पद्य संख्या—१४४०

विषय—राम-कथा

---

1. इंडियन एंटीक्वरी, भाग २२ (१८९३) पृष्ठ १२३

१. खोज रिपोर्ट सन् १९२० २१-२२

२. „ सन् १९०९ १०-११

३. „ „

४. „ „

५ कृष्ण चरित्र

पद्य संख्या—२६५

विषय—गीतों में कृष्ण-चरित्र

६ गीता भाष्य

पद्य संख्या—७५

विषय—श्री मद्भगवद्गीता का अनुवाद

७. गीतावली रामायण

पद्य संख्या—२३००

विषय—पदों में राम-कथा

८. छन्दावली रामायण

पद्य संख्या—१२५

विषय—विविध छन्दों में राम-कथा

९ छप्पय रामायण

पद्य संख्या—१२६

विषय—छप्पय में राम-कथा

१० जानकी मंगल

पद्य संख्या—२७०

विषय—सीता-स्वयंवर

११ तुलसी सतसई

पद्य संख्या—८१२

विषय—अध्यात्मिक और नीतिमय दोहे

५	खोज रिपोर्ट	सन्	१९०९-१०-११
६	,,	,,	१९०४
७	,,	,,	,,
८	,,	,,	१९०३
९	,,	,,	१९०६-७-८
१०	,,	,,	,,
	,,	,,	,,

१२. तुलसीदास जी की बानी

पद्य संख्या—८१८०

विषय—ज्ञान, वैराग्य और उपदेश

१३. दोहावली

पद्य संख्या—७६०

विषय— राम-कथा

१४ ध्रुव प्रश्नावली

पद्य संख्या—८८

विषय—ज्योतिष

१५. पदावली रामायण

पद्य संख्या—८०

विषय—पदों में राम कथा

१६. बरवा रामायण

पद्य संख्या—८०

विषय—बरवै में राम-कथा

१७ बाहु सर्वांग

पद्य संख्या—२०८

विषय—हनुमान जी का स्तोत्र

१८. बाहुक

पद्य संख्या—१६०

विषय—हनुमान जी की स्तुति

---

१२ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

१३. ,, ,, ,,

१४. ,, ,, ,,

१५ ,, ,, ,,

१६ ,, ,, १९०१-७-८

१७ ,, ,, १९०२

१८. ,, ,, १९०९-१०-११

१६. भगवद्गीता भाषा

पद्य संख्या—६१०

विषय—भगवद्गीता का हिन्दी अनुवाद

२० मंगल रामायण

पद्य संख्या—१६०

विषय—शिव-पार्वती का विवाह

२१ रघुवर शलाका

पद्य संख्या—५८०

विषय—रामचरित की संक्षिप्त कथा

२२. रस कल्लोल

पद्य संख्या—१३७७

विषय—नव रस वर्णन

२३ रस भूषण

पद्य संख्या—१४७

विषय—नव रस वर्णन

२४ रामचरित मानस (सातों कांड)

पद्य संख्या—४७४६

विषय—भगवान रामचन्द्र की कथा

२५. राम मुक्तावली या राम मंत्र मुक्तावली

पद्य संख्या—२८०

विषय—नाम माहात्म्य, राम नाम उपदेश

१६	खोज रिपोर्ट	सन्	१६०६-७-८
२०	,,	,,	१६०६-१०-११
२१	,,	,,	१६२०-२१-२२
२२	,,	,,	१६०६ १०-११
२३	,,	,,	१६०६ ७ ८
	,,	,,	,,

२६. राम शलाका

पद्य संख्या—४५०

विषय—शकुनावली

२७. रामाज्ञा

पद्य संख्या—४७८

विषय—रामकथा का शकुनाशकुन रूप

२८. विनयपत्रिका

पद्य संख्या—१६२४

विषय—स्तुति, भक्ति और प्रार्थना

२९. वैराग्य संदीपिनी

पद्य संख्या—८५

विषय—ज्ञान, वैराग्य के लक्षण

३०. बृहस्पति कांड

पद्य संख्या—३००

विषय—बृहस्पति की बारह राशियों की दशा का फल

३१. श्रीकृष्ण गीतावली

पद्य संख्या—२००

विषय—पदों में कृष्ण-कथा

३२. श्री पार्वती मंगल

पद्य संख्या—१६५

विषय—श्री महादेव पार्वती का विवाह

---

२६ खोज रिपोर्ट सन् १९०३

२७. ,, ,, १९००

२८ ,, ,, १९०९-[illegible]

२९. ,, ,, ,,

३०. ,, ,, १९०३

३१. ,, ,, १९०८

३२ ,, ,, १९०३

३३. श्री राम नहछू

पद्य संख्या—५०

विषय—राम के नहछू का मगल-गान

३४ सगुनावली

पद्य संख्या—४३२

विषय—शकुनाशकुन जानने की रीति

३५ सूरज पुराण

पद्य संख्या—१६०

विषय—सूर्य की कथा

३६ ज्ञान कौ प्रकरण

पद्य स ख्या—२५०

विषय—ज्ञान का वर्णन

३७ ज्ञान दीपिका

पद्य स ख्या—५१०

विषय—ज्ञान, वैराग्य

इन ग्रन्थों में सभी ग्रथ प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। यह तो स्पष्ट ही है कि इस सूची में कुछ ग्रन्थ ऐसे अवश्य हैं। जो हाथरस वाले तुलसी साहब द्वारा रचित हैं। तुलसी नाम के कारण ग्रंथों के निर्धारण में भी भ्रम हो गया है। मानसकार तुलसी राम-भक्तों की सगुणवादी परंपरा में हैं और तुलसी साहब संतों की निर्गुण-वादी परंपरा में।

सम्वत् १६८० में नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) ने तुलसी-दास के केवल १२ ग्रन्थ प्रामाणिक मान कर उनका प्रकाशन 'तुलसी ग्रन्थावली' खण्ड १ और २ के रूप में किया। वे ग्रन्थ हैं :—

---

३३ खोज रिपोर्ट सन् १६०३

३४ „ „ १६०६-१०-११

३५. „ „ „

१ मानस — तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड

२ रामलला नहछू
३ वैराग्य सन्दीपनी
४ बरवै रामायण
५ पार्वती मंगल
६ जानकी मंगल
७ रामाज्ञा प्रश्न
८ दोहावली
९ कवितावली
१० गीतावली
११ श्रीकृष्ण गीतावली
१२ विनय पत्रिका

— तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इन्हीं १२ ग्रंथों को प्रामाणिक माना है।[1] लाला सीताराम ने भी अपने 'सेलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिटरेचर' में तुलसीदास के १२ प्रामाणिक ग्रंथ माने हैं।[2]

यदि तुलसीदास की शैली पर दृष्टि डाल कर इनसे अलग मिले हुए ग्रंथों की समीक्षा की जावे तो इन १२ ग्रंथों के अतिरिक्त 'कलिधर्माधर्म निरूपण' भी प्रामाणिक माना जाना चाहिए। यहाँ तुलसीदास के प्रधान ग्रंथों की विस्तृत समालोचना करना आवश्यक है।

रामलला नहछू

रचना-तिथि—'रामलला नहछू' की रचना तिथि केवल बेनीमाधव दास के 'गोसाँई चरित' में मिलती है। 'गोसाँई चरित' के १४ वें दोहे में दिया गया है:—

मिथिला में रचना किए, नहछू मगल दोय ।
मुनि प्राँचे मत्रित किए, सुख पावें सब कोय ।

इसके अनुसार तुलसीदास ने 'नहछू' की रचना मिथिला-यात्रा में की थी। वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास ने मिथिला-यात्रा स० १६४० के पूर्व ही की थी। अतः 'नहछू' का रचना-काल स० १६३६ के लगभग मानना चाहिए। इतनी पात अवश्य है कि वेणीमाधवदास ने मिथिला यात्रा के प्रस ग में तो 'नहछू' की रचना का उल्लेख नहीं किया, संवत् १६४० की घटनाओं के वर्णन करते समय यह दोहा लिख दिया है। सवत् १६६६ के लगभग तुलसीदास ने 'विनयावली' (विनयपत्रिका) की रचना की। 'नहछू' और 'विनयपत्रिका' के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। सम्भव है, तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' को अपने जीवन के दुःख-सुख से प्रेरित होकर लिखा हो और 'नहछू' को लोगों के गाने के लिए बना दिया हो। 'नहछू' में कवि का न तो अभ्यास है और न प्रयास ही। ऐसी स्थिति में या तो 'नहछू' कवि के काव्य-जीवन के प्रभात की रचना होनी चाहिए ('मानस' से बहुत पहले) या ऐसी रचना जिसे कवि ने चलते-फिरते बना दिया हो, जिसे लोग अश्लील गीतों के स्थान पर गा सकें। जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह रचना सरल और सुबोध रखी गई, उसमें काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित करने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। जन-साधारण की रुचि के लिए ही शायद कवि ने आवश्यकता से अधिक शृंगार की मात्रा 'नहछू' में रख दी है। ऐसी परिस्थिति में यदि 'नहछू' और 'विनयपत्रिका' की रचना एक ही समय में हुई तो वे दो पुस्तकें भिन्न दृष्टिकोण से लिखी गईं। इसी कारण दोनों में इतना अधिक अन्तर है।

विस्तार—'रामलला नहछू' एक प्रबन्धात्मक काव्य है। उसमें किसी प्रकार का कथा-विभाग नहीं है। एक ही वर्णन में ग्रन्थ समाप्त हो गया है। उसमें केवल २० छन्द हैं।

छन्द—'नहछू' में सोहर छन्द है, जिसमें १२. १० के विश्राम से २२ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द आनन्दोत्सव या विवाह के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है।

वर्ण्य विषय—इसमें राम का नहछू वर्णित है। इसके सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० बड़थ्वाल लिखते हैं :—

"भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्त में अवध से लेकर विहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन से नहछू कराने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छंद है, जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर गाती हैं। पंडित रामगुलाम द्विवेदी का मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। संयुक्त प्रदेश, मिथिला आदि प्रान्तों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचंद्र जी का विवाह अकस्मात जनकपुर में स्थिर हो गया, इसीलिए विवाह में नहछू नहीं हुआ। गोसांई जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गन्दे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिए बनाया है।[1]

यह 'नहछू' विवाह के अवसर का ही नहछू है, यज्ञोपवीत के समय का नहीं, क्योंकि रचना में 'दूलह' शब्द का प्रयोग हुआ है।

> गोद लिहे कौसल्या बैठी रामहि वर हो।
> सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो॥[2]
> दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो।
> कोटिन्ह दीन्हेउ दान मेघ जनु बरखइ हो॥[3]

---

१ गोस्वामी तुलसीदास (बा. श्यामसुन्दर दास ,

यदि यह राम के विवाह का नहछू है तो उसे मिथिला में होना चाहिए क्योंकि राम विवाह के पूर्व अयोध्या आए ही नहीं। किन्तु 'नहछू' मे स्पष्ट लिखा हुआ है कि यह नहछू अवधपुर में हुआ :—

आज अवधपुर आनन्द नहछू राम क हो।
चलहु नयन भरि देखिय सोभा धाम क हो॥[१]

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नहछू अयोध्या में राम के विवाह के अवसर पर हुआ। यह कथन रामचरित की घटना से मेल नहीं खाता। इसीलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास ने इस 'नहछू' को विवाह के समय गाने के लिए बना दिया है। इसमें कथा की सत्यता पर न जाकर प्रथा की सत्यता पर जाना चाहिए, राम का नहछू तो एक बहाना मात्र है। तुलसीदास ने वर के लिए राम, वर की माता के लिए कौशल्या, वर के पिता के लिए दशरथ आदि शब्द प्रयुक्त कर दिए हैं। वस्तुत यह राम-कथा से सम्बन्ध रखने वाला नहछू न होकर साधारण नहछू की रीति पर लिखी हुई रचना है। इसीलिए प्रबन्धात्मकता में कहीं-कहीं दोष दीख पड़ते हैं और ऐसे प्रसंग मिलते हैं :–

कौसल्या की जेठि दीन्हे अनुसासन हो।
नहछू जाय करावहु बैठि सिंहासन हो॥[२]

'कौसल्या' की कोई 'जेठि' नहीं थी, कौसल्या स्वय सब की 'जेठि' थी, पर जनसाधारण में यही होता है कि वर की माता को उसकी 'जेठि' आज्ञा देकर नहछू की रीति सम्पन्न कराती है। सर्वसाधारण के लिए यह रचना होने पर ही उसमें शृंगार की मात्रा अधिक है, नहीं तो तुलसीदास अपने गम्भीर काव्यों मे कभी इतने शृंगार को स्थान नहीं दे सके।

---

१ रामलला नहछू छन्द १३
२ वही „ ९

> कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
> चन्दवदनि मृग लोचनि सब रस खानिहि हो॥
> नैन बिसाल नउनिआँ भौं चमकावइ हो।
> देइ गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो॥[1]

एक स्थान पर लिखा गया है कि स्वयं दशरथ इन परिचारिकाओं के शृंगार पर मुग्ध हो उठे।[2] मर्यादा पुरुषोत्तम राम के पिता के सदाचार की सीमा इतनी निम्न नहीं हो सकती। यहाँ दशरथ का तात्पर्य राम के पिता से न होकर 'वर' के पिता से है। फिर विवाहोत्सव में तो थोड़ा-बहुत शृंगार क्षम्य भी माना जाना चाहिए।

विशेष—काव्य की दृष्टि से रचना साधारण है। इसमें न तो तुलसी के समान कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं और न उसकी भक्ति का दृष्टिकोण ही मिलता है। भाषा ठेठ अवधी है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द कम हैं। आले, उँदरन, जेठि तगीरन, कीरहु आदि ग्रामीण शब्द हैं।

वैराग्य संदीपिनी

रचना-तिथि—वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित' के अनुसार इसकी रचना-तिथि सं० १६६९ है। इस समय की घटनाओं का वर्णन करते हुए वेणीमाधवदास ने यह दोहा लिखा है :—

> बाहुपीर व्याकुल भए, बाहुक रचे सुधीर।
> पुनि विराग संदीपिनी, रामाज्ञा सगुनीर॥[1]

बाबू श्यामसुन्दरदास और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इस रचना को संवत् १६४० के पूर्व की रचना मानते हैं। वे लिखते हैं :—

"इसमें तो सन्देह नहीं कि वैराग्य-सदीपिनी दोहावली के सग्रहीत होने से पहले बनी, क्योंकि वैराग्य-सदीपिनी के कई दोहे दोहावली में सग्रहीत हैं। इस बात की आशका नहीं की जा सकती है कि दोहावली ही से वैराग्य-सन्दीपिनी में दोहे लिए गए हों, क्योंकि वैराग्य-संदीपिनी एक स्वतन्त्र ग्रंथ है और दोहावली स्पष्ट ही संग्रह ग्रंथ। दोहावली का सग्रह १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रन्थ १६४० से पहले ही बन चुका होगा।[1]

इस कथन में सत्यता होते हुए भी सन्देह के लिए स्थान रह जाता है। यदि 'वैराग्य-सदीपिनी' का रचना-काल स० १६६६ अशुद्ध है तो 'दोहावली' का रचना काल स० १६४० शुद्ध मानने का कौन सा विशेष कारण है? दोनों ही सम्वत् वेणीमाधवदास के द्वारा दिए गए हैं। हाँ, इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वैराग्यसन्दीपिनी' तुलसीदास की प्रारम्भिक रचना होनी चाहिए, क्योंकि वह काव्य की दृष्टि से विशेष प्रौढ़ नहीं है।

विस्तार—इस ग्रथ का विस्तार ६२ छदों में है। इनमे ६४ दोहे, २ सोरठे और १४ चौपाइयाँ हैं। यह ग्रथ चार भागों में विभाजित है :—

(१) मगलाचरण और वस्तु सकेत—७ छदों में
(२) सन्त स्वभाव वर्णन—२६ छंदों मे
(३) सन्त महिमा वर्णन—६ छदों में
(४) शांति वर्णन—२० छदों में

छद—इसमें तीन छन्द प्रयुक्त हैं, दोहा, सोरठा और चौपाई।

वर्ण्य विषय—इस ग्रथ का विषय ७ वें दोहे में स्वयं कवि ने स्पष्ट कर दिया है :—

तुलसी वेद पुरान मत, पूजन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ६२

"इसमें तो सन्देह नहीं कि वैराग्य-सदीपिनी दोहावली के सग्रहीत होने से पहले बनी, क्योंकि वैराग्य-सदीपिनी के कई दोहे दोहावली में संग्रहीत हैं। इस बात की आशका नहीं की जा सकती है कि दोहावली ही से वैराग्य-सन्दीपिनी में दोहे लिए गए हों, क्योंकि वैराग्य-संदीपिनी एक स्वतत्र ग्रंथ है और दोहावली स्पष्ट ही संग्रह ग्रंथ। दोहावली का सग्रह १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रन्थ १६४० से पहले ही बन चुका होगा।[1]

इस कथन में सत्यता होते हुए भी सन्देह के लिए स्थान रह जाता है। यदि 'वैराग्य-सदीपिनी' का रचना-काल सं० १६६६ अशुद्ध है तो 'दोहावली' का रचना काल स० १६४० शुद्ध मानने का कौन सा विशेष कारण है? दोनों ही सम्वत् वेणीमाधवदास के द्वारा दिए गए हैं। हाँ, इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वैराग्यसन्दीपिनी' तुलसीदास की प्रारम्भिक रचना होनी चाहिए, क्योंकि वह काव्य की दृष्टि से विशेष प्रौढ़ नहीं है।

विस्तार—इस ग्रथ का विस्तार ६२ छंदों में है। इनमे ६४ दोहे, २ सोरठे और १४ चौपाइयाँ हैं। यह ग्रथ चार भागों में विभाजित है:—

(१) मगलाचरण और वस्तु संकेत—७ छंदों में
(२) सन्त स्वभाव वर्णन—२६ छंदों में
(३) सन्त महिमा वर्णन—६ छदों में
(४) शांति वर्णन—२० छंदों में

छद—इसमें तीन छन्द प्रयुक्त हैं, दोहा, सोरठा और चौपाई।

वर्ण्य विषय—इस ग्रथ का विषय ७ वें दोहे मे स्वयं कवि ने स्पष्ट कर दिया है:—

तुलसी वेद पुरान मत, पूजन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ९२

'ही

लेखनकला

लेखक

पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

मूल्य १॥)

लेखनी बहुत से लोग उठाते हैं, पर लेखक कम ही होते हैं। लेखक होने
लिए किन किन बातों की जानकारी होनी चाहिये, इन्हीं बातों की विवेचना
ान् लेखक ने इस पुस्तक में की है। हिन्दी भाषा-भाषियों को इस पुस्तक
अवश्य अवलोकन करना चाहिये, विशेषकर उन लोगों को, जो हिन्दी
हित्य के लेखक बनना चाहते हैं। इस पुस्तक की उपयोगिता पर कतिपय
द्वानों के विचार पढ़िये—

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्राण और यू० पी०
लेजलेटिव असेंबली के अध्यक्ष, माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन—

"जेल में आपकी भेजी हुई पुस्तक 'लेखनकला' मिली थी। उसे मैंने
र मेरे साथी श्री सम्पूर्णानन्द जी ने पढ़ा था। पुस्तक मुझे अच्छी और
पयोगी लगी।"

यू० पी० सरकार के शिक्षा-सचिव विद्वद्वर बाबू सम्पूर्णानंद जी—

"मैंने श्री किशोरीदास वाजपेयी की 'लेखनकला' को जेल में देखा था।
स्तक नौनिहालों (नये साहित्यकारों) के लिए लिखी गई है। मैं वैसा
नौनिहाल' नहीं हूँ और लिखने पढ़ने का काम भी बहुत दिनों से करता आता
। इसलिये वाजपेयी जी की दृष्टि से इस पुस्तक का पढ़ना मेरे लिये जरूरी
हीं। परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि मुझे इस पुस्तक को पढ़कर बहुत
लाभ हुआ है।

एक स्थल पर लेखक ने मेरी एक भूल भी सुझायी है। मेरा विश्वास
है कि जो लोग हिन्दी लिखने की इच्छा रखते हैं, उनके लिए यह पुस्तक
बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें लिखी बातों पर ध्यान देकर वे अपनी
रचनाओं को बहुत सी भद्दी भूलों से बचा सकेंगे।"

हिन्दी, संस्कृत और पाली प्राकृत के महान् विद्वान् तथा राष्ट्रसेवी बौद्ध
भिक्षु भदंत आनंद कौशल्यायन

"मैं प० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री लिखित 'लेखनकला' पढ़ कर
बहुत उपकृत हुआ। आपने अपनी विनम्रता के कारण इस रचना को
'होनहारों' के लिए उपयोगी, लिखा है, लेकिन मैं समझता हूँ कि इस पुस्तक
में अनेक बातें अभ्यस्त लेखकों के भी सीखने-समझने की हैं।"

रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद